मारणपात्र

सत्य घटनाओं पर आधारित
योग तांत्रिक कथा प्रसंग

अरुण कुम

मारणपात्र

अरुणकुमार शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

MARANPATRA

by

Arun Kumar Sharma

Reprinted 1999

ISBN : 81-7124-099-2

'मारणपात्र' के प्रथम संस्करण में विशेष कारणवश कतिपय महत्वपूर्ण विषयों पर विस्तृत प्रकाश नहीं पड़ सका था और इसके अतिरिक्त कुछ महत्वपूर्ण आध्यात्मिक कथा प्रसंग भी संलग्न होने से वंचित रह गये थे। पाठकों को ज्ञात हो कि पुस्तक का द्वितीय संवर्धित एवं परिवर्धित संस्करण शीघ्र प्रकाशित होगा, जिसमें उपर्युक्त अभाव की पूर्ति की जायेगी। फलस्वरूप पाठकगण विशेष रूप से लाभान्वित होंगे।

पुनर्मुद्रित : 1999 ई.

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी–221 001

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा.लि.

चौक, वाराणसी–221 001

कीर्ति-शेष

योगसिद्ध आप्तपुरुष

पं० बेचनजी शर्मा

को

सादर समर्पित

महाशिवरात्रि
सम्वत् २०४८, सन् १९९२
वाराणसी

प्रकाशकीय

पुस्तक का नाम 'मारण-पात्र' क्यों? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। वास्तव में तन्त्र की भाषा में मनुष्य की खोपड़ी को 'महापात्र' कहते हैं। तन्त्र के षट्कर्म-साधन में 'मारण-प्रयोग' मुख्य है। इसकी तान्त्रिक क्रिया में जब महापात्र द्वारा मदिरा का प्रयोग होता है तो उसे 'कारग-पात्र' कहते हैं और जब कारण-पात्र का उपयोग मारण-कार्य के लिए होता है तो उसे 'मारण-पात्र' कहते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में एक ऐसी कथा है—जिसमें 'मारण-पात्र' का उपयोग हुआ है। इसलिए पुस्तक का नाम 'मारण-पात्र' रखा गया। वैसे पुस्तक योग-तन्त्र-दर्शन, अध्यात्म से संवलित प्रासंगिक विषयों का अद्भुत संग्रह है, जिसे कथाशैली के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक में कहीं भी और किसी भी घटना में कल्पना का सहारा नहीं लिया गया है। लेखक ने जो कुछ देखा-सुना-अनुभव किया और स्वयं चिन्तन-मनन किया—उन्हीं सबको अपनी प्राञ्जल भाषा में लिपिबद्ध किया है। वास्तव में मारण-पात्र लेखक के पचास वर्षों के खोजी जीवन का परिणाम है, जिसे प्रकाशित कर विश्वविद्यालय प्रकाशन परिवार को परम हर्ष का अनुभव हो रहा है।

पुस्तक में यत्र-तत्र प्रूफ-सम्बन्धी गलतियाँ अवश्य रह गयी हैं, जिन्हें दूसरे संस्करण में सुधारने के अतिरिक्त पुस्तक को और अधिक संवर्धित और परिवर्धित किया जायगा, जिसके फलस्वरूप उसकी उपयोगिता और अधिक बढ़ जायगी।

—प्रकाशक

अन्तर्वस्तु

दो शब्द १३

श्री शार्दूलविक्रम गुप्त (सम्पादक, 'आज', वाराणसी)

अपनी बात १५

श्री अरुणकुमार शर्मा

पूर्वपीठ २२

श्री अरुणकुमार शर्मा

साधक हरिराम साधु १–४

उनकी कुण्डलिनी जाग्रत थी / ज्योति-दर्शन | सिद्धि और चमत्कार / तीसरा नेत्र ।

साधक भवतोष स्मृतिरत्न ४–७

मंत्र का चमत्कार / पूर्वजन्म की कथा / तांत्रिक साधना / धूमावती विद्या ।

साधक रूपलाल ८–२२

डाकिनी विद्या / धूमावती विद्या / सिद्ध तांत्रिक निताई भट्टाचार्य / तांत्रिक निताई का रूप-परिवर्तन / तांत्रिक निताई की हत्या / रूपलाल को आजीवन कारावास / काशी में रूपलाल की मृत्यु ।

साधक रामचन्द्रा स्वामी २३–२७

रहस्यमयी झोपडी और छायाकृतियाँ / उलूक-साधना / उल्लू का भयानक मानव-स्वर / मुक्तकेशी तन्त्र-साधिका ।

तन्त्रसाधिका शिवा भारती २७–५७

साधना-कक्ष का रहस्यमय वातावरण / शिवा भारती का व्यक्तित्व / भयंकर मारण-प्रयोग / शिवा भारती का तान्त्रिक रूप / वह रहस्यमय मानवेतर प्राणी / मारण-पात्र / मारण-प्रयोग के सिद्धान्त / सावरी मन्त्र का चमत्कार / प्रेतात्मा द्वारा कार्य-सिद्धि / रहस्यमयी अघोरी संन्यासिनी / अघोरी विद्या का चमत्कार / अघोरी संन्यासिनी का रहस्यमय व्यक्तित्व / शव-साधना / जब शव चीत्कार कर उठा ।

भवतोष तर्कपंचानन ५७–६०

वह पगली कौन थी ? / हाकिनी सिद्धि / वैश्वानर जगत् और उसमें निवास करनेवाली आत्माएँ ।

साधक ताराचन्द्र अवधूत ६०–६७

अवधूत-मार्ग की कठिनाई / तन्त्रपीठिका / मोना से भेंट / मोना की मृत्यु / षोडशी युवती से साक्षात्कार / हाकिनियों का उन्मुक्त अट्टहास / तमोगुणी राज्य की सुन्दरियाँ / केदार-कथा / नित्य अभिसार / राधा-केदार का प्रेम ।

तान्त्रिक प्रमथनाथ भट्टाचार्य ६७–८४

हाकिनी-सिद्धि / महाश्मशान का रहस्य / पीपल वृक्ष का महत्त्व / महाश्मशान में साधना / मदिरा-सिद्धि / देहातीत व्यक्तित्व ।

अघोर सन्त बाबा सोमारूराम ८४–१००

अवधूत भैरवी / साधना-चर्चा / साधक शिवराम अवधूत / दो सौ साल पुरानी खोपड़ी / रहस्यमय स्वप्न / रहस्यमयी खोपड़ी की कथा ।

योगी भूपेन्द्रनाथ सान्याल और साधना-चर्चा १०१–१०८

सत्य मृत्यु / वास्तविक जीवन क्या है ? / जीवन-बीज का अंकुरण / आत्म-तत्त्व और शक्ति-साक्षात्कार / मृत्यु के समय हम मूर्च्छित क्यों हो जाते हैं ? / उस मूर्च्छा से बचने का उपाय / सचेतन मृत्यु का लाभ / हम जीवन में भी बेहोश हैं / पूर्ण चैतन्य की उपलब्धि ।

साधक ताराप्रपन्न शाक्त १०८–११४

एकाग्रता / एकाग्रता का अच्छाई-बुराई से सम्बन्ध / शरीर और मन की साधना में अन्तर / अमंगल का शाप क्यों लगता है ? / मारण, मोहन, वशीकरण आदि तामसिक तन्त्र-सिद्धियाँ हैं / अशुद्ध अन्तःकरणवाले भी शक्ति-साधना में पटु हो सकते हैं / शक्ति शुद्धाशुद्धि से उदासीन रहती है / ध्यान के दो रूप / शुद्ध ध्यान और अशुद्ध ध्यान का भेद / शक्ति का स्रोत मन है / शक्ति की कुंजी गुरु के हाथ में ।

साधक कालीपद गुहाराय ११४–११८

तान्त्रिक साधन-तत्त्व / वैराग्य और अभ्यास / वैराग्य और अभ्यास की भिन्नता / अभ्यास पुनरुक्ति है / वैराग्य और मन का विरोध / महाशक्ति का अनुग्रह वैराग्य से मिलता है ।

साधक तारानाथ भट्टाचार्य ११८–१२९

तन्त्र के दार्शनिक पक्ष का आधार / चित्त जीवन की अनिवार्यता है / आत्मा का समष्टिरूप परमात्मा / परमतत्त्व और परमात्मा में भेद / आत्मा और मन एक ही वस्तु के दो रूप / परमतत्त्व और आत्मा के बीच मन बाधक / शैव मत और शाक्त मत / कुण्डलिनी शक्ति / शिव और शक्ति का सामरस्य / कुलाचार अथवा कौलाचार / पंचमकार / पंचमकार के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ / आशा की व्यर्थता / वृथा कर्म / आत्मतृप्ति / मन को आत्मा से पृथक् करना ही वेदान्त का रहस्य है ।

साधक कालीचरण १३०–१३२

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्व / अद्वैत—सबका अस्वीकार / द्वैत—सबका स्वीकार / दोनों ही परमतत्त्व के साधन ।

साधक कौलेश्वर ब्रह्मचारी १३३–१४०

तन्त्र की दार्शनिक भूमि में 'कर्म' / साधक के लिए जीवन एक अभिनय / उत्तम पुरुष / उत्तम पुरुष कौन है ? / तान्त्रिक दृष्टि में उत्तम पुरुष ।

योगी बटेश्वर गिरि १४१–१६६

साधक की दृष्टि में जीवन एक जुआ / तान्त्रिक ध्यानयोग / मानवी चेतना के भिन्न-भिन्न केन्द्र / निश्चल ध्यान-योग की विधि / स्वयं का अपना एक अनुभव / जप-यज्ञ और तान्त्रिक जप-साधना / जप-यज्ञ द्वारा अपने मूल स्रोत की ओर / तन्त्र के तीन मुख्य पक्ष / मानव-शरीर में मनःशक्ति, प्राणशक्ति और आत्मशक्ति द्वारा संचालित तन्त्रिकाएँ / मस्तिष्क और उसके तीन भाग / अधोमिश्रित मस्तिष्क का सम्बन्ध सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड से / मन का कार्यक्षेत्र नाभि-केन्द्र / स्वतन्त्र तन्त्रिका तन्त्र / स्वतन्त्र तान्त्रिका तन्त्र अति संवेदनशील / जप-साधना का मुख्य केन्द्र सात चक्र / स्वप्नावस्था में डाकिनी से साक्षात्कार ।

वह रहस्यमय अघोरी १६६–१७१

वह रहस्यमयी तान्त्रिक साधना-स्थली / प्रच्छन्न साधक-साधिकाओं के सम्पर्क में ।

योगसाधिका मंगला १७२–१७६

शक्तिपात द्वारा दीक्षित मंगला / संग्रीला मठ की साधिका / योग पर आधारित १६ विज्ञान / प्रत्येक विज्ञान की अलग-अलग ४ विद्याएँ / विद्याशक्ति / ६४ योगिनियाँ / १६ विज्ञानों में एक सूर्यविज्ञान / सावित्री-विद्या / मन्त्र-ज्योति / ऋक्, यजुः और साम का आविर्भाव / सूर्य के पीछे दिव्यराज्य, आगे कालराज्य / कालराज्य ही मृत्युराज्य है / ब्रह्ममण्डल और सौरमण्डल / सूर्यविज्ञान का चमत्कार ।

सिद्धमाताजी १७६–१७७

योगियों का वैन्दव शरीर।

साधक भवानन्द तथा योगसाधिका मातुलीमाया १७७–१७८

ब्रह्मयोगी १७९–१९०

जब मैंने बिना धड़कन के जीवन का अनुभव किया / योगी की दृष्टि में मृत्यु / एक ओर मृत्यु सत्य है, दूसरी ओर है असत्य / हम न किसीके जन्मदाता हैं और न तो हैं किसीके मृत्युदाता / प्रकृति का प्रबल शक्तिशाली स्वरूप कामवासना / विनाश और मृत्यु का देवता शंकर / आत्म-ऊर्जा के नष्ट होने के दो कारण।

स्वामी दिव्यानन्द परमहंस १९०–१९१

सिद्ध अवतारी महापुरुष हेड़ियाखान बाबा १९२–१९७

विदेशी दम्पति को स्वप्न में दर्शन / और जब अंग्रेज कमिश्नर प्रभावित हुआ / बाबा का एक विलक्षण कौतुकमय चमत्कार / ध्यान की गहरी अवस्था में बाबा का दर्शन सम्भव / शिष्यों और भक्तों से अगोचर सम्पर्क।

अवधूत चारुचन्द्र तथा आकाशचारी बाबा नीमानन्द परमहंस १९८–२०९

समय के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना ही वास्तविक योग / इटरनल टाइम यानी अक्षय काल।

साधक चैतन्य ब्रह्मचारी २१०–२३१

एक रहस्यमय विलक्षण साधक से भेंट / एक अतिरहस्यमय पारलौकिक विवरण / योगी शूलपाणिचार्या / योग की उच्चतम सिद्धि—परकाया-प्रवेश / मृत शरीर में विभिन्न प्रकार की आत्माओं का प्रवेश।

योगी सत्यानन्द परमहंस २३२–२५१

परकाया-प्रवेश की अविश्वसनीय किन्तु रोमाञ्चकारी अद्भुत कथा।

योगी श्रद्धानन्द २५१–२९२

रहस्यमय कालीमठ / संन्यासी योगानन्द / क्या वह नरबलि थी ? / योगानन्द का मन्त्रपूत अध्ययन-कक्ष / योग की परिभाषा / तपश्चर्या की परिभाषा / साधना का तात्पर्य / साधना का मूलभूत अर्थ / ज्योत्स्ना कौन थी ? / योगानन्द का रहस्यमय व्यक्तित्व / आत्महत्या या नरबलि / दयामयी की आन्तरिक कथा / तन्त्र-साधक ताराचन्द अवधूत / खण्डहर का रहस्यमय वातावरण / भैंसे के मुंह से निकलती खून की बूंदें / वह रहस्यमयी श्वेतवस्त्रधारिणी /

श्रद्धानन्द का यौगिक चमत्कार / गर्भगृह में योगानन्द का शव / श्रद्धानन्द और उनकी योगसिद्धि / क्या वह स्वप्न था ? / चमत्कारपूर्ण पोस्टमार्टम-रिपोर्ट / श्रद्धानन्द की पूर्वकथा / श्रद्धानन्द की आत्मदाह-समाधि / वह रहस्यमयी छायाकृति / जब पुस्तकें और पाण्डुलिपियाँ गायब हो गयीं / वह युवती कौन थी ? / काली मन्दिर का रहस्यमय गर्भगृह / विशालाक्षी की अन्तरंग कथा और साधक कालिकानन्द अवधूत / वह विचित्र अनुभव ।

साधक ताराचन्द्र अवधूत २९२–३३६

यौगिक साधना और तान्त्रिक साधना / कौन था वह रहस्यमय साधु ? / मन्त्र-शक्ति / मूल ध्वनि और उसके तीन रूप / चक्र, ध्वनि और वर्ण / सभी धर्मों में 'ओम्' / साधक ताराचन्द्र अवधूत की भैरवी / ध्वनियों से तीन प्रकार के मन्त्रों का आविर्भाव / योगनिद्रा और योगजागृति / अध्यात्म के दो छोर / तान्त्रिक साधना गूढ़ और रहस्यमय / विश्वसृष्टि के मूल में शब्द / परमशून्य / वह विचित्र और रहस्यमय अनुभव / वह क्या रहस्य था ? / आरती के साथ योग-तान्त्रिक चर्चा ।

स्वामी दिव्यानन्द परमहंस ३३७–३४८

तान्त्रिक साधना सम्बन्धी विविध प्रसंग / जड़ और चेतन / पदार्थ और परमात्मा / विज्ञान और धर्म / अद्वैत अस्तित्व / मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार / मन और आत्मा / चित्त की एकाग्रता / ध्यान और चिन्तन / चित्त की एकाग्रता और परमात्मा / योग का साक्षी शब्द / नेति-नेति / आत्म-अनुभव / साक्षी की खोज ही अध्यात्म है / तीन बिन्दु / लोक-अनुसरण का त्याग ।

साधक स्वरूप ब्रह्मचारी ३४९–३६३

आनन्द / वैराग्य / वैराग्य और शरणागति / ज्ञान और उपरति ।

वक्रेश्वर श्मशान की सिद्ध योगिनी ३६४–३८९

वह रहस्यमयी भैरवी / कौन थी वह रहस्यमयी भैरवी ? / एक रहस्यमय साधु से भेंट / आकाशगामिनी विद्या-सम्बन्धी विवरण / आकाश-गमन-गुटिका / खेचरी-गुटिका / खेचरी-मुद्रा / रसेश्वर-दर्शन / लामा की गुटिका और वटयक्षिणी / भैरवी से भेंट / क्या वह आकाशचारिणी थी ? / सच्चे योगी और साधकों को पहचानने की दृष्टि / वह अविश्वसनीय अद्भुत दृश्य / पारद-सिद्धि में वैज्ञानिक दृष्टि ।

रहस्यमय तान्त्रिक कृष्ण काली मण्डल ३८९–४२४

कौन था वह व्यक्ति ? / अद्भुत साधना-कथा / बिन्दु-साधना और सिद्धि / सात शरीर और सात चक्र / बहिर्मिलन और अन्तर्मिलन / बिन्दु-साधना के चार चरण और भैरवी तथा महाभैरवी / शक्तिपात / बिन्दु-उत्थान की उपलब्धियाँ / सहजानन्द / परमानन्द / नित्यानन्द / दिव्यानन्द और ब्रह्मानन्द / चिदानन्द और सच्चिदानन्द / स्वयं के स्त्री-पुरुष-शरीर का अन्तर्मिलन / पूर्णत्व-लाभ / सीता और मीरा अपने-आपमें पूर्ण 'स्त्री' / कुण्डलिनी-शक्ति / पाँचवें आत्मशरीर की उपलब्धियाँ / पूर्ण स्त्री-पुरुष का बहिर्मिलन / दीपावली की अँधेरी रात और वह रोमाञ्चकारी अविश्वसनीय दृश्य ।

मनीषी राखालचन्द्र भट्टाचार्य और साधक राधामाधव भिषग्रत्न ४२४–४५६

योग का स्वरूप / पुनर्जन्म / संसार में कैसे जीना चाहिए ? / राधामाधव भिषग्रत्न / राधामाधव भिषग्रत्न से भेंट / न्यायालय में गीता की शपथ क्यों ? / गीता का वर्ण-विज्ञान / वर्णव्यवस्था का उद्देश्य ।

रहस्यमय तवांग मठ ४५७–४९२

तवांग मठ की यात्रा / लामा युत्सुंग / एक सिद्ध लामा योगी का दर्शन / सूक्ष्म शरीर की रचना और उसकी शक्ति / शरीर से अलग होने का स्वानुभव / सूक्ष्म शरीर को वापस लौटाने के लिए स्त्री की आवश्यकता / योग के षट्चक्र और सम्बन्धित नाड़ियाँ सूक्ष्म शरीर में / योग-तान्त्रिक साधना में स्त्री की आवश्यकता क्यों ? / आदि शंकराचार्य के परकाया-प्रवेश का रहस्य / तान्त्रिक प्रयोग में कुँआरी कन्याओं का उपयोग / नग्न-पूजा-भाव और ऊर्जा का रूपान्तरण / तान्त्रिक पूजा की अन्य व्यवस्था / केवल नग्न स्त्री की पूजा के विशेष कारण / दो मुख्य चक्र और दो मुख्य जगत् / आज्ञाचक्र-भेदन और नीलज्योति-दर्शन / तिब्बत और भारत पर चीनी आक्रमण का रहस्य / वह रहस्यमय लामा ।

और अब अन्त में ४९३–४९६

दो शब्द

भारतीय संस्कृति और साधना के आधारभूत जितने भी वाङ्मय हैं, उनमें योग और तन्त्र का स्थान सर्वोच्च है। उनका महत्त्व इसीमें निहित है कि वे दोनों परम शास्त्र लौकिक तथा पारलौकिक सुखों के प्रदाता तो हैं ही, इसके अतिरिक्त परम मुक्ति के साधन भी हैं, इसमें सन्देह नहीं।

पं० अरुणकुमारजी शर्मा योग और तन्त्र के लब्धप्रतिष्ठित अनुभवी विद्वान् और प्रख्यात लेखक हैं। पिछले चार दशक से भी अधिक समय से आपकी लेखनी अनवरत गतिशील है। अब तक आपकी सैकड़ों रचनाएँ देश-विदेश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

पिछले कई वर्षों से आपकी योगतन्त्रपरक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ 'आज' में भी प्रकाशित हो रही हैं। अब तक की उन प्रकाशित रचनाओं में 'मारण-पात्र' भी एक रहा है, जो योगतान्त्रिक साधना-साहित्य का प्रतिनिधित्व करनेवाला अपने-आपमें अद्भुत ग्रन्थ है। जब 'मारण-पात्र' 'आज' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा था उस समय सभी वर्ग के पाठकों के हजारों की संख्या में पत्र मेरे पास आये, जिनमें प्रायः विशेषकर 'मारण-पात्र' को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का ही अनुरोध और आग्रह होता था। मुझे इस बात की भारी प्रसन्नता है कि विश्वविद्यालय प्रकाशन ने उनके अनुरोध और आग्रह को साकार कर निश्चय ही योग-तान्त्रिक साधना-साहित्य के एक अभाव की पूर्ति की है। विश्वविद्यालय प्रकाशन का यह प्रयास निश्चय ही महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय है।

सम्पादक, 'आज'
वाराणसी

—शार्दूलविक्रम गुप्त

अपनी बात

मनुष्य की आत्मा एक ऐसी वस्तु है—जो निरन्तर ज्ञान की ओर बढ़ती रहती है, क्योंकि उसका एकमात्र भोजन है ज्ञान। यदि हम उसके मूल निर्देश और संकेत को समझने का प्रयत्न करें तो जीवन अपने-आप सही दिशा में बढ़ता जायेगा। अपने-आप हम सही मार्ग पर चलते जायेंगे। सच तो यह है कि 'आत्मा' की सारी प्रक्रियाएँ हमारे जीवन-निर्माण के लिए हैं, हमें पशु से मनुष्य बनाने के लिए हैं। मनुष्य बनने का अर्थ है, मानव-योनि में देवत्व-लाभ।

जिसने आत्मा को समझा, उसके मूक संकेत को समझा और उसकी मूक पदध्वनि को सुना, वास्तव में उसीके जीवन का सच्चे अर्थों में निर्माण होता है। आत्मा 'सत्य' है और परमात्मा है 'परम सत्य'। हम दुःखी इसलिए हैं कि हम न सत्य से परिचित हैं और न तो परम सत्य से। 'सत्य' जीवन-जगत् और आत्मा-परमात्मा का प्राण है। उनके अस्तित्व का भी अस्तित्व है। सत्य की खोज नहीं की जाती। 'खोज' शब्द उसके लिए व्यर्थ है। वास्तव में खोज सत्य की नहीं, बल्कि असत्य की होती है। खोज तो उस वस्तु की होती है—जो हमारे पास नहीं है और जिसकी हमें आवश्यकता है। खोज उसकी नहीं हो सकती जो हमारे पास और हमारे करीब है। किसी वस्तु को खोजने के लिए 'दो' की आवश्यकता पड़ती है—पहली खोजनेवाले की, दूसरी जिसकी खोज हो। मगर जहाँ तक 'सत्य' की बात है—वहाँ दोनों एक ही हैं। जैसे नृत्य से नृत्यकार को, मूर्ति से मूर्तिकार को और कला से कलाकार को अलग नहीं किया जा सकता और न तो समझा जा सकता है, उसी प्रकार सत्य को और सत्य को खोजनेवाले को भी न अलग किया जा सकता है और न तो समझा ही जा सकता है।

हमारे जीवन के दो छोर हैं—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी जीवन में प्रकाश है, लेकिन अन्तर्मुखी जीवन घोर अन्धकारमय है। आँखें बन्द करते ही उसका हमें अनुभव होता है। हमारी सारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। मन भी बाहर भटकता रहता है। बाहर प्रकाश है। इन्द्रियों के साथ मन बाहर प्रकाश में सत्य को खोजने का प्रयास करता है। भीतर का जो अन्तर्मुखी जीवन है—वहाँ न इन्द्रियाँ काम करती हैं और न तो मन ही झाँकता है। जहाँ तक हमारी इन्द्रियों की सीमायें हैं और जहाँ तक हमारा मन भागदौड़ करता है—वहीं तक हम खोज कर सकेंगे। इन्द्रियों की और मन की सीमा, खोज की सीमा है और जहाँ वह सीमा समाप्त हो जाती है—वहाँ से हमारी सारी इन्द्रियाँ वापस लौट आती हैं—और जहाँ वापस लौटकर आती हैं—वह 'भीतर' है और उस 'भीतर' में घोर अन्धकार है और उस घोर अन्धकार में डूबा हुआ महाशून्य

है। मगर शून्य से हमारा मतलब अभाव नहीं है। जहाँ शून्य होगा—वहाँ 'शक्ति' होगी। शून्य जितना गहरा होगा वहाँ शक्ति भी उतनी गहरी होगी। शून्य यानी शक्ति का केन्द्र, शक्ति का पीठ। हमारे भीतर जहाँ अन्धकार और उस अन्धकार में डूबा हुआ जहाँ परम शून्य है—वहाँ आत्मशक्ति का केन्द्र है। आत्मा की सत्ता है। आत्मा क्या है, अस्तित्व। सत्य के रूप में प्रतिष्ठित है वहाँ आत्मा। मगर हमारी इन्द्रियाँ मन की सहायता से और हमारा मन इन्द्रियों की सहायता से उस परम सत्य को और उस आत्मा को बाहर प्रकाश में खोजता है और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

आत्मा सत्य है और उस सत्य की शक्ति—प्रकृति के रूप में सम्पूर्ण विश्व में फैली हुई है। वैज्ञानिकों की धारणा है कि वे सत्य की खोज करते हैं, लेकिन हम कहते हैं कि वे सत्य की खोज का अभिनय करते हैं। विज्ञान चलता है सत्य की खोज में, मगर उपलब्ध होती है उसे शक्ति। आज का विज्ञान सत्य की खोज की भावना और विचार लेकर बराबर शक्ति अर्जित करता जा रहा है। बराबर शक्तिशाली होता जा रहा है। विज्ञान भले ही शक्तिशाली हो, पर सत्यशाली नहीं है। सत्यशाली कभी भी नहीं हो सकता। क्योंकि उसे सत्य कभी भी प्राप्त नहीं होता। प्राप्त होती है उसे शक्ति। यदि ऐसे व्यक्ति के पास शक्ति आ जाय—जिसने सत्य को प्राप्त नहीं किया है और सत्य की अनुभूति नहीं की है—काफी खतरनाक सिद्ध होता है। क्योंकि वह अपनी तमाम शक्तियों का उपयोग असत्य के नियोजन में ही करता रहेगा। यही स्थिति आज विज्ञान की है। उसके पास शक्ति का भण्डार है, लेकिन सत्य का पूर्णतया अभाव है। यही कारण है कि आज विज्ञान से भयंकर खतरा पैदा हो गया है। अशान्ति पैदा हो गयी है। यह स्वीकार है कि विज्ञान ने प्रकृति पर विभुता स्थापित करते हुए बहुत उन्नति की है, मगर मनुष्य की तृष्णा अभी भी नहीं बुझी। वैज्ञानिकों के विचार डावाँडोल हो रहे हैं। वे कहाँ जा रहे हैं, उन्हें स्वयं ज्ञात नहीं। उनका कहना है कि हम अपनी आविष्कारोन्मुख प्रतिभा और विज्ञान का गर्व करते हुए भी सत्यता के स्वभाव, रूप एवं उसकी प्रगतियों से मौलिक रूप से अनभिज्ञ हैं। हम कहाँ जा रहे हैं, नहीं जानते और न हमें यही ज्ञात है कि हम अनुकूल मार्ग पर हैं। यदि भविष्य में कोई वांछनीय लक्ष्य है भी तो कदाचित् हम उससे बहुत दूर जा पड़े हैं।

यह आश्चर्य किन्तु सत्य है कि प्रतिवर्ष मानव-मन प्रकृति की शक्तियों पर विभुता स्थापित करता जा रहा है। पर उसे स्वयं अपने पर ही संयम नहीं है और वह ज्यों का त्यों अबौद्धिक और असभ्य पड़ा हुआ है। यह भी सत्य है कि 'सत्य' के नाम पर विज्ञान की शक्ति की खोज ने मानव-समाज को भयंकर कठिनाइयों में डाल दिया है। उसकी अब तक की उपलब्धियों के कारण अपने भीतर के आयामों को खोजने की प्रवृत्ति मनुष्य में बिल्कुल मन्द पड़ गयी। परिणाम यह हुआ कि पिछले हजारों वर्षों में भगवान् बुद्ध,

महावीर, ईसा, क्राइस्ट, मुहम्मद आदि जैसे युग-पुरुषों को संसार पैदा न कर सका। इसलिए कि ऐसे अवतारी पुरुषगण भीतर के आयामों से उत्पन्न हुआ करते थे। आज तक बाहरी आयामों की खोज हो रही है। भीतर के आयामों की ओर न अब तक किसीका ध्यान गया है और न जा रहा है, जिसके फलस्वरूप पिछले चार सौ वर्षों के अन्तराल में मनुष्य के बाहरी आयामों की खोज की प्रतिभा ने आइन्स्टीन जैसे लोगों को ही पैदा कर सका। हम यह स्वीकार करते हैं कि मानव-प्रज्ञा ने तरह-तरह के आविष्कार किये, तरह-तरह के निर्माण किये, मगर सत्य का आविष्कार और निर्माण न कर सकी। इसलिए सत्य का निर्माण और आविष्कार करने के लिए संसार में न कोई साधन है और न तो कोई उपाय ही है। सत्य स्वयं निर्मित है। सत्य स्वयम्भू है। सत्य सनातन है। मनुष्य के द्वारा जो भी निर्माण होता है, जो भी आविष्कार होता है, वह असत्य ही होता है। इसलिए कि वह निर्मित है। मगर मनुष्य ने सोचा कि वह सत्य का भी निर्माण कर सकता है। उसकी इस वैचारिक भ्रान्ति ने अनर्थ कर डाला। सच तो यह है कि इसी मानव-भ्रान्ति के फलस्वरूप बहुत सारे नियम, सिद्धान्त आदि बन गये। तमाम शास्त्रों की रचना हो गयी। अनेक धर्म-ग्रन्थों की रचना हो गयी। तरह-तरह के सम्प्रदायों का आविर्भाव हो गया, जिनका परिणाम यह हुआ कि वास्तविक सत्य की खोज की मानव-प्रवृत्ति नष्ट हो गयी। आज हम सत्य की खोज के लिए जाते हैं तो प्रायः कोई न कोई नियम या सिद्धान्त लेकर वापस लौट आते हैं। सत्य की खोज करने जाते हैं तो गीता-रामायण, कुरान-बाइबिल आदि लेकर वापस लौट आते हैं। सत्य की खोज करने जाते हैं तो गुरु मिल जाते हैं और हम शिष्य बनकर वापस लौट आते हैं। सोचते हैं, समझते हैं कि हमें सत्य मिल गया। हम सत्य को उपलब्ध हो गये हैं।

इस समय संसार में लगभग तीन सौ धर्म हैं। इनके अतिरिक्त न जाने कितने व्यक्तिगत धर्म भी हैं। इन तमाम धर्मों का कहना है कि 'सत्य' उनके पास है। सभी धर्मों का कहना है कि सत्य की अनुभूति उसने की है और सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया है उसने। सच बात तो यह है कि इसीके फलस्वरूप एक धर्म दूसरे धर्म से बराबर संघर्ष करते चले आ रहे हैं। लड़ते-भिड़ते चले आ रहे हैं शुरू से। आज तक धर्म के नाम पर जितना संघर्ष हुआ, लड़ाइयाँ हुईं, रक्तपात हुए उतने अन्य किसी कारण से नहीं हुए।

मेरे विचार से जितने भी धर्म हैं और उनके जितने शास्त्र व सिद्धान्त हैं—वे सबके सब मानव-जाति को आपस में लड़ाने के सिवाय और कुछ नहीं करते। इसलिए निश्चित रूप से यही कहा जायेगा कि इन सबकी गहराई और इन सबकी जड़ में भयंकर असत्य छिपा बैठा है।

आपको ज्ञात होना चाहिए—जहाँ सत्य होगा—वहाँ शान्ति होगी, संघर्ष नहीं। जहाँ सत्य होगा—वहाँ कलह न होगा, सुलह होगी। जहाँ सत्य होगा—वहाँ प्रेम होगा, घृणा न होगी। हम शास्त्रों, सिद्धान्तों, सम्प्रदायों के नियमों में बँधे हुए हैं। गुरुओं के झमेले में फँसे हैं। यदि हमें सत्य को प्राप्त करना है तो इन तमाम बन्धनों से अपने-आपको मुक्त करना होगा। गुरुओं से बचना होगा। सच तो यह है कि हम कल्पनाओं में जीते है। इसलिए हमारा सम्बन्ध सत्य से स्थापित नहीं हो पाता। हम सत्य को देख नहीं पाते। हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व असत्य है और साथ ही हम सत्य को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। हमारा सारा जीवन असत्य पर आधारित है। सारा व्यक्तित्व असत्य पर खड़ा है। सत्य की खोज के लिए अथवा सत्य को पाने के लिए जीवन से और व्यक्तित्व से असत्य को निकाल बाहर करना आवश्यक है।

जीवन में, व्यक्तित्व में और व्यवहार में हम जैसे बाहर हैं वैसे भीतर नहीं हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा दिखलायी नहीं पड़ना चाहता—जैसा कि वह है। जो सत्य है, जो वास्तविकता है—उसे व्यक्ति छिपा लेना चाहता है और जो झूठ है, मिथ्या है, असत्य है, उसकी चादर ओढ़ लेना चाहता है। फिर वही व्यक्ति सोचने लगता है कि मैं सत्य को प्राप्त करूँ। वही व्यक्ति फिर गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल का पाठ करता है। फिर वही व्यक्ति भगवान् की मूर्ति के सामने खड़ा होकर हाथ जोड़ता है, भजन गाता है, प्रार्थना करता है, व्रत-उपवास रखता है कि उसे सत्य उपलब्ध हो जाय। सत्य का दर्शन हो जाय। वह व्यक्ति यह कभी भी सोचने-समझने की चेष्टा नहीं करता कि यदि वह स्वयं 'असत्य' है और उसका सारा व्यक्तित्व ही असत्य पर स्थित है, तो उसे सत्य का पता कैसे चल सकता है?

सत्य की प्राप्ति के लिए सबसे पहले हमें अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सत्य पर प्रतिष्ठित करना होगा। हमारा व्यक्तित्व जैसा भी है वैसा ही होना चाहिए—सीधा, सरल और पूर्ण स्वच्छ। हम जैसे भी हैं और हम जो भी हैं—व्यक्तित्व की स्वीकृति भी वैसी ही होनी चाहिए। लेकिन वह स्वीकृति हमारे मन के भीतर कहीं नहीं है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन्हें हम भला आदमी कहते हैं—उनमें वह सरलता, सहजता और स्वच्छता बहुत ही कम दिखलायी देती है। इसके ठीक विपरीत जिन्हें हम बुरा आदमी कहते हैं, अपराधी और चरित्रहीन समझते हैं, वे सरल, सहज हो सकते हैं। लेकिन जिन्हें हम साधु और सज्जन कहते हैं वे तो बिल्कुल ही सरल, सहज और स्वच्छ नहीं हैं। और यही मूल कारण है कि सभ्यता और संस्कृति जैसे-जैसे विकसित होती चली गयी—वैसे ही वैसे मनुष्य असत्य होता चला गया।

मानव-सभ्यता और संस्कृति का आधार धर्म है। मगर धर्म के नाम पर आज तक जितनी भी हत्याएँ हुई हैं—न तो डाकुओं ने उतनी हत्याएँ की हैं, न चोरों-बदमाशों

ने । धर्म के नाम पर जितने गाँव जलाये गये, जितनी स्त्रियों का अपमान किया गया, जितना बलात्कार, पापाचार, व्यभिचार और अत्याचार किया गया, उतना आज तक बड़े-से-बड़े हृदयहीन पापियों ने भी मिलकर न किया होगा । बड़े आश्चर्य की बात है कि धर्म के नाम पर इतना सब होगा, तो अधर्म के लिए कुछ भी नहीं छोड़ा है धार्मिकों ने ।

× × ×

सत्य की खोज का पहला चरण अपने प्रति सच्चा होना है । सत्य को जाने बिना जीवन में कोई स्वतन्त्रता नहीं है । सत्य ही स्वतन्त्रता है और सत्य को जो न जान सकेगा—उसका जीवन कभी भी आनन्दमय नहीं हो सकता । वह दुःख में जीयेगा और दुःख में ही मरेगा । अर्थहीनता में व्यर्थ ही उसका समय व्यतीत होगा । उसका जीवन चुक जायेगा और वह जीवन को जानने से वंचित रह जायेगा । इसलिए ही मनुष्य सत्य को जानना चाहता है और इसलिए तो हम उन द्वारों पर भटकते हैं—जहाँ हमें ख्याल है कि सत्य प्राप्त हो जायेगा । हम अवश्य प्यासे हैं, नहीं तो मन्दिरों, मस्जिदों व गिरिजाघरों में भला कौन जाता ? हमारे भीतर अवश्य आकांक्षा है, लेकिन आकांक्षा अकेली ही काफी नहीं है । प्यास अकेली ही काफी नहीं है । हमें अपने भीतर असत्य की उन दीवारों को भी तोड़ देना है जो कि हमने स्वयं खड़ी कर ली हैं । तभी हमारा सत्य से सम्पर्क हो सकता है ।

× × ×

जिस सत्य को हम नहीं जानते हैं—उसकी स्वीकृति से बड़ी और कोई मूढ़ता नहीं है और वह मूढ़ता आस्तिकता कैसे हो सकती है ? नहीं । नहीं । नहीं । वह तो आत्मघात है । सत्य के पक्ष में जिन्हें खड़ा होना है—उन्हें यह आत्मघात स्वीकार नहीं । जो व्यक्ति समाज और परम्परा के द्वारा कही गयी बातों को बिना सोचे-विचारे और स्वयं बिना जाने स्वीकार कर लेता है, वह सदा के लिए असत्य के पक्ष में खड़ा हो जाता है । सत्य वही है, जो स्वयं जाना जाता है । दूसरे का ज्ञान और अनुभव हमारा ज्ञान और अनुभव नहीं बन सकता । सत्य सदा ही व्यक्तिगत अनुभव है, वह समष्टि की धारणा नहीं है । वह जब भी है, हमारा है । दूसरे का होते ही वह हमारे लिए असत्य है । इसलिए सत्य का न कोई शास्त्र है और न परम्परा है । उसकी उपलब्धि सदा ही मौलिक है । वह प्रत्येक बार नया है । वह प्रत्येक के लिए नया ही आविर्भाव है । नया ही अवतरण है । इसलिए जिसे उसके निकट पहुँचना है उसे अन्ध स्वीकार में नहीं पड़ना चाहिए । उसका सोच-विचार सजग होना चाहिए । उसका चित्त कभी भी स्वीकृति के लिए चुपचाप राजी नहीं होना चाहिए । उसके भीतर विचार और सन्देह का विकास होना चाहिए । तभी वह बच सकेगा, अन्यथा असत्य उसे पकड़ लेगा और वह उससे घिर जायेगा और असत्यों में घिर जाना इतना सन्तोषदायी है, जिसका

कोई हिसाब नहीं। असत्य में घिर जाना इतनी तृप्ति देता है, जिसका कोई अन्त नहीं। सत्य को पाना एक तप है, एक तपश्चर्या है, एक श्रम है, और असत्य को? असत्य को तो हम निद्रा में भी स्वीकार कर लेते हैं। उसके लिए तो जागना भी आवश्यक नहीं है। वहाँ न कोई श्रम है, न कोई तप है। केवल हमारी स्वीकृतिभर चाहिए। और स्वीकृति अगर हमारे अहंकार को तृप्ति देती हो, सन्तोष देती हो तो फिर कहना ही क्या? यदि मैं आपसे कहूँ कि आप अमर हैं तो आपका मन एकदम मानने को तैयार हो जायेगा। इसलिए नहीं कि मैंने जो कहा है उसमें सत्य की झलक है, बल्कि इसलिए कि आपका मन मरने से डरता है! मृत्यु का भय है इसलिए आत्मा की अमरता को स्वीकार करने के लिए कोई भी तैयार हो जायेगा। आत्मा की अमरता को स्वीकार करने में कोई सत्य का अनुभव हुआ हो, ऐसा नहीं है, बल्कि हमारे भीतर मृत्यु का जो भय था— उसको ऐसे छिप जाने के लिए सस्ती ओट मिल जाती है। ऐसे हम मृत्यु-भय से एक अस्थायी बचाव और पलायन कर लेते हैं। इसलिए जो लोग मृत्यु से जितना डरते हैं—उतने ही आत्मा की अमरता के विश्वासी हो जाते हैं। जो जाति जितनी मृत्यु से भयभीत होती है—उतनी ही धार्मिक हो जाती है। यह धर्म असत्य है। क्योंकि धर्म का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। धर्म का सम्बन्ध है अभय से। भय (fear) से धर्म का क्या सम्बन्ध? धर्म का सम्बन्ध है अभय (fearlessness) से। लेकिन हमारी ये स्वीकृतियाँ हमारे भय पर ही खड़ी होती हैं। जिन असत्यों से हम घिरते हैं, उनसे हमें झूठी सान्त्वनाएँ (consolations) मिलती हैं और ये झूठी सान्त्वनाएँ ही असत्यों से बाँधनेवाली जंजीरें सिद्ध होती हैं।

× × ×

मनुष्य तो बस उन्हीं बातों को स्वीकार करता है, जिससे उसके अहंकार को तृप्ति मिलती है और उसका यह रोग सनातन है। और इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य ने अपने आसपास परिकथाओं (myth) का एक कल्पना-जाल बुन लिया है और उस जाल में ही विश्वास किये जाता है और वह जाल इतना असत्य है कि जो भी उस जाल में घिर जाता है और फँस जाता है वह सत्य के प्रति आँख भी खोल नहीं पाता है। ऐसा करने से वह स्वयं ही डरेगा, क्योंकि सत्य की ओर आँखें उठाना इस जाल का टूटना बन जायेगा। किन्तु जब तक हम मनुष्य के जीवन के तथ्यों को सीधा न जान लें तब तक हम जीवन के सत्य को भी नहीं जान सकते हैं।

सत्य को जान लेने के पहले जीवन के तथ्यों को जान लेना आवश्यक है। क्योंकि जो जीवन-तथ्यों (facts) को ही नहीं जानता, वह जीवन-सत्य (truth) को कैसे जान सकता है? और फिर वे तथ्य कितने ही कड़ुए, कितने ही तीखे, कितने ही जलन पैदा करनेवाले क्यों न हों— उन्हें जान लेना बहुत आवश्यक है और कल्पनाएँ कितनी ही

सुखद, कितनी ही मधुर, कितनी ही प्रीतिकर क्यों न हों—वे कल्पनाएँ ही हैं। उन पर चढ़कर कोई सत्य की यात्रा नहीं कर सकता है। आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि सपने कहीं पहुँचाते तो नहीं, लेकिन कहीं पहुँचने से रोक अवश्य लेते हैं।

मनुष्य के जीवन में जो सबसे बड़ी दुर्घटना घट गयी है—वह यही है कि उसने अपने आसपास कल्पनाओं का एक ऐसा जाल बुन लिया है जो उसे कदम-कदम पर रोकता है और सत्य की ओर बढ़ने में बाधा उत्पन्न करता है। लेकिन इसे तोड़ने में भी उसे बड़ी झिझक होती है, क्योंकि वह उसे स्वप्न नहीं, सत्य ही मानता है और जिसे वह सत्य मानता है उसे वह और बुनता ही चला जाता है और फिर शनैः शनैः स्वयं ही उस जाल में खो जाता है और फिर पता ही लगाना कठिन हो जाता है कि वह स्वयं कौन है ? वह कहाँ से आया है और वह फिर कहाँ जायेगा ? कहने की आवश्यकता नहीं, इन तीनों महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समुचित उत्तर प्राप्त करना 'सत्य' की सर्वोच्च उपलब्धि है। भारतीय संस्कृति में इस उपलब्धि का एकमात्र साधन योग-तन्त्र है। मैं कोई सन्त-महात्मा नहीं हूँ और न तो हूँ कोई योगी-साधक ही। लेकिन हाँ, उक्त साधन-मार्ग के पथिक सन्त-महात्माओं और योगी-साधकों के सम्पर्क और सान्निध्य में दीर्घकाल तक अवश्य रहा हूँ मैं और उनके द्वारा जो मुझे आध्यात्मिक उपलब्धि हुई है उसे पढ़कर यदि आपका मन व्याकुल हो उठता है और आपकी आत्मा अकुला उठती है तो मैं यही समझूंगा कि मेरा अस्तित्व ऐसे सत्य को उपलब्ध हो गया है—जो शब्दों और भावों के द्वारा सुषुप्त जन-मानस में आध्यात्मिक चेतना जागृत कर रहा है।

—अरुणकुमार शर्मा

पूर्वपीठ

ऐतिहासिक विपर्यासों के प्रवाह में पड़कर आज भारतीय बुद्धिजीवी-वर्ग भारत की प्राचीन अध्यात्म-विज्ञान-परम्परा से इतनी दूर जा पड़ा है कि उसे आधुनिक विज्ञान की चकाचौंध में कुछ सूझ ही नहीं पा रहा है। आज उसका ठोस आधार ही गायब हो चुका है, जिस पर खड़ा होकर वह अपने चतुर्दिक् होनेवाले परिवर्तनों और वैज्ञानिक प्रगति की स्वस्थ एवं अस्वस्थ प्रवृत्तियों का सही मूल्यांकन अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से करते हुए अपने और संसार के लिए वास्तविक कल्याणकारी मार्ग का निर्देशन कर सके। इस महान् कार्य में जिस तेजस्वी, बौद्धिक नेतृत्व की अपेक्षा है, उसके निर्माण के लिए अभी तक न किसी व्यवस्थित शिक्षा-पद्धति का विकास किया जा सका और न तो किसी सुदृढ़ केन्द्र की स्थापना ही हो सकी, जिसमें अधुनातन ज्ञान के प्रकाश में प्राचीन भारतीय अध्यात्म-विज्ञान के सम्बन्ध में राष्ट्र की सर्वोत्कृष्ट प्रतिभाएँ शोध और अनुसन्धान-कार्य निष्ठापूर्वक सम्पन्न कर सकें। यह स्वतन्त्र भारत का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। अब तक हम इस मूलभूत चिर अपेक्षित एवं उपेक्षित कर्तव्य का सम्पादन नहीं कर लेते, हमारे राष्ट्र का कोई भविष्य नहीं है। आज ज्ञान और जीवन के समस्त क्षेत्रों में विज्ञान के प्रत्येक नये अनुसन्धान से एक नयी खलबली पैदा हो जाती है। विज्ञान की रफ्तार इतनी तेज है कि चौबीस घण्टे में कोई भी सुस्थापित तथा कथित वैज्ञानिक सिद्धान्त अवैज्ञानिक घोषित किया जा सकता है। परीक्षण और त्रुटि के माध्यम से निरन्तर प्रयोगशील विज्ञान ने मानव-जीवन को हर क्षेत्र में अस्थिर बना दिया है। नित्य बढ़ती हुई अस्थिरता और अशान्ति विज्ञान-युग का एक अनिवार्य लक्षण बन चुकी है। आधुनिक विज्ञान का आरम्भ पश्चिम में गत पौने दो सौ वर्षों से हुआ है, किन्तु विज्ञान ने जो प्रगति पिछले दो दशकों में की है—उसके मुकाबले पीछे की सारी प्रगति बाल-प्रयास-सी लगती है। अब आगे तो यह स्थिति है कि दस-पन्द्रह दिनों की प्रगति ही पूरे दशक की प्रगति को मात देती जायेगी। विज्ञान की इस सम्पूर्ण प्रगति पर सरसरी दृष्टि डालने से ही—जो तथ्य सर्वाधिक उभरकर सामने आता

है, वह है शक्ति के स्रोतों की खोज और उसका मानव-जीवन में उपयोग। इसके साथ ही विज्ञान जिस सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य को प्रमाणित करता हुआ दिखायी देता है, वह यह है कि किसी भी शक्ति का स्रोत जितना ही सूक्ष्म होता जायेगा—उससे उसी अनुपात में विपुल शक्ति का निस्सरण होगा। कोयला, पेट्रोल, जल आदि शक्ति-स्रोतों के दोहन के बाद विज्ञान आज परमाणु-शक्ति का स्रोत प्राप्त कर चुका है। यह विज्ञान द्वारा अद्यावधि उपलब्ध शक्ति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विपुलतम स्रोत है। इस स्रोत तक पहुँचते ही आज विज्ञान पार्थिव अथवा भौतिक न रहकर अपार्थिव अथवा अभौतिक हो चुका है। अन्तरिक्ष-अनुसन्धान ने परम्परागत पार्थिव विज्ञान को अपार्थिव और अन्तरिक्षीय आयाम दे दिये हैं, जिससे विज्ञान की परम्परागत दृष्टि प्रविधि, प्रयोग और उद्देश्य में आमूलचूल परिवर्तन हो जाने की सम्भावना सुनिश्चित हो गयी है। वास्तविकता यह है कि आज का विज्ञान पदार्थवादी न रहकर शक्तिवादी, ऊर्जावादी हो चुका है। और जिसे आज परमाणु कहा जा रहा है, वह भी परमाणु नहीं है। अभी तो परमाणु के अन्दर एक पूरे विश्व जैसा विस्तार दिखायी दे रहा है, जिसमें पहली बार मानव-प्रज्ञा ने पदार्पण किया है। प्रथम परमाणु-विस्फोट के अभूतपूर्व अनुभव का वर्णन करने के लिए अमेरिका के परमाणु-अनुसन्धान-निर्देशक 'ओपेन हिमर' को विश्व-वाङ्मय में निम्नलिखित गीतोक्त भगवान् के विश्वरूप-वर्णन के अतिरिक्त कहीं कोई शब्दावली नहीं मिली।

'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ (११.१२)

अर्थात् यदि एकाएक एक हजार सूर्यों का प्रकाश आकाश में उभर आये तो कदाचित् उस महात्मा (भगवान्) के प्रकाश का कुछ वर्णन किया जा सकता है। अन्यथा वह तो अवर्णनीय ही है।

ओपेन हिमर ने प्रथम परमाणु-विस्फोट के वर्णन के लिए इन गीतोक्त शब्दों को ले लिया, किन्तु जिस तेजपुंज महात्मा का नगण्य प्रकाश है, उस परमतत्त्व तक पहुँचना अभी विज्ञान के वश की बात नहीं है। यहाँ सबसे अधिक ध्यान देने योग्य शब्द 'महात्मा' है। यह भारतीय अध्यात्म-विज्ञान की चरम उपलब्धि है। सृष्टि का मूल अक्षर 'तत्त्व' है। यह 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' अद्वय तत्त्व है। इसी अक्षर तत्त्व के 'क्षर' अंश से समस्त नामरूपात्मक प्रपंच की सृष्टि होती है। कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व भी, यदि उसका विखण्डन हो जाता है तो वह भी 'अक्षर' ब्रह्म के 'क्षर' अंश का ही भाग है। इसी 'अक्षर' ब्रह्म के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' के प्रथम श्लोक में कहा है—

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

शब्द तत्त्व अनादि अनन्त अक्षर ब्रह्म है। इसके अर्थभाव से विकसित हो जाने पर इसीसे समस्त सृष्टि का निवर्तन आरम्भ हो जाता है। जैसे दूध से ही दधि, घृत आदि पदार्थ बन जाते हैं और उनके अर्थ, गुण आदि भी भिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार समस्त नामरूपात्मक प्रपंच अक्षरब्रह्म का ही विवर्त है। अक्षरब्रह्म नादरूप में था। उसीमें प्रथम विस्फोट हुआ, जिसके फलस्वरूप सृष्टि का क्रम चल पड़ा। यह प्रथम नाभिक विस्फोट था, जिसकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति नाभि में होनेवाले प्रत्येक शब्द के स्फोट के रूप में कर सकता है। जगत् के मूल में व्याप्त वह आदि अव्यय अक्षर नादतत्त्व ही 'प्रणव' अर्थात् 'ॐ' पद से अभिहित हुआ है—'ओमित्येतदक्षरं ब्रह्म'। भारतीय ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से सृष्टि-प्रक्रिया का साक्षात्कार याज्ञिक, यौगिक और तान्त्रिक इन तीनों रूपों में किया है। इसीको क्रमशः कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड कहते हैं। उपासना मूल है। उसीसे एक ओर कर्म तो दूसरी ओर ज्ञान का विकास होता रहता है। याज्ञिक या 'कर्म' दृष्टि से ऋग्वेद ने घोषित किया—'अग्निमीळे पुरोहितम्'—मैं अपने सामने रखे हुए अग्नि की स्तुति करता हूँ। यह 'अग्नि' हविर्मुख है। इसीसे हविष्य प्राप्त कर सभी देवता सन्तुष्ट होते हैं। इसी अग्नि का एक रूप 'सूर्य' है जिसके सम्बन्ध में ऋषियों ने कहा है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'।—सूर्य जड़ और जंगम—दोनों प्रकार की सृष्टियों का आत्मा है। इसी अग्नि का दूसरा रूप 'चन्द्रमा' है, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—'चन्द्रमा मनसो जातः'। चन्द्रमा की उत्पत्ति धाता के मनोदेश से हुई। यह अग्नि स्थूल से सूक्ष्म तक फैला हुआ है। यह विश्व का चरमरूप विधायक तत्त्व है। इसके तीन रूप हैं—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। वैश्वानर विश्वरूप है, तैजस मनोरूप है और प्राज्ञ बुद्धिरूप है।

हमारा मानस संस्थान जैव संस्थान पर आधारित है और बौद्धिक संस्थान मानस संस्थान पर। अभी इस क्रम को समझने में विज्ञान को बहुत समय लगेगा। भौतिक विज्ञान की पर्याप्त प्रगति के पश्चात् ही मनोविज्ञान का आरम्भ हुआ है। फ्रायड का चित्त विकलन शास्त्र और बाद में आया। अब मनोविज्ञान आत्मविज्ञान की दिशा में बढ़ने के लिए विवश है। ऋषियों ने याज्ञिक दृष्टि से इस परम सत्य का साक्षात्कार किया कि 'अग्निसोमात्मकं जगत्'—जगत्-रचना में मुख्यतः दो ही तत्त्व हैं—अग्नि और सोम (ताप और उससे रूपान्तरित होनेवाला मूल द्रव्य)।

आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहें तो बर्फ में भी गरमी होती है, तापमान होता है। इस गर्मी को बढ़ाया जाय तो बर्फ पिघलकर जल बन जायेगा और गरमी बढ़ाने

पर जल भाप बन जायेगा और वह भाप आकाश में फैल जायेगी। वस्तुतः याज्ञिक पंचतत्त्व क्रमशः सृष्टि के मूल उपादान सोम के इन्हीं पाँच गुणों के द्योतक हैं, क्षिति (सालीडिटी), जल (लिक्वीडिटी), पावक (हीट), गगन (स्पेस), समीर (गैसियसनेस)। पिण्ड में इन्द्रियों का विकास क्रमशः इस प्रकार हुआ—जिसे आज के जीव-विज्ञान में स्पष्टतः देखा जा सकता है, प्रकाश या रूप के ग्रहण करने के प्रयास में चक्षुरिन्द्रिय, शब्दग्रहणार्थ श्रोत्रेन्द्रिय, गन्धग्रहण के लिए घ्राणेन्द्रिय, रस के ग्रहण के लिए रसना, संचलनार्थ पाणि, पाद, प्रजननार्थ उपस्थ, स्पर्शानुभव के लिए त्वचा। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—इन पंचतन्मात्राओं से—पंच ज्ञानेन्द्रियों का विकास हुआ।

याज्ञिक सृष्टि से अधिभूत का दर्शन कर आर्ष दृष्टि अध्यात्म-तत्त्व की ओर बढ़ती है, जिसे यौगिक दृष्टि कहते हैं। योग की साक्षात् कृति है, 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'। अण्डज, पिण्डज, स्वेदज—यह सृष्टि का आदि भौतिक क्रम है। इसके पूर्व आर्ष और मनःसृष्टि है—अमैथुनी सृष्टि है। अमैथुनी सृष्टि का दर्शन तो स्वेदज में भी दिखाई देता है। अब विज्ञान का शतधा विशेषीकरण धीरे-धीरे समन्वित होकर एक पूर्ण विज्ञान की ओर बढ़ रहा है। इस पूर्ण विज्ञान के प्रमेयों की उपस्थापना में अध्यात्म-विज्ञान का मार्ग-निर्देशन अवश्यंभावी है। इसीलिए जाने या अनजाने आज के उद्‌बुद्ध मानव-मस्तिष्क योग के अन्वेषण की ओर उन्मुख हो रहा है। पिण्ड जगत् (आर्गेनिज्म) के क्रम में मानव का शरीर-पिण्ड अद्यावधि प्राप्त पिण्डों में सबसे विलक्षण पूर्ण पिण्ड है। इसका उत्तमांग, जिसे योग की भाषा में भ्रुकुटि मध्य में स्थित आज्ञाचक्र के ऊपर का भाग कहते हैं—एक अद्‌भुत लोक का दर्शन कराता है। मानव-मस्तिष्क-सम्भावनाएँ अपरि-सीम हैं। यह एक आश्चर्यजनक विराट् दूरभाष-केन्द्र (टेलीफोनिक एक्सचेंज) जैसा है। क्रियावाही नाड़ियाँ (मोटर-नर्व्स) सारे शरीर में फैली हैं। उनकी संवेदना का ज्ञान सूक्ष्म संवेदनावाही नाड़ियों (सेन्सरी-नर्व्स) के माध्यम से होता है, जिनका केन्द्र मस्तिष्क में है। केन्द्र के आदेश से ही शरीर की सभी स्थूल इन्द्रियाँ कार्यरत होती हैं। योग में 'क' स्थूल पिण्ड की संज्ञा है। इन्द्रतत्त्व उसकी संवेदना का नियामक प्राणतत्त्व है। इन्द्र शब्द में 'र' अग्निबीज है और यह 'इन्ध' (जिससे ईंधन शब्द बना है) धातु से निष्पन्न है। याज्ञिक धारा में उपलब्ध प्राज्ञ अग्नि सम्बद्ध होकर इन्द्रपदस्थानीय होता है। इन्द्रियाँ सूक्ष्म-पंचतन्मात्रा रूप में, संवेदना रूप में अग्नि के प्राज्ञ स्थान, मस्तिष्क में ही समाहित हैं। उनके जागरित होने पर ही स्थूल कर्मेन्द्रियाँ केन्द्रीय आदेश से कार्यरत होती हैं। बेहोश व्यक्ति को कोई ज्ञान नहीं होता। उसकी स्थूल इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। योग में केन्द्र, इन्द्र और उससे प्रादुर्भूत इन्द्रियों के विज्ञान की यह संक्षिप्त रूपरेखा है। अंग्रेजी का 'सेन्टर' शब्द केन्द्र से ही व्युत्पन्न है। ऋषियों ने यौगिक साधनों से प्राज्ञ अग्नि के आधान मानव-मस्तिष्क पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर

लिया था, जिससे उन्होंने मानव-पिण्ड में ही निखिल ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म रहस्यों का पूर्णतम दर्शन कर लिया और मानव-मस्तिष्क को लोकोत्तर देव-मस्तिष्क में परिणत कर दिया। उन्होंने अपनी इस दिव्य साधना से मानवीय भाव-सम्पदा को गीतोक्त दैवी सम्पदा में रूपान्तरित करने का मानवीय लक्ष्य निर्धारित किया। यही उनका शाश्वत सन्देश है। यही मनुष्य का परम प्राप्तव्य है। इसीलिए ऋषि-प्रज्ञा की उपलब्धि के सम्बन्ध में कहा गया है—'यज्ज्ञात्वा नेहान्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते' (जिसे जान लेने पर और कुछ जानने के लिए शेष नहीं रह जाता)। इसीलिए उपनिषद्कार ने कहा है कि दौड़ते हुए के पीछे दौड़ने से क्या लाभ है ? दौड़ते हुए को बैठकर प्राप्त करो। नित्य प्रसरणशील विश्व के केन्द्रस्थ रहस्य को ऋषि ने बहिर्मुख विज्ञान से उनका अनुधावन न करके समाधि में समासीन होकर प्राप्त किया था। यही कारण है कि अध्यात्म-विज्ञान की मान्यताएँ परीक्षण और त्रुटि की सरणि पर न होकर 'इदमित्थमेव' रूप में प्रतिष्ठित हैं और मनुष्य की प्रज्ञा को ध्रुव आधार प्रदान करती हैं। उसमें विनिश्चिति, विसंगति, अनस्थैर्य और अशान्ति की गुंजाइश नहीं है। वे मानव को पराकोटि की स्थिरता और शान्ति प्रदान करती हैं।

× × ×

योग में 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' रूप अध्यात्म-विज्ञान को इस एक पद्य में पूर्णतः शिवतत्त्व के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है—

'यस्मिन्दर्पणबिम्बजृम्भितपुरी सन्दर्भतुल्यं जगत्
भातं तत्परसंविदो यत इदं रूप्या दिवल्लीयते।
यस्या ज्ञानविजृम्भिता परमिदं वारीन्दुभेदादिवत्
तं भूमानमुपास्महे हृदि सदा बागार्धजानिर्शिवम्॥

अर्थात् भगवान् ने मनुष्य के साढ़े तीन हाथ के शरीर में भू, भव आदि सप्त लोकों तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, सागर, वृक्ष आदि सभी वस्तुओं को विधिवत् प्रतिफलित कर दिया है। शिवसंहिता के दूसरे पटल में योगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि ब्रह्माण्डसंज्ञक देह में जिस प्रकार अनेक देशों की व्यवस्था है, उसे पूर्णतः जान लेनेवाला ही योगी है—'जानाति यद् सर्वमिदं योगी नास्त्यत्र संशयः। ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथा देशं व्यवस्थितः।'

योग में मानव-शरीर का विभाजन षट्चक्रों के रूप में किया गया है, यथा—१. मूलाधारचक्र (चतुर्दलपद्म), २. मणिपूरकचक्र (षट्दलपद्म), ३. स्वाधिष्ठानचक्र (दशदलपद्म), ४. अनाहतचक्र (द्वादशदलपद्म), ५. विशुद्धाख्यचक्र (षोडशदलपद्म) तथा ६. आज्ञाचक्र (द्विदलपद्म)। इनके स्थान आधुनिक शरीर-शास्त्र की दृष्टि से क्रमशः १. कटि अस्थि (पेल्विक प्लेक्सस), २. नाभि-देश, उदर-प्रदेश (हाइपोगैस्ट्रिक

प्लेक्सस), ३. फेफड़े (एपीगैस्ट्रिक प्लेक्सस), ४. हृदय और यकृत (कार्डियाक प्लेक्सस), ५. गल-प्रदेश (कैरोटिड प्लेक्सस) तथा ६. भ्रुकुटिमध्य (मेडुला) हैं। इनके ऊपर सहस्रदल अर्थात् मस्तिष्क-प्रदेश है।

चतुर्दल में पृथ्वीतत्त्व, षट्दल में जलतत्त्व, दशदल में अग्नितत्त्व, द्वादशदल में वायुतत्त्व और षोडशदल में आकाशतत्त्व की प्रधानता है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर-रथ के संचालन के लिए उक्त तत्त्वों का उक्त स्थानों पर विशेष रूप से निर्माण हो रहा है। दल से तात्पर्य उन-उन स्थानों पर नाड़ियों के बने गुच्छे के रूप से है। इन तत्त्वों के बीजाक्षर तन्त्रशास्त्रोक्त लं (पृथ्वी), वं (जल), रं (अग्नि), यं (वायु) और टं (आकाश) हैं। ये तांत्रिक बीजाक्षर उन ध्वनियों के अनुकरण पर हैं—जो उन तत्त्वों के निर्माण के समय शरीर में उन-उन स्थानों पर गूँजती रहती है। इन्हें सूक्ष्म ध्वनिग्राही यन्त्रों से सुना जा सकता है। शरीर जो अन्न ग्रहण करता है उससे निःसृत होनेवाले पंचतत्त्व निर्दिष्ट स्थानों में संगृहीत होते हैं। तन्त्रशास्त्र में बीजों के वाहन इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—लं (ऐरावत हाथी), वं (मकर), टं (मेष), यं (मृग)। वायु भिन्न-भिन्न तत्त्वों से मिलकर जिस प्रकार की गति उत्पन्न करता है, यहाँ उसीका निर्देशन किया गया है। दलों के वर्ण इस प्रकार हैं—चतुर्दल (रक्तवर्ण), षट्दल (गुलाबी), दशदल (नीलवर्ण), द्वादशदल (लाल वर्ण) और षोडशदल (धूम्रवर्ण)। रुधिर के रक्तवर्ण पर भिन्न-भिन्न तत्त्वों का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसका जो रंग होता है, उसे ही यहाँ निर्दिष्ट किया गया है। शरीर में भिन्न-भिन्न नाड़ियाँ वायु की सहायता से जिस आकार में चक्कर काटती हैं वे ही इन-इन पद्मों के विशिष्ट यंत्र हैं। यथा चतुरस्र (चतुर्दल), अर्धचन्द्राकार (षट्दल), त्रिकोणाकार (दशदल) और लिंगाकार (द्विदल)।

द्विदल (भ्रूमध्य), ॐ प्रणवबीज है। सहस्रदल में शून्य तत्त्व है, जिसमें (:) ह्रीं उसका बीज है। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने कहा था कि ब्रह्माण्ड को देखने से प्रतीत होता है, जैसे उसके पीछे किसीका विराट् मस्तिष्क हो। यही ब्रह्माण्ड का सहस्रार है—जो मानव-मस्तिष्क में निहित है। शून्य अर्थात् बिन्दुतत्त्व से ही सृष्टि (विसर्ग) हुई है। तन्त्रशास्त्र की यही अन्तिम निष्पत्ति है।

× × ×

ऋषि-प्रज्ञा अधिभूत (यज्ञ और कर्म) से अध्यात्म (योग और ज्ञान) की ओर उन्मुख हुई है। किन्तु उनका मूलाधार तो इन दोनों दिशाओं के बीच में प्रवर्तक बिन्दु पर स्थित उपासना है, जो शरीर से कूटस्थ और हृदयस्थ है, उसका आधार 'तन्त्र' है। प्रत्येक पिण्ड के तीन ही रूप बनते हैं—१. यंत्र (मैकेनिज्म), २. तंत्र (गवर्नमेण्ट), ३. मंत्र (मेनान्स या माइण्ड)। यंत्र उसका बाहरी रूप है—जैसे घड़ी का बाहरी रूप।

'तंत्र' उसकी अन्दरूनी व्यवस्था है—जैसे घड़ी के अन्दर के चक्के, स्प्रिंग, लीवर आदि। घड़ी चलती है। उसके पीछे एक गणित है, जिसके आधार पर ही उसके अवयवों का यानी तन्त्र का निर्माण हुआ है। यह मानवीय प्रज्ञा का रहस्य बतलाती है। यही 'मन्त्र' है। इसी व्यवस्था को अध्यात्मशास्त्र में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक व्यवस्था कहते हैं। मनुष्यमात्र यन्त्र नहीं है। वह भागवती मन्त्र से संचालित तन्त्र है। यही भारतीय अध्यात्म-विज्ञान की ध्रुव निष्पत्ति है। तन्त्रों ने जीवन और जगत् के जिस पराविज्ञान को त्रिकोण, षट्कोण, श्रीचक्र आदि के रूप में व्यक्त किया है, उसीको यज्ञ-धारा ने अग्निर्वेदियों के रूप में स्पष्ट किया है। योग ने उसे पद्मदलों के रूप में समझाया है। प्रस्थानभेद से अलग रहते हुए भी याग, योग और तन्त्र एक ही विज्ञान का रूप प्रस्तुत करते हैं और वह विज्ञान है उपासना-विज्ञान और नर-शरीर में ही नारायण का साक्षात्कार करा देना ही भारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य है। जो मनुष्य मानव-जीवन प्राप्त करके भी इस लक्ष्य (परम पुरुषार्थ) को प्राप्त न कर सका, उसका जीवन सारे भौतिक ऐश्वर्य के बावजूद व्यर्थ चला गया। इसी पुरुषार्थ की सिद्धि का उपयुक्त माध्यम होने के कारण व्यास ने कहा है—'न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'। —मनुष्य से श्रेष्ठ इस संसार में कुछ भी नहीं है। आज की मुख्य समस्या यह है कि मानव-मस्तिष्क को अहंकार से मुक्त कर कैसे मानव के वास्तविक कल्याण में लगाया जाय? इस प्रसंग में विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का जो सतही सुझाव दे दिया जाता है- वह नितान्त अवैज्ञानिक है। अध्यात्म अपने-आपमें पूर्णतः विज्ञान है। आधुनिक बिज्ञान उसीकी ओर बिकासोन्मुख है। आवश्यकता यह है कि आज का मानव जीवन के हर क्षेत्र में अध्यात्म के प्रकाश में आगे बढ़ने का प्रयास करे। यही शान्ति और कल्याण का शाश्वत राजमार्ग है।

आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में तन्त्रशास्त्र द्वारा प्रतिपादित शिव-शक्तिवाद की नयी समझ पैदा होगी, इसमें सन्देह नहीं। सृष्टि और सृष्ट पदार्थों के मूल में तरंगायित शक्ति की कारणता नवीन विज्ञान की देन है। अब ध्वनि-तरंग प्रकाश-तरंगों में परिवर्तित की जा चुकी है। टी० वी० इसका उदाहरण है। नादतत्त्व से बिन्दुतत्त्व का प्रादुर्भाव तन्त्रोक्त है। इसी दिशा में अब विज्ञान बराबर प्रगति कर रहा है। पदार्थों के सम्बन्ध में नवीनतम अवधारणा ऊर्जामूलक है। स्थितिशील ऊर्जा (स्टैटिक एनर्जी) ही पदार्थ है। विमुक्त गतिशील ऊर्जा (डिनैमिक ऊर्जा) अमूर्त है। तन्त्र की भाषा में स्थितिशील ऊर्जा ही शिव है और गतिशील ऊर्जा है शक्ति। प्रत्यभिज्ञादर्शनोक्त स्पन्द-विज्ञान अब अन्तरिक्षीय विज्ञान के आलोक में समझा जा सकता है। प्रकाश अवकाश का वह स्वरूप है—जिससे प्रकाश-तरंगें चलती हैं। नभ आकाश का वह स्वरूप है, जिससे ध्वनि-तरंगें चलती हैं। 'नभ' धातु का अर्थ ध्वनि है। अन्तरिक्ष अवकाश का वह

स्वरूप है, जो रात्रिकाल में सूर्य की अनुपस्थिति में दिखाई देता है, जिसमें ज्योतिरिंगणों (जुगनुओं) के समान नीहारिकाओं तथा असंख्य ग्रहपिण्डों का दर्शन होता है। ये समस्त ज्योतियाँ किसी दूरंगत एक ज्योति से ही निःसृत हुई हैं—'दूरं गतं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'। वह एक परमज्योति ही 'शिवसंकल्प' है। उसी संकल्प से कल्पसृष्टि हुई है। वही महाकाल भी है। 'कल' धातु से ही 'कला' और 'काल' शब्द निष्पन्न हुए हैं। शिवसंकल्प की स्वतन्त्रता और स्वयंस्फूर्ति से ही अनेक कलाओं में चन्द्रकलावत् ब्रह्माण्डों की सृष्टि हुई है। काल की शक्ति ही काली है। कल्प और काल एक ही हैं। वे एक-दूसरे में परिवर्तनीय हैं। आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के सन्दर्भ में तन्त्र के इस पराविज्ञान को समझने की नयी दृष्टि पैदा होती है। भर्तृहरि ने दिक् यानी कल्प और काल के इस अद्वैत को मूल चित्तत्त्व के सन्दर्भ में, उसीकी स्तुति में इन शब्दों में प्रकट किया है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

हाल में लाखों-करोड़ों प्रकाश-वर्षों पर स्थित ग्रहपिण्डों से ऐसे रेडियो-संकेत यानी स्पन्द हो रहे है, जिनमें कालगत निर्यामिति दिखाई देती है। इसके आधार पर कुछ वैज्ञानिक ऐसे ग्रहों की अवस्थिति का अनुमान लगा रहे हैं—जहाँ मानवीय सभ्यता से कहीं उच्चतर सभ्यता है। कुछ वैज्ञानिक इसे मात्र प्राकृतिक व्यापार मानते हैं। किन्तु यहाँ मुख्य विचारणीय तथ्य स्पन्द यानी रेडियो-संकेत है। जिस अवकाश से स्पन्द निःसृत होते हैं उसे तन्त्रों में और ऋग्वेद में भी 'व्योम' कहा गया है। व्योम को ऋषि 'परमपद' कहते हैं। यह विशिष्ट 'ओम्' नाद प्रथम विस्फोट का ही आदि परिणाम है। वैसे ऊर्ध्वचेतनासंवलित लोकों की अवस्थिति हमारे शास्त्रों में पूर्णतः सिद्ध है।

कहने की आवश्यकता नहीं, यह है योग और तन्त्र के साधना विषय की मूलभित्ति, जिनका आश्रय लेकर आवश्यकतानुसार समय-समय पर जहाँ एक ओर अनेक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ, वहीं दूसरी ओर उन सम्प्रदायों की लक्ष्य-सिद्धि के लिए समय-समय पर अनेक साधना-मार्गों का निर्माण भी हुआ।

उपासना के तो कई रूप हैं, लेकिन जहाँ तक साधना का प्रश्न है, उसके मात्र केवल दो ही रूप हैं—योगपरक और तन्त्रपरक। योगपरक साधना और तन्त्रपरक साधना दोनों ही शक्ति की साधना हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रथम साधना का आधार शक्ति का समष्टिरूप है, जब कि दूसरी साधना का आधार शक्ति का व्यष्टि-

रूप है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि योग और तन्त्र दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं और हैं एक-दूसरे के पूरक भी।

एक प्रश्न हमें गहराई से सोचने के लिये बाध्य करता है कि साधना का प्रयोजन क्या है ? अपने-आपमें यह प्रश्न अति महत्त्वपूर्ण है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो साधना का सम्बन्ध न अच्छाई से है और न तो है बुराई से। वह न तो अन्धकार को मिटाना चाहती है और न तो प्रकाश को बढ़ाना ही चाहती है। साधना का सम्बन्ध तो दोनों के अतिक्रमण से है, दोनों के पार जाने से है। वह तो आपको दोनों का ही साक्षी बनाना चाहती है। आप मात्र केवल साक्षी बनिये—अच्छे का भी, बुरे का भी, अन्धकार का भी और प्रकाश का भी।

इस संसार में तीन दशायें हैं—एक है बुरे मन की दशा, एक है अच्छे मन की दशा और एक है 'अ-मन' की यानी 'नो माइण्ड' की दशा। सर्वप्रथम साधना का प्रयोजन इसी तीसरी दशा को उपलब्ध होना है। यही उपलब्धि आपके लिये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

× × ×

सज्जन पुरुष हमारे-आपके बीच हैं—फिर भी मुक्ति अथवा मोक्ष उनसे उतना ही दूर है जितना दुर्जन से। मोक्ष के निकट हम तभी आना शुरू करते हैं—जब हम न दुर्जन रह जाते हैं, न तो रह जाते हैं सज्जन। न रह जाते हैं असाधु और न तो रह जाते हैं साधु। क्योंकि इन दोनों का द्वन्द्व है और जब तक द्वन्द्व नहीं टूटता तब तक 'परमहंस' अवस्था की उपलब्धि सम्भव नहीं। साधना का प्रयोजन है 'परमहंस' अवस्था की उपलब्धि। 'अ-मन' की दशा को उपलब्ध साधक ही परमहंस-पद को प्राप्त होता है। अच्छाई-बुराई, अन्धकार-प्रकाश और पाप-पुण्य सब कुछ बाहर है। भीतर कुछ भी नहीं है। भीतर यदि कुछ है तो केवल साक्षीरूप आत्मा। साधना का अर्थ है आप धीरे-धीरे बाहर से भीतर की ओर जाइये और भीतर की यात्रा का एकमात्र साधन है ध्यान। यही कारण है कि सभी साधना-सम्प्रदायों में ध्यान को प्रमुख स्थान दिया गया है। ध्यान का सम्बन्ध बाहरी किसी वस्तु से नहीं है। वह एक विलक्षण आन्तरिक घटना है।

साधना का अर्थ है 'ध्यान'। उसका अर्थ है अन्तर्मुखता। मैं उसे जानूँ—जो अपनी निजता है। साधना का सम्बन्ध 'स्वयं' से है—मैं उसे जान लूँ—जो 'मैं' हूँ। तात्पर्य यह कि 'स्वयं' को जानना ही साधना का एकमात्र अर्थ है। 'द्वन्द्व' से उसका सम्बन्ध नहीं है। उसके लिए काम-वासना भी व्यर्थ है और ब्रह्मचर्य भी उसके लिए दो कौड़ी का है। काम-वासना, जीवन-वासना यानी जीवेषणा का ही पर्याय है। साधना के

जितने भी प्रयोजन हैं—उनमें सबसे मुख्य प्रयोजन जीवेषणा से मुक्ति है। जीवेषणा का अर्थ है 'मैं जीऊँ'। लेकिन यह भाव हमारे पागलपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और आश्चर्य की बात तो यह है कि जी के हम कुछ पाते नहीं, लेकिन फिर भी हम जीना चाहते हैं। सच पूछा जाय तो जीने की हमारी यह आकांक्षा वास्तव में बिल्कुल अन्धी है। हम क्यों जीना चाहते हैं? आखिर जीवन में मिल ही क्या रहा है—जिसके लिए जीना चाहते हैं हम? जैसे ही पूछेंगे कि मिल क्या रहा है तो दोनों हाथ खाली मालूम पड़ेंगे। मिल कुछ भी नहीं रहा है, लेकिन फिर भी हम जीना चाहते हैं। इसलिए कोई विचारशील व्यक्ति उदास और निराश हो जाता है कि मिल कुछ भी नहीं रहा है। नित्य प्रातःकाल उठते हैं हम और वही काम करते हैं जो बराबर करते आये हैं। खा लेते हैं, पी लेते हैं, घूम-फिर लेते हैं, हँस-बोल लेते हैं, लड़ाई-झगड़ा भी कर लेते हैं और फिर अन्त में सो जाते हैं। फिर प्रातःकाल होता है। ऐसे ही जीवन के पचास वर्ष बीते और पचास वर्ष बीत जायेंगे। पूरे सौ वर्ष का भी जीवन हो तो बस, बराबर यही क्रम चलता रहेगा और जीवन में अभी तक कुछ नहीं मिला तो कल भला क्या मिलेगा? मिलेगा भी कुछ इसकी आशा भी रखना कठिन है। सारा सुख, सारा वैभव, सारा आनन्द, सारी प्रसन्नता और सारी भौतिक सम्पदा उपलब्ध हो जाने पर भी जीवन रिक्त का रिक्त ही रहेगा।

× × ×

जीवन में कुछ मिलने की आशा है, इसलिए हम जीना चाहते हैं। यदि यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाय कि जीवन में खोने के अलावा कुछ मिलने की सम्भावना नहीं है तो जीने की आकांक्षा से मुक्ति मिल जायेगी हमें। जिस दिन हम मुक्त हो जायेंगे उसी दिन हमारे लिए वास्तविक जीवन का द्वार खुल जायेगा। जीवेषणा के त्याग का अर्थ है, जीवन के गूढ़ और गम्भीर रहस्यों से परिचित होना। जीवेषणा से मुक्त होने का अर्थ है बुद्धत्व को उपलब्ध होना और होना अमृतत्व को उपलब्ध। वेद, उपनिषद्, गीता, कुरान, बाइबिल—वे उन्हीं लोगों की घोषणाएँ हैं—जिन्होंने जीवेषणा से मुक्त होकर अमृतत्व को प्राप्त किया था।

× × ×

अज्ञान की पाँच ग्रन्थियाँ हैं—मन, प्राण, इच्छा, सत्त्व और पुण्य। ये पाँचों अज्ञान के रुग्ण समूह हैं, जिनमें प्राण सबसे मुख्य है, क्योंकि वह जीवेषणा का पर्याय है। हम सबसे अधिक प्राण के प्रति आकर्षित हैं और हैं सबसे अधिक समर्पित भी। प्राण के प्रति आकर्षण और समर्पण का अर्थ है जीवेषणा और जीवेषणा का अर्थ है—मरने से कुछ भी बेहतर है। किसी भी मूल्य पर और किसी भी शर्त पर हमें बस जीना है। एकमेव साधना के जितने भी प्रयोजन हैं उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन

यदि कोई है तो वह है इसी जीवेषणा से हमेशा के लिए मुक्ति। हमारे शास्त्रकार इसी
अवस्था को सायुज्य-लाभ अथवा भव-मुक्ति कहते हैं, जिसका अर्थ है द्वन्द्व अर्थात् द्वैत
से मुक्ति और अन्ततः अमृतत्व-लाभ।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि याज्ञिक, यौगिक और तान्त्रिक—इन
तीनों प्रकार की साधनाओं का एकमात्र उद्देश्य है जीवेषणा से मुक्ति यानी द्वैत से मुक्ति
और अन्ततः अमृतत्व-लाभ।

× × ×

यौगिक और तान्त्रिक दोनों साधनाएँ मेरे परिवार में परम्परागत रूप से सदैव
विद्यमान रही हैं। उच्च कोटि के योगी और साधकों का कभी भी अभाव नहीं रहा है
मेरे परिवार में। मेरे पितामह के बड़े भाई पं० बेचनजी शर्मा ने आजीवन ब्रह्मचर्य
रहकर योग-तान्त्रिक साधना की थी। उन्हें अनेक दुर्लभ सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं, इसमें
सन्देह नहीं। पिता श्री पं० अमरनाथजी शर्मा योग-तन्त्र के प्रतिष्ठित विद्वान् तो हैं ही,
इसके अतिरिक्त वेदों के भी मर्मज्ञ हैं। उन्होंने कुल साधना-परम्परा का निर्वाह करते
हुए वैदिक परम्परा की भी स्थापना की परिवार में, जिसे उनके पौत्र पं० अशोक
द्विवेदी अपनी संस्था 'वेदपारायणकेन्द्रम्' द्वारा बराबर परिष्कृत और संवर्धित कर रहे
हैं। वैदिक दृष्टि से यह 'संस्था' अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण तो है ही, इसके अतिरिक्त काशी
के लिए भी कम गौरवमयी नहीं है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वर्तमान समय
में याज्ञिक, यौगिक और तान्त्रिक तीनों साधना-परम्परा की त्रिवेणी मेरे परिवार में
विद्यमान है।

व्यक्तिगत रूप से जहाँ तक मेरा अपना प्रश्न है, मैंने वेद, योग और तन्त्र को
साधना से अधिक विज्ञान, मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान की दृष्टि से देखा और उसीके
अनुसार उनमें निहित तिमिराच्छन्न विषयों, गोपनीय विद्याओं और रहस्यमयी गूढ़
साधनाओं पर शोध एवं अन्वेषण भी करना चाहा। इस दिशा में मेरे प्रेरणा-स्रोत रहे
म० म० डॉ० गोपीनाथजी कविराज, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, आचार्य नरेन्द्रदेव,
पं० राहुल सांस्कृत्यायन, डॉ० भगवानदास, डॉ० सम्पूर्णानन्द और म० म० राखालचन्द्र
भट्टाचार्य महाशय।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विद्वद्मण्डली की प्रेरणा का आश्रय लेकर अत्यधिक
मनोयोग से अपना शोध एवं अन्वेषण-कार्य शुरू किया मैंने। विषयों से सम्बन्धित
प्राचीन पुस्तकों और दुर्लभ पाण्डुलिपियों का अभाव नहीं था अपने यहाँ। लेकिन फिर
भी स्वयं सम्बन्धित पुस्तकों का संग्रह किया और उसके लिए पानी की तरह रुपया
खर्च किया मैंने। योग और तन्त्र से सम्बन्धित अप्राप्य और दुर्लभ पुस्तकों और प्राचीन

पाण्डुलिपियों का संग्रह जैसा मेरे यहाँ है, वैसा बिरले ही किसीके यहाँ होगा। लेकिन बन्धु! इन सबके बावजूद भी सन्तोष नहीं था मुझे। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि मेरा ज्ञान अधूरा है, मेरा अनुभव अपर्याप्त है और मेरा शोध एवं अन्वेषण-कार्य भी सही दिशा में उन्मुख नहीं है। जब कभी बन्धु, मैं ऐसा सोचता था तो उस समय मेरी मानसिक स्थिति अर्धविक्षिप्त-सी हो जाती थी और एक दिन ऐसी ही अवस्था में सायंकाल के समय काशी के अहिल्याबाई घाट की सीढ़ियों पर गाल पर हाथ धरे मौन साधे बैठा हुआ था मैं। सहसा मेरी दृष्टि एक महात्मा पर पड़ी। लम्बी-चौड़ी काठी के थे वे महात्मा। शरीर का रंग बादामी था। गैरिक वस्त्र धारण किये थे। पैरों में खड़ाऊँ पहने थे। हाथ में कमण्डल लिये थे। सिर पर जटाजूट था और काफी लम्बी सफेद दाढ़ी थी। गले में रुद्राक्ष की मालाएँ थीं। कुल मिलाकर काफी प्रभावशाली व्यक्तित्व था महात्मा का। जब मेरी दृष्टि उन पर पड़ी तो—ऐसा लगा, मानों वे मुझे काफी देर से निहार रहे हों। जब मेरी दृष्टि उनसे मिली तो उन्होंने केवल मुस्करा दिया। बड़ी ही रहस्यमयी थी वह मुस्कराहट। फिर धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़कर वे मेरे समीप आकर खड़े हो गये और गम्भीर स्वर में बोले—'प्राच्य विद्या पर अन्वेषण-कार्य कर रहे हो क्या? और उसीसे सम्बन्धित समस्याओं में उलझे भी हो न?'

कैसे जान गये यह सब वे महात्मा, आश्चर्य हुआ मुझे। मैं उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर बोला—'हाँ महाराज! आपका अनुमान बिल्कुल सत्य है। लेकिन महाराज, पूर्ण सन्तोष नहीं है मुझे अपने कार्य में। आप ही कुछ मार्ग-दर्शन करिये मेरा।' मेरी बात सुनकर महात्मा कुछ क्षण मौन रहे, फिर आकाश की ओर शून्य में निहारते हुए बोले—'पूर्वजन्म का संस्कार जागृत होने तथा उसके साथ ईश्वर की अहैतुकी कृपा का संयोग होने पर ही मनुष्य की रुचि योग-तन्त्र में हुआ करती है। मनुष्य के आध्यात्मिक आकर्षण के मूल में भी ईश्वर का अनुग्रह समझना चाहिए।' थोड़ा रुककर महात्मा आगे बोले—'तुम्हारे चित्त में भी जो आध्यात्मिक चेतना जागृत हुई है और योग-तन्त्र के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न हुआ है, उसका कारण अतिशय महत्त्व का हो सकता है। उसके मूल में पूर्वजन्म का संस्कार और ईश्वर का अनुग्रह ही समझना चाहिए।'

'मेरी समझ में कुछ नहीं आता महाराज! मैं तो यह भी नहीं जानता कि कौन से संस्कार के वशीभूत होकर मैं चल पड़ा हूँ इस मार्ग पर एकाकी। अब तो महाराज, इतनी लम्बी यात्रा कर चुका हूँ कि पीछे लौटना असम्भव-सा प्रतीत होता है।'

अपने निवास-स्थान का पता बतलाकर महात्मा ने कहा—'ठीक है। कल तुम आना।' और फिर खट्-खट् करते हुए सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर चले गये वे। उन्हें जाते हुए देखता रहा मैं।

महात्मा के व्यक्तित्व और उनकी वाणी का प्रभाव मुझ पर इतना गहरा पड़ा था कि उस रात सो न सका मैं। बार-बार उनका तेजोमय मुखमण्डल मेरे मानस-पटल पर थिरक उठता था।

दूसरे दिन बिल्कुल सबेरे मैं पहुँचा महात्मा के निवास-स्थान पर। महात्मा एक छोटे-से कमरे में रहते थे। काठ का दरवाजा थोड़ा-सा खुला था। भीतर झाँककर देखा—महात्मा गहरी नींद में सो रहे थे। पूरे दो घण्टे प्रतीक्षा करनी पड़ी मुझे। जब महात्मा उठे तो मैंने विनम्र स्वर में कहा—'मुझे क्षमा करें महाराज! सोचा था, आप ब्राह्म मुहूर्त में उठ जाते होंगे। इसीलिए इतना शीघ्र चला आया था मैं।'

महात्मा बोले—'मैं तो ब्राह्म मुहूर्त में ही उठता हूँ और उठता हूँ—तभी ब्राह्म मुहूर्त मानता हूँ। जब परमात्मा उठा देता है तो उठ जाता हूँ। जब परमात्मा सुला देता है तो सो जाता हूँ। न अपनी तरफ से सोता हूँ और न तो अपनी तरफ से उठता ही हूँ। अपने-आपको उसी दिन छोड़ दिया जिस दिन संन्यास लिया मैंने। अब परमात्मा जो कहता है वही करता हूँ। अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं करता मैं। मेरा सब कुछ परमात्मा पर निर्भर है। अब तो मैं केवल जी भर रहा हूँ। मेरा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व और सम्पूर्ण जीवन-व्यापार परमात्मा के अधिकार में है। तुम सोचोगे, मेरा कोई विधि-विधान होगा। नहीं, जिसने अपने-आपको परमात्मा के हाथ में छोड़ दिया और उसके चरणों में अपने-आपको समर्पित कर दिया, उसका फिर कोई विधि-विधान नहीं होता। सारे विधि-विधान अहंकार से उत्पन्न होते हैं। उसकी सारी व्यवस्था अहंकार से उत्पन्न होती है।

'हम जीवन पर कुछ न कुछ थोपना चाहते हैं और जो मनुष्य जीवन पर कुछ थोपना चाहता है और जीवन से कोई विशेष अपेक्षा रखता है कि वह ऐसा हो, ऐसा न हो। जो निषेध करता है और कुछ स्वीकार करता है, वह कभी भी सरल नहीं हो सकता है। सरलता साधु और संन्यासी की अनिवार्य 'शर्त' है। हवा-पानी में पड़े सूखे पत्ते की तरह जो हो जाता है—वह सरल है। सूखे पत्ते को हवा-पानी उड़ा ले जाय—उड़ जाता है। जहाँ गिरा दे—गिर जाता है। जहाँ उठा दे—उठ जाता है। सूखे पत्ते की अपनी कोई इच्छा और कामना नहीं होती। जो मनुष्य सूखे पत्ते की तरह हो जाता है, वह सरल है। बाकी तो सारे लोग जटिल हैं। तुम्हारा मार्ग सत्य की खोज का मार्ग है। लेकिन तुम्हें अपने उद्देश्य में सफलता तभी उपलब्ध होगी जब तुम सरल बना लोगे अपने-आपको। जटिलता से सत्य की उपलब्धि नहीं होती, सत्य की उपलब्धि होती है सरलता से।

'सत्य क्या है और असत्य क्या है—उसके भेद को पहचान लेना ही 'ज्ञान' है और उस 'ज्ञान' को यथार्थ रूप से जीवन में उतार लेना ही अनुभव है। वास्तव में ज्ञान

और अनुभव एक ही वस्तु के दो रूप हैं। जहाँ ज्ञान होगा, वहाँ अनुभव होगा और जहाँ अनुभव होगा, वहाँ ज्ञान का अस्तित्व अनिवार्य है। पुस्तकों में तो विचारों का जाल होता है, ज्ञान नहीं। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि तुम अध्ययन मत करो और मत करो चिन्तन-मनन। करो, सब कुछ करो, लेकिन साथ ही अनुभव भी प्राप्त करो। तभी तुम योग-तन्त्र के गूढ़ रहस्यों और उनकी तिमिराच्छन्न साधनाओं की गोपनीयताओं से भलीभाँति परिचित हो सकोगे और साकार कर सकोगे अपने उद्देश्य को भी। लेकिन यह सब तभी सम्भव है, जब कि तुम योगी साधकों और सन्त-महात्माओं के सम्पर्क में आओगे, उनका सान्निध्य प्राप्त करोगे और करोगे त्याग। संसार में उनका अभाव नहीं है। प्रच्छन्न, अप्रच्छन्न भाव से वे हम सभी के बीच विद्यमान हैं। यदि अभाव है तो उन्हें पहचानने और समझने की दृष्टि की और दृष्टि प्राप्त होती है सद्गुरु से और वह सद्गुरु है स्वयं तुम्हारी आत्मा। एकमात्र आत्मा ही ऐसी वस्तु है, जो निरन्तर ज्ञान और अनुभव की दिशा में अग्रसर है। यदि तुम उसके मूक संकेत को—मूक निर्देश को समझोगे और उसकी मूक पदध्वनि को सुनोगे और उस पदध्वनि का अनुसरण करोगे तो तुम्हें निस्सन्देह वह दृष्टि अपने-आप उपलब्ध हो जायेगी।'

कहने की आवश्यकता नहीं, उस रात भी नींद नहीं आयी मुझे। पूरी रात जागता रहा मैं और पूरी रात महात्मा के एक-एक शब्द गूँजते रहे और प्रतिध्वनित होते रहे मेरे मस्तिष्क में। फिर तो रहा नहीं गया मुझसे। दूसरे ही दिन न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर बिना किसीको कुछ बतलाये निकल पड़ा मैं योगी साधकों और सन्त-महात्माओं की खोज में। महात्मा ने यह भी कहा था मुझसे, रोगी, भोगी और योगी नेत्र से पहचाने जाते हैं। जो नेत्र की भाषा समझने की योग्यता रखता है, वह सहज भाव से और बड़ी सरलता से तीनों को पहचान सकता है।

मैं यह कह नहीं सकता कि पूर्वजन्म के किस संस्कार के फलस्वरूप वह परानैसर्गिक शक्ति अपने-आप उपलब्ध हो गई मुझे और उसकी अदृश्य सहायता से प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न भाव से संचरण-विचरण करनेवाले मानवेतर शक्तिसम्पन्न सिद्ध योगी और साधकों तथा गुप्त भाव से निवास करनेवाले उच्च कोटि के सन्त-महात्माओं की खोज में पूरे भारत का ही भ्रमण नहीं किया, बल्कि हिमालय की रहस्यमयी गिरि-गुहाओं और दुर्गम घाटियों के अतिरिक्त लगभग सोलह हजार फुट ऊपर स्थित और चारों ओर से हिमाच्छादित उत्तुंग हिम-शिखरों से घिरे तिब्बत की भी अत्यन्त कष्टदायिनी हिम-यात्रा की मैंने। पूरे तीन वर्ष रहा मैं योगी और तांत्रिकों के रहस्यमय देश तिब्बत में और इस अवधि में वहाँ के हिमाच्छादित दुर्गम प्रदेशों में निवास करनेवाले साधनारत अनेक दीर्घजीवी और कालजयी सिद्ध महात्माओं और योगियों का दर्शन-लाभ किया और यात्रा की

मैंने रहस्यमय स्थानों पर स्थित अनेक गुप्त मठों और सिद्ध योगाश्रमों की भी। कहने की आवश्यकता नहीं, अनेक दुर्लभ यौगिक सिद्धियाँ देखने को मिलीं और मिले देखने को अनेक अलौकिक तान्त्रिक चमत्कार भी मुझे वहाँ। इतना ही नहीं, मेरे साथ ऐसी-ऐसी रहस्यमयी घटनाएँ घटीं और ऐसे-ऐसे अलौकिक अनुभव भी हुए मुझे वहाँ–जिनका वर्णन कर सकना कठिन है मेरे लिए। सम्भवतः उन्हीं सबकी प्रेरणा के फलस्वरूप देहातीत अवस्थाप्राप्त दुर्धर्ष आत्माओं की मति-गति समझने और साथ ही रहस्यमयी योग-तान्त्रिक विद्याओं में निहित सत्यता से परिचित होने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की जीवन-मरण-दायिनी, कठोर यौगिक और तान्त्रिक साधना भी की मैंने, जिसके परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर खोज के सिलसिले में सिद्ध, योगी, सन्त, महात्मा और साधक-साधिकाओं से मेरा सम्पर्क हुआ और प्राप्त हुआ उनका सान्निध्य, वहीं दूसरी ओर विभिन्न कोटि की–विभिन्न प्रकार की–विभिन्न स्तर की–और विभिन्न श्रेणी की परलोकगत सूक्ष्म शरीर-धारी आत्माओं का भी सम्पर्क और सान्निध्य प्राप्त हुआ मुझे। इस प्रसंग में यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि बिना किसी प्रयास अथवा प्रयत्न के वे आत्मायें स्वयं मुझसे सम्बन्ध स्थापित करती थीं अदृश्य रूप से और कभी-कभी मेरी लौकिक और पारलौकिक समस्याओं के निमित्त उचित परामर्श देती थीं तथा करती थीं मार्गदर्शन भी मेरा। इतना ही नहीं, कभी-कभी वे ऐसे आध्यात्मिक तथ्यों और साधना के गम्भीर रहस्यों का भी उद्घाटन करती थीं–जिनका कहीं कोई उल्लेख नहीं है और न तो कहीं कोई उपलब्ध है विवरण ही। आज भी पूर्ववत् स्थिति है। अस्तु।

× ■ ×

इतना सब कुछ पढ़ने के पश्चात् आप मुझे कोई योगी साधक अथवा कोई सन्त-महात्मा मत समझ लीजियेगा। मैं तो केवल मात्र एक खोजी वृत्ति का व्यक्ति हूँ और आपको ज्ञात होना चाहिए कि इसी वृत्ति ने पैंतालीस वर्ष पूर्व मेरी अन्तरात्मा में जिस जिज्ञासा और जिस कौतूहल की सृष्टि कर दी थी—उसीके फलस्वरूप लोक-सम्पर्क से सर्वथा अप्रभावित रहते हुए जिस अवस्था और जिस स्थिति को मेरी चेतना उपलब्ध है—वहाँ परम शून्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वास्तव में संसार मेरे लिए श्मशान है और संसार के लिए शवमात्र हूँ मैं।

अब तक के अपने खोजी जीवन में मैं जितने योगी साधकों के सम्पर्क में आया—जितने सन्त-महात्माओं का मुझे सान्निध्य प्राप्त हुआ—जितने रहस्यमय साधनानुभव हुए मुझे—जितनी चमत्कारपूर्ण अलौकिक घटनाएँ घटीं मेरे जीवन में और इन सबके अतिरिक्त आध्यात्मिक दृष्टि से जितना जो कुछ उपलब्ध हुआ मुझे—उन सभी को एकत्र कर अपने शुभचिन्तकों के आग्रह और अनुरोध पर मुख्य रूप से मारणपात्र, कालपात्र और महापात्र—इन तीन पात्रों में प्रस्तुत किया है मैंने, जिनमें से 'मारणपात्र' आपके सम्मुख है।

योगी और साधक सत्य के साक्षी हैं। वे सत्य को तर्क के द्वारा नहीं, प्रत्युत प्रत्यक्ष जानते हैं, सत्य में प्रवेश करते हैं और सत्य से अपनी आत्मा का तादात्म्य स्थापित करते हैं। सभी धर्म-ग्रन्थ ईश्वर-प्रेरित समझे जाते हैं। लेकिन इसका निर्णय कैसे हो कि अमुक धर्म-ग्रन्थ वास्तव में ईश्वर-प्रेरित हैं। ऐसी अवस्था में योगी और साधक ही एकमात्र प्रमाण हैं। यदि वे किसी बात की साक्ष्य देते हैं तो वह बात मान्य है। ईश्वर, देवगण, पितृगण सभी योगी और साधकों के साक्ष्य की अपेक्षा रखते हैं।

इस समय व्यापक अश्रद्धा का युग है। आश्चर्य और दुःख का विषय यह है कि भारत जैसे धर्मप्राण देश में भी यही अवस्था है। जीवन पहले जैसा सरल और सहज नहीं रहा। विज्ञान ने और बदले हुए आर्थिक पर्यावरण ने नयी-नयी समस्यायें खड़ी कर दी हैं। वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का आधार हिल उठा है। यह नहीं कहा जा सकता है कि कुछ भी स्थायी और दृढ़ है या नहीं। मनुष्य की मान्यताओं में कुछ भी विश्वसनीय निश्चित है या नहीं या सब कुछ परिवर्तनशील हैं। साधना-उपासना आदि केवल अपने चित्त को धोखा देना है या और कुछ ? कोई ऐसी सत्ता है—जो नित्य और उपास्य हो ? व्यवहार का आधार क्या होना चाहिए ? यह और ऐसे अनेक प्रश्न उठते हैं और उनके उत्तर नहीं मिलते। सम्प्रदायों के आचार्यगण पुस्तकों के वाक्य दुहरा सकते हैं। वे जो कुछ भी कहते हैं उसमें निश्चय का स्वर नहीं होता। उनकी वाणी में वह दृढ़ता नहीं होती जो यह विश्वास दिलाये कि उपदेश देनेवाले को स्वयं अपनी बातों पर विश्वास है। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रवक्ता साक्षात्कृतधर्मा नहीं—अटकल अथवा अनुमान के बल पर बोल रहा है। ऐसी बात पर भला क्या विश्वास उत्पन्न हो सकता है ?

अश्रद्धा अच्छी वस्तु नहीं है। चित्त को विश्वासयोग्य तथ्यों से रिक्त करना सरल हो सकता है। परन्तु बहुत समय तक चित्त को शून्य बनाकर नहीं रखा जा सकता। आपत्तियाँ-विपत्तियाँ आती हैं। संकटों, दुःखों और कष्टों का सामना करना पड़ता है। उस समय वह मनुष्य—जिसका जीवन दृढ़ स्थायी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है—बे-पतवार की नाव की भाँति इतस्ततः फेंका फिरता है। उसकी अवस्था उस पतंग जैसी हो जाती है—जिसकी डोर नीचे से कट गयी है। जो सुख-वैभव, धन-सम्पत्ति आदि रुचिकर और आनन्दप्रद लगते थे—वे बिल्कुल नीरस और व्यर्थ प्रतीत होने लगते हैं। विषयों के भोग से सूनापन दूर नहीं होता। यह वह स्थल है जहाँ योगी और साधकों की आवश्यकता है। जिसने धर्म के मूल स्रोतों का साक्षात्कार किया है, जिसने जगत् की क्षणभंगुर वस्तुओं के पीछे अपेक्षा दृष्ट्या अधिक स्थायी और इनके भी पीछे अविनश्वरकल्प तत्त्वों को प्रत्यक्ष देखा है, वह पूर्ण योगेश्वर न हो, फिर भी उसको सत्य के सागर में डुबकी लगाने का अवसर उपलब्ध हुआ हो।

ऐसे योगी और साधकों की वाणी साधु-हृदय से निकलती है जिसको सुनकर विश्वास स्वतः उत्पन्न होता है। हृदय हृदय से बोलता है। यह असम्भव नहीं है कि लोग एक बार बात अनसुनी कर जायँ, हँसकर टाल दें, कटु सत्य सुनानेवाले को कष्ट भी दें, अपमान भी उसका करें। परन्तु अन्त में उन्हें सुनना ही होगा। रही कष्ट और अपमान की बात। योगी पुरुष और साधकगण कर्त्तव्य का वरण करते हैं, कष्ट और अपमान को नहीं देखते। उनका कोई विशेष आम्नाय और सम्प्रदाय नहीं होता। वे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय सत्य का सन्देश सुनाते हैं। उनका चरित्र ही उनका सबसे बडा बल होता है। लेकिन दुःख का विषय यह है कि ऐसे योगी पुरुष और साधकगण प्रत्यक्ष में अत्यन्त दुर्लभ हैं। इस समय जनमानस जिनसे परिचित है—वे बिना महती आस्था और गम्भीर साधना के योगी और साधक बने बैठे हुए हैं। ऐसे लोगों के द्वारा योग और तन्त्र के प्रति जनमानस में कुत्सित भावना और भ्रान्त धारणा उत्पन्न होने के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार के लाभ की आशा नहीं। लगभग यही स्थिति ऐसे महापुरुषों द्वारा लिखित विभिन्न योगतान्त्रिक साधनाओं और उपासनाओं से सम्बन्धित पुस्तकों की भी है— जो योग-तंत्र के प्रति भ्रमित करने के साधन ही सिद्ध होती हैं।

ऐसी विषम अवस्था में आप जैसे प्रबुद्ध पाठकों के लिए 'मारण-पात्र' निस्सन्देह ज्ञानवर्धक, मार्गदर्शक और उपादेय सिद्ध होगा, ऐसा मुझे विश्वास है और है आशा।

विद्वद्गण चरण चंचरीक
—अरुणकुमार शर्मा

आगम-निगम सहवास
बी ५/२३, हरिश्चन्द्र रोड
वाराणसी-१
२ मार्च १९९२ ई०

मारण-पात्र

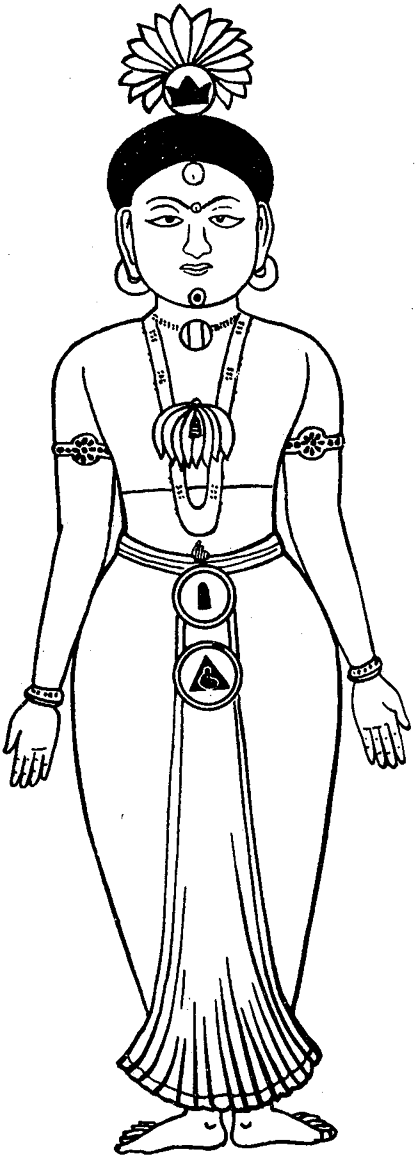

नारी के षट्चक्र का स्वरूप

साधक हरिराम साधु

सन् १९४४ ई०

उन दिनों मैं म० म० डॉ० गोपीनाथजी कविराज और तंत्रशास्त्र के अद्‌भुत ग्रन्थ 'जपसूत्रम्' के प्रणेता स्वामी प्रत्यगात्मानन्दजी के संकेत पर योग-तांत्रिक-साधना के विभिन्न महत्त्वपूर्ण अंगों पर शोध एवं अन्वेषण-कार्य कर रहा था। इधर-उधर की दस-बीस पुस्तकें पढ़कर अपना रिसर्च पूरा करने के पक्ष में नहीं था। सम्बन्धित विषय की पुस्तकों के अतिरिक्त प्रच्छन्न, अप्रच्छन्न रूप में निवास करनेवाले उच्चकोटि के योगी और साधकों के साधना-संबंधी अनुभवों का भी आश्रय लेना चाहता था। इस सिलसिले में जिन योगियों और तंत्र-साधकों से मेरी भेंट हुई उन्हींमें से एक थे हरिराम साधु!

उच्चकोटि के तंत्र-साधक थे हरिराम साधु! उनकी कुण्डलिनी जागृत थी! उसके प्रबल उत्ताप को शान्त रखने के लिये वे महाशय हर समय मदिरापान किये रहते थे, जिसके कारण उनकी आँखें गूलर की तरह लाल रहा करती थीं। वे हमेशा मौन रहते थे। अति आवश्यकता पड़ने पर ही बोलते-चालते थे। उनका रहन-सहन और उनकी वेश-भूषा किसी पुराने जमाने के रईस-जमींदार जैसी थी। उँगलियों में कीमती रत्नों की अँगूठियाँ, गले में मोतियों की माला, सोने की तीन-चार सिकड़ियाँ, कीमती सिल्क का कुर्ता, ब्रासलेट धोती और नागरा जूता, गौर वर्ण, काले घुंघराले बाल, दमकता-चमकता चेहरा और उम्र यही कोई साठ-पैंसठ के करीब।

परिचितगण हरिराम साधु को बाबू साहब कहते थे। उनके असली नाम और असली व्यापार से कोई परिचित न था। बहुत प्रयास करने पर मुझे इतना ही मालूम हो सका कि उनका नाम हरिमोहन रायचौधरी था और पश्चिम बंगाल में उनकी बहुत बड़ी जमींदारी थी। माता-पिता की एकमात्र संतान थे वह। माता-पिता की मृत्यु ने उन्हें मर्माहत कर दिया था। विरक्ति के भाव से भर उठी थी उनकी आत्मा। पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में ही सर्वस्व त्यागकर वे तारापीठ चले गये थे। वहाँ एक तांत्रिक से दीक्षा लेकर साधना करने लगे थे। सुनने में आया कि थोड़े ही समय में उनकी कुण्डलिनी जागृत हो गयी, और उन्हें माँ तारा का प्रत्यक्ष दर्शन भी हुआ था। उसके बाद अनेक शक्ति-पीठों में भी रहकर उन्होंने कई प्रकार की दुर्लभ तांत्रिक साधनायें कीं और अन्त में काशी में आकर रहने लगे। एक चचेरे भाई थे। वे ही समय-समय पर आवश्यक धनराशि भेज दिया करते थे, जिससे उनका खर्च चलता था। यह भी मालूम हुआ था कि उनके चचेरे भाई ने कई बार आकर उनसे घर वापस चलने का आग्रह

किया था, मगर वे गये नहीं। बोले—जब सब कुछ का त्याग कर दिया तो फिर उन्हें स्वीकार करना उचित नहीं। मेरे एक मित्र थे। उन्हींकी बहन के विवाह के अवसर पर हरिराम साधु से मेरा परिचय हुआ था। पहली बार मुझे देखकर साधु महाशय मुस्कराये थे। बड़ी ही रहस्यमयी मुस्कराहट थी वह। बड़ी-बड़ी आँखों की गहराई में गम्भीर साधना के रहस्य का अथाह सागर लहरा रहा था। वास्तविकता से परिचित होने में देर न लगी मुझे। उस समय साधु महाशय स्फटिक के धवल पारदर्शक गिलास में कीमती शराब पी रहे थे और उसीके साथ बीच-बीच में कलाई में लपटी हुई जूही-चमेली के ताजे फूलों के गजरे को भी सूँघते जा रहे थे।

मैं धीरे-धीरे चलकर उनके करीब बैठ गया। शराब की एक घूंट मुंह में लेकर एक बार उन्होंने मेरी ओर गहरी दृष्टि से देखा—और फिर हौले से मुस्कराये। उसके बाद बातचीत का सिलसिला चल पड़ा। बोले—असली योगी और साधकों को इस युग में पहचानना अति कठिन है।

तभी तो आप जैसे महापुरुष इस प्रकार अपने वास्तविक स्वरूप को प्रच्छन्न रखते हैं। नहीं तो पग-पग पर सांसारिक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ सकता है। "हाँ, ठीक ही कहा आपने", साधु महाशय बोले—"साधना कोई भी हो—उसकी पूर्णता तो संसार में रहकर ही सम्भव है। यदि संसार में साधक अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करके रखे तो बड़ा मुश्किल हो जायेगा। अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा उसे, फिर कैसे क्या हो सकेगा? और यही कारण है कि साधकगण संसार में बराबर जलकमलवत् रहने का प्रयास करते हैं। उनके लिये संसार और सांसारिक वस्तुएँ यहाँ तक कि शरीर भी साधन है, साध्य नहीं।"

"आपके निकट के लोग क्या आपके साधना-स्वरूप से परिचित हैं"—मैंने पूछा।

खाली गिलास रखते हुए साधु महाशय बोले—"बाप रे! जिस दिन परिचित हो जायेंगे—तो जानते हो—फिर जीना मुश्किल हो जायेगा मेरा। मैं तो अपने जान-पहचान के लोगों के बीच एक बदमिजाज और बिगड़े हुए रईस के रूप में प्रसिद्ध हूँ। तुम्हारे ये जो मित्र महोदय हैं न, वे भी मुझे ऐसा ही समझते हैं।" इतना कहकर साधु महाशय ने गिलास में फिर मदिरा उड़ेली—और गट्-गट् कर पीने लगे उसे। उस दिन से प्रायः नित्य ही साधु महाशय से मेरी मुलाकात होने लगी। वैसे वह पातालेश्वर मुहल्ले में रहते थे। मगर साधना में विघ्न न हो—इसलिये वह घर पर बहुत ही कम मिलते-जुलते थे। उनसे मेरी भेंट श्मशान के बगलवाले लालीघाट पर होती थी। सायंकाल के समय वहाँ बैठना प्रायः उनका नित्य का नियम था।

कुण्डलिनी जागृत हो जाने पर साधक का विभिन्न प्रकार की उच्चकोटि की मानवेतर शक्ति-सम्पन्न दिव्य आत्माओं से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, ऐसा मैंने सुना था।

और यह भी सुना था कि उन दिव्य आत्माओं की सहायता से साधक को कई प्रकार की दुर्लभ सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं, जिनके बल पर असम्भव और असाध्य कार्य करने में समर्थ और सक्षम हो जाता है वह। जैसा कि मैं जानता था, साधु महाशय की कुण्डलिनी तो जागृत थी, किन्तु उनकी किसी प्रकार की सिद्धियों का चमत्कार देखने का अवसर मुझे नहीं मिला था।

सिद्धि और चमत्कार

मेरे एक रिश्तेदार थे, नाम था रामसहाय पाण्डेय। पाण्डेयजी को कर्कट रोग यानी कैंसर हो गया था। रोग अपनी चरम सीमा पर था। मृत्यु आसन्न थी। परिवार के लोग हताश, निराश हो चुके थे। एक दिन अवसर देखकर मैंने पाण्डेयजी और उनके रोग की चर्चा साधु महाशय से की। वे कुछ देर तक मौन साधे रहे। फिर बोले—तांत्रिक विधि से एरण्ड कल्प किया जाय तो निश्चय ही रोग से मुक्ति मिल जायेगी पाण्डेयजी को।

ऐसा ही हुआ। चालीस दिन के एरण्ड कल्प के प्रयोग से पाण्डेयजी पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गये। कहने की आवश्यकता नहीं—साधु महाशय के इस चमत्कार ने मुझे अभिभूत कर दिया।

इसी प्रकार उनके दो और चमत्कार मुझे देखने को मिले। मेरे एक मित्र थे। नाम था पुरुषोत्तम अम्बालाल पटेल। करोड़पति परिवार के थे। मेरे साथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। एक बार उनकी माताजी का कीमती हार खो गया था। जब इसकी सूचना पटेलजी को मिली तो वे चिन्तित हो उठे। मैंने साधु महाशय से इसकी चर्चा की। वे मुस्कराकर बोले—राघव भाई ने हार चुराया है।

यह पूछने पर कि राघव भाई कौन हैं तो वे बोले—घर का खास नौकर है। अभी हार बाहर नहीं गया है। मकान की छत पर बनी पानी-टंकी के नल में छिपाकर रखा गया है। मिल जायेगा, चिन्ता की बात नहीं। मैंने जब ये सारी बातें पटेलजी को बतलायीं तो वे आश्चर्यचकित हो उठे। उसी दिन वे अहमदाबाद अपने घर चले गये और वहाँ से तार द्वारा सूचित किया कि 'हार' मिल गया।

नौकर का नाम कैसे मालूम हो गया और हार कहाँ रखा है, यह भी कैसे मालूम हो गया, साधु महाशय को ? निश्चय ही वह उनकी सिद्धि का चमत्कार था।

मेरे मुहल्ले में एक बंगाली सज्जन रहते थे, प्राध्यापक थे। चौदह-पन्द्रह वर्ष पूर्व उनका एकमात्र पुत्र गायब हो गया था, नाम का बाटुल। उस समय उसकी अवस्था बीस-बाईस साल की थी। खोजते-खोजते परिवार के लोग हार-थक गये थे। जब कहीं उसका पता न चला—और काफी लम्बा समय व्यतीत हो गया तो परिवार के लोगों

ने अन्त में समझा कि वह मर गया होगा और यही सोच-समझकर उसका अन्तिम श्राद्ध भी कर दिया गया।

लेकिन जब मैंने बाटुल की चर्चा साधु महाशय से की तो वे पहले की ही तरह मुस्कराते हुए बोले—बाटुल मरा नहीं है, जीवित है। इस समय वह संन्यासी के रूप में नेपाल में है। बाद में उन्होंने पूरा पता भी बतला दिया और जब बतलाये गये पते पर लोग नेपाल गये तो सचमुच बाटुल संन्यासी के रूप में मिला।

तीसरा नेत्र

मेरे यह पूछने पर कि आपको कैसे सब कुछ ज्ञात हो जाता है—तो उन्होंने बतलाया कि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से जो उत्ताप उत्पन्न होता है—उसके प्रभाव से भ्रू-मध्य-स्थित मनोवहा नाडी से प्राणवहा नाड़ी का सम्बन्ध भंग हो जाता है और वहाँ एक नीलवर्णा जव के आकार की ज्योति प्रज्ज्वलित हो उठती है। उस ज्योति पर चित्त को एकाग्र करने पर तीनों काल की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। योगी लोग इसीको 'जवा-सिद्धि' अथवा ज्योति-दर्शन कहते हैं। कोई-कोई इसे 'तीसरा नेत्र' की भी संज्ञा देते हैं। तिब्बती लामा लोग बाहरी क्रिया से दोनों नाड़ियों का सम्बन्ध विच्छेद करने का प्रयास करते हैं। लेकिन इसमें सफलता सन्दिग्ध है।

•

साधक भवतोष स्मृतिरत्न

साधु महाशय की ही तरह उन्हीं दिनों एक और साधक गुप्त रूप से बनारस में रहते थे—नाम था भवतोष स्मृतिरत्न। बंगाली सज्जन थे भवतोष स्मृतिरत्न। कालीबाड़ी के बगल की सँकरी गली के एक छोटे-से मकान में अकेले रहते थे वह। आयु थी यही साठ-पैंसठ के आस-पास। आयुर्वेद और ज्योतिष के अलावा तन्त्र-मन्त्र के भी अच्छे ज्ञाता और साधक थे स्मृतिरत्न महोदय।

एक बार मेरे सौ-सौ के तीन नोट गायब हो गये थे। कॉलेज में फीस जमा करने के लिये वे नोट थे। मेरा मन उदास था। स्मृतिरत्न महोदय को जब यह बात मालूम हुई तो बोले—घबराने की आवश्यकता नहीं। नोट मिल जायेंगे।

मंत्र का चमत्कार

नोट के गायब हुए १५-२० दिन हो गये थे। मिलने की आशा बिलकुल नहीं थी। सब जगह खोजकर हताश-निराश हो गया था मैं। स्मृतिरत्न महोदय के आश्वासन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा मुझ पर। सोचा, मिलने को होता तो अब तक मिल गया होता। मगर नहीं, उनका आश्वासन कोरा आश्वासन नहीं था। उन्होंने मेरे सामने एक कोरे कागज पर कोई मन्त्र लिखा और फिर ऊपर की ओर फूंक मारकर उसे उड़ा दिया। मन्त्र लिखा हुआ वह कागज मेरे देखते ही देखते कटी पतंग की तरह हवा में लहराता बल खाता हुआ शून्य में गायब हो गया। मैं सहम गया। पहली बार ऐसा तांत्रिक चमत्कार देखने को मिला था मुझे। करीब बीस-पचीस मिनट बाद वह कागज का टुकड़ा उसी प्रकार लहराता बल खाता हुआ वापस आ गया। वे तीनों नोट कहाँ पर हैं—उस पर स्पष्ट रूप से लिखा हुआ था। यह देखकर आश्चर्यचकित हो उठा मैं। वास्तव में उन नोटों को मैंने एक पुस्तक के भीतर रख दिया था और वह पुस्तक मेरे एक मित्र पढ़ने के लिये ले गये थे। मगर अभी तक उन्होंने पुस्तक पढ़ी नहीं थी। पुस्तक में नोट ज्यों-के-त्यों रखे हुए थे।

पूर्वजन्म की कथा

कालान्तर में स्मृतिरत्न महोदय का एक और अद्भुत चमत्कार देखने को मिला था मुझे। मेरे एक परिचित सज्जन थे। नाम था रोहिणीप्रसाद अग्रवाल। बनारसी साड़ी का कारोबार था उनका। काफी धनाढ्य व्यक्ति थे महाशय। उन्हें एक ही लड़का था। वह हमेशा बीमार रहता था। उसे साँस लेने में कभी-कभी कठिनाई होती थी। डॉक्टरों ने बतलाया कि लड़के के हृदय में छेद है। काफी उपचार किया गया, लेकिन कोई लाभ नहीं। लड़के की आयु चौदह-पन्द्रह वर्ष थी। बड़ा ही होनहार था वह। एक दिन उसकी हालत अत्यन्त शोचनीय हो गयी। डॉक्टरों ने जवाब दे दिया। लड़के की हालत की चर्चा मैंने स्मृतिरत्न महोदय से की। सब कुछ सुन लेने के बाद उन्होंने जो कुछ बतलाया, उसे सुनकर आश्चर्यचकित हो उठा मैं! उनके कथनानुसार रोहिणीकुमार अग्रवाल के ही परिवार का एक सदस्य था, पिछले जन्म में जिसका नाम था विपिन-बिहारी अग्रवाल। वह बनारस के ही एक बैंक में मैनेजर था। एक बार बैंक में डकैती पड़ी। लुटेरों के हाथ काफी लम्बी रकम लगी। विरोध करने पर लुटेरों ने विपिनबिहारी अग्रवाल पर गोली चला दी। वह गोली उसके सीने पर लगी थी। स्मृतिरत्न महोदय का कहना था कि उसीके फलस्वरूप इस जन्म में लड़के की छाती में सूराख है। रोहिणीकुमार अग्रवाल ने बतलाया कि उनके एक चचेरे ताऊ थे। उनका नाम विपिन-बिहारी अग्रवाल था। बैंक में मैनेजर थे। उनकी मृत्यु बैंक लूटने आये डाकुओं की गोली से ही हुई थी। गोली सीने में ही लगी थी। कहने की आवश्यकता नहीं—बाद में स्मृतिरत्न महोदय के इलाज से वह लड़का पूर्ण स्वस्थ हो गया।

कभी किसी समय बनारस के शिवाला घाट से लेकर दशाश्वमेध घाट के अन्तर्गत आनेवाले अधिकांश मुहल्ले बंगदेशीय शाक्त और कापालिक साधकों के गुप्त साधना-स्थल थे। बंगालीटोला और देवनाथपुरा तो शाक्त सम्प्रदाय के रहस्यमय साधकों का मुख्य गढ़-ही समझा जाता था। वे साधक अपनी इष्ट देवी को प्रसन्न कर भयंकर तांत्रिक सिद्धियों को प्राप्त करने के उद्देश्य से दीपावली की महानिशा बेला में नरबलि भी दिया करते थे। आज से चालीस वर्ष पूर्व, जिसकी मैं चर्चा कर रहा हूँ उस समय भी ऐसे रहस्यमय और गुप्त साधकों का उन मुहल्लों में अभाव नहीं था। कहने की आवश्यकता नहीं, साधु महाशय और भवतोष स्मृतिरत्न महोदय के अलौकिक चमत्कारों ने मेरे मन में असीम कौतूहल की सृष्टि कर दी थी। तंत्र और तांत्रिक साधनाओं के प्रति मेरी जिज्ञासा और अधिक प्रबल हो उठी थी, जिसके वशीभूत होकर मैं शाक्त और कापालिक-सम्प्रदाय से संबंधित उन गुप्त और रहस्यमय तंत्र-साधकों की खोज में उन मुहल्लों की सँकरी, गन्दी और धुएँ से भरी गलियों का बराबर चक्कर लगाने लगा था।

तांत्रिक साधना

साधु महाशय का कहना था कि तंत्र बड़ी ऊँची विद्या है। उसकी साधना भी बड़ी ही कठिन और गम्भीर है, और सबके वश की भी नहीं है। सभी को इसमें सफलता भी नहीं मिलती। तंत्र का अपना विज्ञान है। जो लोग उसके विज्ञान से भलीभाँति परिचित होते हैं, वे ही तंत्र-साधना भी कर सकते हैं और साधना में सफलता भी प्राप्त कर सकते हैं। तांत्रिक साधना एकमात्र शक्ति की साधना है। विनाश करना शक्ति का गुण-धर्म है भले ही वह कोई भी शक्ति क्यों न हो। सभी शक्तियाँ विनाश का कारण हैं। आध्यात्मिक और भौतिक दोनों दृष्टियों से शक्ति को अपने हित में कल्याणकारी बनाना ही तंत्र-साधना का एकमात्र लक्ष्य है। इस दिशा में जरा-सी भूल, जरा-सी त्रुटि अथवा लापरवाही प्राणघातक सिद्ध हो सकती है। कभी, किसी समय प्राण संकट में पड़ सकता है। सच तो यह है कि तंत्र की साधना तलवार की तीखी धार पर रखी शहद की बूंद के समान है। चाहो तो उस बूंद को चाटो, मगर जीभ भी चिर जायेगी। शहद का स्वाद भी ले लिया जाय और जीभ भी न चिरे, यह कौशल होना चाहिये और वह कौशल केवल सद्गुरु ही बतला सकता है।

तांत्रिक साधना और सिद्धि का सम्बन्ध वैश्वानर-जगत् से है। वैश्वानर-जगत् वास्तव में सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में क्रियाशील दैवी शक्तियों का मूल केन्द्र है। तांत्रिक दृष्टि से उन शक्तियों को चौंसठ भागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग की अपनी स्वतंत्र शक्ति है, जिसे साधना-भूमि में योगिनी की संज्ञा दी गयी है। साधक-समाज जिन चौंसठ योगिनियों से परिचित हैं वे चौंसठ योगिनी यही हैं। तंत्र में उसे चौंसठ

विद्या भी कहा जाता है। चौंसठ विद्या चौंसठ योगिनी का ही पर्याय है। प्रत्येक योगिनी अथवा विद्या का अपना एक तंत्र है। इस प्रकार तंत्रों की भी संख्या कुल चौंसठ है। तंत्र का मतलब है—वह साधन, जिसके द्वारा शक्ति, साधक के अधिकार में आती है। यदि यह कहा जाय तो साधुतर होगा कि साधक और शक्ति के बीच जो सूत्र है—वही तंत्र है। तंत्र साध्य नहीं, साधन है। साध्य वस्तु तो एकमात्र शक्ति ही है। शक्ति त्रिगुणात्मिका है और उसी त्रिगुण के आधार पर योगिनियों अथवा विद्याओं को भी विभाजित किया गया है। कुछ विद्यायें सात्त्विक हैं और कुछ रजोगुणी। शेष तमोगुणी हैं। जो तमोगुणी विद्यायें हैं, उनमें डाकिनी विद्या, शाकिनी विद्या, धूमावती विद्या, नाग विद्या, नागमोहिनी विद्या, अघोर विद्या, कपालसंकलिनी विद्या, प्रेत विद्या, पिशाच विद्या, वेताल विद्या आदि विद्यायें मुख्य हैं। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण, शान्तिकर्म आदि षटकर्म तथा विभिन्न प्रकार के तमोगुणी तांत्रिक प्रयोग व अनुष्ठान भी इसीके अन्तर्गत हैं।

धूमावती विद्या

तमोगुणी विद्याओं में डाकिनी विद्या और धूमावती विद्या ऐसी विद्याएँ हैं जो अत्यंत भयानक और दुर्धर्ष समझी जाती हैं। डाकिनी विद्या की सिद्धि की सहायता से किसी-की आँखों में झाँककर उसके भूत, भविष्य और वर्तमान का हाल बतलाया जा सकता है। मगर इससे भी बढ़कर है धूमावती विद्या, जिसकी सहायता से कोई भी अपना रूप-रंग, शक्ल-सूरत यहाँ तक कि अपनी वाणी भी बदल सकता है। यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे! क्या इन दोनों विद्याओं के ज्ञाता आज भी हैं—मैंने पूछा।

"हाँ, हैं", साधु महाशय बोले—"डाकिनी विद्या के एक साधक को जानता हूँ मैं। उससे पहली बार मैं जेल में मिला था। उसका एक साथी था, जो धूमावती विद्या जानता था। उसीकी हत्या के जुर्म में आजीवन कारावास की सजा मिली थी उसे। वह तो मृत्यु-दण्ड की सजा चाहता था। मगर हाकिम को कोई चश्मदीद गवाह नहीं मिला था, अन्यथा फाँसी की ही सजा मिलती उसे।"

यह सब सुनकर अजीब-सा लगा मुझे। एक साधक द्वारा दूसरे साधक की हत्या की बात कुछ समझ में नहीं आयी मेरे। फिर उसकी मौत की सजा की कामना···यह भी गले नहीं उतरा मेरे।

●

साधक रूपलाल

शायद मेरे मन के भाव को समझ गये साधु महाशय। थोड़ा हँसकर बोले—"अगर तुम उससे मिलना चाहो तो मिल सकते हो। वह इसी काशी की किसी गली में पागलों की तरह घूमते हुए अथवा गंगा किनारे किसी घाट की सीढ़ियों पर बैठे भीख माँगते हुए मिल जायेगा तुम्हें।"

कहने की आवश्यकता नहीं, दूसरे ही दिन से उसकी खोज में गलियों और घाटों का चक्कर लगाने लगा मैं। एक दिन अचानक साधु महाशय की बतलायी हुलिया से मिलता-जुलता एक पागल-सा भिखारी मिल गया मुझे।

साँझ का समय था। दशाश्वमेध के बगलवाले घाट की धूलभरी सीढ़ियों पर सिर झुकाये बैठा हुआ था वह। उलझे हुए जटा-जूट-से बाल, घनी दाढ़ी और मूँछ से भरा हुआ स्याह चेहरा। गन्दे शरीर पर फटी-पुरानी मटमैली-सी गंजी, मैली-कुचैली लुंगी। बगल में रखी हुई एक गठरी! जिस पर बहुत सारी मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। सामने अलमुनियम का पुराना टूटा-फूटा एक कटोरा था, जिसमें शायद सबेरे किसीका दिया हुआ भात पड़ा था, जो अब सूखकर काला पड़ चुका था। आयु रही होगी यही साठ-पैंसठ के लगभग। पूरा शरीर कंकाल बन चुका था। मगर उसकी दोनों आँखें!… बड़ी अद्भुत थीं दोनों आँखें, जो रह-रहकर मशाल की तरह दप् से जल उठतीं और फिर बुझ जातीं। सिर उठाकर कभी-कभी उन्हीं जलती हुई आँखों से वह बड़े स्थिर भाव से एकटक आकाश की ओर शून्य में देख लेता था। मगर लगता—जैसे वह कुछ भी देख नहीं रहा हो या किसी अशरीरी वस्तु की ओर लक्ष्य कर रहा हो। उस समय अगर उसकी ओर कोई देखता तो सारे शरीर में सिहरन पैदा हो जाती।

निकट जाकर खड़ा हो गया मैं। उसकी मशाल जैसी आँखें मेरी ओर उठीं, और क्षण भर तक मेरी ओर देखता रहा वह। फिर सहज भाव से धीमे स्वर में बोला—"भूख लगी है। कई दिनों से भरपेट खाने को नहीं मिला है। खिलाओगे कुछ?"

"क्या खाओगे—मैंने पूछा?"

"जो खिलाओगे वह खा लूँगा"—वह बोला।

"ठीक है। चलो मेरे साथ"—मैंने कहा।

वह हाथ का सहारा लेकर उठा—बगल में गठरी दबाई, अपना कटोरा सँभाला और फिर चल पड़ा मेरे साथ। उस समय आज की तरह दशाश्वमेध से लेकर गोदौलिया

तक इतनी दूकानें नहीं थीं, और न था कोई होटल। इतनी भीड़-भाड़ भी नहीं होती थी और न तो इतनी चहल-पहल ही होती थी। इसलिये मैं उसे लेकर स्टेशन की ओर चला गया। वहाँ एक होटल में उसे भरपेट खाना खिलाया, फिर एक नयी गंजी और लुंगी खरीदकर दी उसे। उसके सूखे चेहरे पर तृप्ति देखकर गहरी शान्ति का अनुभव हुआ मुझे। मगर उस दिन पूरी रात सो न सका मैं। सोचता रहा—इतना बड़ा साधक—इतनी ऊँची विद्या का ज्ञाता, उसकी गति-मति ऐसी कैसे हो गयी? कौन-सा आघात लगा कि उसकी ऐसी स्थिति हो गयी? फिर दूसरे दिन साधु महाशय के मुँह से उसकी जो कथा मैंने सुनी—उससे एकबारगी स्तब्ध रह गया था मैं। सचमुच बड़ी ही आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय कथा थी रूपलाल की। हाँ, उस पागल भिखारी का नाम रूपलाल ही था।

"रूपलाल की कोठरी के सामने जाकर जब मैं खड़ा हुआ तो हाथ-पैर में हथकड़ी-बेड़ी पहने वह अशान्त भाव से कोठरी का चक्कर लगा रहा था"—गट्-गट् कर शराब पीने के बाद खाली गिलास सामने टेबल पर रखते हुए साधु महाशय ने बतलाना शुरू किया—"मेरे साथ रूपलाल का वकील भी था। तीस वर्ष पहले अगर तुम रूपलाल को देखे होते तो······! क्या शरीर था? क्या रूप-रंग था? सचमुच रूपलाल, रूपलाल ही था। सुन्दर आकर्षक और सजीला जवान था वह उस समय। उम्र बस यही तीस वर्ष के आस-पास। सेन्ट्रल जेल के एक एकान्त सेल में कालापानी की सजा काट रहा था वह उस समय। गठीला, दोहरा बदन। खूब लम्बा था वह। लगता था, जैसे किसी अदृश्य बोझ से उसकी कमर झुक गयी हो। गाढ़े ताम्रवर्णी चेहरे की एक-एक रेखा—जैसे उसके जीवन के अद्‌भुत इतिहास की व्यथा-कथा सुना रही हो। उसके वकील मेरे घनिष्ठ परिचित थे। उन्हींके साथ उससे मिलने गया था मैं।

जेलर ने कोठरी के लोहे का भारी दरवाजा खोलते हुए कहा—"रूपलाल, तुम्हारे वकील साहब आये हैं।"

वकील के साथ मैं भी कोठरी के भीतर गया। उसने सीधे और सरल स्वर में कहा—"अपील करना चाहता हूँ, वकील बाबू।"

वकील ने भी सीधे और सहज शब्दों में जवाब दिया—"तुम पर कत्ल का इल्जाम है। सजा कम होगी, ऐसा नहीं लगता।"

रूपलाल ने थोड़ा हँसते हुए कहा—"सजा बदली तो जा सकती है, वकील बाबू।"

"मतलब?"

रूपलाल ने बड़ी व्यग्रता से कहा—"कालापानी के बदले फाँसी तो हो ही सकती है न। आप मेरी फाँसी के लिये अपील कीजिये वकील बाबू। मुझे फाँसी चाहिये, फाँसी!"

कुछ क्षण के लिये स्तब्ध रह गया मैं। यह कैसा आदमी है जो जान-बूझकर फाँसी का फन्दा अपने गले में डालना चाहता है। लम्बी सजा पानेवाले क़ैदी थोड़ा असहज होते हैं, परन्तु यह आदमी क्या पहले से ही असहज है? अथवा जीवन के प्रति उदासीन है।

उसने समझाते हुए कहा—"वकील बाबू! हाकिम लोग आपकी बात मानते हैं। आप मेरी ओर से अपील कर दें तो फाँसी की सजा ज़रूर मिल जायेगी मुझे।"

वकील ने कहा—"तुम फाँसी क्यों चाहते हो?"

कुछ विक्षुब्ध और भर्राये स्वर में उसने कहा—"बहुत देर हो गयी वकील साहब! उसके आखिरी साँस लेते समय मैंने कह दिया था, मैं भी जल्दी तेरे पास आ रहा हूँ। तुमको अकेला रहने नहीं दूँगा। वादाखिलाफी हो रही है सरकार! वह सोच रही होगी कि रूपलाल झूठा और बेईमान है।" उसकी मशाल जैसी आँखें दप से जल उठीं एकबारगी और फिर देखते ही देखते बुझ गयीं। उसके बाद उन्हीं वर्णहीन आँखों की स्थिर दृष्टि से वह दीवाल की ओर अपलक देखने लगा। लगा, जैसे किसी अदृश्य आत्मा को एकटक देख रहा हो।"

दूसरा गिलास भरते हुए साधु महाशय बोले—"फाँसी की सजा नहीं मिली रूपलाल को। कालेपानी की भी सजा वह पूरी न कर सका। प्रथम भारतीय स्वतंत्रता-दिवस के अवसर पर जिन कैदियों को मुक्त किया गया, उनमें रूपलाल भी एक था। जब वह जेल के फाटक के बाहर निकला तो मुझे वहाँ इन्तजार करते हुए खड़ा पाया उसने। कौन उसे बेईमान समझेगा? किसके साथ उसकी वादाखिलाफी होगी और क्यों वह फाँसी पर चढ़कर झूलना चाहता था? यही सब मैं जानना चाहता था रूपलाल से। काफी लम्बे अर्से के बाद भी मुझे देखते ही पहचान गया वह। मगर उसकी हालत दयनीय थी उस समय। उसकी मानसिक और शारीरिक स्थिति काफी शोचनीय थी। अपने साथ उसे बनारस ले आया मैं। अपने साथ रखना भी चाहा, मगर उसने साफ इनकार कर दिया। मेरी किसी भी तरह की मदद लेना नहीं चाहता था वह। दो-एक बार गंगा में कूदकर आत्महत्या भी करनी चाही उसने, मगर मौके पर पहुँचकर बचा लिया गया उसे।

एक दिन बहुत आग्रह करने पर रूपलाल ने अपनी जो पीड़ा भरी, दारुण कथा सुनाई, वह वास्तव में अलौकिक, अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक थी! सहज ही कोई विश्वास नहीं करेगा उस पर।

उस समय रूपलाल की आयु पचीस साल से ज्यादा न थी। भरा-पूरा जवान था वह। उसका अपना काफी लम्बा-चौड़ा पक्का मकान था, जिसके एक बड़े-से कमरे में बैठकर मोमबत्ती की हिलती-डुलती पीली रोशनी में चेहरा देखकर लोगों का वह सही-

सही भूत, भविष्य और वर्तमान का हाल बतलाया करता था। सबेरे से शाम तक औरत और मर्दों की भीड़ लगती थी वहाँ।

उस दिन, रोज से अधिक भीड़-भाड़ थी रूपलाल के कमरे के सामने। वह बड़ी उत्सुकता से भीड़ की ओर देख रहा था। अचानक उसकी चंचल दृष्टि स्थिर हो गयी। उसने देखा--एक वृद्ध व्यक्ति का हाथ पकड़े एक लड़की भीड़ के पीछे खड़ी थी। वृद्ध कोई गरीब किसान था। उसके सिर के बाल सफेद हो गये थे। चेहरे पर तमाम झुर्रियाँ उभर आयी थीं। कमर झुकी हुई थी। डण्डे के सहारे वह खड़ा था। मगर लड़की किसी मौसमी फूल की तरह ताजी और खिली हुई लग रही थी। उसकी उम्र सत्रह-अठारह साल से ज्यादा नहीं थीं। शरीर के चम्पई रंग, उसके शैवाली-से फहराते काले केश के साथ मिलकर उसके चेहरे की गढ़न में सौन्दर्य की और श्रीवृद्धि कर रहे थे।

रूपलाल सहज भाव से टकटकी लगाये देख रहा था, लड़की के इस सहज देहाती रूप को, और वह वृद्ध व्यक्ति रूपलाल की ओर निहार रहा था। पर यह लड़की क्यों नहीं ताक रही थी उसकी ओर। लड़की की अपलक दृष्टि न जाने क्यों कमरे के बगल में झूम रहे बादाम के पेड़ की ओर टिकी हुई थी।

भीड़ खत्म होने के बाद वह वृद्ध व्यक्ति लड़की का हाथ पकड़कर आगे बढ़ा। रूपलाल जान-बूझकर बोला—"अब मेरा वक्त खत्म हो गया है बाबा! कल किसी वक्त आना।" लाठी के सहारे कमर जरा सीधी कर वृद्ध व्यक्ति बोला--"मैं बहुत दूर से पैदल चलकर आया हूँ भाई। कल फिर आना मेरे लिये मुश्किल ही है। मैं बहुत जरूरत समझकर तुमसे मिलने इतनी दूर सामली से यहाँ आया हूँ। मैं तुमसे एकान्त में बातें करना चाहता हूँ।"

कुछ देर तक रूपलाल सोचता रहा फिर बोला-"ठीक है। भीतर चले आओ।"

वृद्ध व्यक्ति लड़की के साथ कमरे में आकर बैठ गया चुपचाप।

आश्चर्य! लड़की बराबर रूपलाल की ओर देख रही थी पर उसकी आँखों में कोई भाव नहीं उभरा। रूपलाल ने सोचा, लड़की के शरीर पर यौवन उतर आया है, परन्तु मन क्या अभी जवान नहीं हुआ?

रूपलाल का जन्म आसाम के साधारण परिवार में हुआ था। बचपन में ही उसके माता-पिता की मृत्यु हो गयी। दूर की एक मामी थी। उसी मामी ने पाल-पोसकर बड़ा किया और जब रूपलाल अठारह वर्ष का हुआ तो अचानक एक तिब्बती बौद्ध लामा की दृष्टि उस पर पड़ी। वह लामा बहुत बड़ा तांत्रिक था। कई प्रकार की तांत्रिक सिद्धियाँ प्राप्त थीं उसे। रूपलाल में उसने क्या देखा कि उसे अपने साथ तवांग ले गया। तवांग के एक गुप्त मठ में वह पूरे तीन वर्ष रहा। वे तीन वर्ष रूपलाल

के जीवन के विचित्र अध्याय थे। उन्हीं तीन वर्षों में उसके जीवन की दिशा बदल गयी, उस तिब्बती बौद्ध तांत्रिक लामा ने रूपलाल को एक ऐसी विकट और दुर्लभ सिद्धि प्रदान की थी, जिसके बल पर वह केवल किसीकी आँखों में झाँककर ही उसके भूत, भविष्य और वर्तमान की सारी बातें और सारी घटनायें इस तरह बतला दिया करता था जैसे उन्हें सामने देख रहा हो।

कौनसी सिद्धि थी वह ?

डाकिनी विद्या की सिद्धि !

डाकिनी विद्या

डाकिनी विद्या की अगम्य सिद्धि के द्वारा रूपलाल को जहाँ मान-सम्मान मिला वहीं उसके पास सुख के सारे साधन भी जुट गये। दिनभर तो वह सबसे मिलता-जुलता था और आँखों में झाँककर त्रिकाल की बातें बतलाता था। मगर साँझ होते ही दरवाजा बन्द कर लेता था। फिर वह न किसीसे मिलता था और न अपने मकान में किसीको रहने ही देता था। रोज आधी रात के समय साधना किया करता था। डाकिनी स्वयं उसके सामने प्रकट होकर मांस-मदिरा का भोग ग्रहण करती थी। रूपलाल को स्वयं इस बात का आश्चर्य हो रहा था कि उस वृद्ध व्यक्ति और उसकी लड़की को क्यों भीतर बुलाकर बिठा दिया था।

वृद्ध बोला—"बस इसीलिये आपको कष्ट दिया कि इस लड़की के भाग्य में क्या लिखा है ? जरा अच्छी तरह देखकर बता दो।"

रूपलाल ने हँसते हुए कहा—"ओह ! यह बात है।"

कमरे के एक कोने में काठ की तिपाई पर रखा एक दिया टिमटिमा रहा था। फिर जेब से एक मोमबत्ती निकालकर रूपलाल ने उसे दिये से जलाया और वह लड़की के मुँह के सामने जा बैठा ! पीली मोमबत्ती का पीला प्रकाश लड़की के चेहरे पर पड़ते ही रूपलाल चौंक गया।

"क्या नाम है इस लड़की का ?"

"काकुली"

टुकुर-टुकुर ताकती दो विशाल आँखों के बीच के तारे नहीं थे। वे दो प्रकाशहीन, भाषाविहीन गूँगी आँखें; रूपलाल सन्नाटे में आ गया।

ओह काकुली अन्धी है। अब रूपलाल की समझ में आया कि दोपहर में सामने खड़ी हुई काकुली की दोनों आँखें उसकी ओर देखती हुई भी बात क्यों नहीं कर सकी थीं ?

रूपलाल ने वृद्ध से पूछा—"काकुली की आँखें कब से ऐसी हो गयी हैं भगत ?"

एक निःश्वास छोड़ते हुए वृद्ध ने कहा—"जन्म से ही, इसीलिये तो अभागी के बारे में जानना चाहता हूँ। काकुली जरा हाथ तो दिखा रूपलाल को !"

चाँदी की चूड़ियों से भरा एक कोमल हाथ रूपलाल की ओर निःसंकोच बढ़ आया। रूपलाल ने भी रूई की तरह मुलायम और नरम उस हाथ को चुपचाप पकड़ लिया। कुछ क्षण बाद काकुली का हाथ छोड़ते हुए वह बोला—"मैं हाथ नहीं, चेहरा देखकर बोलता हूँ।"

और फिर अपनी मशाल जैसी आँखों को उसने काकुली के चेहरे पर टिका दिया। वह अबूझ भाषा में मंत्र पढ़ने लगा। मोमबत्ती की पीली रोशनी, रह-रहकर काकुली के गोरे चेहरे पर काँप उठती। वातावरण में रात का गहरा सन्नाटा छाया हुआ था। चारों ओर साँय-साँय कर रहा था। कभी-कभी उस नीरवता को भंग करती हुई जंगली झींगुरों की झीं-झीं की आवाज सुनायी पड़ जाती थी। समय बीतता चला गया। दो घण्टे कब निकल गये कमरे में बैठे उन तीन मूक प्राणियों को, पता न चला।········ अबूझ तिब्बती भाषा में तांत्रिक मंत्रों का उच्चारण करते रूपलाल के दबे गले की ध्वनि दूर पर बजते घण्टे की तरह ध्वनित होती थी। मोमबत्ती की काँपती लौ में काकुली की छाया भी पीछे की दीवार पर काँपने लगी और लगा, जैसे घर के हल्के अन्धकार में अनेक छाया-मूर्तियाँ इधर-उधर घूमने-फिरने लगी हों, और फिस-फिस करते हुए बातें करने लगी हों। अपनी गूँगी दृष्टि लिये काकुली स्थिर बैठी थी। मोमबत्ती की उस पीली रोशनी में उसका गोरा, लाल चेहरा फक पड़ा-सा दीख रहा था। उस ठंडी रात में भी माथे पर पसीने की बूँदें चमक रही थीं। रूपलाल समझ गया कि उसके ऊपर डाकिनी के साथी अपदेवताओं की सवारी आ गयी है। उसके बाद उसकी आँखों की मशाल और दीप्त-सी हो गयी। काकुली के पीले चेहरे पर अपनी आँखों को केन्द्रित करके रूपलाल ने अपने अन्तिम मंत्र का उच्चारण किया, जिसके साथ ही काकुली का पीला चेहरा धीरे-धीरे काला पड़ने लगा और उसके सिर के ऊपर एक काला बड़ा-सा चमगादड़ चक्कर काटने लगा, और आस-पास विषधर सर्प किलबिल करने लगे। बूढ़ा तो न देख सका मगर रूपलाल ने यह सब स्पष्ट देखा। उस अजीब-से भयानक दृश्य को देखकर रूपलाल काँप-सा गया, और उसकी आँखों की प्रज्ज्वलित मशाल धीरे-धीरे बुझ गयी।

बाप रे ! यह उसने क्या देखा ? अमंगल ! भयानक अमंगल के लक्षण ! उसने सपने में भी नहीं सोचा था कि काकुली जैसी सुन्दरी········ सरल और पवित्र लड़की का भविष्य इतना अन्धकारपूर्ण और कालिमामय है। उसका आगामी जीवन इतना मर्मान्तिक दुःख और अमंगल को लपेटे हुए है। बड़ी व्याकुलता से रूपलाल ने अपनी जेब से अगरबत्ती जैसी चीज निकालकर जला दी। कुण्डलाकार सुगन्धित धुआँ धीरे-धीरे कमरे में उठने लगा, और उसी धुएँ के साथ समस्त अशरीरी अपदेवताओं का दल

कमरे से बाहर हो गया। कमरे का वातावरण सहज और हल्का हो गया और काकुली के चेहरे का रंग स्वाभाविक हो गया। रूपलाल ने दिया जलाकर मोमबत्ती बुझा दी।

अब वृद्ध ने हरकत की, संशय और अनिश्चितता से काँपते गले से उसने पूछा—"ओझा भाई! मेरी काकुली के चेहरे पर क्या-क्या देखा? तुमको अपनी विद्या की कसम, सच-सच बतलाना।"

मगर सच बात रूपलाल बतला न सका। बताने से उसकी जीभ ने ही सिर्फ इनकार नहीं किया, बल्कि मन ने भी बाधा दी। उसने उल्टी बात कही।······ चेहरे पर यथावत् प्रसन्नता लाते हुए कहा—"ठीक ही देखा भगत; तुम्हारी लड़की सुखी होगी। दुःख की कोई छाया उसे छू न सकेगी अगर······"

"अगर क्या?" उत्सुकतापूर्वक वृद्ध बीच में ही बोल पड़ा। रूपलाल ने काकुली के सुघड़ चेहरे की ओर देखा। उसकी सुडौल नाक में चाँदी की लौंग चम-चम चमक रही थी। देखकर रूपलाल का हृदय एक अजीब करुणा से भर गया। उसने शब्दों में ममता उड़ेलते हुए कहा—"अगर कोई उसका प्यार सहित जीवन-निर्वाह करे।"

"बड़ी भारी बात कह दी भाई। काकुली को कौन जीवनभर चाहेगा? कौन भला करेगा उससे शादी?"

"······मैं करूँगा शादी भगत", रूपलाल बोला।

"सच कहते हो ओझा भाई!"

"झूठ बोलने से क्या लाभ?"

वृद्ध के चेहरे पर प्रसन्नता छा गई। पहले तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ। जन्मान्ध लड़की के साथ कोई जान-बूझकर विवाह करना चाहेगा क्या? पर रूपलाल ने यह जब कर दिखाया तो वृद्ध आनन्द से रो पड़ा। उसने कहा—"तुमने मुझे बचा लिया ओझा भाई। मैं और कितने दिन का मेहमान हूँ। इस अभागी की चिन्ता में मुझे रात-भर नींद नहीं आती। मरने पर भी सुख न मिल पाता।"

रूपलाल ने अपने वचन को पूरा कर दिया। काकुली का हाथ थाम लिया, जीवन-भर के लिये। कमलाक्षी नदी के किनारेवाले भैरव मन्दिर में बड़े धूम-धाम से रूपलाल और काकुली की शादी हो गई।

रूपलाल ने यह कभी सोचा भी न था कि इस संसार में जिसका कोई भी नहीं है—उसका सबसे अधिक अपना कोई हो जायेगा।······ फिर क्या काकुली ने ही यह सपना देखा था कि जीवन में कोई ऐसा स्नेही मिल जायेगा, जो उसे अपनी आँखों में रख सके। सामली गाँव के वसन्त ने कब उन दोनों के मन को रँग दिया—यह कोई जान न सका। यहाँ तक कि रूपलाल और काकुली भी नहीं।······

बड़े सुख के दिन कट रहे थे। काकुली के मन से भय की छाया धीरे-धीरे मिट गयी थी। रूपलाल भी काकुली के अमंगल भविष्य के संकेत को भूल गया था।

ठीक उसी समय निताई से भेंट हुई।

कमलाक्षी के किनारे दोनों बैठे हुए थे। दुपहरी ढल चुकी थी। रूपलाल और काकुली एक-दूसरे में डूबे हुए किसी रंगीन दुनिया की सैर कर रहे थे कि तभी एक मर्द के गले की सुरीली आवाज ने उनका स्वप्न भंग कर दिया।

आवाज बहुत दूर से आ रही थी। रूपलाल ने देखा—एक छोटी डोंगी खेता हुआ कोई आदमी उसीकी ओर आ रहा था। डोंगी के पास आते ही रूपलाल ने देखा—एक इकहरे शरीरवाला युवक डोंगी खेता हुआ आ रहा है। काला चेहरा, उलझे हुए बाल हवा में उड़ रहे थे। गेरुए रंग की लुंगी और उसी रंग का कुर्ता पहने था वह। नदी के किनारे एक कदम्ब का पेड़ था। उसीकी जड़ में उसने डोंगी बाँधी और सिर उठाकर ऊपर की ओर देखा। काकुली और रूपलाल पर नजर पड़ते ही उसका गाना थम गया। गाना ही नहीं थमा, लगा जैसे उसकी निःश्वास भी थम गयी हो।

काकुली हठात् अस्थिर होकर बोल उठी—"चलो, घर चलें।"

"क्यों क्या बात है?" रूपलाल ने पूछा।

"न जाने कौन टुकुर-टुकुर ताक रहा है"—काकुली बोली। रूपलाल अवाक् रह गया। काकुली तो अन्धी है।......फिर सचमुच वह आदमी इधर ही एकटक देख रहा था। काकुली को कैसे पता चला? क्या काकुली को अन्तर्दृष्टि प्राप्त है? यह आदमी है कौन!

काकुली ने रूपलाल का हाथ हिलाते हुए कहा—"चलो न। उठो चलो अब!"

मगर उन दोनों के उठने के पहले ही वह आदमी ठीक सामने आ गया। मुस्कराते हुए उसने पूछा—"तुम तांत्रिक रूपलाल हो न?"

रूपलाल के जवाब देने के पहले ही उसने सिर हिलाते हुए कहा—"हूँऽऽ! पहचानने में भूल नहीं हुई है। मैं भी तांत्रिक हूँ। कामरूप की कपालभैरवी का शिष्य हूँ। मेरा नाम है निताई भट्टाचार्य।"

कपालभैरवी का शिष्य निताई भट्टाचार्य! यह सुनकर चौंक पड़ा रूपलाल एकबारगी! कामरूप में रहनेवाली कपालभैरवी से परिचित था वह। साँप का काटा पानी माँग सकता था, मगर उसके मंत्र का मारा वह भी नहीं। बड़ी शक्ति थी कपालभैरवी में। श्मशान जगाकर सिद्ध किया था उसने।

"साथ में यह कौन है उस्ताद"—निताई ने हँसकर पूछा।

"मेरी पत्नी।" रूपलाल ने कहा।

"क्या नाम है उस्ताद?"

"काकुली"

"वाह बहुत अच्छा।" उसने फिर जोर से ठहाका लगाया।

"घर कहाँ है उस्ताद ?"

"जालतली में"

काकुली ने रूपलाल का हाथ पकड़कर जोर से खींचा और असह्य भाव से कहा—"घर नहीं चलोगे ?"

रूपलाल उठा और काकुली का हाथ थामकर चल पड़ा। उधर कदम्ब के नीचे खड़ा निताई भट्टाचार्य उन दोनों को एकटक जाते हुए देखता रहा।"

"कहने की आवश्यकता नहीं", साधु महाशय ने कहा—"उस दिन का अल्प परिचय धीरे-धीरे मैत्री में बदल गया। प्रायः दूसरे-तीसरे निताई भट्टाचार्य रूपलाल के घर पहुँचने लगा। एक दिन वह बोला—"उस्ताद, मैं जानता हूँ तुम डाकिनी विद्या में कितने माहिर हो। अपनी वह महाविद्या तुम्हें मुझे भी सिखानी होगी उस्ताद।"

"यह कैसी बात है निताई। तुम भी तो कम गुणी नहीं हो। न जाने कितनी विद्यायें तुम्हारी जानी-समझी हैं।"

"नहीं-नहीं, कुछ नहीं उस्ताद, मेरी एक विद्या को छोड़कर सब बकवास है।"

"वह कौन-सी ?" रूपलाल ने उत्सुकता पूर्वक प्रश्न किया।

"धूमावती विद्या यानी रूपबदल विद्या।"

रूपलाल चकित हो उठा—"वह कौन-सी विद्या है भाई। उसे सीखने से क्या ताकत बढ़ जाती है ?"

हँसते हुए निताई ने कहा—"वह बड़ी मजेदार विद्या है उस्ताद! तुम्हें सिखा दूँगा। पर पहले तुमको अपनी विद्या मुझे सिखानी होगी।···सिखाओगे ?"

"हाँ, क्यों नहीं ? लेकिन डाकिनी विद्या है बहुत विकट। अपदेवताओं का कार-बार। सीखने में थोड़ा समय लगेगा।"

"कोई बात नहीं, लगे," कहते हुए निताई ने अपनी जेब से चिलम, गाँजा, लाल सूत, पाँच कौड़ी और पाँच रुपया निकालकर रूपलाल के पैरों के पास रख दिया, फिर कहा—"आज से मुझे अपना शिष्य बना लो।"

रूपलाल ने कहा—"आज नहीं, परसों अमावस्या है। उसी दिन ठीक है।"

"बाबा भूतनाथ की कसम।"

एक दबे हुए आनन्द से निताई का चेहरा खिल उठा। मगर भीतर बैठी काकुली के चेहरे पर एक अनजाने आतंक की छाया उतरने लगी। उसका हाथ काँपने लगा।

निताई बोला—"अच्छा चलें उस्ताद, परसों आयेंगे" और वह चल दिया।

पीछे से रूपलाल ने आवाज दी—"सन्ध्या के बाद मनसा पोता श्मशानघाट पर आना। मैं भी आऊँगा।"

घर के भीतर आकर रूपलाल ने देखा—काकुली चुपचाप बैठी है और उसके अचानक पाण्डुर हो गये चेहरे पर भय और आतंक की छाया तैर रही है।

उसके शरीर पर हाथ फेरते हुए रूपलाल ने पूछा—"क्या हुआ ? इतनी डरी हुई क्यों हो ?"

धीरे-धीरे काकुली के चेहरे का पीलापन दूर हो गया। वह धीरे से बोली—"बहुत दिन बाद न मालूम कैसे शरीर सिहर उठा था।"

क्षणभर के लिए रूपलाल की छाती काँप उठी। लेकिन हँसते हुए उसने कहा—"पागल ! भय की क्या बात है ? मैं तो हूँ ही।"

पति के कंधे पर गाल सटाकर काकुली बोली—"सुनो, तुम उसको अपनी विद्या सिखाओगे ? नहीं सिखाया तो क्या होगा। आदमी अच्छा नहीं है।"

रूपलाल बोला—"मैंने तो कसम खाई है। अब तो उसे सिखाना ही पड़ेगा।"

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की काली-अँधेरी रात। वातावरण में गहरी खामोशी छाई हुई थी।

दरवाजे पर खट-खट की आवाज हुई। भीतर से काकुली बोली—"कौन है ?"

दबे गले से आवाज आई—"मैं !"

दरवाजा खोलकर काकुली बोली—"कौन ?"

"मैं हूँ निताई !"

काकुली को एक धक्का-सा लगा। बोली—"तुम यहाँ इस समय क्यों आये हो ? मेरा आदमी श्मशानघाट पर गया है। वहीं जाओ।"

"एक लोटा पानी होगा ? बड़ी प्यास लगी है।"

विरक्त भाव से काकुली बोली—"यह कैसी प्यास है ? दिन-रात हर वक्त लगी रहती है।"

ठहाका मारकर हँसता हुआ निताई बोला—"ठीक समझा है।" अचानक हँसी रोककर दबे गले से वह बोला—"दिन-रात हर वक्त मुझे प्यास लगी रहती है।"

भौंहों को संकुचित करते हुए क्षुब्ध गले से काकुली ने कहा—"तो मेरे पास छोड़कर और कहीं पानी नहीं मिलता तुम्हें ?"

"नहीं, मेरी प्यास का पानी तुम्हें छोड़कर और कहीं नहीं मिलता काकुली।"

निताई की बात में वासना की झलक थी।

काकुली दरवाजा बन्द करने जा ही रही थी कि निताई ने झट उसकी कोमल नरम कलाई पकड़ते हुए कहा—"जीवन हँसी-खुशी का मेल है, आखिर रूपलाल ने तुम्हें क्या दिया। .... मैं तुम्हारी झोली भर दूँगा। बड़ा आराम दूँगा काकुली ! तुम मेरी हो जाओ।"

काकुली का सर्वाङ्ग थर-थर काँपने लगा। उसकी देह जलने लगी और फिर दूसरे क्षण चीखकर बेहोश हो गयी वह। निताई ने इतना नहीं सोचा था और नहीं रुका वह। भागकर अँधेरे में गायब हो गया।

बेहोशी का कुहासा धीरे-धीरे फीका पड़ने लगा और उसी बीच रूपलाल जैसे बहुत दूर से पुकार रहा था—"काकुली! काकुली! तुम्हें क्या हुआ काकुली?"...... अपनी लम्बी-लम्बी पलकों को कँपाकर काकुली ने जाना कि उसके निकट सचमुच रूपलाल ही है। वह उठी और पति की छाती में मुँह छिपाकर फफक-फफककर रोने लगी। रोते-रोते उसने कहा—"निताई मुझे भ्रष्ट करना चाहता है। वह शैतान है। तुम उसे यहाँ आने मत दो। वह मुझ पर जादू कर देगा। मुझे मार डालेगा।"

काकुली को अंक में दबाये रूपलाल सन्नाटे में आ गया। उसने न हाँ की और न ना। सिर्फ उसकी मशाल जैसी आँखें दर्प से जल उठीं।

निताई को मना करने की जरूरत नहीं पड़ी। उसने स्वयं ही आना छोड़ दिया।

धीरे-धीरे दो महीने का समय गुजर गया। लेकिन रूपलाल निश्चिन्त नहीं हुआ। काकुली ने कहा था—"उस पापी ने जब मेरी कलाई पकड़ी—तो लगा जैसे तुम्हीने मेरी कलाई थामी हो। उस समय मेरा सारा शरीर अवश हो गया था।"......

"क्या कहती हो?" रूपलाल चौंक उठा था।

"हाँ जी! उसके बाद उस नासपीटे ने कहा कि रूपलाल ने तुम्हें क्या दिया है, तो मेरा माथा ठनका। मेरे मन ने कहा—यह तुम नहीं हो। निश्चय ही वह शैतान है। मेरा शरीर काँपने लगा। उसके बाद क्या हुआ नहीं जानती।"

काकुली की बात सुनकर रूपलाल चौंक पड़ा था। निताई के हाथों के स्पर्श ने काकुली के सारे अंग को अवश कर दिया था। उसे लगा जैसे रूपलाल ने ही हाथ पकड़ा हो।...... इसका मतलब—उसने काकुली को अवश नहीं वश में कर लिया था।......तो क्या सचमुच निताई तांत्रिक 'धूमावती विद्या' जानता है? इतना बड़ा गुणी होकर भी वह रूपलाल के पास क्यों आया था? अब समझ में आ रहा है। वह मेरी विद्या के लोभ में नहीं बल्कि काकुली के ताजे खिले हुए यौवन के फूल का रसपान करने के लोभ में आया था।

तिब्बती बौद्ध तांत्रिक लामा गुरु की विद्या कभी झूठी नहीं हो सकती। इस अन्धी काकुली के जीवन का वही शनि है—वही निताई तांत्रिक।

रूपलाल की छाती में घप्प से कोई चीज घुसी। उसके बाद से ही उसने काकुली को कभी आँख से ओझल न होने दिया। मगर जो होना था वह होकर ही रहा"—खाली गिलास को फिर भरते हुए साधु महाशय बोले—"धीरे-धीरे दो महीने का समय और

निकल गया। उन दिनों सामली के घने जंगलों में कमिश्नर साहब अपने विलायती दोस्तों के साथ शिकार खेलने आए थे। नदी के उस पार उनका खेमा लगा था। उनको जब रूपलाल के बारे में पता चला तो अपना भी भविष्य जानने के लिए रूपलाल को अर्दली भेजकर बुलवाया। वह जाना नहीं चाहता था। मगर सरकारी बुलाहट थी, इसलिए जाना ही पड़ा उसे। रात में सोते समय काकुली से रूपलाल ने कहा—"सबेरे ही सबेरे कमिश्नर साहब के पास चला जाऊँगा—और सूरज डूबने के पहले ही वापस लौट आऊँगा। तुम कुछ सोचना मत। सुदामा को छोड़ जाऊँगा। वह तुम्हारा ख्याल रखेगा।"

बिलकुल तड़के रूपलाल चला गया। मगर लौटते-लौटते जल्दी करने के बावजूद भी सूरज डूब ही गया। साँझ की स्याह कालिमा चारों तरफ फैल गई और फिर धीरे-धीरे वह कालिमा रात के अँधेरे में बदल गई। नदी पार कर थोड़ा आगे बढ़ने पर रूपलाल को सुदामा मिल गया। उसके क्रोध की सीमा न रही। चीखकर बोला—"तू काकुली को अकेला छोड़कर चला जा रहा है? वाह रे?"

सुदामा बुरी तरह घबड़ा गया—"अरे—रे—रे······यह देखो। तुम घर में घुसे इसलिए तो मैं चला आया, मालिक।"

रूपलाल स्तब्ध और अवाक् रह गया। भर्राये स्वर में बोला—"मैं घर में घुसा?"

सुदामा ने कहा—"घुसे नहीं? यही तो आधा घण्टा पहले मैंने प्रत्यक्ष देखा। तुम घर में घुसे और जब तुम मालकिन से हँसने-बोलने लगे तो मैं इधर घूमने चला आया।" रूपलाल की छाती धड़क उठी और कुछ न कहकर वह घर की ओर दौड़ा। उसीके साथ ही हवा का तेज झोंका भी तूफान की तरह हू-हू करता हुआ बहने लगा। नदी किनारे श्मशान में जलती हुई चिताओं की लाल-पीली लपटें हवा के उस झोंके से इधर-उधर फर्र-फर्र करने लगीं, पास ही के घने जंगलों में सियारों का समवेत स्वर गूंज उठा और उसीके साथ श्मशान के मरियल कुत्ते भी रोने लग गये।

रूपलाल तीर की तरह भागा। बरामदे में पहुँचकर सहसा वह ठमक गया। घर के किवाड़ बन्द थे। भीतर से आवाज आ रही थी।······

"तुम्हें प्यार नहीं करता तो किससे करता हूँ?"

"सच!"

"सच! सच! सच! तुम क्या मेरे मन को नहीं जानती? बार-बार क्यों पूछती हो?"

"ऐसे ही! तुम्हारे मुख से सुनने में अच्छा लगता है।"

"अहा!" ·····

रूपलाल का माथा घूमने लगा। दोनों आवाजों में से एक आवाज को वह पहचानता

है⋯ ⋯वह काकुली का गला है। मगर मर्द की आवाज तो उसकी अपनी ही जैसी है। हू-ब-हू उसीकी आवाज। उसीकी तरह बोलने का ढंग।

यह किवाड़ के पीछे कौन है? धक्का देने जाने के वक्त वह जरा ठमक गया⋯ ⋯फिर धीमे-धीमे पाँव रखता हुआ सीढ़ी उतर गया और पीछे की ओर जाकर उसने अधखुली खिड़की से भीतर झाँककर देखा—भीतर दिया जल रहा था। उसके हल्के-पीले प्रकाश में भीतर का दृश्य देखकर रूपलाल पत्थर हो गया। उसने देखा—बिछौने के ऊपर काकुली को अपने आलिंगन में लिये दूसरा रूपलाल सोया हुआ है और काकुली अमरवेल की तरह उससे लिपटी हुई है।"

न जाने कब तक पाषाणवत् खड़ा रहा रूपलाल। उसे समझते देर न लगी कि वह कौन है? जानता है। निताई भट्टाचार्य धूमावती विद्या अवश्य जानता है। धूमावती विद्या को छोड़कर और किसी तरह रूप बदला नहीं जा सकता।"

मदिरा का प्रभाव शायद साधु महाशय पर पड़ने लगा था। बोले—"शेष कथा अब कल सुन लेना! अब मुझे आराम करने दो! समझे न!"

मगर मैंने नहीं माना। जिद-सी पकड़ ली। अब पूरी कथा सुनकर ही जाऊँगा मैं।

"तो ठीक है"—जम्हाई लेते हुए साधु महाशय बोले—"फिर दारू पिला। तभी कथा आगे बढ़ सकेगी रूपलाल की।"

बोतल खोलकर गिलास पूरा भर दिया मैंने मदिरा से।

गिलास खाली कर साधु महाशय बोले—"निताई समझता था—रूपलाल के अलावा काकुली और किसीकी नहीं है। किसीकी हो ही नहीं सकती। काकुली ने अपने हृदय का समस्त प्यार रूपलाल के ऊपर उड़ेलकर उसे लता की तरह जकड़ लिया था। पर निताई का लोभ तब भी नहीं छूटा। पाप के गर्त में छिपी उसकी लालसा ने काकुली के अपरूप सौन्दर्य की ओर हाथ बढ़ाया—और धूमावती विद्या में निपुण निताई रूपलाल का रूप धारण करके काकुली के यौवन-रस का पान करने आ गया था।

दर्प से रूपलाल की मशाल जैसी आँखें जल उठीं और देखते ही देखते उसकी मांसपेशियाँ कठोर हो गईं। उसने पूरी ताकत लगाकर दरवाजे पर टक्कर मारी और चीख पड़ा—"काकुली!"

भीतर का रूपलाल सतर्क हो गया।

काकुली बुरी तरह चौंक उठी⋯⋯हड़बड़ाकर बोली—"बाहर तुम्हारे ही गले की आवाज है⋯ वह कौन है मालिक!" तभी रूपलाल की चीखती हुई आवाज और भयंकर रूप से सुनाई पड़ी—"दरवाजा खोलो काकुली। तेरे पास निताई शैतान है।⋯ जल्दी दरवाजा खोलो!"

काकुली हड़बड़ाकर उठ बैठी। हकलाते हुए उसने कहा—"वह क्या बोलता है मालिक ? सुन रहे हो ?"

दूसरे रूपलाल की आँखें अभी भी वासना में डूबी हुई थीं। उसकी साँस तेज थी और शरीर में कामोत्तेजना व्याप्त थी। काकुली की सर्वाङ्ग नग्न काया को अपने निकट खींचते हुए—उसने उसी, एक ही गले की आवाज में कहा—"वह झूठ बोलता है काकुली। मैं ही रूपलाल हूँ। यह देख तेरे पास खड़ा हूँ। वह बाहरवाला ही निताई शैतान है।" बाहरवाला रूपलाल पागलों की तरह दरवाजा पीटने लगा और काठ का पुराना दरवाजा अन्त में चरमराकर टूट गया। दोनों दरवाजे टूटकर गिर पड़े और तूफान की तरह कमरे में घुसते हुए बाहरवाला रूपलाल चीख पड़ा—"किसकी गोद में सोयी हुई हो काकुली ? वह निताई है, निताई।" दूसरा रूपलाल ठीक उसी आवाज में बोला—"उसकी बात का विश्वास न करना काकुली। वह निताई है। मैं रूपलाल हूँ। मैं रूपलाल हूँ।" दरवाजे पर खड़ा पहला रूपलाल चीखा—"तांत्रिक ने तुम पर मंत्र मारा है काकुली। मैं रूपलाल हूँ।"

दूसरा रूपलाल हो-हो कर हँसने लगा। हू-ब-हू रूपलाल की ही हँसी। हँसते ही हँसते उसने कहा—"झूठ ! झूठ ! काकुली, यह देख मेरा हाथ, मुँह, नाक—" काकुली का एक हाथ पकड़कर वह अपना मुँह दिखाने लगा। दुविधा में पड़ी अन्धी काकुली रो पड़ी। "सच-सच बोलो न ! कौन असली मेरा मालिक है ?"

काम का नशा बड़ा घातक होता है। दोनों हाथ से काकुली को पकड़, छाती से लिपटाते हुए मुँह के भीतर मुँह रखकर दूसरा रूपलाल बोला—"मैं-मैं-मैं"। पहला रूपलाल अब स्थिर न रह सका। दालान के कोने में हाथ बढ़ाकर न जाने क्या उसने अपने हाथ में लिया। ढिबरी के हल्के प्रकाश में मानो उसके हाथ में बिजली कौंध गयी और उसके बाद ही दूसरे रूपलाल की गर्दन 'खच्' से कटकर लटक गयी और दूसरे क्षण सारा बिछौना और सारा कमरा खून से भर उठा।

घोर अन्धकार में, डूबे हुए स्याह वातावरण में, अदृश्य अपदेवताओं का दल चीत्कार कर उठा और खून से सना गँड़ासा हाथ में लिये पहला रूपलाल काठ की तरह सख्त हो गया।

और आँखों के सामने ही दूसरे रूपलाल का खून में लथ-पथ शरीर देखते-देखते निताई भट्टाचार्य के असली रूप में बदल गया।

काकुली अब तक गूंगी हो गई थी। उस घटना के बाद ही आतंक से चीत्कार करती हुई बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ी।

अपनी मशाल जैसी आँखों की स्थिर दृष्टि से रूपलाल देखने लगा कि काकुली के मूर्छित पड़े शरीर के ऊपर अनेक विषधर भयानक सर्प रेंग रहे हैं और सिर के ऊपर

रक्त-शोषक चमगादड़ चक्कर काट रहे हैं। ठीक यही दृश्य रूपलाल ने उस समय भी देखा था—जब पहले-पहल काकुली का भविष्य देखने के लिए मोमबत्ती जलाई थी। तिब्बती बौद्ध तांत्रिक लामा द्वारा प्रदत्त विद्या झूठी नहीं हुई। हाथ का खून से सना गँड़ासा फेंककर रूपलाल धीरे-धीरे चलकर काकुली के पास आया। नाक के पास हाथ रखकर देखने लगा। साँस नहीं चल रही थी। चेहरा पीला पड़ चुका था। दोनों अन्धी-गूँगी आँखें बन्द थीं। काकुली मर चुकी थी। काकुली के विवर्ण और निस्तेज चेहरे पर टप्-टप् कर आँसू टपक पड़े। फिर भीगे गले से रूपलाल केवल यही कह पाया—"तू आगे चल काकुली। मैं भी जल्दी ही तेरे पास आ रहा हूँ।" उसने दोनों हाथों से काकुली की लाश उठाई— और नदी की ओर चल पड़ा। लाश को नदी में प्रवाहित कर स्वयं डूबकर आत्महत्या करने का विचार था रूपलाल का, मगर ऐसा कर न सका वह। मौके पर ही पुलिस की गिरफ्त में आ गया वह।"

सारी कथा सुनने के बाद मन विषण्ण हो उठा मेरा। पूरी रात सो न सका मैं। बार-बार रूपलाल का विक्षिप्त और उदास चेहरा थिरक उठता था मेरे सामने। दूसरे दिन दशाश्वमेध गया तो रूपलाल अपनी जगह पर मुझे नहीं मिला। इधर-उधर बहुत खोजा, मगर कहीं दिखलायी नहीं दिया वह! दो-तीन दिन बाद फिर गया—तो देखा—डेड़सी के पुल के पास सड़क पर एक लाश पड़ी थी। लाश के सिरहाने एक मैली-कुचैली गठरी थी—जिस पर तमाम मक्खियाँ भिनभिना रही थीं, और एक कटोरा भी था वहाँ अलमुनियम का। लाश के ऊपर कुछ पैसे बिखरे हुए थे। वह लाश और किसीकी नहीं—रूपलाल की थी। उसके निर्जीव शरीर पर मेरी ही दी हुई गंजी और लुंगी थी उस समय। मन को बड़ा आघात लगा। लोगों की नजर में रूपलाल पागल था और भिखारी था। भिखारियों की जो अन्तिम परिणति होती है, वही उसकी भी हुई। कौन भला जानता था कि वह भारत की एक बहुत बड़ी विद्या का साधक था और उसे बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त थी। न जाने कब तक अपलक निहारता रहा मैं उसके भावहीन और निस्तेज चेहरे की ओर।

●

साधक रामचन्द्रा स्वामी

सन् १९४५ से १९५० ई० तक की समयावधि में काशी के जिन गुप्त साधकों से मेरा साक्षात्कार हुआ––उनमें एक थे रामचन्द्रा स्वामी। तैलंगी ब्राह्मण थे स्वामीजी। दुबला-पतला शरीर, बिलकुल काला रंग, सिर के बाल और दाढ़ी-मूंछ सफाचट और आयु यही पचास-पचपन के क़रीब। चौंसठ तंत्रों में है एक पक्षी-तंत्र। स्वामीजी पक्षी तंत्र के सिद्ध साधक थे। सभी पक्षियों की भाषा के ज्ञाता थे वह। कौन पक्षी-अपनी भाषा में क्या बोल रहा है—क्या बात कर रहा है—और क्या कह रहा है, तुरन्त समझ जाते थे स्वामीजी।

काशी के हनुमानघाट मुहल्ले के एक जीर्ण-शीर्ण मकान में रहते थे स्वामीजी। मकान में कुल चार कमरे थे। एक कमरा तो साधना-कक्ष था स्वामीजी का। वे कौन-सी साधना करते थे, यह तो मुझे नहीं मालूम, मगर उस सीलनभरे कमरे में तरह-तरह के पक्षियों के शव अवश्य चारों तरफ बिखरे रहते थे। गिद्ध, चील्ह, कौआ आदि जैसे कुछ बड़े पक्षियों के कंकाल दीवार और छत की खूंटियों पर टँगे झूलते रहते थे। पूरा कमरा हमेशा भयंकर दुर्गन्ध से भरा रहता था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि स्वामीजी उसी सड़ाँधभरे कमरे में दरवाजा बन्द कर घण्टों अपनी रहस्यमयी साधना में लीन रहा करते थे।

स्वामीजी अकेले थे। बहुत कम बोलते-चालते थे और अपने मकान के बाहर भी बहुत कम ही निकला करते थे। साधु महाशय के माध्यम से ही स्वामीजी से मेरा परिचय हुआ था। इसलिए मुझ पर उनकी विशेष कृपा थी। उन्हें एक आदत थी और वह भाँग की आदत थी। जब भाँग का नशा उन पर गहरा जाता तो कभी-कभी वे मुझसे बहुत-सी ऐसी बातें किया करते थे तंत्र-मंत्र से सम्बन्धित, जिन्हें मैं समझ नहीं पाता था। बस बीच-बीच में 'हूँ', 'हाँ' कर दिया करता था।

पूरा तंत्रशास्त्र दो खण्डों में विभाजित है। पहला खण्ड है 'ज्ञान-खण्ड' और दूसरा खण्ड 'कर्म-खण्ड' कहलाता है। पहले खण्ड में अध्यात्म और दर्शन के तमाम विषय हैं और दूसरे खण्ड में तांत्रिक क्रियाओं, प्रयोग, अनुष्ठान, पटल, पद्धति, पुरश्चरण आदि से सम्बन्धित विषय हैं। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण और शान्ति-कर्म आदि षट्कर्म भी इसी खण्ड में हैं।

साधु महाशय से यह भी मालूम हुआ कि रामचन्द्रा स्वामी तंत्र के कर्म-खण्ड के ज्ञाता ही नहीं बल्कि कुशल साधक भी हैं। मन ही मन सोचा, यदि स्वामीजी से

उचित मार्गदर्शन मिला तो तंत्र के कर्म-खण्ड पर भी स्वतंत्र रूप से शोध-कार्य करूँगा। मगर उनकी मति-गति ही मेरी समझ में नहीं आ रही थी। इसलिये मैं निराश हो चला था धीरे-धीरे। तभी एक दिन......

सायंकाल का समय था!

नित्य की भाँति मैं स्वामीजी से मिलने गया था। आँगन में अँधेरा था। एक अबूझ-सी खिन्नताभरी उदासी फैली हुई थी मकान के भीतर। मैं किसी तरह टटोल-टटोलकर सीढ़ियाँ चढ़ा—और ऊपर के कमरे में पहुँचा। दरवाजा बन्द नहीं था, थोड़ा खुला था और भीतर हल्का-सा प्रकाश हो रहा था। स्वामीजी साधना में हैं—यह मुझे समझते देर न लगी। बाहर ही खड़ा रहकर कुछ सोचने लगा मैं। तभी मुझे कमरे के भीतर किसी नारी-कण्ठ की आवाज सुनाई दी। एकबारगी चौंक पड़ा मैं। स्वामीजी अकेले ही रहते हैं। अभी तक कभी किसी स्त्री को न उनके साथ देखा था और न उनके मकान में ही। आश्चर्य और कौतूहल से भर उठा चित्त। झाँककर जब भीतर देखा तो एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं। सारा शरीर जैसे सनसनाने-सा लगा।

अपने आसन पर बैठे थे स्वामीजी और ठीक उनके सामने एक महिला भी बैठी हुई थीं। आयु यही रही होगी ४०-४५ वर्ष, लेकिन देह का सौष्ठव और गठन देखकर उतनी आयु की नहीं लग रही थीं वह महिला। बादामी रंग, सुगठित देहयष्टि, उन्नत उरोज, नग्न पीठ पर बिखरे हुए घने काले बाल, ऊँचा मस्तक और बड़ी-बड़ी आँखें। गले में स्फटिक और रुद्राक्ष की माला, ऊँचे-चौड़े मस्तक पर लाल चन्दन का प्रलेप और शरीर पर केवल पारदर्शक लाल रेशमी साड़ी। महिला के चेहरे पर असीम तेज था और थी गहरी शान्ति। सामने एक खोपड़ी थी। किसी मनुष्य की खोपड़ी थी वह, जिस पर लाल सिन्दूर लगा था और जवा पुष्प की माला पड़ी थी। खोपड़ी के सामने एक चौमुखा दीप जल रहा था और अगरबत्ती सुलग रही थी जिसका सुगन्धित धूम्र कमरे में चारों तरफ फैल रहा था। खोपड़ी के अगल-बगल और कुछ सामान रखे हुए थे जैसे खोये की बरफी, फल, नीबू, गोश्त, कुल्हड़ में शराब, हल्दी में रंगे हुए चावल और उड़द आदि!

समझते देर न लगी मुझे। किसी विशेष तांत्रिक प्रयोग में लीन थे स्वामीजी—उस अज्ञात महिला के साथ। अधिक रुकना उचित नहीं समझा मैंने वहाँ। लेकिन जैसे ही लौटने को हुआ—उसी क्षण मेरी दृष्टि उस रहस्यमयी खोपड़ी पर अटक गयी। देखा—वह अपनी जगह पर बड़ी तेजी से घूम रही थी। थोड़ी देर बाद उसी तरह घूमती हुई ऊपर की ओर धीरे-धीरे उठने लगी और खोपड़ी के उठते ही कमरे में कई विचित्र छायाकृतियाँ प्रकट हो गयीं एक साथ। वे छायाकृतियाँ नर-कंकाल जैसी थीं और फिस्-फिस् कर हँसती खिलखिलाती हुई अपनी-अपनी जगह नाच-कूद रही थीं।

बड़ा ही भयानक और बीभत्स दृश्य था वह जिसे देखकर एकबारगी रोमाञ्चित हो उठा मेरा सारा शरीर ! भय और विस्मय के मिले-जुले भाव से भर गया मेरा मन और तभी किसीके भयंकर चीत्कार से कमरे का वातावरण गूँज उठा और उस चीत्कार को सुनकर फिर एक पल रुका न गया वहाँ मुझसे। अँधेरे में गिरता-पड़ता किसी तरह भागा मैं वहाँ से।

उलूक-साधना

दूसरे दिन उन तमाम बातों की चर्चा साधु महाशय से की। वे सुनकर थोड़ा मुस्कराये। बोले, कोई पैशाचिक साधना कर रहे होंगे स्वामीजी। ऐसे समय में तुम वहाँ मत जाया करो—साधु महाशय ने मना किया मुझे। मगर मेरा मन नहीं माना। चार-पाँच दिनों के बाद फिर गया। स्वामीजी मुझे गंगा किनारे ही मिल गये। स्नान करके लौट रहे थे वह। मैंने उन्हें प्रणाम किया जिसका उत्तर मुस्कराकर दिया उन्होंने। पीछे-पीछे मैं उनके साथ उनके मकान तक आया। सोचा, बैठकर स्वामीजी से बातें करूँगा रोज की तरह। मगर स्वामीजी ने 'काफी व्यस्त हूँ'—यह कह टरका दिया मुझे।

समझ गया मैं स्वामी जी मुझे क्यों टरका रहे हैं ? निश्चय ही आज भी कोई विकट साधना-अनुष्ठान करेंगे वह। उस अज्ञात और रहस्यमयी महिला को लेकर ! डेढ़-दो घण्टे का समय इधर-उधर व्यतीत कर मैं चुपचाप मकान के भीतर घुस गया। उस दिन भी पूरा मकान अँधेरे में डूबा हुआ था। गहरी निस्तब्धता छायी थी भीतर ! मेरा अनुमान सही निकला। स्वामीजी अपने कमरे में बैठे हुए थे मगर वह रहस्यमयी महिला नहीं थीं वहाँ। स्वामीजी के सामने थोड़ी दूर पर एक छोटी-सी लकड़ी की चौकी थी। करीब दो फुट लम्बी-चौड़ी रही होगी वह चौकी जिस पर एक बहुत बड़ा आसामी उल्लू बैठा हुआ चारों तरफ सिर घुमा-घुमाकर देख रहा था। निश्चय ही वह उल्लू दो फुट ऊँचा रहा होगा। पुखराज जैसी उसकी पीली भयानक आँखें बड़ी ही डरावनी लग रही थीं उस समय। उल्लू के दोनों पैर पतली जंजीर से बँधे हुए थे, उसके सामने पीतल की कटोरियों में चना, किशमिश, काजू, बादाम और शराब रखी हुई थी और उन्हींके पास घी का एक दीप भी जल रहा था जिसका मन्द-मन्द आलोक उल्लू के डरावने चेहरे पर पड़ रहा था। चौकी के नीचे मिट्टी के एक बड़े-से कटोरे में लोहबान सुलग रहा था जिसकी तीखी गंध चारों तरफ फैल रही थी। कुल मिलाकर सारा दृश्य बड़ा ही विलक्षण और आश्चर्यजनक था। कमरे के वातावरण में जैसे रहस्य का धुआँ भरा हुआ था और उस रहस्यमय वातावरण में स्वामीजी—आसन पर बिलकुल निश्चेष्ट बैठे हुए किसी मंत्र का जप कर रहे थे। उनकी आँखें उल्लू

के ऊपर टिकी हुई थीं—जैसे वे उसीको देखकर जप कर रहे हों। उनके चेहरे पर बेजान-सी शान्ति थी।

काफी देर तक मैं वह सब देखता रहा। सहसा कमरे के निस्तब्ध वातावरण में किसीका गम्भीर स्वर गूंज उठा। मैं चकपकाकर चारों तरफ देखने लगा। कुछ समझ में नहीं आया। किसका था वह गुरु गम्भीर स्वर ? क्या स्वामीजी का था ? नहीं, स्वामीजी का नहीं था वह स्वर ! स्वामीजी तो पूर्ववत् निश्चेष्ट बैठे हुए थे। कुछ क्षण बाद फिर सुनाई पड़ा वैसा ही स्वर ! ऐसा लगा, जैसे कोई बहुत दूर से किसीको पुकार रहा हो। इस बार समझते देर न लगी मुझे। वह पिशाच जैसा भयानक उल्लू ही बोल रहा था मानव-स्वर में !

हे भगवान् ! कितना अविश्वसनीय और रोमाञ्चक था सब कुछ। मानव-स्वर में, मानव-वाणी में और मानव के ही शब्दों में वह भयानक उल्लू अपने सभी अंगों के गुणों का वर्णन कर रहा था और साथ ही साथ यह भी बतलाता जा रहा था कि उसके किस अंग से कौन-सा जटिल और दुरूह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है ?

मैंने न ऐसी तांत्रिक साधना कभी देखी थी और न तो कभी सुनी ही थी। भय और रोमाञ्च से सारा शरीर काँपने लगा मेरा। रुका न गया मुझसे। लौट आया मैं। मेरे मन में न जाने क्यों इतना भय समा गया था कि १०-१२ दिनों तक नहीं गया मैं स्वामीजी से मिलने। फिर उसके बाद मुझे एक आवश्यक कार्य से कलकत्ता जाना पड़ गया लेकिन जब वापस लौटकर आया तो एक ऐसा समाचार मिला—जिसे सुनकर स्तब्ध और अवाक् रह गया मैं एकबारगी।

स्वामीजी अपने साधनावाले कमरे में मृत पाये गये थे। उनका सारा शरीर फूल-कर विकृत हो गया था और उसमें से भयानक दुर्गन्ध निकल रही थी। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उनकी दोनों आँखों की जगह दो बड़े-बड़े गड्ढे हो गये थे। लगता था—जैसे किसीने उनकी आँखें निकाल ली हों। उनके शव के पास ही वह भयानक आसामी उल्लू भी मरा पड़ा था। कमरे में चारों तरफ शराब की खाली बोतलें बिखरी हुई थीं।

तीन-चार सप्ताह पूर्व देखे गये सारे दृश्य मेरे सामने एक-एक कर घूम गये और उस रहस्यमयी महिला का चेहरा भी उसीके साथ घूम गया मेरे मानस-पटल पर।

कौन थी वह मुक्तकेशी साधिका ? कहाँ गयी वह ? जब उसके सम्बन्ध में साधु महाशय से पूछा तो उन्होंने बतलाया कि उसका नाम शिवा भारती है। उच्चकोटि की तांत्रिक संन्यासिनी है वह। कई दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त हैं उसे। स्वामीजी शायद उसके सहयोग से कोई गुप्त साधना सम्पन्न करना चाहते होंगे।

साधु महाशय को स्वामीजी की मृत्यु का समाचार मिल चुका था। वे स्तब्ध और दुःखी थे। कहने लगे–'पक्षी-तंत्र' में उलूक-साधना बड़ी ऊँची चीज है। अपने नख-शिख का वर्णन करने के बाद उलूक साधक के तीन प्रश्नों का उत्तर देता है। वे तीनों प्रश्न भविष्य से सम्बन्धित होते हैं। अन्तिम प्रश्न का उत्तर प्राप्त होते ही यदि तलवार से उलूक की गर्दन न काट दी जाय तो वह स्वयं अपनी चोंच से साधक की आँखें निकाल लेता है।

यह सुनकर मन ही मन सोचने लगा मैं—इसी कारण स्वामीजी की मृत्यु हुई होगी। वे समय पर तलवार से उल्लू की गर्दन काट न सके होंगे और मौका पाकर उसने उनकी आँखें निकाल ली होंगी। खैर।

●

तन्त्रसाधिका शिवा भारती

अब मैं शिवा भारती की खोज में जुट गया। सुना था कि वह काशी में ही कहीं रहती हैं। मगर कहाँ रहती हैं यह मालूम नहीं था। मेरा अनुमान था कि केदारघाट और पाण्डेयघाट के बीच में कहीं होगा उनका स्थान। लेकिन महीनों गली और घाटों का चक्कर लगाने के बाद भी उस संन्यासिनी का दर्शन नहीं हुआ मुझे। एक प्रकार से हताश और निराश हो चला था मैं। मगर तभी अचानक भेंट हो गयी मेरी उनसे। स्वयं मुझे घोर आश्चर्य हुआ था उस समय। आश्विन का महीना था--और था नवरात्र का समय। माँ का दर्शन करने दुर्गाकुण्ड गया था मैं। उस दिन भीड़ अधिक नहीं थी। सहसा मेरी दृष्टि एक सम्भ्रान्त महिला पर टिक गयी। पूर्ण तन्मय होकर दोनों हाथ जोड़े और नेत्र बन्द किये माँ दुर्गा की प्रतिमा के सम्मुख स्थिर भाव से खड़ी थीं वह। गुलाबी रंग की रेशमी साड़ी में उनका रूप-रंग खिल रहा था। गले में सोने की सिकड़ी और मोती की माला थी। कलाइयों में काँच की लाल चूड़ियाँ और शंख के वलय थे। मस्तक पर लाल सिन्दूर का गोल टीका था। किसी ऊँचे खानदान की महिला लग रही थीं वह लेकिन उनका चेहरा कुछ जाना-पहचाना-सा लग रहा था मुझे। अचानक सब कुछ याद आ गया! मानस-पटल पर एक के बाद एक, सारे दृश्य उभर आये।

हे भगवान् ! कितना वैषम्य था और था कितना अन्तर ? वह महिला और कोई नहीं—शिवा भारती थीं। पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ था लेकिन पहचानने में भूल नहीं हुई थी मुझसे, इसलिये अविश्वास का कोई प्रश्न ही नहीं था। आश्चर्य तो इस बात का हो रहा था कि ऐसे साधक लोग इतने प्रच्छन्न भाव से और इतने रहस्यमय ढंग से समाज और संसार के बीच रहते हैं कि साधारण लोग न उन्हें पहचान सकते हैं और न समझ ही सकते हैं।

कुछ देर तक ध्यानमग्न रहने के बाद शिवा भारती एकाएक मुड़ीं—और तेजी से मन्दिर के बाहर निकलकर एक रिक्शे पर बैठ गयीं। मैं भी एक रिक्शा लेकर उनके पीछे चल पड़ा। मैं उनका निवासस्थान देखना चाहता था। सोनारपुरा के चौराहे पर शिवा भारती उतर पड़ीं और जल्दी-जल्दी चलकर बगलवाली गली से मानसरोवर और नारदघाट होते हुए एक सँकरी-सी गली में घुस गयीं। गली में अँधेरा था और चारों तरफ धुआँ भरा था। वह गली किसी घाट की ओर निकलती थी। उसके अन्तिम छोर पर एक मठनुमा मकान था। मकान काफी लम्बा-चौड़ा था मगर था काफी पुराना और जीर्ण-शीर्ण। शिवा भारती ने एक बार चारों तरफ देखा—और फिर उसी मकान के भीतर चली गयीं। कुछ देर तक बाहर खड़ा रहा मैं चुपचाप। फिर हिम्मत कर मैं भी चला गया मकान में। पूरा मकान अँधेरे में डूबा हुआ था। आँगन काफी बड़ा था। उसके चारों तरफ दालान थे, जिनके बगल में एक छोटा-सा कमरा था, जिसमें हल्का प्रकाश हो रहा था। कमरे के भीतर एक वृद्ध संन्यासी महोदय बैठे खाँस रहे थे। खाँसते-खाँसते उन्होंने मुझसे पूछा—"क्या आप शिवा भारती से मिलना चाहते हैं ?" प्रश्न सुनकर जल्दी से मेरे मुंह से निकल गया—"हाँ, उन्हींसे मिलने के लिये तो मैं आया हूँ।"

हाथ से इशारा कर संन्यासी ने कहा—"ऊपर चले जाइये, इस समय अपने कमरे में होंगी वह।"

अँधेरे में किसी प्रकार सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँचा मैं। सामने काफी लम्बी-चौड़ी खुली छत थी। छत के चारों ओर गमलों में तुलसी और विभिन्न प्रकार के फूलों के पौधे लगे थे जिनकी मिली-जुली सुगन्ध हवा में बिखर रही थी। छत की दूसरी तरफ एक बहुत बड़ा कमरा था। कई बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ और दरवाजे थे उसमें जिन पर लाल साटन के पर्दे लटक रहे थे। भीतर खूब रोशनी हो रही थी। धीरे से पर्दा हटाकर मैंने भीतर झाँका।

शिवा भारती ने न जाने कैसे देख लिया मुझे। ऊँचे स्वर में बोलीं—"कौन है ?"

"जी ! मैं हूँ !" यह कहते हुए भीतर चला गया मैं।

सिर घुमाकर खनकती आवाज में शिवा भारती ने पूछा—"कौन हैं आप ? कैसे आना हुआ······?"

पहले तो मैं थोड़ा घबड़ाया। फिर सँभलकर अपना परिचय दिया और फिर अन्त में कहा—"मैं तन्त्रशास्त्र के कतिपय महत्त्वपूर्ण अंगों पर रिसर्च कर रहा हूँ, इसके लिए मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूँ और मार्गदर्शन भी। इसीलिए आपके निकट आया हूँ। रामचन्द्रा स्वामी से परिचित हूँ, और उनके निवास पर भारतीजी को साधनारत देख चुका हूँ—ये सब बातें नहीं बतलाईं मैंने उन्हें।

शिवा भारती कुछ बोलीं नहीं। स्थिर दृष्टि से कुछ देर तक मेरी ओर देखती रहीं। फिर थोड़ा मुस्कराकर स्वीकृति से सिर हिला दिया उन्होंने।

साधना-कक्ष का रहस्यमय वातावरण

शिवा भारती के गुरु थे कालीकृष्ण भारती। अपने समय के वे तन्त्रशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। उन्होंने तन्त्र की कठोर साधना की थी। शिवा भारती को भी दीक्षा देकर उन्होंने तांत्रिक साधना में पारंगत कर दिया था।

कालीकृष्ण भारती कभी नाटौर स्टेट से भी सम्बन्धित थे। उसी स्टेट की ओर से उन्हें वह मकान दान के रूप में मिला था। मकान के नीचे काफी लम्बा-चौड़ा तहखाना था जिसमें श्मशान काली की अत्यन्त भव्य, आदमकद पाषाण-प्रतिमा स्थापित थी। कालीकृष्ण के गुरु जिनका नाम स्वामी केवलानन्द अवधूत था, ने नरबलि देकर पंचमुण्डी आसन पर स्थापित की थी महाकाल की उस महाशक्ति को। जब मैंने पहली बार श्मशान काली की शवारूढ़ भयानक प्रतिमा को देखा था तो एकबारगी सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा था। अट्टहास करती हुई भगवती पराशक्ति के रक्ताभ नेत्रों में जहाँ असीम करुणा, असीम दया और असीम अनुकम्पा का अन्तहीन समुद्र लहरा रहा था, वहीं क्रोध और आक्रोश का भी भाव अपनी चरम सीमा पर था। माँ के गले में नरमुण्डों की माला झूल रही थी। उनका बायाँ पैर शव के निर्जीव हृदय पर था और दाहिना पैर नाभि के ऊपर था। पराशक्ति की बाहर निकली हुई रक्ताभ जिह्वा देखकर ऐसा लगा, मानो जगज्जननी ने अभी-अभी रक्तबीज का शोणित पान किया है।

प्रतिमा के सामने एक बड़ा-सा हवन-कुण्ड था और था बलियूथ, जिस पर ताजा खून फैलकर काला पड़ गया था। शायद कुछ समय पहले किसी पशु की बलि दी गयी थी। वहाँ सुनने में आया था कि पहले पशुबलि के साथ-साथ नरबलि भी होती थी। जो भी हो, तहखाने के उस काले गह्वर में रहस्य का धुन्ध छाया हुआ था। ऐसा लगा था, मानो गह्वर के भयानक और मन-प्राण को प्रकम्पित करनेवाले वातावरण में कोई अदृश्य शक्ति चारों ओर चक्कर लगा रही है। अधिक समय तक वहाँ ठहरा न गया मुझसे। लगा, मानो कोई गहरा नशा धीरे-धीरे मुझ पर छाता जा रहा है। बाहर निकल आया मैं।

शिवा भारती का व्यक्तित्व

प्राय: नित्य ही जाने लगा था मैं शिवा भारती के यहाँ। धीरे-धीरे पूरे दो साल का समय व्यतीत हो गया। इस अवधि में मेरे सामने उनका सर्वाधिक निखरा हुआ जो रूप आया और जिसने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया, वह था परम विदुषी और परम साधिका का रूप। योग और तन्त्र की निष्णात विद्वान् तो थीं वह, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन फिर भी जैसे-जैसे मैं उनके निकट आता गया, वैसे ही वैसे उनका व्यक्तित्व रहस्यमय होता गया मेरे लिये। जीवन में जहाँ कठोर साधना थी—वहीं विलासिता भी थी। लेकिन मैंने अभी उनकी विलासिता ही देखी थी, कठोर साधना नहीं। मैं यह भलीभाँति जानता था कि विभिन्न प्रकार की सिद्धियों और चमत्कारों से भरा-पूरा है उनका जीवन। पर उन्हें देखने का अवसर अभी तक मुझे नहीं मिला था।

मगर एक दिन! जो कुछ मुझे देखनें को मिला और अनुभव करने को मिला, उसे जीवनभर भुला न सकूँगा। सचमुच वह सब अविश्वसनीय था, विलक्षण था और था रहस्यमय।

साँझ का समय था।

हाहाकार करती हुई हवा, मुसलाधार वर्षा, धीरे-धीरे घिरती हुई साँझ की स्याह कालिमा रात्रि के निविड़ अन्धकार में बदलती जा रही थी। एक विचित्र आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय घटना घटने जा रही थी उस निविड़ रात्रि के अन्धकार में, और उस कौतुकमय घटना का एकमात्र मूक दर्शक बनने जा रहा था मैं। दो दिन पहले शिवा भारती ने एक प्रसंग में बतलाया था कि तन्त्र-साधना का एक तामसिक पक्ष भी है, जिसे तमोगुणी साधना-भूमि भी कहते हैं। इस भूमि में जो शक्ति काम करती है, उसे ही महाकाली की संज्ञा दी गई है। काली तमोगुणी शक्ति हैं। इस सृष्टि का आरम्भ 'तम' से हुआ है। नाश भी 'तम' से ही होता है। इसलिये महाकाली निर्माण और नाश दोनों की अधिष्ठात्री देवी हैं। मारण, मोहन आदि षट्कर्म तामसिक भूमि में ही सिद्ध होकर अपना प्रभाव दिखलाते हैं।

उस दिन शिवा भारती से मिलने के लिए एक भद्र पुरुष पधारे थे, नाम था अतुल सेन। पश्चिम बंगाल के किसी जमींदार-परिवार से सम्बद्ध थे वह। वेश-भूषा से सम्पन्न नजर आ रहे थे, लेकिन मुखाकृति से पता चलता था कि वे महापुरुष किसी दारुण पीड़ा से दु:खी हैं। बाद में सब स्पष्ट हो गया।

अतुल सेन की पत्नी का नाम था मृणालिनी सेन। बाल-बच्चे नहीं थे। सेन महाशय की अवस्था साठ के करीब थी जब कि मृणालिनी की आयु तीस से अधिक नहीं थी। स्वस्थ सुन्दर शरीर, गौर वर्ण, लावण्यमय चेहरा, आकर्षक व्यक्तित्व। किसी बात की कमी न थी। सभी तरह की सम्पन्नता थी। कमी थी तो केवल सन्तान की और इसी अभाव के कारण मृणालिनी सदैव दुखी और चिन्तित रहा करती थीं।

इसके अलावा शरीर की भूख भी तो थी और उसके लिये हर समय व्याकुल रहा करती थीं वह। आखिर शारीरिक क्षुधा की पूर्ति का रास्ता मिल ही गया मृणालिनी को।

अनिल गांगुली रिश्ते में मामा का लड़का था। तीस-बत्तीस वर्ष का स्वस्थ सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्ववाला था अनिल गांगुली। अभी उसका विवाह नहीं हुआ था। परिवार में गरीबी थी। मृणालिनी के पिता श्यामाप्रसाद घोषाल ने उसे बुलाकर अपने यहाँ नौकरी दे दी थी। वह जमींदारी का सारा काम-काज देखता था। मृणालिनी शुरू से ही उसकी ओर आकर्षित थी। उसके पास धन था और उस धन से अनिल गांगुली का पौरुष खरीद लिया उसने। शायद यही अनिल गांगुली भी चाहता था। फिर जो होना था वही हुआ—दोनों अपनी-अपनी प्यास बुझाने लगे। कुछ ही समय बाद परिणाम सामने आ गया। मृणालिनी गर्भवती हो गयी और यथासमय एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया उसने। बड़ी धूमधाम से पुत्र-जन्मोत्सव मनाया गया। सभी प्रसन्न थे। श्यामाप्रसाद घोषाल को सन्तान के नाम पर केवल इकलौती पुत्री मृणालिनी ही थी। इसलिए नाती का मुँह देखकर सबसे ज्यादा वे ही प्रसन्न थे।

मगर अतुल सेन दुःखी थे। उनकी मानसिक स्थिति खराब थी। पत्नी की बेवफाई, चरित्रहीनता और उसके इस परिणाम से भलीभाँति परिचित थे वह। वह गृह-जामाता थे। समस्त चल-अचल सम्पत्ति पत्नी के नाम थी। यही उनकी सबसे बड़ी विवशता थी और यही उनके मौन रहकर सब कुछ सहने का कारण था।

अनिल गांगुली का प्रभाव तो पहले से ही था। लेकिन अब और अधिक बढ़ गया था। एक प्रकार से वह सर्वेसर्वा हो चुका था। अतुल सेन एक कमरे में चुपचाप पड़े-पड़े कुढ़ते रहते थे। इसके अलावा वह कर ही क्या सकते थे। मगर उनकी सहनशीलता तब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी—जब मृणालिनी पग-पग पर और हर बात पर उनका अपमान करने लग गयी। एक दिन तो उसने साफ शब्दों में कह दिया कि उनकी कोई आवश्यकता नहीं है—वह जहाँ चाहें-चले जायँ और तब अतुल सेन ने मन ही मन एक भयानक निर्णय ले लिया। मृणालिनी रहेगी—या फिर वे ही रहेंगे अब!

"क्या मेरा यह संकल्प और मेरा यह निर्णय साकार हो सकेगा माँ ?" अतुल सेन ने आँखों में आँसू भरकर काँपते स्वर में शिवा भारती के दोनों चरणों को दोनों हाथों से पकड़कर कहा। सौम्य, स्थिर और शान्त मुखमण्डल क्रोध से लाल हो उठा शिवा भारती का। आवेश से दोनों होंठ काँपे, फिर शब्द फूटे—"हाँ होगा! निश्चय होगा साकार तुम्हारा संकल्प और तुम्हारा निर्णय। धैर्य धारण करो। अमावस्या की रात्रि में आना। तुम भी आना"—मेरी ओर सिर घुमाकर शिवा भारती ने कहा गम्भीर स्वर में।

अतुल सेन के मुरझाये चेहरे पर चमक आ गयी। वे उठे, शिवा भारती को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और फिर चले गये। जाते समय कुछ रुपया देना चाहा। लेकिन शिवा भारती ने अस्वीकार कर दिया। बोलीं—"इसकी आवश्यकता नहीं।"

भयंकर मारण-प्रयोग

और उस दिन अमावस्या थी! रहस्यमय निःस्तब्ध वातावरण। अन्धकाराच्छन्न रात्रि। आकाश में काले-भूरे बादल घिरे हुए थे। हाहाकार करती पागल हवा का चीत्कार! झिर-झिरकर हल्के-हल्के बरस रहा था पानी। बिजली चमकी। दूर-दिगन्त तक चमकीली रेखा खिंच गयी। बारिश ने और जोर पकड़ लिया। सहसा बादलों से अटे काले आकाश के सीने को चीरती हुई बिजली चमकी—जलते पारे जैसी तीखी रेखा—ओर-छोरहीन आसमान के एक कोने-से दूसरे कोने तक कौंध गयी। एक क्षण के लिये तीव्र प्रकाश से उद्भासित हो उठा सारा विस्तार!

और ऐसे वातावरण में शुरू हुआ मारण-यज्ञ और उस भयंकर प्राणघातक मारण-प्रयोग में सम्मिलित होने के लिये एक तान्त्रिक महाशय और आ गये थे। शायद वह शिष्य थे शिवा भारती के। नाम था षड्मुखानन्द अवधूत। सारी आयोजना तहखाने में स्थित काले गह्वर में की गई थी। एक कोने में अतुल सेन चुपचाप बैठे हुए थे और उन्हींके निकट मैं भी बैठा सारी गतिविधि देख रहा था, मौन साधे।

शिवा भारती का तान्त्रिक रूप

उस रात रामचन्द्रा स्वामी के यहाँ जो रूप देखा था—उससे भी कहीं अधिक भयानक और तामसिक था रूप उस समय शिवा भारती का। हे भगवान्! कितना बड़ा रौद्र रूप था उनका उस समय? बतला नहीं सकता।

गोरे-बादामी रंग की सुगठित देह पर खूनी रंग की रेशमी साड़ी, पीठ पर खुलकर बिखरी हुई घनी केशराशि, चौड़े उज्ज्वल मस्तक पर चिता-भस्म और लाल सिन्दूर का प्रलेप, मदिरा के प्रभाव से लाल हो रहे नेत्र, उन्मुक्त उन्नत वक्ष, गले में रुद्राक्ष और स्फटिक की मालाओं के साथ झूलती हुई उँगलियों की हड्डियों की माला। दोनों कलाइयों में भी बँधी हुई थीं हड्डियों की मालाएँ। किसी अज्ञात शक्ति की तेजोमय आभा से दप्-दप् कर जल रहा था मुखमण्डल। साथ ही स्थिरता और दृढ़ता का भी भाव था वहाँ। कुल मिलाकर उस समय शिवा भारती का व्यक्तित्व बड़ा ही भयानक लग रहा था।

हवन-कुण्ड में से आग की लाल-पीली लपटें उठ रही थीं और साथ ही सुगन्धित धूम्र भी निकल-निकलकर गह्वर में चारों तरफ फैल रहा था। हवन-कुण्ड के ठीक सामने

लोहे के बड़े-बड़े पाँच त्रिशूल जमीन में गड़े थे, जिन पर सिन्दूर पुता हुआ था और प्रत्येक त्रिशूल के ऊपर एक-एक नर-मुण्ड रखा हुआ था। उन सभी नर-मुण्डों पर घी के दीप जल रहे थे। उन नर-मुण्डों को फूल की मालायें भी पहनायी गयी थीं। बगल में एक ओर एक नर-कपाल औंधा करके रखा हुआ था, जिसमें मदिरा भरी थी और उसके पास ही एक लम्बा-चौड़ा भयानक खड्ग भी रखा हुआ था। कुछ देर पहले काली की विकराल मूर्ति की विधिवत् पूजा की गयी थी और भोग के रूप में उनके सामने मांस-मदिरा आदि रखी गयी थी।

विकराल प्रतिमा के सम्मुख घी का चौमुखा दीप जल रहा था—जिसका मन्द-मन्द आलोक काली के भयानक मुख पर पड़ रहा था। उस समय शिवा भारती तन्मय होकर रीढ़ की हड्डियों की माला पर कोई मंत्र जप रही थीं। उनके चेहरे पर अलौकिक छटा थी। थोड़ी देर में षड्मुखानन्द वहाँ आ गया। उसके साथ एक काले रंग का मोटा-ताजा बकरा था, जिसके मस्तक पर सिन्दूर का टीका लगा था और गले में लाल फूल की माला पड़ी थी। शिवा भारती के संकेत पर षड्मुखानन्द ने बकरे को प्रतिमा के सामने लाकर खड़ा कर दिया। वह कभी पगुरी करने लगता था तो कभी पगुरी बन्द कर भयभीत दृष्टि से चारों तरफ देखने लगता था।

क्या पशु-बलि भी होगी ? रोमाञ्च हो आया सारे शरीर में। सिर घुमाकर अतुल सेन की ओर देखा—वे कोने में साँस रोके बैठे चुपचाप भयंकर तांत्रिक अनुष्ठान देख रहे थे। उनके चेहरे पर भय का भाव स्पष्ट था। मेरी भी दशा वैसी ही थी।

तहखाने में गहरी निस्तब्धता छायी हुई थी। ऊपर छत से लगी दो-तीन छोटी-छोटी खिड़कियाँ थीं—जो गंगा की ओर खुलती थीं। उन्हीं खिड़कियों से गीली बरसाती हवा का एक तेज झोंका आया और शीतल हवा तहखाने में फैल गयी चारों तरफ। प्रतिमा के सामने जल रहे चौमुखे दीप की लौ एक बार सिहरकर थमक गयी। रोशनी का दायरा कसमसाया—फिर फैल गया। तहखाने का वातावरण अब पहले से अधिक बोझिल और रहस्यमय हो गया था। उत्तेजना से उद्भ्रान्त दृष्टि से मैंने एक बार सिर घुमाकर देखा चारों तरफ। उस समय मेरे चित्त में एक विकट आलोड़न मचा हुआ था और दहशत ने जैसे ढँक दिया था मेरी चेतना को।

अवधूत षड्मुखानन्द दोनों हाथ बाँधे चुपचाप एक ओर खड़ा--शिवा भारती के किसी आदेश की प्रतीक्षा कर रहा था। कुछ देर बाद जप-क्रिया बन्द हुई। शिवा भारती ने कुछ संकेत किया। षड्मुखानन्द ने तुरन्त लपककर मदिरा से भरी एक बोतल और एक खोपड़ी उनके सम्मुख रख दी।

देखा--उस महापात्र में मदिरा उड़ेल-उड़ेलकर पीने लगी शिवा भारती।

थोड़ी ही देर बाद उनकी आँखें गूलर की तरह लाल हो उठीं—और चेहरा भी तमतमा उठा।

अचानक हाहाकार करती पागल हवा का एक झोंका बारिश के फुहारों के साथ उन छोटी-छोटी खिड़कियों के रास्ते तहखाने में घुस आया—और फर्श पर बिखर गया। बाहर उद्दाम हवा की साँय-साँय पुनः तेज हो गयी और उसीके साथ तीव्र हो गया वर्षा का शोर भी। गह्वर में जल रहे दीप बुरी तरह काँप रहे थे। दरवाजे और खिड़कियों को खटखटाती हवा दरख्तों पर सिर धुन रही थी। तभी लगा, तहखाने की रोशनी धीमी हो रही है और भीतर उतरता जा रहा है हल्दी के रंग का धूमिल अँधियारा और जैसे तहखाने में जलते सौ पावर के बल्ब को लकवा मार गया हो। सहसा एक गहरा सन्नाटा छा गया वहाँ। सन्नाटा नहीं, अपितु मन में खिन्नता और क्षोभ उत्पन्न कर देनेवाली बेचैनी। एकाएक एक अबूझ हँसी खेल गयी शिवा भारती के मुख पर। फिर विकट अट्टहास कर उठी वह। उस भयानक रात में वह अट्टहास गूँज उठा पूरे तहखाने में। मुझे वह सब बड़ा अस्वाभाविक लग रहा था। आतंक और संशय से बुरी दशा हो रही थी मेरी। सहमी और शिथिल दृष्टि से मैंने शिवा भारती की ओर देखा—'उफ्, वह निगाह!' तमाम उम्र नहीं भूल पाऊँगा उसे। लगा जैसे प्रेतपुरी का दावानल सुलग रहा हो वहाँ। चेहरा भी एकदम स्याह हो गया था।

वह रहस्यमय मानवेतर प्राणी

बादलों के भयानक तुमुल रव के मध्य अचानक एक छाया प्रकट हो गयी वहाँ। काजल जैसे बादलों की छाती को चीरकर जो विद्युत्-लता चमकी थी—उसीके क्षणिक प्रकाश में दिखलायी दी थी वह रहस्यमयी काली छाया। हवनकुण्ड के समीप खड़ी थी वह। फिर उसने धीरे-धीरे आकार ले लिया। वह आकार किसी ऐसे प्राणी का था—जो मनुष्य होते हुए भी मनुष्य नहीं था। उसकी अपनी विशेषता थी। करीब सात फुट लम्बा छरहरा और चौड़े कन्धोंवाला विशाल शरीर वायवीय और पारदर्शक था। उसके आर-पार दीख रहा था सब कुछ। उसका सिर भी बहुत बड़ा और गोल आकार का था। उसका चेहरा बीभत्स और भयानक था। उसकी दोनों आँखें मशाल की तरह जल रही थीं। समझते देर न लगी मुझे। वह किसी अन्य लोक का प्राणी था—जो मन्त्र-शक्ति द्वारा आमन्त्रित होकर वहाँ आया था। निश्चय ही वह कोई भयंकर पिशाच था। उसकी उपस्थिति से वातावरण और बोझिल हो उठा—और घोर निस्तब्धता छा गयी। दूसरे ही क्षण उस नीरवता को भंग करता हुआ शिवा भारती का कठोर स्वर गूँज उठा—"षड्मुखानन्द, 'मारण-पात्र' लाओ!"

और तभी हवा के एक तेज झोंके से तहखाने का दरवाजा खुल गया। सहसा अपने आसन पर उठ खड़ी हो गयी शिवा भारती। एक अलौकिक भाव से रँग गया उनका भयानक चेहरा।

मारण-पात्र

अब तक उस युवा साधक ने एक कच्ची मिट्टी की बड़ी-सी हँड़िया लाकर हवनकुण्ड के सामने रख दी थी। पूरी हँड़िया में सिन्दूर पुता था और उसके मुँह पर कच्चा धागा बँधा था। हँड़िया के भीतर मुर्गी का एक बड़ा-सा बच्चा था—जिसके गले में एक लम्बी-सी सुई आर-पार धँसी हुई थी। मगर वह बच्चा जीवित था—और धीरे-धीरे साँस ले रहा था। बच्चे के अलावा हँड़िया में नीबू, अण्डा, शराब और घी का जलता हुआ एक दीपक भी था। कहने की आवश्यकता नहीं—वही था—मारण-पात्र। फिर हवन शुरू हुआ। कच्चे मांस और सरसों के तेल का हवन। मगर यह क्या? मांस के जलने की दुर्गन्ध कहीं नहीं थी। हवनकुण्ड से निकलनेवाले धूम में चन्दन का वास था, जो धीरे-धीरे पूरे तहखाने में फैल रहा था। हवन समाप्त हुआ और हवन के समाप्त होते ही पास खड़ा बकरा जूड़ी के रोगी की तरह थर-थर काँपने लगा। ऐसा लगा मानो उसे अपनी भावी मृत्यु का आभास लग गया हो।

पिशाच की मानवाकृति छाया पूर्ववत् अभी भी खड़ी थी। प्रतिमा के सामने जलते चौमुखे दीपक के मन्द आलोक में मैंने देखा कि उसकी आकृति कभी काफी लम्बी हो जाती थी तो कभी बिलकुल छोटी।

तभी कमरे की नीरवता को भंग करती हुई एक मर्मभेदी चीख गूंज उठी। आर्तनाद! प्राणान्तक आर्तनाद। फर्श पर चारों तरफ खून ही खून। स्वयं अपने हाथों से दी थी वह पशु-बलि शिवा भारती ने।

पशु का खण्डित मुण्ड हवनकुण्ड के समीप पड़ा था और दूसरी ओर खून से लथ-पथ धड़ छटपटा रहा था। पास ही पड़ा था रक्तरंजित खड्ग भी।

अत्यन्त भयानक और बीभत्स दृश्य था वह! काँप उठा रोम-रोम मेरा। सिहर उठी एकबारगी मेरी आत्मा। वाममार्गीय तांत्रिक प्रयोगों के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना था—और बहुत कुछ पढ़ा भी था—मगर साकार रूप में पहली ही बार देख रहा था सब कुछ!

बिजली चमकी और मेघ-गर्जन का दुर्दान्त स्वर भर गया वातावरण में। मैंने देखा—पिशाच की वह मानवाकृति छाया—छोटी होती गयी—छोटी होती गयी—अन्त में बिल्कुल छोटी होकर उस मारण-पात्र में धीरे-धीरे समाने लगी और जब पूरी तरह समा गयी—तब उसे मिट्टी के ढक्कन से ढँक दिया गया। कुछ क्षण तक कोई मंत्र बुद-बुदाते हुए—अपलक निहारती रही मारण-पात्र को शिवा भारती। फिर उसके बाद तहखाने के दरवाजे की ओर उन्मुख हो आवाहन की मुद्रा में दोनों हाथ उठाकर उन्होंने कहा—"आओ!" मेरे प्राण आतंक से हिम हो गये थे जैसे। उस अभूतपूर्व क्षणों में क्या घटित होने जा रहा था? क्या पिशाच-लीला? लगा, जैसे मूर्च्छित हो जाऊँगा।

हिम शीतल हवा का मर्मभेदी रुदन भर गया वातावरण में। तभी हवा के एक झोंके के साथ जैसे दरवाजे से भीतर आया कोई।

आतंक से सिहर उठे मेरे प्राण ! शिराओं-उपशिराओं में रक्त-प्रवाह रुकता-सा जान पड़ने लगा।

गर्दन घुमाकर दरवाजे की ओर देखने की कोशिश की मैंने। तभी फक् से अँधेरा हो गया। सारे दीप बुझ गये एकबारगी। बल्ब भी बुझ गया। केवल भगवती के सामने जल रहे चौमुखे दीप का हल्का पीला प्रकाश—अपनी जगह कसमसा रहा था। उसके अलावा चारों तरफ अँधेरा ही अँधेरा ! फिर धीरे-धीरे वह गहरा अँधियारा क्षीण होने लगा। मोम की तरह गलने लगी स्याही और फिर उस अजीब-से धुँधले पट पर धीरे-धीरे एक नारी-मूर्ति प्रकट होने लगी।

आँखें गड़ाकर देखने की कोशिश की मैंने और फिर जैसे सुषुम्ना तक एक हिम-प्रवाह दौड़ गया। वह नारी-मूर्ति एक युवती की थी। मगर उसका रूप आसुरी था और उसकी छवि भी आसुरी थी। शरीर का रंग बिल्कुल नीला था। पूर्ण नग्ना थी वह। उसके खुले हुए बाल हवा में लहरा रहे थे। उसकी आँखों में विचित्र-सा सम्मोहन था। उसके दाँत थोड़े-से बाहर निकले हुए थे और रक्ताभ होंठ लटके हुए थे। कद नाटा था। गले में काले रंग का एक भयानक सर्प लिपटा हुआ था। दोनों स्तन नाभि तक झूल रहे थे। साक्षात् पिशाचिनी-सी लग रही थी वह भयानक युवती।

उस रहस्यमयी युवती को देखकर प्राण कँपा देनेवाले उस वातावरण में—असीम आतंक से अवश हो गया मेरा शरीर ! लगा—जैसे प्राण ही निकल जायेंगे।

वह नारी-मूर्ति धीरे-धीरे मारण-पात्र की ओर बढ़ रही थी ! बिल्कुल निकट पहुँचकर एकाएक गायब हो गयी वह। और गायब होते ही—दूसरे क्षण भयानक अट्टहास से गूँज उठा सारा वातावरण ! वह भयानक अट्टहास किसका था बतला नहीं सकता। लेकिन उस अट्टहास के होते ही मारण-पात्र से भन्न्-भन्न् की आवाज निकलने लगी। अगले क्षण उसी प्रकार की आवाज करता हुआ—वह अपने स्थान से ऊपर की ओर तीव्र गति से उठा और निमिष मात्र में तहखाने की खुली खिड़की के बाहर निकल गया और मारण-पात्र के बाहर जाते ही बुझे हुए सारे दीप अपने-आप पुनः जल उठे। बल्ब भी जल उठा अपने-आप। फिर चारों तरफ प्रकाश-ही-प्रकाश फैल गया।

उस समय रात्रि के शायद दो बजे थे। पानी थम चुका था। हवा का शोर भी बन्द हो गया था। बादल छट गये थे। मगर सारी प्रकृति पहले की ही तरह घोर अन्धकार में डूबी हुई थी।

चन्द घण्टों में ही घटित हुई थी वह रहस्यमयी मारण-लीला। मगर लगा, जैसे पूरा एक युग बीत गया हो। मारण-यज्ञ समाप्त हो चुका था।

× × ×

एक सप्ताह बाद पता चला कि उसी रात मृणालिनी सेन की अचानक हृदय-गति रुक गयी। सबेरे लोगों ने देखा कि उनके मुँह से ढेर सारा खून निकलकर बिस्तर पर फैला हुआ था और वह मृत पड़ी हुई थीं। कहने की आवश्यकता नहीं—अतुल सेन का संकल्प साकार हो चुका था।

तन्त्र-मन्त्र से सम्बन्धित बहुत सारी पुस्तकें पढ़ी थीं मैंने। तरह-तरह के चमत्कार भी देखे थे। मगर तन्त्र-शक्ति का चमत्कार—मारण-प्रयोग के रूप में भी कभी देखने को मिलेगा—इसकी कल्पना सपने में भी नहीं की थी मैंने। एक लम्बा अर्सा गुजर गया। लेकिन अभी तक उस रात के तमाम दृश्यों को भूल नहीं पाया हूँ मैं। वह मठनुमा जीर्ण-शीर्ण मकान अब पूर्ण रूप से खण्डहर में बदल चुका है। शायद काली की वह सिद्ध मूर्ति भी नहीं है वहाँ। लेकिन जब कभी मैं उधर से गुजरता हूँ तो वे तमाम भयानक दृश्य एकबारगी मेरे मानस-पटल पर उभर आते हैं।

मारण-प्रयोग के सिद्धान्त

मेरे पूछने पर शिवा भारती ने बतलाया कि मारण-प्रयोग पाँच प्रकार के होते हैं। उन पाँचों प्रकार के मारण-प्रयोगों में मन्त्र-शक्ति और क्रिया-शक्ति के बल पर पैशाचिक शक्ति काम करती है। इसलिये जिसे पिशाच-सिद्धि होगी वही पाँचों प्रकार का मारण-प्रयोग कर सकता है। वास्तव में मारण-प्रयोग भयंकर तमोगुणी साधना के अन्तर्गत है। इसे सभी नहीं कर सकते।

मैंने पूछा—"उन पाँचों प्रकार के मारण-प्रयोगों में भिन्नता क्या है?"

शिवा भारती ने बतलाया—"अतुल सेन के लिये मैंने उस रात जो प्रयोग किया था वह पहले प्रकार का था। उसमें पिशाच और पिशाचिनी स्वयं प्रकट होकर सहयोग देती हैं। तुमने मानवाकृति जो देखी थी—वह पिशाच था और भयानक नारी रूप में तुमने जिसे देखा था—वह और कोई नहीं—पिशाचिनी थी।"

प्रथम प्रकार के इस मारण-प्रयोग में 'मारण-पात्र' की सहायता ली जाती है। मारण-पात्र में रखी हुई मुर्गी के बच्चे का सीधा सम्बन्ध आदमी के हृदय से होता है। इसलिये बच्चे के मरते ही आदमी की हृदयगति तत्काल बन्द हो जाती है।"

"मुर्गी के बच्चे की मृत्यु कब, किस समय होती है?"

"जब मारण-पात्र अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। प्रबल पैशाचिक बल पर वह मारण-पात्र अत्यन्त तीव्र गति से आकाशमार्ग द्वारा अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँचता है

और जैसे ही पहुँचता है—मुर्गी का बच्चा अपने-आप मर जाता है और उसीके साथ हँड़िया भी फूटकर बिखर जाती है। वास्तव में पहले प्रकार का यह मारण-प्रयोग अत्यन्त भयंकर और शक्तिशाली होता है। इस प्रयोग को विरला ही कोई साधक कर सकने में समर्थ होता है। क्योंकि प्रयोग में हुई जरा-सी भी भूल या त्रुटि स्वयं साधक के लिये प्राण-घातक सिद्ध होती है। अन्य चारों प्रयोगों में आदमी रोगग्रस्त होकर, भयंकर दुर्घटनाग्रस्त होकर अथवा स्वयं आत्महत्या कर मृत्यु को प्राप्त होता है।"

"मारण-प्रयोगों में कौन से मन्त्र की शक्ति काम करती है ?"

"सावरी मन्त्र की शक्ति"—शिवा भारती ने कहा—"सावरी मन्त्रों की अपनी अद्भुत और विलक्षण शक्ति है। वह शीघ्र सिद्ध भी हो जाता है। वास्तव में सावरी मन्त्रों की अपनी विशेषता है और वह विशेषता मन्त्रों में प्रयुक्त होनेवाले अनगढ़ और बेमेल 'शब्दों' में निहित है। कहने की आवश्यकता नहीं—सावरी मन्त्रों में ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया होता है—जिनका प्रत्यक्ष में तो कोई अर्थ नहीं होता—मगर तमोराज्य में चैतन्य और क्रियाशील अदृश्य शक्तियों से उनका सीधा सम्बन्ध रहता है।"

सावरी मन्त्र का चमत्कार

शिवालाघाट के बगल में स्थित राजा चेतसिंह का किला दीर्घ काल तक मेरे चिन्तन-मनन का स्थल रहा है। किले के रहस्यमय निस्तब्ध वातावरण में मेरी बहुत सारी स्मृतियाँ सोयी पड़ी हैं। आज भी जब कभी मैं वहाँ जाता हूँ तो वे सारी स्मृतियाँ एक-एक कर जागृत होने लगती हैं मस्तिष्क में और फिर मैं डूब जाता हूँ एकबारगी उन स्मृतियों के सागर में।

शिवा भारती से भी सम्बन्धित बहुत सारी स्मृतियाँ समाधिस्थ हैं वहाँ।

सावन-भादों का मौसम था। रिम-झिम वर्षा हो रही थी। साँझ की स्याही धीरे-धीरे धरती पर फैलती जा रही थी और उसीके साथ किले के रहस्यमय वातावरण की उदासी भी गहरी होती जा रही थी।

हम और शिवा भारती किले की बुर्जी पर रोज की तरह बैठे सावरी मंत्रों के विषय में ही चर्चा कर रहे थे। सावरी मंत्र के बराबर डामरी मंत्र भी है। इन दोनों प्रकार के मंत्रों का सीधा सम्बन्ध प्रकृति के तमोगुणी राज्य से है। भूत-प्रेत, पिशाच-वेताल और ढाकिनी, डाकिनी, शाकिनी आदि अपदेवता उसी तमोगुणी राज्य के प्राणी हैं। सावरी और डामरी मन्त्रों के आकर्षण के वशीभूत होकर वे अपदेवता—साधक के संकल्प-बल का आश्रय लेकर उसीके अनुसार कार्य सम्पन्न कर दिया करते हैं। बस, मन्त्र सिद्ध होना चाहिए और साथ ही संकल्प में दृढ़ता होनी चाहिए। सिद्धि और दृढ़ता इन्हीं दोनों पर निर्भर है सब कुछ !

इतना कहकर शिवा भारती ने गहरी नजरों से आकाश की ओर देखा। उस समय पानी थम गया था और आकाश में पक्षी उड़ रहे थे इधर-उधर! "लो, तुम्हें सावरी मन्त्र का एक चमत्कार दिखाती हूँ"—आकाश की ओर ताकती हुई बोली वह।

कैसा और कौन-सा चमत्कार दिखाना चाहती थी शिवा भारती—समझ में नहीं आया मेरे! बस, सिर हिलाकर हामी भर दी मैंने—और कहा—"दिखाइये!"

"वह देखो—दूर आकाश में एक गिद्ध उड़ रहा है न?" साँझ के धुँधलके में—अस्पष्ट-सा दिखलायी दिया बहुत दूर उड़ता हुआ एक गिद्ध!

बोला—"हाँ! उड़ तो रहा है!"

"ध्यान से देखो उसकी ओर!"

मैंने वैसा ही किया—और ध्यान से देखने लगा अपलक गिद्ध को। कुछ क्षण बाद वह उड़ता हुआ गिद्ध गायब हो गया मेरी नजरों के सामने से और लगभग १०-१५ मिनट के बाद पंख फड़फड़ाता और चीखता हुआ मेरे सामने आकर गिर पड़ा वह।

यह क्या?......एकबारगी घबरा गया मैं। समझ में न आया कुछ। यह कैसे, क्या हो गया? इस प्रकार चीखता-चिल्लाता हुआ—कैसे मेरे पास चला आया आकाश में उतनी दूर उड़ रहा वह गिद्ध?

मेरा आश्चर्य और कौतूहल शिवा भारती से छिपा न रह सका। थोड़ा हँसकर बोली—"सावरी मन्त्र का चमत्कार है यह। उसीकी प्रबल शक्ति से आकर्षित कर बुला लिया है इस गिद्ध को मैंने। षट् कर्म के अन्तर्गत—जिसे 'आकर्षण' कहते हैं—वही आकर्षण-क्रिया है यह। इसमें भी पैशाचिक बल ही काम करता है।"

हतप्रभ-सा मुँह बाये—कभी मैं जमीन पर पड़े और हाँफते हुए गिद्ध को देखता—तो कभी शिवा भारती के चेहरे की ओर! मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं थी उस समय।

× × ×

उस घटना के लगभग १५-२० दिनों बाद शिवा भारती का एक और अलौकिक चमत्कार देखने को मिला मुझे। सायंकाल का समय था। नित्य की तरह उस दिन भी चेतसिह के किले की बुर्जी पर बैठे हम लोग भूत-प्रेत और तन्त्र-मन्त्र से सम्बन्धित विषयों पर चर्चा कर रहे थे। शिवा भारती ने कहा—"इस सम्पूर्ण सृष्टि में केवल तीन ही योनियाँ हैं—देव-योनि, मानव-योनि और गुह्य-योनि! मानव-योनि के पहले देव-योनि है और बाद में गुह्य-योनि। देव-योनि में केवल ज्ञान है। इसी प्रकार गुह्य-योनि में केवल अनुभूति है। लेकिन मानव-योनि में ज्ञान भी है और अनुभूति भी है। इनके अलावा एक और चीज है—वह है कर्म! इसी कर्म के कारण मनुष्य-योनि की अपनी विशिष्टता है और है उसका मूल्य। मनुष्य के एक ओर देव-समाज है तो दूसरी ओर

अपदेवताओं की भीड़ है। मनुष्य 'कर्म' का आश्रय लेकर देव-समाज में भी प्रवेश कर सकता है और अपदेवताओं की भीड़ में भी। 'कर्म' केवल मानव-योनि में है, अन्य योनियों में नहीं। कर्म का ही दूसरा नाम जीवन है और जीवन का दूसरा नाम है कर्म। (कर्म के सम्बन्ध में आगे विस्तृत विवेचन किया जायेगा) खैर! यक्ष-गन्धर्व-किन्नर और भूत-प्रेत-पिशाच-वेताल आदि गुह्य-योनि के अन्तर्गत हैं। गुह्य-योनिवाले इन प्राणियों में प्रत्यक्ष में ज्ञान और कर्म दोनों का प्रभाव है। प्रत्यक्ष में उन दोनों की केवल मात्र अनुभूति है।

प्राकृतिक गुण की दृष्टि से भी इन तीनों योनियों को विभाजित किया जा सकता है। देव-योनि में केवल सत्त्वगुण हैं। अपदेवताओं में रजोगुण और तमोगुण हैं। भूत-प्रेत-पिशाच-वेताल आदि पूर्णरूपेण तमोगुणी हैं। इसी प्रकार यक्ष-गन्धर्व-किन्नर आदि पूर्णरूपेण रजोगुणी हैं। मगर मानव में तीनों गुण अपने-अपने स्थान पर पूर्ण मात्रा में पाये जाते हैं। काल की दृष्टि से भी मानव-योनि का अपना महत्त्व है। देवता के पास केवल भविष्य है। वे भविष्य में जीते हैं। इसी प्रकार अपदेवताओं के पास केवल भूतकाल है। वे अतीत को पकड़े हुए जीते हैं। लेकिन मनुष्य के पास तीनों काल हैं—भविष्य भो, भूत भी और वर्तमान भी। यही कारण है कि भूत-प्रेत भूतकाल की यानी बीती हुई बातों की अधिक चर्चा करते हैं। देवगण भी भविष्य की बातें ही अधिक बतलाते हैं और भविष्य की सूचना भी देते हैं।" शिवा भारती ने कहा—"तुमसे मैंने सावरी मन्त्रो के अलावा डामरी मन्त्रों की चर्चा की थी। इन दोनों प्रकार के मन्त्रों के हिसाब से अपदेवताओं को दो वर्गों में विभक्त करना होगा। पहले वर्ग के अपदेवता यक्ष, गन्धर्व और किन्नर हैं और दूसरे वर्ग के अपदेवता हैं—भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, हाकिनी, डाकिनी और शाकिनी। इन दोनों वर्गों के अपदेवताओं तक पहुँचने के लिये दो साधना-मार्ग हैं—जिन्हें दिव्यौघ पथ और महौघ पथ कहते हैं। सावरी मन्त्र-बल से दिव्यौघ पथ द्वारा पहले वर्ग के अपदेवताओं तक पहुँचा जा सकता है और इस प्रकार डामरी मन्त्र-बल से महौघ पथ द्वारा दूसरे वर्ग के अपदेवताओं तक जाया जा सकता है। इन दोनों प्रकार की मंत्र-शक्ति और इन दोनों प्रकार के पथों द्वारा इन दोनों वर्गों के प्राणियों की असीम मानवेतर शक्ति का उपयोग लौकिक कार्यों की सफलता के लिये किया जा सकता है।" थोड़ा रुककर और कुछ सोचती हुई शिवा भारती आगे बोली—"तुमको मैंने अभी तक सावरी मन्त्रों का चमत्कार दिखाया था। अब मैं तुमको डामरी मन्त्र का कौतुक दिखलाती हूँ।"

हे भगवान्! अभी तक जो सावरी मन्त्र की शक्ति देखी थी—उसीसे मेरी हालत खराब हो गयी थी। मन-प्राण दोनों काँप उठे थे। अब डामरी मन्त्र के चमत्कार को देखकर मेरी क्या दशा होगी—सोचने लगा मैं।

शिवा भारती ने कहा—"इस किले की जो हालत तुम देख रहे हो—वह एक महान् अघोरी सन्त के श्राप का फल है। उस सन्त ने श्राप देते हुए कहा था—इस किले में कबूतर बीट करेंगे !...और जहाँ जंगली कबूतर रहते हैं और बीट करते हैं—वहाँ जानते हो—तरह-तरह के प्रेतों का वास होता है। इस अभिशप्त किले में हिन्दू प्रेत तो हैं ही, उनके अलावा मुसलमान और अंग्रेजों के भी प्रेत निवास करते हैं। कुछ ऐसी भी प्रेतात्मायें हैं—जो सर्प के रूप में यहाँ विचरण करती हैं। मगर एक बात जान लेनी चाहिए—वह यह कि दोनों वर्गों के अपदेवताओं के शरीर अग्नितत्त्व और वायुतत्त्वप्रधान होते हैं। पृथ्वीतत्त्व न रहने के कारण उन्हें स्थूल दृष्टि से देखा नहीं जा सकता। उन्हें प्रकट करने के लिए किसी न किसी पार्थिव वस्तु को माध्यम बनाना आवश्यक होता है।"

प्रेतात्मा द्वारा कार्य-सिद्धि

इतना कहकर शिवा भारती ने सामने पड़ी एक 'डंठल' उठा ली। किसी पेड़ की डंठल थी वह। कुछ देर तक अपलक—स्थिर दृष्टि से वह देखती रही उस डंठल की ओर। अचानक वह सूखी और पतली-सी 'डंठल' अपने-आप जोर-जोर से काँपने लगी। कुछ क्षण तक हाथ से पकड़ी रही डंठल को शिवा भारती। फिर उसे छोड़ दिया उन्होंने। जमीन पर गिरकर भी वह बराबर काँपती रही।

यह देखकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे।

शिवा भारती ने कहा—"इस छोटी-सी डंठल में—इस किले में निवास करनेवाली एक प्रेतात्मा का वास हो गया है। यह प्रेतात्मा किसी अंग्रेज की है।"

यह सुनकर दंग रह गया मैं एकबारगी।

शिवा भारती कहने लगी—"इस लकड़ी में प्रविष्ट अंग्रेज की प्रेतात्मा को कहीं भी भेजकर कोई भी काम उससे करा सकती हूँ। बोलो—तुम्हारा है कोई काम ?"

"नहीं, नहीं, मेरा कोई काम नहीं है।" मगर तभी याद आया, मेरे एक मित्र थे। उनके बड़े भाई को किसी कत्ल के मुकदमे में शत्रुतावश फँसा दिया गया था और उन्हें आजीवन कारावास की सजा सुना दी गयी थी। उन्होंने अपील अवश्य की थी। मगर इस बात की आशा नहीं थी कि वे बेदाग छूट जायेंगे—अथवा सजा में कमी हो जायेगी। मेरे मित्र धनी परिवार के थे और अहमदाबाद में रहते थे।

"क्या मेरे मित्र के बड़े भाई की अपील की सुनवायी होगी ? क्या वे बेदाग छूट जायेंगे ?"

अभी तक वह सूखी और पतली-सी लकड़ी अपनी जगह पर पहले की ही तरह काँप रही थी।

"क्यों नहीं ! यह कौन-सी बड़ी बात है ?" शिवा भारती ने कहा—"नाम बोलो !"

नाम बतला दिया मैंने !

"उनको देखे थे ?"

"हाँ ! देखा हूँ। बातें भी की हैं।…"

"उनके स्वरूप का ध्यान करो मन में !"

वैसा ही किया मैंने। आँखें बन्द कर मन-ही-मन मित्र के बड़े भाई का ध्यान करने लगा मैं। मगर जब आँखें खुलीं तो देखा—वहाँ अपने स्थान पर वह लकड़ी नहीं थी। गायब हो चुकी थी वह।

कहने की आवश्यकता नहीं ! एक महीने के बाद सारा सत्य मेरे सामने आ गया ! अपील स्वीकृत हो गयी थी और मेरे मित्र के बड़े भाई बेदाग छूट गये थे।

अचानक यह सब कैसे हो गया ? इसका पता किसीको नहीं चला। निराशा आशा में कैसे बदल गयी ? और आशा ने साकार रूप कैसे धारण कर लिया ? यह अवश्य आश्चर्यजनक बात थी ! लेकिन उसके मूल में कौन-सा रहस्य था ? इसे कोई भी पा न सका। केवल मुझे छोड़कर। मगर मैं भी तो पूरे रहस्य से अनभिज्ञ ही था।

शिवा भारती ने कहा—"इस प्रकार की आमन्त्रित प्रेतात्मायें मनुष्य के मस्तिष्क से सीधा सम्पर्क साधती हैं—और मस्तिष्क को प्रभावित कर अनुकूल कार्य करा लेती हैं। आकाशीय शरीर (ईथर बाडी) होने के कारण इस प्रकार की प्रेतात्मायें अपने गन्तव्य स्थान पर प्रकाश की गति से पहुँचती हैं और अपना प्रभाव डालने लग जाती हैं।

"क्या मन्त्र-बल पर प्रेतात्माओं द्वारा कोई भी कार्य सम्भव है ?"—मैंने पूछा।

"हाँ ! शिवा भारती ने कहा—एक विशेष सीमा तक उनके द्वारा सभी कुछ कराया जा सकता है। मगर मन्त्र-बल के साथ-साथ साधक के आत्मबल की भी आवश्यकता है इसके लिये। मन्त्र-बल भी आत्मबल पर ही काम करता है। प्रेतात्माओं के पास केवल इच्छा-शक्ति होती है। ये दोनों बल मिलकर उसकी इच्छा-शक्ति को गति प्रदान करते हैं। गति जितनी तीव्र होगी—कार्य उतना ही शीघ्र सम्पन्न होगा।"

× × ×

शिवा भारती से मेरा सम्पर्क पूरे दो वर्ष तक रहा और इस अवधि में उनके कई अविश्वसनीय चमत्कार देखे मैंने। एक सफल सिद्ध साधिका थीं वह—इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने कई बार आग्रह किया कि मैं उनसे कुछ सिद्धियाँ प्राप्त कर लूँ। मगर मैं हर बार टाल गया। सिद्धियों और चमत्कारों की चमकती-दमकती दुनिया में उलझाना नहीं चाहता था मैं अपनी आत्मा को ! मेरा तो एकमात्र लक्ष्य था—योग-तन्त्र में निहित सत्य की खोज। और खोज की दिशा में—कहाँ से चलकर कहाँ पहुँच गया हूँ मैं—यह सर्वविदित है।

रहस्यमयी अघोरी संन्यासिनी

शिवा भारती का जिन गुप्त रूप से और प्रच्छन्न भाव से रहनेवाले साधकों से सम्पर्क था—उन्हीमें एक थी अघोरी संन्यासिनी भी। लेकिन लोग उसे पागल समझते थे। पागलों जैसी थी भी वह अघोरिन।

काशी में जैसा छोटा-मोटा श्मशान गंगा पार रामनगर के समीप सिपहियाघाट पर है—वैसा ही एक श्मशान पहले राजघाट के पार गंगा-वरुणा-संगम के निकट भी था। ३०-४० वर्ष पहले वहाँ एक बहुत बड़ा और भयानक पीपल का पेड़ था-जो सन् १९४८ की प्रबल बाढ़ में बह गया। उसी पेड़ के नीचे आसपास के गाँवों के गरीब लोगों के परिवार की लाशें जला करती थीं और उनके यमघंट बाँधे जाते थे—उसी भयानक पीपल की आड़ी-तिरछी डालों में! वह अघोरी संन्यासिनी उसी पीपल के नीचे पड़ी रहती थी। वह पगली के नाम से प्रसिद्ध थी उस इलाके में। तमाम बच्चे उसे पगली-पगली कहकर चिढ़ाते रहते थे और वह पेड़ के नीचे पड़ी-पड़ी गन्दी-गन्दी गालियाँ दिया करती थी—उन्हें।

शायद कार्तिक का महीना था। गुलाबी ठंड पड़ने लगी थी। सायंकाल का समय था। जब मैं उस इलाके में पहुँचा तो कुहरे की हल्की-हल्की परतें गंगा पार के खेतों और मैदानों में छाने लगी थीं। श्मशान के वातावरण में एक अबूझ-सी खिन्नताभरी उदासी फैली हुई थी। गहरी निस्तब्धता भी थी वहाँ। घाट की ढलान पर एक चिता जल रही थी धू-धू कर उस समय। लाश को लेकर आनेवाले लोग वहाँ नहीं थे। शायद चिता जलाकर वापस चले गये थे। पीपल की मोटी-सी डाल पर तीन-चार गिद्ध बैठे ऊँघ रहे थे जैसे। देखा—वहीं पीपल के नीचे एक फटी-पुरानी कथरी बदन पर लपेटे एक ओर बैठी थी वह पगली।

रूखे जटाजूट-से बाल—काला रंग—तमाम झुर्रीं पड़ी देह—और उस देह पर लिपटी हुई मैली-कुचैली साड़ी। पास ही पड़ा था टीन का डब्बा और एक पोटली। जलती हुई लाश को अपलक निहार रही थी पगली। मगर मुझे देखते ही आगबबूला हो गयी वह।

एक जली हुई लकड़ी का टुकड़ा उठाकर मुझ पर खींचकर मारा और चीखकर बोली—"स्साला, निकल यहाँ से—किसने कहा तुम्हें आने के लिये?"

लकड़ी का टुकड़ा मेरे पैरों में काफी जोर से लगा था। तिलमिला उठा मैं। उसके अस्त-व्यस्त विकट मलिन रूप को देखकर—मन में जो भाव आया था और चोट से पैरों में जो दर्द हो रहा था—उन सबको बड़े कष्ट से दबाकर बोला—"माँ, मुझे शरण दो—मुझे अपना शिष्य बना लो—दया करो मुझ पर माँ ··· ···बहुत दूर से आया हूँ मैं!"

पहले की ही तरह चीखकर पगली बोली—"भाग यहाँ से—नहीं तो मुसीबत में पड़ जायेगा।" फिर इशारा कर बोली—"जा!" निर्जन सुनसान श्मशान। पगली का विकट रूप देखकर भय लगा। कहीं फिर मारे-वारेगी तो नहीं? पागल का विश्वास ही क्या? बिना कुछ बोले और बिना कुछ कहे उस दिन तो लौट आया। मगर पूरी रात नींद नहीं आयी। बार-बार पगली का भयानक चेहरा मेरे सामने थिरक उठता था। भोर के समय थोड़ी-सी झपकी लगी और उसी तन्द्रिल अवस्था में देखा, पगली मेरे सामने खड़ी मुस्करा रही है। कहने लगी—"तुम बुरा मान गये। बुरा नहीं मानना चाहिए। सिर्फ लिखने-पढ़ने से कुछ नहीं होता। अपना अनुभव भी होना चाहिए। योग-तन्त्र अनुभव की चीज है समझे!"

दूसरे दिन फिर गया मैं। घोर निस्तब्धता छायी हुई थी वहाँ। चारो तरफ साँय-साँय हो रहा था। पीपल के नीचे पगली बैठी—आकाश की ओर शून्य में देख रही थी। मैं हाथ जोड़कर सामने खड़ा हो गया।

पगली की दृष्टि मुझ पर पड़ी। गरजकर बोली—"फिर आ गया तू ससाले? फिर क्यों आया बोल?"

"मुझ पर दया करो माँ! आपने सपने में कहा—बिना अनुभव के कुछ न होगा। बस, मुझे कृपा कर यह बता दो कि कैसे होगा अनुभव?"

मेरी बात सुनकर पगली के झुर्री पड़े चेहरे पर कुटिलता का भाव उभर आया। बोली—"दूर-दूर हो जा! निकल यहाँ से! चला है अनुभव करने।···मुसीबत में पड़ जायेगा तो कौन निकालेगा? सावधान!······चला जा चुपचाप!"

लाचार और विवश होकर दूसरे दिन भी वापस लौट आया मैं। रात को लेटे-लेटे सोचता रहा—पगली, क्या सचमुच पागल है। लेकिन शिवा भारती ने तो कहा था कि वह उच्चकोटि की अघोरी संन्यासिनी है। कई प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हैं उसे। मगर··· यहाँ तो सब कुछ उल्टा है। बुढ़िया में पागलपन के सिवा और कुछ नहीं दिखलायी पड़ता! एक पागल के चक्कर में पड़कर—लगता है—किसी दिन मेरी जान ही न चली जाय?······फिर न जाने कब गहरी नींद में सो गया मैं और उसी गहरी नींद की अवस्था में मैंने स्वप्न देखा कि पगली आकर मेरे सामने खड़ी है। मगर उसका चेहरा अब वैसा नहीं है। मन्द-मन्द मुस्कराती हुई कह रही है—"मेरी बातों का बुरा मान गये! क्या करूँ? मेरा स्वभाव ही ऐसा है। अच्छा, कल मेरे पास आना!"—इतना कहकर पगली मेरे सिरहाने बैठ गयी और फिर धीरे-धीरे मेरे बालों को सहलाने लगी। उसके हाथों का स्पर्श फूल की तरह कोमल था। बड़ी ही सुखद अनुभूति हो रही थी मुझे उस समय!

सबेरे उठते ही मैं फिर गया वहाँ ! बापरे ! सपना सब झूठा था। मुझे देखते ही भयंकर रौद्र रूप धारण कर लिया पगली ने। और एक जली लकड़ी मुझ पर फेंककर दे मारी !

मैं भी 'करो या मरो' पर उतर आया। जोर से बोला—

"···तब तुम रात को सपने में—आज आने के लिये कहने क्यों गयी थी ? क्यों गयी थी बुलाने ? इसीसे आया मैं !······मुझे क्या पड़ी थी।"···

मेरी बात सुनकर पगली खिलखिलाकर हँस पड़ी।

बोली—"तुमको सपने में बुलाने गयी थी ? तुमसे कहने गयी थी ?······तेरा सिर फोड़कर खाने गयी थी ?" ही······ही··ही······"जा निकल ! भाग यहाँ से—नहीं तो सर्वनाश हो जायेगा !"

मगर मैं वहाँ से हटा नहीं ! पता नहीं क्यों पगली ने मुझे अजीब तरह से सम्मोहित-सा कर रखा है—खड़ा-खड़ा—सोचने लगा मैं। बाहर से वह मुझे चाहे जितना भगाने का अभिनय करती हो—पर मुझे लगा कि भीतर ही भीतर वह मुझे किसी अज्ञात शक्ति के जोर से आर्कषित कर रही है ! और मैं उसके सम्मोहन और आकर्षण के माया-जाल में धीरे-धीरे—फँसता जा रहा हूँ।

अचानक उसने कहा—"बैठ यहाँ !"

उसने उँगली से इशारा किया। उसका इशारा करने का ढंग—किसी महारानी का-सा था। उसकी आज्ञा का पालन न करने का कोई उपाय नहीं था। बैठना पड़ा।

दोनों पैर मोड़कर—आकाश की ओर देखती हुई कहने लगी वह—"क्यों बार-बार यहाँ आकर तंग करता है मुझे ? तेरे से भला क्या होगा ? बता ! कुछ न होगा। संसार में तेरा भोग बाकी है अभी।"

अघोरी विद्या का चमत्कार

मैं चुप रहा।

कुछ देर बाद पगली फिर कहने लगी—"अच्छा, तू खायेगा क्या ? मेरे पास आया है—उस पर तू ब्राह्मण का बेटा है—तो तुझे कुछ खिलाना चाहिए। बोल, क्या खायेगा तू ?"

इस पागल अघोरिन की शक्ति कितनी दूर तक है ? यह देखने का कौतूहल मन में हुआ। बोला—"मैं रसगुल्ला खाऊँगा। बोलो, खिलाओगी ?"

इस बार पगली ने अजीब-सी हरकत की। श्मशान के जले कोयले का एक टुकड़ा उठाकर कहा—"ले, खा ! रसगुल्ला !"

मैंने सोचा—सचमुच यह तो पूर्ण पागल है। जरा भी अकल नहीं है इसमें ! व्यर्थ का इसके चक्कर में पड़ा हूँ मैं। इतने में एक मुर्दा लिये कुछ लोग आ गये। एकाएक मुर्दे को देखकर पगली उठी—और उधर हो चली गयी। मेरी जान में जान आयी। क्रोध और दुःख से मेरी आँखों में आँसू आ गये। कैसी बेवकूफी की मैंने यहाँ आकर। यह पागल ही है। इसके अलावा और कुछ नहीं। कोई तत्त्व नहीं है इस अघोरिन में। भारी कदमों से वापस लौट आया मैं। मगर मेरा भ्रम था वह। दूसरे दिन सबेरे से ही मेरा मन खिंच रहा था जैसे श्मशान की ओर ! लगा, जैसे पगली मुझे पुकार रही है। उसके अदृश्य पुकार की अवहेलना न कर सका। अवहेलना करने की शक्ति मुझमें नहीं रह गयी थी जैसे उस समय। दोपहर बाद अपने-आपको रोक न सका मैं। और जब मैं श्मशान में पहुँचा—उस समय दिन ढल चुका था—और साँझ की सुरमयी चारों तरफ फैलने लगी थी। पहले की ही तरह वातावरण में गहरी नीरवता छायी हुई थी। चारों तरफ सिर घुमाकर देखा—पगली वहाँ कहीं नहीं थी। आखिर श्मशान छोड़कर पगली गयी कहाँ ? और तभी मेरी दृष्टि एक नवयुवती पर पड़ी। श्मशान से जरा हट-कर—पत्थर के एक टुकड़े पर—गालों पर हाथ धरे बैठी थी वह नवयुवती।

कच्चे दूध में जरा-सा गुलाबी रंग मिला देने पर जो रंग बनता है—वैसा ही शरीर का रंग—और उसी रंग से मिलती-जुलती रेशमी साड़ी और ब्लाउज। खुलकर पीठ पर बिखरे हुए काले घने बाल हवा में लहरा रहे थे। उस नवयुवती की जिस चीज ने मुझे बेहद आकर्षित किया - वह थी उसकी काली-भौराली आँखें। उन बड़ी-बड़ी स्याह आँखों में कौन-सा ऐसा जादू था और कौन-सा ऐसा सम्मोहन था जिससे एक-बारगी वशीभूत होकर अपलक निहारने लगा था मैं उसकी ओर ? सोचने लगा, कौन है यह युवती ? इस निर्जन सुनसान श्मशान में क्यों बैठी है यह ? क्या किसीका इन्तजार कर रही है ? और तभी ही-ही कर हँसने की आवाज मेरे कानों में पड़ी। हँसने की वह आवाज मेरी जानी-पहचानी-सी लगी। अरे, यह तो पगली है। समझने में किसी तरह की गलती नहीं हुई थी मुझसे। उस नवयुवती के रूप में पगली ही मेरे सामने बैठी ही-ही कर हँस रही थी। अब तक अपने असली स्वरूप में आ गयी थी वह।

बोली—"फिर आया है ! मैं जानती हूँ कि तू बार-बार क्यों आता है मेरे पास !"

इस बार पगली मुझे थोड़ी प्रसन्न दीख पड़ी। इसलिये साहस बटोरकर मैंने कहा—"क्यों नचा रही हो मुझे तुम ? दिन में गाली-गलौज करती हो—फटकारती हो—और रात में आने को कहती हो। इस तरह क्यों परेशान करती हो मुझे ? इससे क्या मिलता है तुम्हें ?" कहते-कहते गला भर आया मेरा।

पगली बोली—"है तेरे में साहस ? जैसा कहूँगी वैसा ही कर सकेगा तू ?"

मैंने कहा—"हाँ, है ! मेरे में साहस ! बिना साहस के ही मैं चक्कर काट रहा हूँ तुम्हारे पास ! अगर देखना चाहती हो तो देख लो न एक बार परीक्षा लेकर।"

यह सुनकर विचित्र प्रस्ताव किया पगली ने। कहने लगी—"आज अमावस है ! आज की रात तू मुझे मार डाल। गला दबाकर मार डाल, समझे। उसके बाद मेरी लाश पर बैठकर तुझे साधना करनी होगी। नियम सब बता दूँगी तुझे। जा, बाजार से थोड़ी-सी शराब, गोश्त और चावल खरीद ला। बीच-बीच में जब मेरी लाश विकट चीत्कार करे—मुँह बाकर तब मुँह में एक घूँट शराब, गोश्त का टुकड़ा और चावल के कुछ दाने डाल देना। भोर तक इसी तरह मेरी लाश पर बैठकर तुझे मन्त्र का जप करना होगा। रात में सम्भव है—डर-भय लगे—जो लोग भयभीत करेंगे—उनमें से कोई मनुष्य न होगा। मगर उनसे डरना नहीं। डरने से साधना तो बेकार होगी ही—तेरे प्राण तक भी जा सकते हैं। क्यों, राजी है न तू ?"

पगली इस तरह की बातें करेगी—सपने में भी सोचा नहीं था मैंने। उसकी बात सुनकर एकबारगी चकित रह गया मैं। रोमाञ्च-सा हो आया सारे शरीर में।

मैंने कहा—"सब ठीक है। सब कुछ कर लूँगा। मगर किसीकी हत्या मुझसे नहीं होगी। किसीकी हत्या-वत्या नहीं कर सकता मैं। और जो कहोगी—वह करने को तैयार हूँ मैं।" मेरी बात सुनकर एकबारगी नाराज हो गयी पगली। लगी अश्लील और भद्दी-भद्दी गालियाँ बकने। मगर मैं उसकी ऐसी गालियाँ सुनते-सुनते अब तक काफी अभ्यस्त हो गया था। इसलिये ज्यादा बुरा न लगा मुझे। मगर हाँ, एक बार फिर अविश्वास का भाव जागा मेरे मन में पगली के प्रति। पर वह भाव एक-दो क्षण तक ही रहा। इसलिये कि तभी याद हो आया कि उसके मुँह से शुद्ध संस्कृत के श्लोक और तन्त्र-मन्त्र की रहस्यमयी बातें सुनी हैं। कभी-कभी तो सचमुच ऐसी बातें वह करती थी कि मुझे उसके पूर्ण विदुषी होने का सन्देह होने लगता था। इन सबसे अधिक आश्चर्य की बात थी—एक अनिन्द्य सुन्दरी के रूप में—उसका मुझे दिखलायी देना—और कुछ ही पल बाद अपने पूर्व रूप में प्रकट हो जाना।

दूसरे दिन पगली मुझ पर प्रसन्न हो गयी। उसका व्यवहार भी बदल गया मेरे प्रति। अपनत्वभरे स्वर में बोली—"नाराज मत होना। क्रोध आ जाने पर होश नहीं रहता मुझे। अच्छा ही हुआ—उस साधना को स्वीकार नहीं किया। वह निम्नकोटि की तमोगुणी साधना थी। उससे आदमी को कुछ शक्तियाँ मिल जाती हैं, बस !"

मैंने पूछा—"किस प्रकार की शक्तियाँ मिल जाती हैं ?"

पगली कहने लगी—"श्मशान् में जलनेवाले लोगों में बहुत से ऐसे लोग भी होते हैं—जिनकी आत्माओं की मुक्ति नहीं होती। ऐसी असद्गतिप्राप्त मृतात्मायें श्मशान में तब तक

भटकती रहती हैं–जब तक उनकी गति नहीं हो जाती–यानी कहीं उनको अनुकूल शरीर नहीं मिल जाता। ऐसी आत्माओं के अलावा श्मशान में कुछ ऐसे भी जीव निवास करते हैं—जो कभी मनुष्य हुए नहीं रहते—और न तो भविष्य में उन्हें होने की सम्भावना ही रहती है–उनमें असीम शक्ति होती है–मगर बुद्धि का सर्वथा अभाव रहता है। आँखों से न दिखलायी देनेवाले बुद्धिहीन, विवेकहीन—लेकिन मानवेतर शक्तिसम्पन्न ऐसे जीवों को 'श्मशान भैरव' कहते हैं। उनमें स्त्री-जाति के जो जीव हैं—उन्हें 'श्मशान भैरवी' अथवा 'शंखिनी' कहते हैं। असद्गतिप्राप्त मृतात्मायें – इन्हीं लोगों के अधिकार में अथवा नियन्त्रण में रहती हैं। शायद तुमको यह मालूम ही होगा कि जब किसी आदमी का मुर्दा श्मशान में जलने के लिये आता है—तो उसके साथ-साथ उसकी आत्मा भी श्मशान में आती है। अगर आदमी की आत्मा है तो वह श्मशान भैरव के अधिकार में चली जाती है। अगर औरत की आत्मा है तो उसे श्मशान भैरवी अपने नियन्त्रण में ले लेती है। श्मशान भैरवी और श्मशान भैरव के चंगुल से—आत्माएँ तब तक मुक्त नहीं हो पातीं—जब तक उनकी मुक्ति के लिये–पूर्ण रूप से क्रिया-कर्म आदि नहीं हो जाता। अगर क्रिया-कर्म ठीक से नहीं हुआ— अथवा हुआ ही नहीं तो–ऐसी आत्माएँ दीर्घकाल तक चंगुल में फंसी श्मशान में भटकती रहती हैं।

'तन्त्र' में जिसे चिता-साधना और श्मशान-साधना कहते हैं—वे दोनों साधनाएँ श्मशान भैरव और श्मशान भैरवी को सिद्ध करने के लिये—एकमात्र मार्ग है। मगर उन्हें अपने कब्जे में करने के लिये अत्यधिक प्राणशक्ति और आत्मबल की आवश्यकता है। इन दोनों से जब मन्त्र-शक्ति का योगायोग होता है— तभी वे भयंकर श्मशानी जीव मनुष्य के वश में हुआ करते हैं। और फिर उनसे जो कहा जाय—वही करते हैं! करना ही पड़ेगा। किये बिना कोई दूसरा रास्ता नहीं। मगर उनका साथ खतरे से खाली नहीं। मौका पाते ही वे जान से मार डालते हैं।"

मैं अवाक् सुनता जा रहा था सब! ये सब मैंने प्राचीन तन्त्र-ग्रन्थों में दूसरे ढंग से पढ़ रखा था। मगर उस समय पगली के मुँह से सुनकर सिहरन दौड़ गयी सारे शरीर में। पगली अपनी धुन में कहती जा रही थी—"श्मशान के ये जीव एक प्रकार के अपदेवता हैं। अत्यन्त भयानक जीव होते हैं वे। दया-माया उनमें जरा-सी भी नहीं होती। पशु की तरह उनका मन होता है। उनमें शक्ति अधिक होती है। इसलिये उनसे अधिक-से-अधिक काम भी लिया जा सकता है। शक्ति की अधिकता के कारण उनमें दुस्साहस भी अधिक होता है। सिद्धि हो जाय तो बड़ा अच्छा। मगर संकट का भय पग-पग पर रहता है।" इसके बाद पगली चुप हो गयी। साँझ की सुरमई–रात के अँधेरे में बदल चुकी थी। श्मशान का भयानक-निस्तब्ध वातावरण!

हवा की लय पर झूमते इमली और पीपल के पेड़।

टूटे-फूटे मिट्टी के बर्तन !
चारों तरफ बिखरी हड्डियाँ !
झींगुरों का अनवरत क्रन्दन !
मेढकों का टर्र-टर्र !
चारों ओर साँय-साँय हो रहा था।
कहीं किसी आदमी का नामोनिशान नहीं।

थोड़ा रुककर पगली आगे कहने लगी—"श्मशान के इन अपदेवताओं के चंगुल में जो अतृप्त और असद्‌गतिप्राप्त आत्माएँ फँसी रहती हैं—उनसे छोटे-मोटे बहुत सारे काम लिये जा सकते हैं। वे इच्छानुसार काम करती हैं। सोचा था—तू मेरे पीछे पड़ा है—उन्हींको सिद्ध करा दूँगी तुझे। मेरा माथा छूटेगा।"

मगर एक बात मेरी समझ में नहीं आयी—मैंने कहा—"तुमने अपने-आपको मार डालने के लिये क्यों कहा था ? एक मामूली श्मशान-सिद्धि के निमित्त तुम अपने जीवन को उत्सर्ग करने के लिये क्यों तैयार थी ? मानता हूँ कि मुझे तुम्हारी बतलायी हुई साधना के बल पर वह क्षुद्र सिद्धि मिल जाती, लेकिन तुमको इस प्रकार मरकर क्या मिलता ?— ··· ···"

पगली कुछ बोली नहीं। मौन साध लिया। न मेरे प्रश्नों का जबाब दिया और न तो मेरी जिज्ञासाओं का ही समाधान किया उसने।

घोर अन्धकार में डूबे हुए काले आकाश में चौथ का टेढ़ा चाँद निकल आया था, जिसकी हल्की-पीली रोशनी श्मशान के साँय-साँय करते हुए निस्तब्ध वातावरण में बिखर चुकी थी।

मौन साधे पगली निहारने लगी आकाश की ओर अपलक। उसके झुर्री पड़े चेहरे पर उभर आये भावों को देखकर ऐसा लगा—मानो उसके तिमिराच्छन्न अतीत के पृष्ठ फड़फड़ाकर खुल गये हों उसके सामने और स्मृतियों की गहराई में डूब गयी हो एकबारगी।

अघोरी संन्यासिनी का रहस्यमय व्यक्तित्व

उस रात जब सोया तो पगली की सारी बातें दिमाग में चक्कर काटने लगीं। काफी देर तक जागता रहा मैं। बार-बार बस यही सोचता रहा कि पगली को मरकर मिलता क्या ? क्यों मरना चाहती थी एक मामूली-सी सिद्धि के लिये ?··· ··· उसने मेरे प्रश्नों का उत्तर देने के बजाय मौन क्यों साध लिया ?·········

दूसरे ही दिन अचानक एक आवश्यक काम से कलकत्ता जाना पड़ गया मुझे। वापस लौटने में काफी समय लग गया। करीब एक महीने का समय। लौटने पर भी इतनी

व्यस्तता रही कि सात-आठ दिनों तक पगली की सुधि ही नहीं आयी मुझे । और तभी एक रात अजीब सपना दिखलायी पड़ा मुझे । बड़ा ही विचित्र और अविश्वसनीय सपना था वह ।

सपने में मुझे सबसे पहले काली का एक बहुत बड़ा मन्दिर दिखलायी पड़ा । बड़ा ही भव्य और प्राचीन मन्दिर था वह । मन्दिर जहाँ था—उसके चारों तरफ पहाड़ थे और हरियाली थी—सामने एक नदी थी जो वक्राकार घूमकर पहाड़ों के पीछे जाकर छिप गयी थी ।

मन्दिर के भीतर का दृश्य अत्यन्त भयानक था और रहस्यमय भी । काली की विशाल मूर्ति के सामने मृगचर्म के आसन पर एक तांत्रिक संन्यासी पद्मासन की स्थिति में ध्यानस्थ बैठा था । उसके चेहरे पर शान्ति तो थी—पर क्रूरता और हिंसा का भी भाव था वहाँ । उसका रंग काला था । शरीर पर गैरिक वस्त्र था । गले में छोटे-छोटे बच्चों के मुण्डों की माला थी । निश्चय ही वह कोई कापालिक संन्यासी था । उसके ठीक सामने ताँबे की एक बड़ी-सी थाल में किसी युवक का रक्तरंजित नरमुण्ड रखा था । मैंने ध्यान से देखा—नरमुण्ड के मस्तक पर लाल सिन्दूर का टीका लगा था और लाल फूलों की माला पड़ी थी । लगा, जैसे उसकी पूजा की गयी हो । अचानक मेरी नजर दूसरी ओर घूम गयी । देखा—वहाँ एक युवती बैठी हुई थी । उसकी आयु १६-१७ साल से अधिक नहीं थी । सर्वांग सुन्दरी थी वह युवती । उसके अंग-प्रत्यंग में अजीब-सी मादकता थी और सौन्दर्य जैसे फूट पड़ रहा था । उसके चेहरे पर एक अजीब-सा सम्मोहनभरा आकर्षण था और उसकी बड़ी-बड़ी भौराली आँखें, जिन्हें देखकर अचानक मुझे कुछ याद-सा आ गया ।··· ···अरे ! ऐसी ही भौराली और स्निग्ध आँखें तो उस नवयुवती की भी थीं जिसे मैंने श्मशान में बैठी हुई देखा था ।··· ······कहीं यह पगली तो नहीं है ?···हाँ, वह पगली ही थी । सोचने-समझने में जरा-सी भी गलती नही हुई थी मुझसे । भ्रम भी किसी तरह का नहीं हुआ था मुझे । वही रूप, वही रंग, वही अपरूप सौन्दर्य, वही बाँकी मोहिनी छबि और वही कजरारी, भौराली, बड़ी-बड़ी आँखें ·· । सब कुछ वैसा ही ! कहीं कोई वैषम्य नहीं ।

सहसा उस रहस्यमय वातावरण में नगाड़े की गम्भीर ध्वनि गूंजने लगी और उसी-के साथ विभिन्न प्रकार के फूलों की सुगन्ध भी फैलने लगी वातावरण में । वह सुगन्ध इतनी तीव्र थी कि मेरी नींद टूट गयी और जब आँखें खुलीं तो किसी अज्ञात भय से मन-प्राण काँप उठा एकबारगी ।

शव-साधना

अब मेरे लिये पगली का व्यक्तित्व और अधिक रहस्यमय हो उठा था । काशी में ऐसे-ऐसे लोग छद्मरूप में पड़े हुए हैं—यह कभी सोचा तक न था मैंने ।

दूसरे ही दिन पगली से मिलने पहुँच गया मैं श्मशान में। पूरे दो महीने बाद गया था। सोचा, शायद पगली मुझे पहचानेगी नहीं। मगर नहीं, यह मेरा भ्रम था।

पगली मुझे देखते ही खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—"कहाँ चला गया था रे तू? बहुत दिनों बाद आया? मैं तो तेरा इन्तजार करते-करते थक गयी। अच्छा बैठ!" मैं एक ईंट सरकाकर बैठ गया उस पर।

"देख!" पगली ने कहना शुरू किया—"खाली किताब पढ़ने से और बगल में इस तरह झोला लटकाकर इधर-उधर घूमने से कुछ न होगा, समझे। अनुभव होना चाहिए। अनुभव से ज्ञान होता है।"

"यह कैसे होगा?"—मैंने पूछा।

"तैयार है तू?" पगली अचानक प्रश्न कर बैठी।

पहले तो मैं अचकचाया। फिर सँभलकर बोला—"हाँ, तैयार हूँ।"

"एक मुर्दा चाहिए।"

"मुर्दा?"······

"हाँ। मुर्दा! जल्दी ही इस घाट पर एक ताजा मुर्दा आयेगा। सब्र कर। मगर जो कहूँगी—वह करना होगा। तैयार है न तू?"

पगली इस प्रकार बोली—जैसे मुझ पर विश्वास न हो उसे।

"मुझे करना क्या होगा?"—मैंने पूछा।

"शव-साधना करनी होगी। शव पर बैठना होगा तुझे। बिना शव-साधना के कुछ न होगा। अनुभव के मार्ग में प्रवेश करने का एकमात्र द्वार है यह साधना।"—पगली बोली—"इससे तुझे बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी, जिसकी सहायता से तू जो चाहे कर सकता है।"

पगली की यह बात सुनकर पहले तो मैं घबराया। थोड़ा सशंकित भी हुआ। सारा शरीर सनसना उठा किसी अज्ञात भय से। जीवन में कभी कोई साधना-वाधना नहीं की थी। यहाँ तक कि किसी मामूली मन्त्र का जप भी कभी नहीं किया था मैंने। इसलिये उस भयानक वातावरण में और उस विकट परिस्थिति में अचानक 'शव-साधना' के प्रस्ताव को सुनकर इस प्रकार घबराना, सशंकित होना और भयभीत होना स्वाभाविक था मेरा। मगर फिर भी न जाने क्या सोच-समझकर तुरन्त तैयार हो गया मैं।

काश, उस समय मुझे इस बात का जरा-सा भी पता होता कि मैं जीवनभर के लिये एक भयानक विपत्ति मोल लेने जा रहा हूँ, तो कदापि स्वीकार न करता मैं पगली के उस प्रस्ताव को। बिना हिचकिचाये और बिना संकोच 'ना' कर देता मैं। मगर नहीं, न जाने किस अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर तुरन्त राजी हो गया मैं और

स्वीकृति से सिर हिलाकर कहा—"ठीक है। जो तू कहेगी—वह सब करने के लिये तैयार हूँ मैं।"

जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ी पगली।

दिसम्बर का महीना! साँझ होते ही चारों तरफ घना कुहरा छा गया। वातावरण में गहरी नीरवता छा गयी। चारों ओर साँय-साँय होने लगा। गंगा के उस पार सियारों का झुण्ड समवेत स्वर में रोने लग गया था। लगभग एक घण्टे बाद किसी पेड़ की डाल में उलझी हुई एक लाश दिखलाई पड़ी।

पगली जोर से चिल्लाई–मुर्दा मिल गया। मिल गया मुर्दा! फिर मुझे आदेश के स्वर में बोली—"उठा ला मुर्दे को। खींच ला इधर। पानी में लाश का वजन कम होता है। जल्दी कर। नहीं तो बह जायेगी वह।" मैं क्या कर रहा हूँ इसका होश मुझे नहीं था उस समय। कपड़े भी नहीं उतारे मैंने। लपककर बस–कूद पड़ा मैं ठंडे पानी में। मुर्दे का कफन डाल में फँसा था। मगर किसी तरह का कष्ट नहीं हुआ लाश को खींचकर लाने में। डाल सहित खींच लाया मैं लाश को!

पगली लाश देखकर प्रसन्न हो उठी। बोली—"काम लायक मुर्दा मिल गया। अब साधना करनी होगी। डरेगा तो नहीं? डरेगा तो मर जायेगा। जा, जल्दी से बाजार से शराब और गोश्त खरीद ला।"

मगर उस समय मैं भीगा था। मेरे सारे कपड़े भी गीले थे। इसलिये बाजार जाने से इन्कार कर दिया मैंने। "कोई बात नहीं"–पगली बोली–"इन्तजाम हो जायेगा।" और उसका इतना कहना था कि एक काला-सा मोटा-सा आदमी सामने आकर खड़ा हो गया। मैंने देखा, उसके हाथ में शराब की भरी बोतल और ताजा गोश्त था। घोर आश्चर्य हुआ मुझे। कौन था वह काला-कलूटा आदमी। वह दोनों चीजों को थमाकर तुरन्त अँधेरे में गायब हो गया। कौन था वह रहस्यमय आदमी? क्या वह कोई प्रेत था, जिसने कुछ क्षण के लिये भौतिक देह धारण कर लिया था? भगवान् जाने!

सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि पूरी तरह पानी में भीगने के बावजूद भी दिसम्बर की उस रात में जरा-सी भी ठंड नहीं लग रही थी मुझे।

मुर्दा किसी लड़की का था। आयु रही होगी यही बीस वर्ष के लगभग। इससे ज्यादा भी हो सकती थी।

"मुर्दे का कफन खोल दे और कपड़े हों तो उन्हें भी उतार दे।"—पगली बोली।

आदेश का पालन किया मैंने। कफन हटाते समय अचानक मेरी नजर लाश के चेहरे पर पड़ गयी। भय और आतंक से चीख पड़ा मैं! सपने में काली मन्दिर में कापालिक के बगल में जिस युवती को मैंने बैठे हुए देखा था, उससे लाश का चेहरा बिलकुल मिलता-जुलता था। कोई वैषम्य नहीं। अद्भुत साम्य। वही सौन्दर्य, वही रूप और वही भौराली कजरारी आँखें।······

पगली चिल्लाकर बोली—"चीखता क्यों है मुँहजले ?" सारा शरीर काँप रहा था मेरा। ठंड से नहीं, भय से। मस्तिष्क भी काम नहीं कर रहा था। क्षण-प्रतिक्षण सारा रहस्य गहरा होता जा रहा था मेरे लिये। पगली का रूप पहले से अधिक भयानक हो उठा था। मगर पीछे लौटने के सारे रास्ते बन्द हो चुके थे अब। अन्त में लाचार और विवश होकर—जो कुछ पगली ने बतलाया, उसके अनुसार सब करना ही पड़ा मुझे उस भयानक रात में। पगली ने कहा—"शव-साधना की सारी बातें बतलाने की आवश्यकता नहीं। गोपनीय हैं सब। जैसा कहूँ वैसा कर।"

कहने की आवश्यकता नहीं—वैसा ही किया मैंने। युवा लड़की की लाश की छाती पर—पद्मासन की स्थिति में बैठ गया मैं। शराब की बोतल और गोश्त अपने करीब रख लिया मैंने। पगली ने एक ऊटपटांग और अर्थहीन मन्त्र बतलाया, जिसका शव पर बैठकर लगातार जप करना था मुझे। मगर मुझे विश्वास नहीं हुआ था कि उससे कुछ होगा।

पगली ने कहा—"अगर कोई विभीषिका देखो और कोई भयानक दृश्य देखो तो डरना मत। वर्ना मर जायेगा। मौत के मुँह में जाते देर न लगेगी, समझा।" तब भी मुझे विश्वास नहीं हुआ था।

× × ×

रात का पहला प्रहर धीरे-धीरे खतम हुआ। फिर शुरू हुआ दूसरा प्रहर उस काल-रात्रि का। निर्जन सुनसान श्मशान—गहन निस्तब्ध वातावरण—भयजनित रोमाञ्चकारी तान्त्रिक साधना। निविड़ अन्धकार में दिशायें भी लुप्त हो गयी थीं। पगली उस अन्धकार में कहाँ गायब हो गयी सो भी मैंने नहीं जाना। एकाएक गंगा पार से सियारों के बोलने की आवाज आयी। उनकी आवाज में एक प्रकार का रुदन था। उसीके साथ कुत्ते भी समवेत स्वर में भूँकने लगे। उसी समय आकाश का सामनेवाला हिस्सा थोड़ी दूर तक सिन्दूरी रंग की रोशनी से भर गया। मैंने देखा—उस हिस्से में सैकड़ों की संख्या में चील्ह-कौवे उड़ रहे हैं और राक्षसों जैसे रूप, रंग और आकृति के बहुत से प्राणी इधर-उधर उछल-कूद रहे हैं। अपने-आपमें आनन्दमग्न हो रहे हैं। कुछ देर बाद भक् से वहाँ घोर अन्धकार हो गया और उस अन्धकार में वह दृश्य भी डूब गया। मैं बराबर जप करता जा रहा था। अपने-आप पर नियन्त्रण भी रखे हुए था। फिर एक बात और हुई। आप विश्वास करें या न करें यह आपकी इच्छा पर निर्भर है। अपनी तरफ से सत्य ही लिखूंगा मैं।

उस अनोखे और भयानक दृश्य के बाद सियारों के रोने और कुत्तों के भूँकने की आवाज और तेज हो गयी और उसीके साथ मुझे लगा कि लाश धीरे-धीरे काँप रही है और श्मशान के नीचे—गंगा के पानी में से बीस-पचीस की संख्या में जवान,

सुन्दर औरतें दल बाँधकर ऊपर उठती आ रही हैं। विभिन्न रूप, विभिन्न रंग—लेकिन सब सुन्दर और सब युवती। वे औरतें आकर मेरे चारों ओर खड़ी हो गयीं—और एक साथ हँसने लगीं। उनकी खिलखिलाकर हँसने की आवाज भयानक थी। लेकिन मैं अप्रभावित था। एकाग्र चित्त से जप करता रहा। सोचा, जो होगा—सो होगा। लाश पूर्ववत् हिल रही थी अपनी जगह ! अब कभी वह अपने पैरों को पटकती तो कभी अपने दोनों हाथों को। कुछ क्षण बाद वे तमाम औरतें सड़ी-गली हड्डियों के ढाँचे में बदल गयीं। एक भयानक सड़ान्ध, दुर्गन्ध व्याप्त हो गयी वातावरण में। अचानक औरतों के कंकालों में भगदड़ मच गयी। कुछ हरहराकर वहीं गिर पड़ रहे थे और कुछ उठने की कोशिश कर रहे थे। उसके बाद उस भयंकर दृश्य पर एक प्रकार का पर्दा पड़ गया—और फिर सारे कंकाल न जाने कहाँ चले गये। मगर उनके गायब होते ही मेरे सामने एक लम्बा-चौड़ा आदमी आकर खड़ा हो गया। उसका रंग काला था। हाथ-पैर हद से ज्यादा लम्बे थे। सिर भी काफी बड़ा था। नीचे का जबड़ा लटका हुआ था। कान लम्बे और पतले थे। आँखें गोल और हद से ज्यादा बड़ी थीं और अंगारे की तरह धधक रही थीं। उसके शरीर का मांस कहीं-कहीं गल-कर अपनी जगह लटक गया था। जहाँ का मांस गल गया था, वहाँ की हड्डी साफ नजर आ रही थी। वह बड़े गौर से मेरी ओर देख रहा था। मेरी हर गतिविधि पर उसकी नजर थी। एक बार मैंने उसकी ओर देखा और फिर आँखें बन्द कर जप करने में लीन हो गया। थोड़ी देर बाद जब आँखें खोलीं तो वह आदमी गायब हो चुका था और श्मशान का वातावरण शुभ्र ज्योतिर्मय प्रकाश से भर उठा था और उसी शुभ्र-ज्योतिर्मय प्रकाश में मैंने देखा—एक अत्यन्त सुन्दर रूपवती सोलह वर्षीया कन्या मेरे सामने खड़ी मुस्करा रही है। उसके चेहरे पर असीम तेज था। उसकी आँखों में देवकन्या जैसी चमक थी। गौरवर्ण था। लाल रंग की रेशमी साड़ी पहने थी वह। गले में रुद्राक्ष और मोतियों की माला थी। चौड़े ललाट पर लाल गोल टीका था।

अब यह कौन आयी ? जो हो ! सब तरह की घटनाओं का सामना करने के लिये तैयार हुए बिना आज शव-साधना करने थोड़े ही बैठा था। अब जो होगा देखा जायेगा। मैं चुपचाप जप कर रहा था। मुझे कुछ बोलते न देखकर उस सुन्दरी कन्या ने बड़े ही मृदु व कोमल स्वर में कहा—"मैं षोडशी हूँ। महाविद्याओं में सर्वश्रेष्ठ हूँ। क्या मैं तुम्हें पसन्द नहीं हूँ ?" महाविद्या और उहा विद्या के विषय में मैंने बहुत कुछ सुन रखा था और यह भी जान रखा था कि अत्यधिक कठोर साधना के बावजूद भी उनके दर्शन नहीं होते।

मेरे अविश्वास के भाव को शायद समझ गयी वह षोडशी। थोड़ा मुस्कराकर बोली—"तुम यह महाडागरी-साधना क्यों कर रहे हो ?"

मैंने कहा—"जी ! मैं कुछ नहीं जानता। पगली ने जैसा कहा, वैसा ही कर रहा हूँ सब कुछ।"

"नहीं ! यह डामरी-साधना छोड़ दे तू ! नहीं जानता तू इस साधना की भयानकता को ! तुमने महाडामरी भैरवी को नहीं देखा है। बड़ा ही भयानक और विकट रूप है उनका। प्राण जा सकते हैं तुम्हारे, समझे ! छोड़ दे यह जप।"

"मगर आप अत्यधिक साधना करने पर ही दर्शन देती हैं और वह भी स्वप्न में। इतनी जल्दी मुझ पर आपकी कृपा क्यों हो गयी ? प्रत्यक्ष में साकार दर्शन आपका पाकर घोर आश्चर्य हो रहा है मुझे।" काफी साहस बटोरकर डरते-डरते इतना पूछा मैंने।

"मुझ पर तुम्हें सन्देह नहीं होना चाहिए। तुम मुझे पहचानते नहीं, यह दूसरी बात है। तुम जिस मन्त्र का जप इस समय कर रहे हो, वह अत्यन्त शक्तिशाली है। तन्त्र में तुमने दिव्यौघपथ का नाम सुना होगा। यह मन्त्र उसीसे सम्बन्धित है। तुम्हारे मन्त्र-जप से दिव्यौघपथ पर हलचल मच गयी है। वहाँ हाहाकार हो रहा है। इसीसे मैं दौड़कर देखने आयी हूँ कि कहाँ क्या हो रहा है ?"

इतना सुनने के बावजूद भी मेरे मन का सन्देह दूर नहीं हुआ। मैं जानता था, साधु महाशय ने ही बतलाया था कि षोडशी महाविद्या और महामाया हैं। तन्त्र में इसीको महामेधा और महास्मृति भी कहते हैं। वह साक्षात् ब्रह्मशक्ति हैं। वह कई जन्मों की कठोर साधना के बाद ही कृपा करके किसीको दर्शन देती हैं। इयं देवी त्र्यक्षरा तु महाषोडशी च सुन्दरी। 'क'कादि और 'ह'हादि साधना के बिना वह प्रकट नहीं हो सकती।··· ··· ···फिर यह सब क्या है ? क्या यह सब पगली की माया तो नहीं है ? और अगर है तो क्यों और किसलिये फैलाया है यह मायाजाल ? क्या कारण है ? क्या चाहती है वह मुझसे ? फिर वह गयी कहाँ मुझे छोड़कर ? ····· ये और ऐसे अन्य तमाम प्रश्न एक के बाद एक उठने लगे उस समय मेरे मस्तिष्क में !

वह सुन्दरी कन्या मुझे मौन साधे देखकर बोली—"तू यह साधना छोड़ दे। शव पर से हट जा। तू महाडामरी के भयानक रूप को नहीं जानता। यदि वह तेरे सामने आ जायेंगी तो सहन न कर सकेगी तेरी आत्मा उनके रूप की ज्वाला को। समझे।"

जब शव चीत्कार कर उठा

मगर मैंने उस अज्ञात और रहस्यमयी सुन्दरी की इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। बराबर जप करता रहा। सोचा, देखें होता क्या है अन्त में ! और तभी वह शुभ्र प्रकाश निविड अन्धकार में बदल गया और उसीके साथ वह कन्या भी गायब हो गयी। श्मशान की नीरवता पहले से अब अधिक गहरी हो गयी थी। लाश फिर अपनी जगह काँपने लगी थी। हाथ-पैर भी पटकने लगी थी। उसी समय लाश का मुँह खुल

गया अचानक । तुरन्त मैंने खुले हुए मुंह में शराब और गोश्त का कतरा डाल दिया। अपने-आप मुंह बन्द हो गया। थोड़ी देर बाद फिर उसी तरह खुला मुंह और मैंने उसमें डाल दिया शराब और गोश्त ! इस बार मुंह के साथ लाश की आँखें भी खुल गयी थीं। वे बेजान-सी पथरीली आँखें मुझ पर टिकी हुई थीं। उन आँखों में न जीवनी शक्ति थी और न तो थी चमक। लेकिन फिर भी न जाने क्या था उनमें कि मेरा मन, प्राण काँप उठा एकबारगी।

एकाएक भयानक चीत्कार कर उठी लाश। और उस चीत्कार की आवाज से रात के गहन अन्धकार की काली चादर फटकर चिथड़े-चिथड़े हो गयी। निश्चय ही कोई आत्मा प्रवेश कर गयी थी लाश में। भय से जड़वत् हो गया मेरा सारा शरीर ! थोड़ी देर बाद करुण स्वर में लाश कहने लगी—"मेरा उद्धार करो।····· उद्धार करो मेरा। मेरी सद्‌गति नहीं हुई है। उस कापालिक संन्यासी ने अपनी कामना-सिद्धि के लिये मेरी बलि देकर हत्या की है।··· तब से भटक रही हूँ इधर-उधर ! पूरे दो सौ वर्ष हो गये—इस तरह भटकते हुए ! कौन सुनेगा मेरा ? कौन करेगा मेरा उद्धार ? कौन करेगा मेरी सद्‌गति ?···बुढ़िया को पागल मत समझना। वह रक्तपिशाचिनी है। हाकिनी सिद्ध है उसको। और उसी सिद्धि के बल पर उसने मुझे अपने कब्जे में कर रखा है।· मुझे खूब सताती है। खूब काम भी लेती है वह मुझसे।···हे भगवान् ! हे परमेश्वर ! कौन छुड़ायेगा उस राक्षसी के चंगुल से ?"

लाश के भीतर प्रविष्ट आत्मा के मुंह से ये सारी बातें सुनकर एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं। अब तो पगली मेरे लिए पहले से भी अधिक रहस्यमयी हो उठी थी।

यह आत्मा है कौन ? पिछले जन्म में कौन थी यह ? इसकी बलि किस कामना की सिद्धि के लिये दी गयी थी ? कौन था वह कापालिक संन्यासी ? क्या वह वही संन्यासी तो नहीं था—जिसे मैंने काली मन्दिर में देखा था सपने में ?··· ···अभी मैं यह सब सोच ही रहा था कि अचानक मुझे अपनी गरदन पर शीतल—बिल्कुल बर्फ की तरह शीतल स्पर्श का अनुभव हुआ। दूसरे क्षण लगा—जैसे कोई मेरा गला कसकर दबा रहा है। देखा—लाश के दोनों ठंडे हाथ ऊपर की ओर उठे हुए हैं—और मेरे गले को दबा रहे हैं। भय और आतंक से अवश हो गया मेरा चित्त ! और उसी क्षण देखा—सामने खड़ी पगली विद्रूप हँसी हँस रही है। उसका भयंकर चेहरा कभी भी मुझसे भुलाया न जा सकेगा। उस समय उसके चेहरे पर घृणा, निष्ठुरता और क्रूरता के मिले-जुले भाव थिरक रहे थे। भय के कारण मेरा बुरा हाल हो रहा था। जप करना बन्द कर मैंने लाश के बेजान, निर्जीव और बर्फ की तरह ठण्डे हाथों को कसकर पकड़ लिया और अपना गला छुड़ाने की कोशिश करने लगा।

क्या मुझे सफलता मिली ? क्या मैं उस वज्र जैसे हाथों से अपना गला छुड़ा सका ? नहीं ।

गजब की पैशाचिक ताकत थी उन हाथों में ! सँड़सी की तरह कसता गया मेरा गला । साँस लेने में कठिनाई होने लगी । दम घुटने लगा । सिर चकराने लगा । और फिर न जाने कब–और किस क्षण चेतनाशून्य होकर गिर पड़ा मैं—युवा लड़की की लाश पर—पता नहीं । और चेतना लौटी—और होश में आया तो देखा—उस युवा लड़की की नंगी लाश से लिपटा पड़ा था श्मशान के एक ओर । पूरब का आकाश सफेद हो रहा था । सबेरा होने ही वाला था । सिर घुमाकर चारों तरफ देखा–पगली वहाँ कहीं नहीं थी ।

•

भवतोष तर्कपंचानन

वह पगली कौन थी ?

जब मैंने शुरू से अन्त तक सारी कथा साधु महाशय को सुनायी तो वे बोले—"पगली कौन है ? यह मैं जानता हूँ । उसका नाम भी जानता हूँ । उसका नाम है बकुल ।" यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे । मेरे चेहरे पर उत्सुकता और जिज्ञासा का मिला-जुला भाव देखकर साधु महाशय ने बतलाया—"आज से लगभग ४०-५० वर्ष पहले इसी मुहल्ले में एक उच्चकोटि के साधक रहते थे । नाम था भवतोष तर्कपंचानन । पंचानन महाशय साधना में उच्च अवस्था प्राप्त एक सिद्ध महापुरुष थे । वे तन्त्र-साधक तो थे ही–इसके अलावा रस-रसायन और आयुर्वेद के भी अच्छे ज्ञाता और अनुभवी थे । काकुली उन्हींकी पत्नी थीं । अत्यन्त सुन्दर रूपवती और पति के प्रति पूर्ण समर्पिता थी । बंगाल का सारा सौन्दर्य जैसे भरा था काकुली के अंग-प्रत्यंग में ।

बंगाल के नाटौर स्टेट के राजपण्डित थे तर्कपंचानन महाशय । इसलिये किसी चीज का अभाव नहीं था । साधना के बाद जो भी समय मिलता था उसका उपयोग वे रस, रसायन और आयुर्वेद के अध्ययन में करते थे । उन विषयों से सम्बन्धित सैकड़ों की संख्या में दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तकों और प्राचीन पाण्डुलिपियों का संग्रह था उनके पास ।

रस, रसायनशास्त्र के अन्तर्गत दस प्रकार की विद्याएँ हैं—जिनमें एक विद्या है—पारद विद्या। पारद विद्या भारत की अतिप्राचीन विद्या है। काम कला कल्प, अक्षय यौवन कल्प, मानस कल्प और काया कल्प—ये चार प्रकार के कल्प पारद विद्या के मुख्य विषय हैं। काम कला कल्प से प्रबल काम शक्ति की प्राप्ति होती है। अक्षय यौवन कल्प से मनुष्य को चिरयौवन की प्राप्ति होती है। मानस कल्प के प्रभाव से मनुष्य की मानसिक और वैचारिक शक्ति प्रबल होती है, बुद्धि तीक्ष्ण होती है और प्रज्ञा प्रखर होती है। अन्तिम चौथा कल्प—काया कल्प है। इस कल्प के प्रभाव से मृत्युपर्यन्त शरीर रोग-व्याधिरहित, स्वस्थ और प्रफुल्ल रहता है। शरीर में आलस्य नहीं रहता। हमेशा स्फूर्ति रहती है। चेहरे पर यौवन की चमक और आभा आ जाती है। आँखों में तेज आ जाता है। बाल घने और काले हो जाते हैं। सारांश यह कि वृद्धावस्था में चिर यौवन को उपलब्ध हो जाता है मनुष्य।

दीर्घकालीन अध्ययन एवं चिन्तन-मनन के फलस्वरूप पारद विद्या से सम्बन्धित इन चारों प्रकार के कल्पों के गूढ़ रहस्यों से परिचित हो चुके थे तर्कपंचानन महाशय। उनकी प्रबल इच्छा थी कि उन चारों प्रकार के कल्पों से जनसाधारण लाभान्वित हों। वे उन्हें सरल और सहज बना देना चाहते थे—ताकि सुगमता से लोग उन्हें अपना सकें—और अपनाकर, अपने शरीर को नीरोग, सुन्दर, स्वस्थ और युवा बना सकें, और साथ ही अपने विचार, विवेक एवं अपनी बुद्धि को प्रबुद्ध कर सकें। और इन सबके अलावा अपनी मानसिक शक्ति को भी विकसित कर समुन्नत कर सकें।

हाकिनी सिद्धि

कल्पों के गूढ रहस्यों से परिचित होने के साथ ही साथ उनके रहस्यमय सिद्धान्तों को भी समझ गये थे तर्कपंचानन महाशय। मगर इन सबके बावजूद भी कल्पों के क्रियापक्ष से अनभिज्ञ रह गये थे वे। बहुत दिनों तक उसकी खोज में लगे रहे। लेकिन सफलता नहीं मिली उन्हें। अन्त में हार-थककर चुपचाप बैठ गये महाशय और तभी याद आयी उन्हें अपनी हाकिनी सिद्धि। वक्रेश्वर के महाश्मशान में—पंचमुण्डी आसन पर बैठकर कठोर तांत्रिक साधना द्वारा—महाप्रबल और दुर्धर्ष शक्ति हाकिनी को अपने अधिकार में किया था उन्होंने! मन ही मन सोचने लगे—क्यों न हाकिनी का आवाहन कर उसीसे पूछा जाय—चारों प्रकार के कल्पों के क्रियापक्ष को?

कोई भी शक्ति प्रत्यक्ष नहीं होती। साकार रूप भी धारण नहीं करती। शक्ति अनुभव अथवा अनुभूति का विषय है। उसे प्रत्यक्ष और साकार होने के लिये कोई न कोई माध्यम चाहिये अथवा चाहिये कोई न कोई आधार।

हाकिनी को प्रत्यक्ष और साकार रूप देने के लिये किसे माध्यम बनाया जाय। किसे बनाया जाय आधार—सोच-विचार में पड़ गये तर्कपंचानन महाशय। अचानक

उनकी आँखें चमक उठीं और चेहरे पर सन्तोष का भाव उभर आया। बकुल को माध्यम और आधार बनाने का निर्णय कर लिया था उन्होंने। उस समय काकुली की अवस्था तीस वर्ष की थी। लेकिन उसकी सुगठित देहयष्टि में कोई अन्तर नहीं आया था। और न तो कोई फर्क पड़ा था उसके अपरूप सौन्दर्य में ही।

सहर्ष तैयार हो गयी बकुल। निश्चित समय पर उस पर हाकिनी का आवाहन किया गया। मन्त्रविद्ध होकर तत्काल प्रविष्ट हो गयी हाकिनी, बकुल की कंचन काया में। आँखें सुर्ख हो उठीं। चेहरा लाल हो गया। सारा शरीर हिल उठा एकबारगी और उत्ताप से भर गया—अंग-प्रत्यंग।

नियम के अनुसार हाकिनी ने पहले तो अपने लोक का वर्णन किया। अपनी शक्ति और अपने सामर्थ्य की विस्तृत चर्चा की। और फिर अन्त में अपने समस्त गुणों की व्याख्या की। लेकिन जैसे ही मुख्य विषय का समय आया—उसी क्षण बकुल का मानसिक सन्तुलन बिगड़ गया और सारा शरीर नीला पड़ने लगा। हाकिनी की प्रबल शक्ति को सहन न कर सका बकुल का मस्तिष्क। सुर्ख आँखें बुझ गयीं। चेहरा भी काला पड़ गया।"

"फिर क्या हुआ ?"—मैंने थोड़ा असहिष्णु होकर पूछा।

"होगा क्या ?"—साधु महाशय बोले—"जो होना था, वही हुआ। हमेशा-हमेशा के लिये बकुल अपना आपा खो बैठी। कारण न जाननेवाले लोग उसे पागल समझने लगे। कई साल बकुल तारापीठ और कालीघाट के श्मशान में रही। फिर वाराणसी चली आई। इस प्रबल आघात को तर्कपंचानन महाशय सहन न कर सके। नमक के बर्तन की तरह धीरे-धीरे गलने लगे वह और फिर एक दिन उनके शरीर का अन्त हो गया।

वैश्वानर जगत् और उसमें निवास करनेवाली आत्माएँ

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं प्रकृति के। इन तीनों गुणों के आधार पर सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड तीन भागों में विभक्त है। तीसरे तमोगुणी भाग के अन्तर्गत जितने प्रकार के लोक, लोकान्तर और जगत् हैं—उन्हींमें एक जगत् है—वैश्वानर जगत्। वैश्वानर जगत् भी तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग में सत्त्वगुणी प्रवृत्ति की उच्च आत्मायें निवास करती हैं। वहाँ केवल भावना का तरल प्रवाह है। सूक्ष्मतम विचारों की अभिव्यक्ति है। दूसरे भाग में रजोगुणी प्रवृत्ति की वे आत्माएँ निवास करती हैं—जिन्हें यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि कहते हैं। तीसरे भाग में वेताल, पिशाच, लम्बी आयु प्राप्त प्रेत तथा हाकिनी, डाकिनी, शाकिनी आदि तमोगुणी वृत्ति की आत्माएँ निवास करती हैं। तमोगुणी वृत्ति की ये आत्माएँ प्रकृति के नियमों में विकृति पैदा कर पृथ्वी पर भारी उत्पात करती हैं। बड़े-बड़े राजनेताओं, महापुरुषों की आकस्मिक अकाल मृत्यु, भयंकर दुर्घटनाओं, समुद्री तूफानों, प्रलयंकारी बाढ़ तथा झंझावातों

आदि के मुख्य कारण ये ही आत्माएँ होती हैं। युद्ध और महामारी इनके प्रिय विषय हैं। जहाँ कहीं सामूहिक रक्तपात अथवा नरसंहार होता है—वहीं वे अपने समाज के साथ पहुँच जाती हैं। इतना ही नहीं—हाकिनी, डाकिनी, शाकिनी आदि प्रबल भयंकर शक्तियाँ तो किसी भी प्राणी का रूप धारण कर संसार में विचरण कर सकती हैं और किसी भी अकालमृत्युग्रस्त स्त्री के शरीर में प्रवेश कर उसकी आयु भोग सकती हैं। मगर कोई न उन्हें पहचान सकता है और न तो समझ ही सकता है।"

इसी प्रसंग में—पगली से मिलती-जुलती एक दूसरी रोमाञ्चकारी कथा सुनाई। उन्होंने बतलाया—"बंगालीटोला मुहल्ले में एक अधेड़ उम्र की बंगालिन रहती है—जो बंगालीटोला और आसपास के मुहल्लों में मोना के नाम से प्रसिद्ध है। दिन में वह बगल में फटी-पुरानी कथरी दबाये, हाथ में टीन का पुराना—मुर्चा लगा—डब्बा लिये पागलों की तरह घूमती रहती है और भीख माँगकर खाती है। लोग उसे एक पागल भिखारिन के सिवाय और कुछ नहीं समझते।

"मगर शर्माजी! जानते हैं आप?"—साधु महाशय जरा गम्भीर स्वर में बोले—"उस भिखारिन की देह तो औरत की ही है—यह सच है—पर उसके भीतर मोना की आत्मा नहीं— बल्कि एक डाकिनी निवास करती है।"

"आपकी बात समझा नहीं! क्या कहना चाहते हैं आप?" मैंने कहा।

●

साधक ताराचन्द्र अवधूत

"आज से चालीस साल पहले देवनाथपुरा मुहल्ले में एक तान्त्रिक रहा करते थे। नाम था—ताराचन्द्र अवधूत। अवधूत महाशय तान्त्रिक संन्यासी थे। निराहार और मौन व्रती थे वह। अवस्था यही रही होगी साठ-पैंसठ के आसपास। उनके यहाँ एक लड़की थी। नाम था मोना। बड़ी ही आकर्षक और सुन्दर थी वह। अवधूत महाशय उसे कलकत्ता के किसी अनाथालय से लाये थे। मोना उस समय सिर्फ बारह साल की थी। तन्त्र का अवधूत-मार्ग बड़ा ही कठिन मार्ग है, जिस पर सभी नहीं चल सकते। उसकी सारी साधना पीठ-तत्त्व पर निर्भर है। जो लोग पीठ-तत्त्व के विज्ञान से परिचित हैं—वे ही अवधूत-मार्ग की साधना कर पाते हैं। अवधूत-मार्ग में सबसे महत्त्वपूर्ण

वस्तु है तन्त्रपीठिका। अवधूत महाशय ने मोना को विधिवत् तन्त्रपीठिका की दीक्षा दी। दीक्षा प्राप्त होते ही बारह वर्षीया कुमारी का चेहरा दप्-दप् करने लगा आत्मप्रकाश तेज से। एक अनिर्वचनीय आभा फैल गयी वहाँ। अंग-प्रत्यंग अलौकिक शक्ति से भर उठे। फिर वह सहज नहीं रही। उसके बाद अवधूत महाशय हाकिनी विद्या की साधना करने लगे और उस गम्भीर और रहस्यमयी साधना की पीठिका बनी मोना। मगर अवधूत महाशय साधना में असफल रहे। न उनकी साधना सफल हुई और न तो मिली उन्हें हाकिनी की सिद्धि ही। साधना के अन्तिम चरण में—जिस क्षण—मोना के कोमल शरीर में मन्त्र-शक्ति से बँधी और तान्त्रिक क्रियाओं के वशीभूत—हाकिनी ने प्रवेश किया—उसी क्षण मोना की मृत्यु हो गयी। शायद हाकिनी की अदम्य शक्ति को मोना की आत्मा सहन न कर सकी। तभी से मोना के शरीर में वह हाकिनी निवास कर रही है। मोना की आयु इस समय पचपन-छप्पन से कम नहीं है—लेकिन देखने में वह पचीस-छब्बीस से ज़्यादा नहीं लगती। खैर, इस रहस्य को केवल अवधूत महाशय ही जानते थे। बाद में उन्होंने मुझे बतलाया। एक दिन मालूम हुआ कि अवधूत महाशय मर गये। किसीने उनका गला दबाकर हत्या कर दी थी। लोगों ने तरह-तरह का अनुमान लगाया। लेकिन जहाँ तक मेरी अपनी धारणा है—मोना के अन्दर प्रविष्ट हाकिनी ने ही हत्या की थी अवधूत महाशय की। अपदेवताओं की साधना से सम्बन्धित उनके पास एक दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तक थी। वैसे तो उन्होंने योग, तन्त्र, ज्योतिष आदि से सम्बन्धित प्राचीन और दुर्लभ पुस्तकों का अच्छा संग्रह किया था, मगर उस संग्रह में केवल वही पुस्तक सबसे अधिक मूल्यवान् थी। इसे संयोग ही कहिये कि वह पुस्तक मेरे हाथ लग गई।"

"कहाँ है वह पुस्तक ? क्या मैं उसे देख सकता हूँ ?"—मैंने पूछा।

"हाँ ! क्यों नहीं ?" यह कहकर साधु महाशय ने पुस्तक लाकर मुझे थमा दी।

सचमुच वह पुस्तक अतिप्राचीन और अतिदुर्लभ थी। कम-से-कम डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व लिखी गयी थी वह। लेखक ने अपने अनुभवों के आधार पर लिखी थी उसे। पुस्तक में हाकिनी, डाकिनी और शाकिनी की भी सिद्धि का विधि-विधान था। मैं उसे विस्तार से पढ़ने के लिये अपने साथ ले आया।

साधु महाशय चुप हो गये। उनके चेहरे के भाव से ऐसा लगा कि मोना के विषय में वे मुझे और कुछ नहीं बताना चाहते हैं।

मगर इन सबके बावजूद भी मुझे साधु महाशय की बातों पर विश्वास नहीं हुआ। मेरी अपनी प्रकृति है, अपनी दृष्टि है और अपना विचार है। मैं तर्क के सिद्धान्त पर चलता हूँ। मगर एक रात मैंने जो कुछ देखा—उसने मुझे एकबारगी स्तब्ध कर दिया। फिर तो विश्वास करना ही पड़ा मुझे।

पूरा एक सप्ताह लग गया मुझे मोना की खोज में। अचानक एक दिन दिखलायी पड़ गई वह। कालीबाड़ी के बाहर चबूतरे पर बैठकर तमाम भिखारियों और कंगालों के साथ खिचड़ी खा रही थी। उसके सामने जाकर खड़ा हो गया मैं। सिर उठाकर स्थिर दृष्टि से देखा उसने मुझे। मैं मुस्कराया, फिर हट गया वहाँ से। अब मुझे मोना के रहने की जगह का पता लगाना था। काफी कोशिश के बाद पता लगा। अहिल्याबाई घाट के ऊपर एक छोटी-सी पथरीली कोठरी में रहती थी मोना। कार्तिक का महीना था। हल्की गुलाबी ठण्ड पड़ने लगी थी। रात के ८-९ बजे का समय था। जब मैं अँधेरे में डूबी हुई—उस सुनसान सँकरी गली में घुसकर मोना की कोठरी के सामने पहुँचा तो देखा—दरवाजा बन्द था। मगर भीतर रोशनी हो रही थी। मैंने दरवाजे के साँस से भीतर झाँककर देखा—तो मेरे होश उड़ गये। सारा शरीर काँपने लगा। उस ठंड में भी पसीने से भीग उठा मैं।

मोना का निश्चेष्ट शरीर कोठरी के फर्श पर पड़ा था। लगता था, जैसे महीनों की सड़ी-गली लाश पड़ी हो। उसीके पास एक षोड़शी युवती खड़ी थी। उसकी वेश-भूषा और रूप-रंग—असाधारण था। वह मानवी होते हुए भी मानवी नहीं थी। उसके हाथ-पैर की उँगलियाँ काफी लम्बी और नुकीली थीं। सिर के बाल घने और काले थे। लम्बे तो इतने थे कि जमीन को छू रहे थे। चेहरा भी थोड़ा विचित्र था। नाक तोते की तरह लम्बी थी। कान चौड़े और हद से ज्यादा लम्बे थे। आँखें आम की फाँक की तरह लम्बी और पतली थी। नीचे के होंठ पतले थे, लेकिन ऊपर के काफी मोटे थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सबके बावजूद भी उस षोडशी युवती में अपना एक विशिष्ट सौन्दर्य और आकर्षण था और था लावण्य। मैं अपलक निहारने लगा उस मानवेतर रूप और सौन्दर्य को मुग्ध भाव से और तभी फटाक् से दरवाजा खुला। मैं तुरन्त सामने से हट गया। युवती झटपट बाहर निकली और अहिल्याबाई घाट की सीढ़ियाँ उतरने लगी। मोना को लाश जैसी देह जमीन पर उसी तरह पड़ी रही। उसके बाद मैंने उस हल्के अँधेरे में जो कुछ देखा—क्या आप उस पर विश्वास करेंगे ? आप जो भी सोचें या समझें, मगर सत्य, सत्य ही है। आत्मपरक सत्ता में निहित सत्य पहले अविश्वसनीय लगता ही है। उसे सिद्ध करने के लिये कोई भौतिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रमाणित है।

मैंने देखा—उस समय अहिल्याबाई घाट पर हल्का अँधेरा फैला हुआ था—और घाट की मढ़ियों पर पाँच-छह साधु-संन्यासी किस्म के लोग बैठे आपस में बातें कर रहे थे। और उनसे थोड़ी-ही दूर पर—तीन-चार युवा लड़कियाँ खड़ी आपस में बातें कर रही थीं। उन सबकी वेश-भूषा और सूरत-शक्ल बिल्कुल वैसी थी—जैसी मोना की कोठरी से बाहर निकलनेवाली युवती की थी। शायद वे लड़कियाँ—उसीका इन्तजार कर रही

थीं। और वह उनसे जाकर मिली तो वे सब एक साथ आपस में खिलखिलाकर हँसने लगीं। बड़ी ही कोमल, मधुर और बड़ी ही सरस हँसी थी वह। आश्चर्य की बात तो यह थी कि वहाँ पास ही बैठे लोगों का ध्यान जरा-सा भी नहीं था उन युवा लड़कियों की ओर। लगा, जैसे उन सबका कोई अस्तित्व ही न हो–वहाँ बैठे हुए लोगों के लिये। पर मैं उस हल्के अँधेरे में भी उन युवा लड़कियों को बिल्कुल साफ देख रहा था। एकाएक पूरब की तरफ से हवा का एक तेज झोंका आया —और उसी झोंके के साथ वे लड़कियाँ अँधेरे में न जाने कहाँ गायब हो गयीं। मैं स्तब्ध और अवाक् देखता रहा उन सबको हवा में विलीन होते हुए। कौन थीं वे सब ? कहाँ गयीं वे ? समझ में नहीं आया। वापस लौटकर फिर मैं मोना की कोठरी के सामने आया। दरवाजा थोड़ा खुला था। झाँककर देखा—भीतर मोना की निश्चेष्ट काया पहले की ही तरह पड़ी थी जमीन पर। किसी प्रकार अपने अवश चित्त को सँभालता हुआ उसी समय साधु महाशय से मिला–और सारी बातें विस्तार से उन्हें बतलायीं मैंने।

सब कुछ सुनने के बाद थोड़ी देर मौन रहे साधु महाशय। फिर बोले—"वे सब हाकिनियाँ थीं।"

एकबारगी चौंक पड़ा मैं। "ऐं, क्या कहा आपने ? वे सब हाकिनियाँ थीं ?"–आश्चर्य-भरे स्वर में बोला मैं।

"हाँ"—साधु महाशय ने उत्तर दिया—"उस कोठरी में जिस विलक्षण सूरत-शक्ल-वाली युवती को तुमने देखा था उसीको सिद्ध करना चाहा था तर्कपंचानन महाशय ने। उस समय मोना के मृत शरीर से निकलकर अपने निजरूप में थी वह। घाट पर जिन्हें देखा था—वे सब भी हाकिनियाँ ही थीं। वे सब इसी प्रकार आकाश-मार्ग द्वारा पृथ्वी पर विचरण किया करती हैं। उनकी देह-रचना में वायु-तत्त्व अधिक और पृथ्वी-तत्त्व अल्प मात्रा में रहता है। इसीलिये मनुष्य के बीच और पृथ्वी के वातावरण में रहते हुए भी वे किसीको दिखलायी नहीं पड़तीं। सभी उन्हें देख नहीं सकते। थोड़ा-बहुत पृथ्वी-तत्त्व रहने के कारण कभी-कदा उनके रूप-रंग और सूरत-शक्ल की झलक मिल जाती है !"

बड़े आश्चर्य की बात थी। सब कुछ रहस्यमय था और था अविश्वसनीय।

अन्त में साधु महाशय ने कहा—"वे हाकिनियाँ तमोगुणी राज्य की सुन्दर स्त्रियाँ हैं। यक्षिणियों और पिशाचिनियों की तरह वे भी कभी-कदा पृथ्वी के प्राकृतिक मनोरम स्थानों पर आखेट करने के लिये आती हैं। पृथ्वी उनके आकर्षण का बहुत बड़ा केन्द्र है। मानव-समाज और मानव-जीवन का आनन्द लेने के लिये वे कभी-कभी सुन्दर, कमनीय और आकर्षक युवती का रूप भी धारण कर लिया करती हैं। उनकी वासना अत्यन्त प्रबल होती है। विशेषकर अपनी वासना की पूर्ति के उद्देश्य से ही वे इस संसार में आती हैं और स्वस्थ व सुन्दर युवकों के साथ अदृश्य रूप से सहवास कर

अपनी अदम्य वासना की पूर्ति करती हैं। यदि कभी ऐसा सम्भव नहीं हो पाता है तो वे अपनी तमोगुणी शक्ति के बल पर इच्छानुसार किसी भी सुन्दर और कमनीय युवती का रूप धारण कर अपनी कामना-वासना आदि की पूर्ति कर लिया करती हैं। मगर उनके सम्पर्क में आनेवाले लोग इस रहस्य को समझ नहीं पाते।"

"क्या आपने ऐसी घटना देखी या सुनी है ?"—मैंने पूछा।

"हाँ, देखी भी है और सुनी भी है।"—साधु महाशय बोले—"दशाश्वमेध का काली मन्दिर है न ! वहीं एक माली का लड़का बैठकर माला-फूल बेचा करता था। उस लड़के का नाम था केदार ! वह स्वस्थ, सुन्दर युवक था। आयु पचीस से अधिक नहीं थी। उसकी दुकान पर प्रायः रोज एक युवती गुलाब के फूलों की माला खरीदने आया करती थी। एक-दो बार मैंने भी उस युवती को देखा था। बड़ी ही सुन्दर, शान्त और सौम्य थी वह युवती। उस समय मुझे ऐसा किसी प्रकार का सन्देह नहीं हुआ था। बाद में पता चला। केदार ने ही बतलाया मुझे सब कुछ विस्तार से। माला खरीदना तो एक बहाना था। धीरे-धीरे परिचय प्रगाढ़ हुआ। फिर वह प्रगाढ़ परिचय गहरी मित्रता में बदल गया और उसके बाद जो होना था वही हुआ। वह युवती केदार के घर आने-जाने लगी। अन्त में दोनों में शारीरिक सम्बन्ध हो गया।"

"उस अज्ञात युवती ने अपना नाम नहीं बतलाया था ?"—मैंने उत्सुक होकर पूछा।

"बतलाया था।"—साधु महाशय बोले—"उसका नाम राधा था। राधा गांगुली। जब रात गहरा जाती—उस समय वह केदार के कमरे में चुपचाप चली आया करती—उसका समय निश्चित था। उसने केदार के मन में जो आग लगा दी थी—उससे भीतर ही भीतर झुलसता जा रहा था वह। दिन बीतते गये—केदार दिन-दिन क्षार होता गया। विषभरी आग की तरह राधा उसके मन-प्राणों पर छा गयी थी। सोते-जागते सर्वत्र केदार को राधा की ही रूप-छवि नजर आती थी। केदार जैसे पागल हो गया था। रात के स्याह अँधियारे में रोज राधा आती रही। लालटेन बुझता—और अभिसार होता—सुबह होने के पहले ही राधा उठकर चली जाती। नवोढ़ा-सा उसका रूप जग-मग, जग-मग करता ही रहता और यहाँ दिन चढ़े तक निढाल—अवसन्न केदार खाट पर पड़ा रहता। अंग-अंग में एक शिथिलता भरी रहती। पोर-पोर दर्द करता। मृतवत् खामोशी में निश्वास लेता हुआ—वह निस्पन्द पड़ा रहता। धीरे-धीरे पूरा एक साल बीत गया। रोज रात को अभिसार के लिये राधा आती—रातभर यौवन की रंगीन लीला होती, किन्तु सवेरे उसके जाते ही नक्शा बदल जाता। केदार दिन-दिन म्लान और जर्जर होता जा रहा था। जैसे रक्त चूस लिया हो किसीने—ऐसा पीला चेहरा हो गया उसका।"

"क्या केदार को राधा का रहस्य मालूम नहीं था ?"—मैंने पूछा।

"नहीं, वह तो यही समझता था कि राधा उससे प्रेम करती है। शीघ्र ही उससे शादी कर लेगा वह। आखिर एक रात उसका भ्रम टूट गया। सचाई उसके सामने आ गयी। मगर तब तक काफी देर हो चुकी थी।

एक रात जब कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द करके केदार सो रहा था—उसी समय राधा आकर उसके सामने खड़ी हो गयी।

केदार चौंक पड़ा। उसे आश्चर्य हुआ। भीतर से बन्द दरवाजे को खोलकर कैसे कमरे में आ गयी राधा। उसने सिर घुमाकर देखा दरवाजे की ओर। दरवाजा पहले की ही तरह भीतर से बन्द था। आतंक से सिहर उठा वह। राधा से धीरे से पूछा उसने—"तुम कमरे में कैसे आ गयी ?"

"मेरे लिये कोई भी चीज बाधक नहीं बन सकती।"—राधा ने हँसकर उत्तर दिया।

यह सुनते ही केदार काँप गया। उसके मन में द्वन्द्व मच गया। यह क्या हो रहा है ? क्या प्रेत-लीला ? या और कुछ ? कैसे विचित्र इन्द्रजाल में फंस गया वह ? राधा की धू-धू जलती उद्दाम वासना ने उसका जीवन-रस निचोड़ लिया था। केवल बुझते हुए प्राणभर शेष रह गये थे। उसके जीवन में राख भरकर राधा आखिर चाहती क्या है ? उस रात खूब बारिश हुई। जलमय हो गया सब। सब ओर पानी ही पानी। आधी रात को दरवाजे पर दस्तक हुई। "खोलो किवाड़।"

पागल बरसात के उन्मत्त कोलाहल से भर गया था वातावरण ! हवा की साँय-साँय रौरव शोर उत्पन्न कर रही थी ! धीमे उजाले में श्मशान के पिशाच जैसे बैठे केदार के प्राण सूख गये। राधा की पागल अतृप्त वासना कौन-सी दक्षिणा चाहती है ?

"खोलो, दरवाजा खोलो, केदार !"

केदार के मन में हाहाकार उठ रहा था। फिर भी जी कड़ा करके उसने कपाट खोल दिये।

प्रचण्ड वेग से बर्फीली हवा के झोंके—बारिश की बूंदें लिये भीतर आ गये। उन्हींके साथ आयी राधा। हवा में उसका आँचल फर-फर उड़ने लगा।

काँपते प्राणों से भर नजर केदार ने देखा उसे। कैसी आसुरी छवि थी। राधा की आँखों में एक विचित्र-सा सम्मोहन उतर आया था। रक्तिम होंठ फड़क रहे थे। जबाकुसुम जैसे गालों पर आग की लपट खेल रही थी जैसे।

राधा समीप आयी। एक अजीब-सी गन्ध से न जाने कैसा होने लगा केदार का जी। लगा, जैसे चेतना खो बैठेगा वह। बोला—"कहो राधा ?"

राधा और करीब आ गयी। उसकी साँसों की गर्मी महसूस करने लगा केदार।

अपनी प्यासी आँखों से केदार की ओर देखकर राधा ने कहा—"आज देर हो गयी। लालटेन बुझा दो।"

केदार दो पग पीछे हटा। " 'न', आज कुछ नहीं ! तुम जाओ। मेरी तबीयत आज ठीक नहीं है।"

राधा की आँखों में एक लपक कौंध गई। नथुने फड़क उठे। बोली—"नहीं ! आज भी ! मैं आयी हूँ तो सुबह के पहले वापस नहीं जाऊँगी। तुम चिमनी बुझाओ।"

एक कदम और पीछे हटकर खाट पर बैठ गया केदार।

एक विचित्र उत्तेजना से भर उठा उसका तन-मन। आँधी-सी उठ आयी जैसे। सहसा एक विचार जागा उसके मन में। वास्तव में राधा है कौन ? प्रेतनी, पिशाचिनी अथवा और कुछ ?······· बोला—"बत्ती तुम्हीं आज बुझाओ ! राधा रानी, अभिसार की शुरुआत आज तुम्हीं करो।"

राधा का चेहरा कठोर हो गया। इस्पात जैसा रंग उतर आया उस पर। बोली—"नहीं, बत्ती तुम्हीं बुझाओ।"

बिजली फिर कौंधी। बारिश ने फिर जोर पकड़ लिया।

खाट की पाटी पर अविचलित बैठा रहा केदार ! निर्निमेष दृष्टि से राधा के चेहरे की ओर देखता रहा वह। बोला—"नहीं राधा रानी ! उठने का ताव नहीं है मुझमें। तुम्हीं बुझाओ बत्ती।"

राधा की रतनारी आँखें भावशून्य हो गयीं। वे जल उठीं जैसे। एक अतीन्द्रिय ज्योति थी जैसे उनमें उस समय। कुछ क्षण तक यही स्थिति रही। फिर एकाएक निढ़ाल हो गयी राधा। हताश स्वर में उसने कहा—"अच्छा, यही सही।" तीव्र प्रकम्पन से फिर भर उठा आसमान। यहाँ से वहाँ तक गहरा प्रकाश भर गया।

राधा केदार के समीप खड़ी थी। उसके और चिमनी के दरम्यान करीब दस हाथ की दूरी थी। राधा के मुख पर एक पैशाचिक मुस्कान खेल गयी। एक स्पन्दन से भर उठा उसका शरीर। फिर उसका बायाँ हाथ बढ़ता गया—बढ़ता गया। और करीब दस हाथ की दूरी से राधा ने चिमनी की बत्ती नीची कर उसे बुझा दिया।

हाकिनी की लीला हो रही थी। भय-विजड़ित दृष्टि से केदार यह सब देख रहा था पैशाचिक कृत्य। उस क्षण राधा उसे पिशाचिनी लगी। खून पानी हो गया उसका। राधा का हाथ लौट आया और उसीके साथ मानवी रूप का आवरण भी हट गया। हाकिनी अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गयी उसके सामने।

आतंक और भय से स्वर भंग हो गया केदार का। भयातुर कंठ से कुछ कहना चाहा—कुछ बोलना चाहा उसने। किन्तु फटे गले से गों-गों का विलाप ही निकला। एक अस्पष्ट-सा प्राण कँपा देनेवाला चीत्कार कर वह कटे वृक्ष की नाईं खाट पर गिर

पड़ा। भय की अधिकता से उसके प्राण तत्काल निकल गये। विकट अट्टहास कर उस भयानक रात में राधा दरवाजा खोलकर बाहर निकल गयी।"

केदार की कथा समाप्त हो गयी। एक हाकिनी की अतृप्त कामना और उद्दाम वासना की उस दिल हिला देनेवाली कथा खत्म कर साधु महाशय का गम्भीर स्वर धीरे-धीरे हवा की साँय-साँय में खो गया।

बहुत देर तक वातावरण में नीरवता छायी रही। बाद में साधु महाशय बोले—उस नीरवता को भंग करते हुए—"मानवी रूप धारण कर, एक स्वस्थ सुन्दर युवक का रक्त चूसकर उसे मार डालनेवाली उसी हाकिनी को सिद्ध किया था तर्कपंचानन महाशय ने।"

यह सुनकर और अधिक आश्चर्य हुआ मुझे। बोला—"तो इसका मतलब यह कि मोना के शरीर में उसी हाकिनी का वास है।"

"हाँ! और नहीं तो क्या?" साधु महाशय ने उत्तर दिया।

× × ×

दो-तीन दिन बाद अचानक मोना देवनाथपुरा में दिखाई पड़ गयी। मैली-कुचैली फटी साड़ी पहने—कथरी लपेटे—हाथ में टीन का डब्बा लिये वह लाई-चूड़ा की दूकान पर खड़ी खीं-खीं कर हँस रही थी उस समय। पाँच-छह लड़के चारों ओर घेरे हुए थे उसको। मैं करीब जाकर खड़ा हो गया।

एक बार गहरी नजरों से मेरी ओर देखा उसने। फिर अचानक जोर-जोर से हँसने लगी। चारों तरफ घेरकर खड़े लड़के उसे इस प्रकार हँसते हुए देखकर उसे चिढ़ाने लगे।

मैंने धीरे से कहा—"कारण वारि' पीयेगी मोना?"

यह सुनते ही मोना का हँसना बन्द हो गया। तमककर बोली—"पिलायेगा?"

"हाँ, चल। अभी पिलाऊँगा।"

●

तान्त्रिक प्रमथनाथ भट्टाचार्य

मेरे एक तान्त्रिक मित्र थे। नाम था प्रमथनाथ भट्टाचार्य। शिवालाघाट मुहल्ले में रहते थे। उन्हींके घर ले गया मैं मोना को। भट्टाचार्यजी को मैंने मोना का सारा रहस्य बतला दिया संक्षिप्त में। वे पंचमकारी साधक थे। उन्होंने तुरन्त आलमारी से निकालकर शराब की बोतल मोना के सामने रख दी। साथ में एक गिलास भी। मोना मदिरा-पान करने लगी। हम लोग उसका मुँह ताकने लगे। एक बोतल···दो बोतल···और फिर तीसरी बोतल·· भी उसने एक ही साँस में खाली कर दी।

देशी ठर्रा—मगर नशा नाममात्र का भी नहीं— न आँखें लाल हुईं और न जबान ही लटपटाई मोना की।

वास्तविक स्थिति समझते देर न लगी। मोना की पार्थिव काया में बैठी हाकिनी ने सारी शराब पी थी। मैं यही देखना चाहता था।

साड़ी के मैले आँचल से मुँह पोंछती हुई मोना बोली—"बहुत दिनों बाद कारण वारि मिला पीने को।"

भट्टाचार्यजी ने पूछा—"और पीयेगी?"

फिर दो बोतल शराब और पी डाली मोना ने।

"सचमुच हाकिनी की ही माया है यार!" भट्टाचार्यजी ने आश्चर्यभरे स्वर में कहा—"अगर यह वश में हो जाती तो···।"

"तो क्या?" मैंने पूछा।

"आप नहीं जानते शर्माजी!" भट्टाचार्यजी कहने लगे—"तमोगुणी तन्त्र-साधना की सर्वोच्च सिद्धियों में से है 'हाकिनी सिद्धि!' अगर सम्बन्धित साधना निर्विघ्न हो और सिद्धि भी निर्विघ्न पूरी हो जाय तो क्या कहना? समझो, फिर कुछ भी असम्भव नहीं।"

"सच?"

"हाँ भाई!"

× × ×

उस रात सो न सका मैं। पूरी रात नींद नहीं आई मुझे। तर्कपंचानन महाशय के उस प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक के पन्नों को उलटता-पुलटता रहा पूरी रात। पुस्तक में दी गयी तमोगुणी तान्त्रिक साधनाओं के तमाम गूढ़ रहस्यों को भलीभाँति समझ लेना चाहता था मैं, क्योंकि बार-बार भट्टाचार्यजी के शब्द मेरे कानों में गूंज उठते थे—'समझ लो! फिर कुछ भी असम्भव नहीं।' दूसरे ही दिन से मोना के पीछे पड़ गया मैं। काश! पीछे न पड़ा होता—तो इतनी दुर्दशा न होती मेरी। मगर कैसे न पड़ता? भट्टाचार्यजी के उपर्युक्त शब्दों ने और तर्कपंचानन की उस दुर्लभ पुस्तक ने मिल-जुलकर तमोगुणी तान्त्रिक साधना के मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित जो किया था मुझको। और इसके साथ ही साथ हाकिनी सिद्धि के बल पर अलौकिक शक्ति प्राप्त करने की ऊँची कल्पना भी जो की थी मैंने। पगली के चक्कर में फँसकर मेरी जो दुर्दशा हुई थी—और जो परेशानी उठानी पड़ी थी—उन सबको भूल गया मैं उस समय। भला उस समय मैं यह क्या जानता था कि मेरी यह कामना और यह लालसा—जीवन की सारी सुख-शान्ति छीन लेगी। मेरा सम्पूर्ण जीवन पराश्रित हो जायेगा। मेरी आत्मस्वतन्त्रता हमेशा-हमेशा के लिए खत्म हो जायेगी और मैं एक भयानक अदृश्य शक्ति के चंगुल में फँसकर हमेशा-हमेशा के लिए उसका दास बन जाऊँगा। खैर!

मैं प्रायः रोज ही मोना से मिलने लगा। उसे खुश करने के लिए कभी मदिरा, कभी गोश्त तो कभी मिठाई ले जाता था साथ। उस दिन शिव-शिवा मन्दिर के चबूतरे पर बैठी थी वह। बड़ी प्रसन्न दिखलाई पड़ी मुझे। हँसकर बोली—"तू मेरे पीछे क्यों पड़ा है रे ! आखिर क्या चाहता है तू मुझसे ? बोल !"

हाकिनी-सिद्धि

साथ में लायी मदिरा की बोतल उसे देते हुए मैं बोला—"हाकिनी-सिद्धि, बस यही चाहता हूँ मैं।" हठात् मेरे मुँह से कैसे निकल गया यह शब्द ! मेरी समझ में नहीं आया। एकबारगी चौंक पड़ी मोना। "हाकिनी-सिद्धि ?…कैसी सिद्धि ? समझी नहीं मैं। साफ-साफ बतला न ?"

"मुझसे कुछ छिपाने की आवश्यकता नहीं मोना।"—मैंने कहा—"तुम्हारी वास्तविकता से भलीभाँति परिचित हो चुका हूँ मैं। कोई रहस्य मुझसे छिपा नहीं है। तुम कौन हो ? यह मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ।"

मेरी बात सुनकर मोना का चेहरा अचानक बीभत्स और विकृत हो उठा।

"तू हाकिनी है। पिछले कई साल से तू मोना की मृत देह पर अपना अधिकार जमाये बैठी है। क्या यह सच नहीं है ? काकुली की दशा से भी परिचित हूँ मैं ! केदार के खून से लिखी—तुम्हारी अतृप्त कामना—और उद्दाम वासना की दिल हिला देनेवाली कथा भी सुन चुका हूँ मैं। अब बोलो ! यह सब झूठ है ? असत्य है ?"

मोना की आँखें लाल हो उठीं। एकबारगी चीखकर बोली—"धत् ! यह सब झूठ है। भाग जा यहाँ से ! ले, तू नहीं जायेगा तो मैं ही यहाँ से चली जाती हूँ।"—यह कहकर उसने एक बार लाल-लाल आँखों से मेरी ओर घूरकर देखा—और फिर उठी—चली गयी।

× × ×

उसी दिन भट्टाचार्यजी को सारी बातें बतलायीं मैंने। वे बहुत देर तक चुप रहे। कुछ सोचते-विचारते रहे। फिर बोले—"कल अमावास्या है न ? कल रात्रि से शुरू कर दीजिये आप साधना। देखें ! क्या होता है। अगर वास्तव में मोना के शरीर में हाकिनी होगी तो अवश्य आयेगी वह आपके सामने एक न एक दिन।"

कहने की आवश्यकता नहीं। पुस्तक में बतलायी गयी विधि के अनुसार शुरू कर दी मैंने साधना अमावस्या की रात्रि से। धीरे-धीरे एक महीना बीत गया। मगर कोई चमत्कार घटित नहीं हुआ। मन में नैराश्य की भावना जागृत होने लगी—लेकिन तभी—जो सोचा था मैंने—वही हुआ।

मेरे कमरे का बन्द कपाट फटाक् से खुला। सिर घुमाकर देखा—सामने मोना खड़ी मुझे लाल-लाल आँखों से घूर रही थी उस दिन की तरह। समझते देर न लगी मुझे। प्रबल मन्त्र-शक्ति के वशीभूत होकर उस रात आयी थी मोना। उसका रूप—साधारण नहीं था। उस चिपचिपाहटभरे घोर अन्धकारमय वातावरण में—मोना की इस प्रकार अचानक उपस्थिति भयप्रद लगी मुझे। एक गहरा सन्नाटा छा गया वातावरण में। सन्नाटा नहीं—अपितु मन में खिन्नता और क्षोभ उत्पन्न कर देनेवाली बेचैनी।

मोना अचानक चीखकर बोली—"तू क्यों इस तरह मुझे परेशान कर रहा है?... बोल? क्या चाहता है तू?"

"बतलाया तो था—हाकिनी-सिद्धि।"—मैंने कहा—"तुमको हमेशा-हमेशा के लिए अपने अधिकार में करना चाहता हूँ, समझी—और इसीलिए यह तान्त्रिक साधना कर रहा हूँ मैं।"

एक अबूझ-सी हँसी खेल गयी मोना के चेहरे पर। आँखों में उतर आया एक विचित्र भाव। हँसकर बोली—"तू पागल है। न तेरी साधना सफल होगी—और न तो तेरे वश में होऊँगी मैं। तू इन सबके चक्कर में न पड़। जा, पढ़-लिखकर नौकरी-चाकरी कर। अपना घर-परिवार देख!"

"मगर क्यों? क्यों नहीं होगी—मेरे वश में?"—मैंने पूछा।

"मैं तर्कपंचानन के क्रिया-बल द्वारा—मोना की देह से बँधी हुई हूँ—अभी पूरे दस साल मोना की ही देह में रहूँगी। तब तक तुम किसी भी शक्ति-साधना के बल पर मुझे अधिकार में नहीं कर सकते।" मोना की आँखें उस स्याह अँधेरे में भी नाग-मणि की तरह चमक रही थीं।

समझते देर न लगी—मोना नहीं बोल रही थी। मोना के भीतर बैठी हाकिनी की आत्मा आविष्ट होकर बोल रही थी उस समय और यह समझते ही भय और आतंक से बुरी दशा हो गयी मेरी। रोम-रोम काँप उठा। मेरी ओर मोना देख रही थी। उफ्, वह निगाह! तमाम उम्र नहीं भूल पाऊँगा उसे। लगा, जैसे प्रेतपुरी का दावानल सुलग रहा हो वहाँ। चेहरा भी एकदम स्याह हो गया था।

मैंने अपने-आपको किसी प्रकार सँभाला। बोला—"मैं तुमको मोना के शरीर में रहते हुए ही अपने वश में कर लूँगा। जो काम तर्कपंचानन महाशय न कर सके—वह मैं करूँगा। लेकिन हाँ! यह बात अवश्य है कि उनकी तरह भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए मानवेतर शक्ति की लालसा मुझमें नहीं है। मैं तुम्हारे सहयोग और तुम्हारे माध्यम से वैश्वानर जगत् और उसमें निवास करनेवाले विभिन्न प्रकार के प्राणियों का रहस्य और उनकी मति-गति जानने-समझनेभर की कामना करता हूँ।"

योग, तन्त्र, ज्योतिष और आयुर्वेद—ये चारों शास्त्र अत्यन्त गूढ़, गोपनीय और रहस्यमय हैं। अथाह समुद्र की तरह हैं। जितना उनमें डूबिये—उतना ही उनका रहस्य उलझता जाता है। यहाँ यह बतला देना अप्रासंगिक न होगा कि इन चारों शास्त्रों का जहाँ मूल स्रोत अथवा उद्‌गम वेद हैं—वहीं उनका सम्बन्ध वैश्वानर जगत् से भी है। वैश्वानर जगत् अत्यन्त रहस्यमय है। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में यही एक ऐसा विशाल जगत् है—जिसका प्राक्‌काल से—पृथ्वी से—अदृश्य रूप से स्थायी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। वास्तव में पृथ्वी की तमाम सभ्यताओं और संस्कृतियों के अलावा समस्त प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के आविर्भाव, विकास और उनकी उन्नति का एकमात्र श्रेय वैश्वानर जगत् को ही है। इसीलिये वहाँ के ज्ञान-विज्ञान में श्रेष्ठ तथा मानवेतर शक्तिसम्पन्न प्राणियों से सम्पर्क साधना चाहता था—ताकि चारों शास्त्रों की रहस्यमयी गुत्थियों को सुलझा सकूँ और उनके गूढ़ विषयों को नया रूप और नया आयाम भी दे सकूँ।

सचमुच मेरी यह कल्पना बहुत ऊँची थी। मैं हवा में उड़ रहा था। मैंने वह काम करने के लिए कदम उठाया था जिसके सम्बन्ध में कभी किसीने न कल्पना की थी, न कभी किसीने सोचा ही था।

शायद मेरे मन के भावों को समझ गयी मोना। बोली—"हठ मत करो। यह सम्भव नहीं है तुम्हारे लिए। मन्त्र-बल और तांत्रिक क्रियाओं के आधार पर तुम किसी भी मानवेतर आत्मा को अपने साथ संयुक्त नहीं कर सकते। अगर कर भी लिया तो—जानते हो—उसका बड़ा भयंकर परिणाम होगा।"

मैंने कहा—"मुझे इसकी चिन्ता नहीं है मोना। लोग मुझे पागल समझें या काल्पनिक, मुझे इसकी परवाह नहीं है। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि प्रकृति के तमाम गूढ़ रहस्यों को जानने-समझने के लिए ही पैदा हुआ हूँ शायद मैं। इसके लिये मैं बड़ा-से-बड़ा खतरा उठाने के लिए तैयार हूँ।"

मेरा अन्तिम वाक्य पूरा हो ही पाया था कि हवा के एक तेज झोंके से दरवाजा खुल गया।····· पानी के थपेड़े भीतर आ गये। हिम-शीतल हवा का मर्मभेदी रुदन भर गया वातावरण में। तभी हवा के एक झोंके से लैम्प बुझ गया और उसीके साथ मोना का अस्तित्व भी लुप्त हो गया। मगर कुछ क्षण बाद लगा—जैसे दरवाजे के भीतर आया कोई।

आतंक से सिहर उठे मेरे प्राण। शिराओं और उपशिराओं में रक्त रुकता-सा जान पड़ने लगा। गर्दन घुमाकर दरवाजे की ओर देखने की कोशिश की मैंने। पहले तो मुझे कुछ नजर नहीं आया। अन्धकार ही अन्धकार! फिर धीरे-धीरे गहन अन्धकार क्षीण होने लगा। मोम की तरह गलने लगी वह स्याही। और फिर उस अजीब-से धुंधले पट पर धीरे-धीरे एक नारी-मूर्ति प्रकट होने लगी।

आँखें गड़ाकर देखने की कोशिश की मैंने । और फिर सुषुम्ना तक एक हिम-प्रवाह दौड़ गया । हूबहू—वही आकृति थी—और था वही रूप—जिसे मैंने मोना की पथरीली कोठरी में देखा था—उद्दाम यौवन से तरंगित छवि, लेकिन कैसा तो आसुरी रूप । आँखों में एक विचित्र सम्मोहन, रक्तिम होंठ, रक्तिम गाल । बिल्कुल वही ।

मेरे प्राण आतंक से हिम हो गये जैसे । लगा, जैसे प्राण निकल जायेंगे ।

एक क्षण !

एक क्षण का सौवाँ हिस्सा ।

उसके बाद ही खुले हुए दरवाजे की ओर बढ़ गयी वह नारी-मूर्ति ! और अगले ही क्षण भयानक अट्टहास गूंज उठा—कमरे के निस्तब्ध वातावरण में ।

महाश्मशान का रहस्य

तन्त्र की जितनी भी तमोगुणी प्रधान अथवा तामसिक साधनाएँ हैं—उनकी सफलता और सिद्धि महाश्मशान में ही निहित है। तान्त्रिक दृष्टि में महाश्मशान स्वयं अपने-आपमें दिव्य और परम पवित्र स्थान है। तीर्थस्थानों के श्मशानों को ही 'महाश्मशान' कहते हैं । महाश्मशान की अपनी कई विशेषताएँ हैं । पहली विशेषता तो यही है कि सूक्ष्म जगत् में स्थित तमोगुणी राज्य से उसका सीधा सम्बन्ध रहता है । दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि गुह्य योनि की मानवेतर शक्तिसम्पन्न तमोगुणी आत्माएँ वहाँ हमेशा विचरण किया करती हैं। तीसरी विशेषता यह है कि जिस मृतात्मा का शवदाह—शरीर छोड़ने के २४ घंटे के अन्दर महाश्मशान-भूमि में होता है, उस मृतात्मा को प्रेतयोनि में केवल १० दिनों तक ही रहना पड़ता है। ऐसी मृतात्माएँ उतने दिनों महाश्मशान के पीपल के वृक्ष पर निवास करती हैं और इतना ही नहीं—उसमें बँधे हुए यमघण्ट का पानी भी पीती हैं। उस पानी के अलावा दूसरा पानी वह चाह करके भी नहीं पी सकतीं। पीपल का वृक्ष स्वयं अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां……।' लेकिन महाश्मशान के पीपल के वृक्ष की अपनी अलग विशेषता है। उसकी छाया में बैठने से प्रेतबाधा का निवारण होता है। मन को शान्ति मिलती है। सभी प्रकार के रोगों का शमन भी होता है । उसकी जड़ पर तिल के तेल का दीप नित्य जलाने से शनि ग्रह का प्रकोप शान्त हो जाता है । इतना ही नहीं, महाश्मशान के पीपल की ११ बार प्रदक्षिणा करने पर मनोकामना की पूर्ति, २१ बार प्रदक्षिणा करने पर दारिद्रय का नाश, ५१ बार प्रदक्षिणा करने पर आरोग्य-लाभ और १०१ बार प्रदक्षिणा करने पर व्यापार में उन्नति, धन-लाभ तथा सभी प्रकार की प्रसन्नता प्राप्त होती है। पुत्र-लाभ भी होता है ।

हिन्दुओं की मान्यता के अनुसार ही नहीं, वनस्पति-शास्त्र के अनुसार और अब तो मनोविज्ञान के अनुसार भी, सारे वृक्ष 'कार्बन-डाई-आक्साइड' छोड़ते हैं, सिर्फ पीपल को छोड़कर ! पीपल पूरी रात कार्बन-डाई-आक्साइड नहीं छोड़ता। इसलिये पीपल को छोड़कर किसी भी वृक्ष के नीचे रात्रि में रुकना हानिकारक है। कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा बढ़ जाने से मृत्यु सम्भव है। इसीलिये पीपल को छोड़कर किसी भी वृक्ष के नीचे रात्रि में रहने की मनाही है। पीपल इस अर्थ में अनूठा है। वह २४ घण्टे जीवन-ऊर्जा को प्रवाहित करता रहता है और यही कारण है कि उस पर निवास करनेवाली आत्मायें अपने-आपमें शान्ति का अनुभव करती हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से इस शताब्दी में एक बहुत अनूठी बात का पता चला है। मनसविद् और शरीरशास्त्री—दोनों ही निरन्तर—इस खोज में रहे हैं कि मनुष्य की चेतना का केन्द्र कहाँ है? शरीर में सारी ग्रन्थियों की खोजबीन की गयी है। मस्तिष्क में जिन ग्रन्थियों के पास चेतना की निकटता मालूम पड़ती है—उन ग्रन्थियों में जो रक्तस्राव है—बहुत चकित करनेवाली बात है कि—मस्तिष्क में जिस कारण—बोध और चेतना निर्मित होती हैं—या जिसके अभाव में आदमी बेहोश हो जाता है—उस रासायनिक तत्त्व की सर्वाधिक उपलब्धि पीपल के वृक्ष में है। मनुष्य के भीतर जो बुद्धि है—उस बुद्धि के प्रकट होने के लिये रासायनिक प्रक्रिया की आवश्यकता है और जिन रासायनिक तत्त्वों की मस्तिष्क में आवश्यकता है—उनकी सर्वाधिक मात्रा-पीपल वृक्ष में उपलब्ध है।

पीपल वृक्ष का महत्त्व

कॉलेन-विलसन ने लिखा है कि भगवान् बुद्ध को बुद्धत्व जिस वृक्ष के नीचे प्राप्त हुआ—वह वट-वृक्ष—पीपल की जाति का ही वृक्ष है। उस वृक्ष के नीचे बुद्ध का बुद्धत्व घटित होना—किसी गहरे अर्थ में वृक्ष से भी सम्बन्धित हो सकता है। क्योंकि चैतन्य की प्रक्रिया जिस रासायनिक सम्भावना से बढ़ती है—वह वट या पीपल—उस तरह के वृक्षों में सर्वाधिक है-तो बोधि-वृक्ष-सिर्फ बुद्ध के नीचे बैठने से बोधि-वृक्ष कहलाये—ऐसा नहीं। बोधि-वृक्ष सारे वृक्षों में सर्वाधिक बुद्धि की सम्भावनावाला वृक्ष भी है।

कृष्ण कहते हैं कि वृक्षों में मैं पीपल हूँ।

इसका अर्थ यह हुआ कि अगर परमात्मा की खोज करने जायें—वृक्षों में भी तो—जहाँ भी बुद्धिमत्ता की छोटी-सी किरण हो—उसीसे हमें खोज करनी पड़ेगी। जहाँ भी बुद्धिमत्ता है—वहीं ईश्वर है। अगर वृक्ष में भी बुद्धिमत्ता की कोई किरण है तो वहीं ईश्वर है।

× × ×

महाश्मशान पौराणिक और ऐतिहासिक दोनों होते हैं। काशी में पौराणिक और

ऐतिहासिक महाश्मशान केवल एक ही है—और वह है राजा हरिश्चन्द्र घाट का महाश्मशान !

मणिकर्णिका घाट अथवा काशी के अन्य छोटे-मोटे श्मशान न पौराणिक हैं और न तो हैं ऐतिहासिक ही। मणिकर्णिका घाट का श्मशान अपना न कोई महत्त्व रखता है और न तो उसकी कोई विशेषता ही है। कभी किसी समय राजा हरिश्चन्द्र घाट का महाश्मशान काफी लम्बा-चौड़ा था जिसके चारों तरफ मुमुक्षु लोग और साधकगण छोटी-छोटी कुटियों और झोपड़ियों में रहकर कालयापन किया करते थे। खैर ! उन दिनों राजा हरिश्चन्द्र घाट के महाश्मशान के चौधरी थे शीतलप्रसाद।

बिल्कुल काला रंग—गठीला, कसरती शरीर—मझोला कद—रोबीला चेहरा—बड़ी-बड़ी मूँछें—घुंघराले घने बाल और बड़ी-बड़ी आँखें। दोनों हाथों की उँगलियों में कीमती पत्थरों की तमाम अँगूठियाँ—दोनों बाजुओं में सोने के कड़े—गले में सोने की सिकड़ियों के साथ रुद्राक्ष की माला। शरीर पर कीमती दुशाला या फिर बनारसी सिल्क की चादर !

श्मशान के ऊपर लाल पत्थरों के बने हवेलीनुमा अपने मकान की नक्काशीदार बुर्जी पर बैठे बराबर हुक्का गुड़गुड़ाया करते थे शीतल चौधरी। उनका ठाट-बाट और उनका रहन-सहन किसी राजा-रजवाड़े से कम नहीं था। सामना होने पर अंग्रेज कलक्टर भी उनको सलाम करता था। महाराज काशीनरेश भी शीतल चौधरी को यथोचित सम्मान देते थे। अत्यन्त मृदुभाषी और सरल स्वभाव के थे वह। अहंकार लेशमात्र भी नहीं था उनमें। धार्मिक और उदार प्रवृत्ति के तो थे ही वह। मेरे परिवार से उनका विशेष लगाव था। इसी कारण उनका मुझ पर अधिक स्नेह था। जब मैंने अपनी साधना की चर्चा उनसे की तो वह सहज ढंग से बोले—"ठीक बाटे ! कर साधना। पर एक बात हो ऽ······यहाँ त हर बखत चिल्लपों मचल रहला··· भीड़ो-भाड़ बराबर रहला····अईसे में तोहार···महाराज·· साधना-बाधना कईसे—सफल होईऽ ! समझ ल !···विघन परै क डर रही।"

शीतल चौधरी का कहना ठीक ही था। मैं जिस साधना के बल पर अंगारे को रूमाल में बाँधने के प्रयास में था—उसके लिए बिल्कुल शान्त और एकान्त श्मशान-स्थल की आवश्यकता थी। और वह हरिश्चन्द्र घाट के श्मशान में सुलभ नहीं था। हर समय मुर्दों का आना—हर समय चिताओं का धू-धू कर जलते रहना—हर समय सगे-सम्बन्धियों का करुण क्रन्दन और हर समय अन्य प्रकार के शोरगुल व कोलाहल। सोच में पड़ गया मैं।

"देख ऽ ! महाराज !" हुक्का की नली मुँह से हटाते हुए शीतल चौधरी फिर बोले—"तोहरे साधना के लिए नारायनपुरवाला मशान सबसे अच्छा रही। समझल

न''' वहाँ तोहार इन्तजाम कर देवल जाई ! कोई तकलीफ या कोई परेशानी न होई तोके ! कभी-कदा कोई मुर्दा वहाँ जरै के खातिर आवला !"

महाश्मशान में साधना

कहने की आवश्यकता नहीं—शीतल चौधरी ने इन्तजाम कर दिया मेरा ।

दिसम्बर का महीना !

अमावास्या की घनी काली रात !

भयानक निस्तब्धता में डूबा हुआ नारायणपुर का श्मशान । चारों ओर साँय-साँय हो रहा था । शायद दो-एक दिन पहले कोई चिता जली थी जिसकी राख बिखरी थी वहाँ उस समय । कुछ अधजली हड्डियाँ और दो-तीन मानव-खोपड़ियाँ भी पड़ी थीं एक तरफ । गंगा की धारा की ओर थोड़ा झुका हुआ काफी पुराना पीपल का पेड़—पुरवा हवा के झोंके से हौले-हौले हिल रहा था, जिससे उसकी डालियों पर बँधे हुए यमघण्ट के पानी भरे घड़े कभी-कभी आपस में टकरा जाया करते थे, जिनकी ठक-ठक की आवाज से भय का संचार हो जाता था मन में ।

कुछ देर बाद—न जाने कहाँ और किधर से सियारों का झुण्ड निकल आया वहाँ । उनकी जलती हुई पीली आँखें—मेरे चारों ओर घूमने लगीं । सोचा, अब क्या होगा ? और तभी गाँव की ओर से कुत्तों के भूंकने की आवाज आने लगी । सियारों की टोली गायब हो गयी ।

चलो विघ्न टला !

साधना के प्रयोग में लगनेवाले सभी सामानों को रखकर—पहले मुझे जो कुछ करना था—वह किया मैंने—और फिर आसन पर बैठकर जप करने लगा ।

रात धीरे-धीरे गहरी होती गयी । जप शुरू करने के लगभग एक घण्टे बाद—ऐसा लगा कि कोई अदृश्य हाथ मेरी कलाई को पकड़कर जप करने से रोक रहा है । मगर मैंने बन्द नहीं किया । हाथ काफी दर्द करने लगा । फिर भी बराबर जप करता रहा मंत्र का ।

एकाएक रामनगर की ओर से सियारों के समवेत स्वर में रोने की आवाज आयी—और उसीके साथ मैंने देखा कि गंगा की ओर से बहुत सारे नर-कंकाल गिरते-पड़ते-लड़खड़ाते और हवा में लहराते श्मशान में आकर खड़े हो गये । वे सभी सजीव लग रहे थे । दूसरे क्षण श्मशान का वातावरण भयानक सड़ाँध से भर गया । चारों तरफ अजीब-सी दुर्गन्ध फैल गयी । उन नर-कंकालों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया । भय-विजड़ित दृष्टि से मैं उन सबको देख रहा था । कुछ क्षण बाद सबने मिलकर एक साथ विकट अट्टहास किया—फिर गहरा सन्नाटा छा गया वातावरण में । मगर उस गहरे सन्नाटे में खिन्नता, क्षोभ और बेचैनी भरी हुई थी ।

फिर क्या देखता हूँ कि वे सारे नर-कंकाल एक-एक कर मनुष्य के रूप में बदल गये। पर क्या उनका रूप ठीक-ठीक मनुष्यों जैसा था? नहीं! काफी वैषम्य था। उन सभी का शरीर के अनुपात में सिर काफी बड़ा था। नाक भी काफी लम्बी और मोटी थी। कान भी हद से ज्यादा बड़े-बड़े थे। नीचे का जबड़ा लटका हुआ था। उन सबकी गोल-गोल आँखों में बिल्ली जैसी चमक थी। वे सब एक साथ मेरी ओर घूर रहे थे। उफ्, उन आँखों को कभी भूल न सकूँगा मैं। लगा, जैसे उन चमकती पीली आँखों में प्रेतपुरी का दावानल सुलग रहा हो। आतंक और भय से बुरी दशा हो रही थी मेरी। मगर फिर भी मैं अपने-आपको और अपनी मानसिक चेतना को सँभाले हुए था और हर प्रकार से सतर्क भी था। मैं जानता था कि वह भयंकर पैशाचिक लीला थी।

सहसा पीपल का पेड़ जोर-जोर से हिलने लगा। ऐसा लगा, मानो किसी अदृश्य तूफान में फँस गया हो वह। लगा, किसी भी क्षण उसकी डाल टूटकर मुझ पर गिर पड़ेगी। उसीके साथ उस ऊजड़-वीरान श्मशान में एक विचित्र और विमुग्धकारी सृष्टि हो गयी।

पहले श्मशान में चारों ओर काफी दूर तक हल्के गुलाबी रंग का प्रकाश फैला। बड़ा ही मोहक और आनन्दप्रद था वह प्रकाश। मैंने देखा—उस मोहक प्रकाश के भीतर से—एक के बाद एक करके पन्द्रह-सोलह युवतियाँ प्रकट हुईं। निश्चय ही वे सब इस धरती की नहीं थीं। उनका रूप आकर्षक, कमनीय और सुन्दर अवश्य था—मगर साथ ही साथ उनमें अमानवीयता भी थी, जिसे देखकर मन में भय का हल्का-सा संचार भी होता था। वे युवतियाँ बिल्कुल पतली-दुबली थीं और हद से ज्यादा लम्बी भी थीं। उनके बाल सुनहले रंग के काफी लम्बे और घने थे और हवा में बिखरे हुए थे। आँखें नीली और मोरनी जैसी थीं। चेहरे गोल और चिपटे थे नेपालियों जैसे। हाँ, एक बात मैं बतलाना भूल गया। उनके शरीर का रंग बिल्कुल नीला था और उनके स्तन बहुत बड़े-बड़े और लटके हुए थे। वे सर्वांग नग्न थीं। उन सबके गले में किसी चमकीले पत्थर के बड़े-बड़े मनकों की मालायें थीं।

अब तक प्रकाश का रंग गुलाबी से सुनहला हो चुका था। वे युवतियाँ उस सुनहले प्रकाश के सैलाब में इस प्रकार चल-फिर रही थीं मानो पानी में तैर रही हों। बड़ा ही विचित्र लग रहा था उनका इस प्रकार प्रकाश के सैलाब में तैरना। मुग्ध भाव से देख रहा था मैं उन सबको।

प्रकाश का रंग फिर बदला। अब वह दूध की तरह बिल्कुल सफेद हो गया और उस रंग-परिवर्तन के साथ ही वे विलक्षण रूप-रंगवाली युवतियाँ भी गायब हो गयीं और उनके स्थान पर—उस स्वर्गीय शुभ्र प्रकाश के सागर में—एक ऐसी नवयौवना

प्रकट हुई जिसे देखकर एकबारगी चौंक पड़ा मैं। पहचानने में भूल नहीं हुई मुझसे। मोना के शरीर में रहनेवाली हाकिनी थी वह नवयौवना। उस दिन थोड़ा अँधेरा रहने के कारण उसका रूप और सौन्दर्य ठीक से देख नहीं सका था मैं। मगर उस धवल शुभ्र प्रकाश में उस सुन्दरी की भाव-भंगिमा और बाँकी छवि देखकर सचमुच स्तब्ध रह गया मैं।

'हाकिनी' शब्द सुनकर मानस-पटल पर जो बीभत्स रूप-रंग और भयावह आकार उभरता है—उससे कितना वैषम्य था उसमें। उसका अंग-प्रत्यंग जैसे तराशा हुआ था। उसकी संगमरमरी काया बिल्कुल निर्वस्त्र थी। देखकर ऐसा लगता था—मानो खजुराहो की कोई पाषाण-प्रतिमा मेरे सामने साकार हो गयी हो आकर! उसकी गहरी झील जैसी बड़ी-बड़ी नीली आँखों में हीरे की कनी जैसी चमक और अजीब-सा सम्मोहन था। वह धीरे-धीरे चलकर मेरे करीब आई—और मुस्कराती हुई—अपलक मेरी ओर देखने लगी।

मैंने तुरन्त मनुष्य की खोपड़ी में मदिरा भरकर उसके सामने रख दी।

वह खिलखिलाकर हँसी–और खोपड़ी को दोनों हाथों से उठाकर मदिरा-पान करने लगी।

वह पीती जाती थी और मैं बार-बार कपाल-पात्र मदिरा से भरता जाता था। अन्त में एक विकट अट्टहास किया उस हाकिनी ने। सारा श्मशान-प्रान्त गूँज उठा उसकी आवाज से। मेरे प्राण आतंक से हिम हो गये जैसे। निश्चय ही उस अभूतपूर्व क्षणों में कोई अलौकिक घटना घटनेवाली थी। बार-बार यही लग रहा था कि मैं अपनी चेतना खो बैठूंगा। और किसी भी क्षण मूर्च्छित हो जाऊँगा। मगर ऐसा हुआ नहीं।

उसी समय एक कोमल स्वर सुनाई पड़ा—"जप बन्द कर दो न अब!"

वह तन्वंगी शराब से लाल हो उठी आँखों से मेरी ओर देखती हुई कह रही थी—"तुम्हारे मन्त्र-जप से मैं बहुत बेचैनी का अनुभव कर रही हूँ। मेरे भीतर हलचल-सी मच गयी है। तुमने अपने मन का करके ही छोड़ा। तुम्हारी मन्त्रशक्ति का आकर्षण मुझे यहाँ खींचकर ले ही आया। आखिर में मोना के शरीर से अलग होना ही पड़ गया मुझे।"

"मैं जप तो बन्द कर दूंगा। मगर तुम भी मुझसे वादा करो कि मोना के शरीर में वापस लौटकर अब नहीं जाओगी तुम।"

कुछ देर मौन रही वह पिशाचिनी। फिर बोली—"फिर दस वर्ष कहाँ रहूँगी मैं? तर्कपंचानन महाशय की कठोर तान्त्रिक शक्ति के वशीभूत मेरा अस्तित्व अभी इस वर्ष और बँधा रहेगा मोना की पार्थिव काया के बन्धन में।······· तुम्हीं बतलाओ। क्या करूँ मैं?"

"यदि मैं तर्कपंचानन महाशय की तान्त्रिक शक्ति से तुम्हें मुक्त कर दूँ तो क्या तुम मेरे अधिकार में रहोगी ?"

"हाँ ! यह सम्भव है। मगर तुम्हारे अधिकार में मैं तभी रह सकूँगी—जब कि तुम मुझे स्मरण करके मदिरा-पान करोगे। फिर तो तुम मुझसे जो चाहो—वह सहायता ले सकते हो।"

मदिरा-सिद्धि

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"—मैंने कहा—"शराब से मुझे बेहद घृणा है। शराब पीने के लिए मुझसे मत कहो तुम। इसके बदले जो कहोगी, वह करने के लिए तैयार हूँ मैं।" मेरी बात सुनकर हँस पड़ी वह पिशाचिनी। बड़ी ही रहस्यमयी हँसी थी वह। बोली—"तब तो तुम मुझे न अपने अधिकार में कर सकोगे और न तो मुझसे किसी प्रकार की सहायता ही ले सकोगे।"

सोच में पड़ गया मैं। क्या करूँ ? समझ में नहीं आ रहा था। पूछा—"क्या तुम्हारे लिये शराब पीना आवश्यक है ?"

"हाँ ! हम जैसी तमोगुणप्रधान मानवेतर आत्माओं से सम्पर्क साधने और उनसे किसी भी प्रकार की लौकिक अथवा पारलौकिक सहायता प्राप्त करने के लिए एकमात्र शराब ही साधन है। शराब का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह मनुष्य के उपचेतन मन के द्वार को खोल देती है और हम जैसे प्राणी उसी द्वार से मानव-शरीर में प्रवेश करते हैं।"

न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर मैंने कह दिया—"ठीक है। तुम्हें प्राप्त करने के लिए मैं कोई भी कीमत चुका सकता हूँ। सर्वस्व त्याग कर सकता हूँ। चलो, मुझे मदिरा-पान करना स्वीकार है।"

काश ! ऐसा न कहा होता मैंने उस समय !

तमोगुणी राज्य की वह अनिंद्य सुन्दरी मेरी बात सुनकर एकबारगी हँस पड़ी। निश्चय ही वह पैशाचिक हँसी थी, जिसका मतलब समझ न सका मैं।

"लो, पीयो, मेरे हाथ से पीयो"—यह कहकर उस मायाविनी ने—अपने कोमल हाथों से—कपाल-पात्र में बची हुई मदिरा को मेरे होठों से लगा दिया।

मगर क्या वह शराब थी ? उसमें शराब जैसी कड़वाहट और दुर्गन्ध थी ? नहीं ! मुझे ऐसा तो नहीं लगा। मुझे तो ऐसा लगा कि मैं किसी अलौकिक और दिव्य रस का पान कर रहा हूँ, जिसका स्वाद अवर्णनीय था, अलौकिक था।

गट्-गट् कर सारी मदिरा पी गया मैं। और पीते ही—दूसरे क्षण मुझे ऐसा लगा कि मानों मैं मर रहा हूँ। मन घबड़ाने लगा। सारे शरीर में सनसनाहट होने लगी।

दिल डूबने लगा। आँखें बोझिल होने लगीं। पता नहीं, कब तक मेरी यह स्थिति रही। फिर अचानक हल्कापन महसूस किया मैंने और उसीके साथ ही अपने-आपको मैंने नवीन वातावरण में पाया। मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वह वातावरण इस धरती का नहीं था। वह अलौकिक था। मात्र केवल भावना का ही प्रवाह था वहाँ। आश्चर्य की बात तो यह थी कि मेरी इच्छा-शक्ति प्रबल हो गयी थी। विचार-शक्ति के प्रवाह में भी अत्यधिक प्रखरता आ गयी थी। इतना ही नहीं—मेरी आत्मा भी अपने-आपमें व्यापकत्व का अनुभव करने लगी थी, जिसके फलस्वरूप अपने-आपमें असीम का बोध करने लगा था मैं।

समझते देर न लगी मुझे। मेरे अस्तित्व का सम्बन्ध निश्चय ही किसी ऐसे पारलौकिक जगत् से जुड़ गया था—जो बिल्कुल ध्वनि-विहीन, शान्त, नीरव और शून्य था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मैं अपने अस्तित्व का बोध तो कर रहा था—मगर अपने पार्थिव शरीर का नहीं। केवल उसकी स्मृति भासित हो रही थी मुझे। उसके अलावा अपने भौतिक जीवन और अपने भौतिक वातावरण का लेशमात्र ज्ञान नहीं रह गया था मुझमें। वह कौन-सी विचित्र स्थिति थी यह मैं ठीक-ठीक नहीं बतला सकता। मगर हाँ! इतना अवश्य मैं समझ गया था कि उस दिव्य और पारलौकिक जगत् का अति घनिष्ठ सम्बन्ध मनुष्य की आन्तर चेतना और आन्तर मन से है। इसके अतिरिक्त यह भी जान गया था कि वह रहस्यमय लोक ज्ञान-विज्ञान का विशेष केन्द्र भी है। ऐसे ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र—जो शब्दों द्वारा नहीं, बल्कि भावों और विचारों द्वारा उपलब्ध होता है। खैर!

उस रहस्यमय अनजाने लोक के वातावरण में चारों ओर हल्के कुहरे जैसी धुन्ध छायी हुई थी और शुभ्र प्रकाश फैला हुआ था। वायु का तो सर्वथा अभाव ही था वहाँ। मैं उसी प्रकार चल-फिर रहा था—जैसे हवा में गुब्बारा इधर-उधर हिलता-डुलता है। अपने-आपमें मैं अत्यधिक शान्ति का और साथ ही स्थिरता का अनुभव कर रहा था। मेरी मानसिक स्थिति किसी आनन्दमग्न योगी की तरह हो गयी थी। मगर अधिक समय तक उस जगत् के अनिर्वचनीय वातावरण—और उस सर्वोच्च स्थिति में—रह नहीं सका मैं। जब मेरी बहिर्प्रज्ञा जागृत हुई—तो सबेरा होने ही वाला था। उस उजाड़ मरघट के वातावरण में चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। उस समय मेरी मानसिक स्थिति कैसी हो रही थी—उसका वर्णन नहीं कर सकता मैं। सब कुछ सपना-सपना-सा लग रहा था। समझ लीजिये—किसीको स्वर्ग से ढकेलकर नरक में डाल दिया जाय—बस, वैसा ही अनुभव हो रहा था मुझे उस समय। सचमुच यह धरती अन्य लोक-लोकान्तरों की तुलना में नरक के सिवाय और है ही क्या?

एक ही रात में—तांत्रिक क्रियाओं के रहस्यमय बन्धन में बँधकर—तमोगुणी राज्य

की एक प्रबल मानवेतर शक्तिसम्पन्न दुर्धर्ष आत्मा सहसा मेरे वशीभूत हो जायेगी—और हो जायेगी मेरे अधिकार में—इसकी कभी सपने में भी कल्पना नहीं की थी मैंने।

उस समय विश्वास नहीं हुआ था मुझे। मगर जब मोना की मृत्यु का समाचार मुझे मिला—तो विश्वास करना ही पड़ा—उस अविश्वसनीय सत्य पर !

अहिल्याबाई घाट के ऊपर सीढ़ियों पर मोना की लाश औंधी पड़ी थी—फटी-पुरानी साडी में लिपटी हुई। पास ही उसकी मैली-कुचैली कथरी—और आलमूनियम का टूटा-फूटा कटोरा भी पड़ा था।

सबेरे का समय था। जब मैं पहुँचा तो देखा—वहाँ काफी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। तीन-चार युवक शव के अन्तिम संस्कार के लिए लोगों से चन्दा माँग रहे थे।

भीड़ में कोई कह रहा था—"बेचारी ! कल रात यहीं बैठी-बैठी सीढ़ियों पर लुढ़क गयी। फिर नहीं उठी। शायद शीत लग गया उसे।···"

तभी किसी दूसरे की आवाज सुनाई दी—"नहीं यार ! उसे शीत-वीत क्या लगा होगा। दारू ज्यादा पी गयी होगी।···इधर ज्यादा ही पीने लगी थी स्साली !"

उन लोगों की बातें सुनकर मन ही मन सोचने लगा मैं—मोना तो चालीस साल पहले ही मर चुकी है। यह तो मोना की चलती-फिरती लाश थी, जिसके भीतर अब तक बैठी मानवेतरआत्मा को न कोई जान सका था—और न तो कोई समझ ही सका था। खैर !

अब तक जो रहस्यमयी तमाम घटनाएँ घटी थीं, और अब तक जो कुछ देखा-सुना-समझा था और जो कुछ अनुभव किया था—उससे मेरी प्यास बढ़ गयी थी। मेरे मन में असीम कौतूहल की सृष्टि हो गयी थी। और बहुत कुछ जानने-समझने की जिज्ञासा तीव्र हो उठी थी मेरे भीतर।

देहातीत व्यक्तित्व

परामनोविज्ञान के अन्तर्गत एक अति महत्त्वपूर्ण विषय है—देहातीत व्यक्तित्व। शास्त्रों की भाषा में इसीको 'प्रेतविद्या' कहते हैं। तन्त्र की जो चौंसठ विद्याएँ हैं—उन्हींमें यह भी एक विद्या है।

डाकिनी से सम्पर्क होने के बाद—विभिन्न प्रकार की मृतात्माएँ और विभिन्न प्रकार की प्रेतात्माएँ स्वयं अपने-आप मेरी ओर आकर्षित होने लग गयी थीं। स्वयं अपनी ओर से उन अपार्थिव आत्माओं से सम्पर्क साधने का कभी भी प्रयास नहीं किया था मैंने। सभी प्रकार की आत्माएँ स्वयं सम्पर्क साधकर अपना सन्देश मुझे देती थीं—और कभी-कभी अपने मनोबल द्वारा अपने पूर्व पार्थिव शरीर को भी धारण कर मुझसे मिलती थीं। पर ऐसा अवसर कम ही आता था।

मृतात्मा और प्रेतात्मा में बहुत अन्तर हैं। लेकिन दोनों की मति, गति और क्रिया-कलाप को समझना अत्यन्त कठिन है। प्रेतात्माओं के शरीर की रचना वासना के कणों से होती है—जब कि मृतात्माओं का शरीर प्राण के सूक्ष्मतम कणों से बना होता है। मृतात्माएँ अन्तरिक्ष की गहराइयों में निवास करती हैं और मनुष्यों से बहुत कम सम्पर्क रखना पसन्द करती हैं। किन्तु इसके ठीक विपरीत प्रेतात्माएँ मानवीय वातावरण में अधिक-से-अधिक रहना पसन्द करती हैं।

'आत्मा' और पुनर्जन्म के सिद्धान्त अब पुराणों और शास्त्रों की सीमा में बँधे नहीं रह गये हैं और न ही उनका आधार अनुमान ज्ञान रह गया है। आत्मा और पुनर्जन्म के तमाम गूढ़ सिद्धान्तों को अब वैज्ञानिक मान्यता मिल चुकी है और इस विषय पर काफी गहराई से पश्चिम के वैज्ञानिक रिसर्च कर रहे हैं।

आधुनिक युग में 'गेटे' पहले वैज्ञानिक हैं—जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को यथार्थ कहा है। उनके इस दर्शन के आधार पर 'राडोल्फ' ने यह सिद्ध कर दिया कि ब्रह्माण्ड एक सजीव अस्तित्व है। सम्पूर्ण आध्यात्मिक अर्थात् आत्मा से सम्पन्न !

विकासवाद के जन्मदाता 'चार्ल्स डारविन' के मित्र और प्रख्यात जीव-विज्ञानी 'थामस हक्सले' का कहना है कि ब्रह्माण्ड का शाश्वत तत्त्व उसके प्रत्येक कण में विद्यमान है। आत्मा के आवागमन यानी मरणोत्तर जीवन और पुनर्जन्म के सारे सिद्धान्त पूर्णतः सत्य हैं। (विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़ें 'परलोक-विज्ञान'—ले० अरुणकुमार शर्मा)

सभी वैज्ञानिकों ने एक मत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्रत्येक प्राणी या जीव का निर्माण अरबों उच्चकोटि के विद्युत्-कणों के झुण्ड से हुआ है जो कोशों में निवास करते हैं। वैज्ञानिकों ने इस रहस्य को भी खोल दिया है कि मृत्यु के पश्चात् वह झुण्ड शरीर को छोड़कर शून्य में चला जाता है। वहाँ वह जीवित रहता है तथा समय पाकर पुनः नये जीवन-चक्र में प्रवेश करता है। यह झुण्ड अमर है।

अपनी खोज के आधार पर वैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि एक जीवन से दूसरे जीवन का कभी भी जन्म नहीं होता। शरीर को ही लीजिये—शरीर असंख्य और अनन्त परम सूक्ष्म जीवाणुओं से बना है तथा इनमें से प्रत्येक एक इकाई है। ये इकाइयाँ—समूहों और झुण्डों के रूप में काम करती हैं। ये सूक्ष्म और अमर हैं। मनुष्य के मरने पर ये झुण्ड अन्तरिक्ष में कहीं चले जाते हैं और नये रूप, नये आकार और नये वातावरण की प्रतीक्षा करते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं—अब तक का मेरा अपना रिसर्च इसी तथ्य पर आधारित रहा है। मैंने अब तक के अपने खोजी जीवन में इस दिशा में—जो कुछ अनुभव किया—उसके आधार पर मैं प्रामाणिक रूप से यह कह सकता हूँ कि पदार्थ की तरह

मानसिक और परामानसिक—यानी चेतन और अचेतन तत्त्व भी अविनाशी है और यही तत्त्व आत्मा है।

मनोविज्ञान के प्रणेता कार्ल-जुंग ने इस सम्बन्ध में काफी गहराई से शोध-कार्य किया है। उनका कहना है कि मनुष्य का अस्तित्व निश्चय ही किसी परातत्त्व से सम्बन्धित है। उनकी नजर में उपचेतन मन सार्वभौमिक है। वह उपचेतन मन ही पराबोध को ग्रहण करता है और वह काल तथा स्थान की सीमा की मर्यादा में नहीं बँधता। मृत्यु के बाद जीवन का कोई भौतिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता। लेकिन हमारे अनुभव यह सिद्ध करते हैं कि 'वह' है।

आधुनिक मनोविज्ञान के आचार्य डॉ० राइन ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य का मन एक पराभौतिक पदार्थ है। वह शरीर के साथ नहीं मरता। उसका कभी भी नाश नहीं होता।

कहने का मतलब यह कि मृत्यु के बाद भी सूक्ष्म अथवा पराचेतन का अस्तित्व बना रहता है और वह विद्युत्-चुम्बकीय स्तर पर जीवित रहता है—और उसमें यह सामर्थ्य रहता है कि वह समय पड़ने पर अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सके। वह अवसर मिलने पर भौतिक आकार भी ग्रहण कर सकता है। आपको मालूम होना चाहिए कि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के बाहर अन्तरिक्ष में असंख्य आत्माएँ विद्युत्-चुम्बकीय स्तर पर भटक रही हैं और भटकते हुए शरीर-धारण की प्रतीक्षा कर रही हैं। उनमें कुछ ऐसी आत्माएं भी होती हैं जो हजारों वर्ष से शरीर-प्राप्ति की प्रतीक्षा कर रही हैं। ऐसी प्रतीक्षा-रत आत्माओं में आपको महाभारत-काल क्या, रामायण-काल की भी आत्माएँ मिल जायेंगी। अघोर-सम्प्रदाय के उच्चकोटि के साधकगण आत्मा से सम्पर्क स्थापित करने, उन्हें वश में करने और उनसे कार्य लेने से सम्बन्धित जिन मन्त्रों को जगाकर सिद्ध करते हैं उनमें भी एक विशेष प्रकार का विद्युत्-चुम्बकत्व पैदा होता है। मन्त्र-विज्ञान के अनुसार वर्ण में धन-विद्युत् और स्वर में ऋण-विद्युत् होती है। मन्त्र को बारम्बार जप करने से स्वर और वर्ण में जो संघर्ष होता है—उस संघर्ष से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि में वह विद्युत्-चुम्बकत्व होता है। ध्वनि के कम्पन के अनुसार वह विद्युत्-चुम्बकत्व ईथर में एक विशेष प्रकार की परिधि का निर्माण करता है। उस परिधि में अनुलोम गति से धन-विद्युत्-चुम्बक का प्रवाह होता है—और विलोम गति से ऋण-विद्युत्-चुम्बक-तरंगों का। वे दोनों प्रकार की तरंगें—एक-दूसरे के विपरीत इतनी तीव्र गति से प्रवाहित होती हैं कि उनके प्रति स्वयं अपने-आप वे विद्युत्-चुम्बक आकर्षित होने लग जाते हैं—जिनके स्तर पर आत्मा का परा-चेतन अस्तित्व बना रहता है। यही वह मौलिक तथ्य है—जिसके आधार पर तांत्रिक मन्त्र-शक्ति से विभिन्न प्रकार की आत्माएँ साधकों के वश में हो जाती हैं, उनकी

सहायता किया करती हैं और उनके इच्छानुसार कार्य भी किया करती हैं। आवश्यकता पड़ने पर उनके सामने भौतिक रूप में प्रकट भी हो जाया करती हैं। मगर योगीगण इस प्रकार का कार्य अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर करते हैं। तांत्रिक और योगी में यही भेद है इस स्थान पर। पहला विभिन्न प्रकार की आत्माओं की सहायता लेता है और दूसरा लेता है अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति का सहयोग। खैर, यह तो हुई तांत्रिकों व योगियों की बात।

जब मैंने देहातीत-व्यक्तित्व के विषय में छान-बीन शुरू की तो मुझे इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि किसी भी मरे हुए व्यक्ति के शरीर का कोई भी अंग या अंश जब तक संसार में अपना पार्थिव अस्तित्व बनाये रखता है—तब तक उस व्यक्ति की आत्मा—उसीके आसपास बराबर चक्कर लगाया करती है। इसका मूल कारण शरीर के प्रति मोह ही है।

चेतन और अचेतन—दोनों का मूल केन्द्र मस्तिष्क है, अतिचेतन का भी। इन तीनों के आधार पर मस्तिष्क के तीन भाग हैं—मुख्य मस्तिष्क, अधः मस्तिष्क और अधः लघु मस्तिष्क। मस्तिष्क का जो तीसरा भाग है—वही योगियों का सहस्रार चक्र है। अतिचेतन तत्त्व का भी वही केन्द्र है। इसलिए मृतात्माओं अथवा प्रेतात्माओं का अपनी खोपड़ी के प्रति सर्वाधिक और विशेष आकर्षण होता है। वह आकर्षण न रहे—इसीलिए शवदाह के समय मृतक की खोपड़ी तोड़ने का नियम हमारे यहाँ है, जिसे 'कपालक्रिया' कहते हैं। अगर ऐसा न हुआ—और खोपड़ी लावारिस की तरह कहीं पड़ी हुई है—तो जिसकी वह खोपड़ी है—उसकी मृतात्मा उससे बराबर सम्पर्क बनाये रखेगी—विद्युत्-चुम्बकीय स्तर पर। अघोर-सम्प्रदाय की सारी साधनाएँ इसी परावैज्ञानिक तथ्य पर आधारित हैं। सच तो यह है कि अघोर-साधना-सम्प्रदाय की मूल भित्ति एकमात्र प्रेत-विद्या ही है। वास्तव में यही कारण है कि अघोरी लोग मानव-खोपड़ी हमेशा अपने पास रखते हैं। इतना ही नहीं—खोपड़ी में खाते हैं, पानी पीते हैं और पीते हैं शराब भी। उनकी भाषा में खोपड़ी को 'कपालपात्र' कहते हैं। उसी कपालपात्र के माध्यम से उनका अगोचर सम्बन्ध बराबर उस मृतात्मा से बना रहता है—जिसका वह होता है और उसीकी सहायता से वे विभिन्न प्रकार के अलौकिक चमत्कार दिखाया करते हैं, जिन्हें देखकर आप और हम स्तब्ध रह जाते हैं। अघोर-साधना की सिद्धि का यही मूल रहस्य है।

और जब मैं इन तमाम रहस्यों से परिचित हुआ तो उसी समय मुझे एक ऐसी खोपड़ी मिली—जिसकी आत्मा ने कभी अपने उद्धार की याचना की थी मुझसे। इतना ही नहीं—उसने मेरे सामने सशरीर उपस्थित होकर अपने भौतिक जीवन की करुण कथा भी सुनाई थी। एक आत्मा अपनी वासना और कामना के वेग से स्थूल शरीर

का भी निर्माण कर किसी वाञ्छित व्यक्ति के सम्मुख प्रकट हो सकती है—और अपनी व्यथा-कथा भी सुना सकती है—इसका अवर्णनीय अनुभव पहली बार हुआ था मुझे उस समय।

कैसा संयोग था ? और था कैसा योगायोग ? अब सोचता हूँ तो अजीब-सा लगता है सब कुछ मुझे। मेरे सम्पर्क में बहुत-सी, विभिन्न प्रकार की आत्माएँ आयीं। लेकिन जहाँ तक उस आत्मा का प्रश्न है—उसे आज तक भूल न सका मैं। उसकी दारुण व्यथा-कथा के चित्र अभी भी मेरे मस्तिष्क में कभी-कदा सजीव हो उठते हैं।

●

अघोर सन्त बाबा सोमारूराम

उन दिनों काशी में एक अघोरी सन्त निवास करते थे। नाम था बाबा सोमारूराम। मझोला कद, साँवला रंग, घनी दाढ़ी, मूंछें, कमर में लिपटा हुआ कफन का टुकड़ा और हाथ में सोंटा ! यही था उनका व्यक्तित्व।

बाबा कीनाराम की गद्दी के शिष्य थे बाबा सोमारूराम। पर काशी के हरिश्चन्द्र घाट के महाश्मशान में ही विचरण करते थे वह। श्मशान की जली हुई लकड़ी कन्धे पर रखकर गद्दी की धूनी में पहुँचाना प्राय: नित्य का काम था उनका। घाट के ऊपर काली का एक छोटा-सा मन्दिर है—जीवन के अन्तिम दिनों में बाबा ने मन्दिर को ही अपनी साधना-स्थली बना लिया था। बाबा सिद्ध सन्त थे इसमें सन्देह नहीं। चमत्कारी पुरुष भी थे वह। उनके कई विलक्षण चमत्कार देखे थे मैंने। दारू के नशे में हमेशा धुत रहते थे वह। जब कभी नशा उखड़ता था—तो अंट-संट गाली बकने लग जाते थे महाशय—जिसे लोग उनका आशीर्वाद समझकर स्वीकार कर लेते थे। अघोरी साधकों की गाली-गलौज ही सिद्धि होती है। बाबा ने अपनी इस सिद्धि के बल पर न जाने कितने लोगों का कल्याण किया था।

शिवाला स्थित बाबा कीनाराम की गद्दी से मेरे परिवार का घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत पुराना है। इसलिए बाबा सोमारूराम का मुझ पर काफी स्नेह था। बाबा से मिलने के लिए सिद्ध-सन्त-महात्मा आदि आया करते थे। जब वे आते तो बाबा उनसे मेरा

परिचय अवश्य कराते थे। तब मैं उस महात्मा की सेवा में पूरी तरह जुट जाता था। शराब से लेकर भोजन आदि तक की व्यवस्था मेरे जिम्मे हो जाती थी।

अवधूत भैरवी

एक बार एक अवधूत-भैरवी बाबा से मिलने आयी। शायद गिरिनार से आयी थी वह। आते ही उसने महाश्मशान में अपना डेरा-डण्डा जमा लिया। उसकी आयु बहुत अधिक थी—लेकिन देखने में ३०-३५ वर्ष से अधिक की नहीं लगती थी वह। बाबा ने उसका परिचय मुझे कराया—"यह सिद्ध भैरवी हैं। पिछले चार-पाँच जन्मों से साधना कर रही हैं। अब इस जन्म में साधना पूरी हो जायेगी इसकी। फिर परम मुक्ति लाभ!"

मैंने सिर घुमाकर भैरवी की ओर देखा—बिल्कुल गोरा रंग, घने काले बाल, सुगठित देहयष्टि, बड़ी-बड़ी आँखें, चमकता-दमकता चेहरा। शरीर पर लाल रंग की साड़ी और हाथ में बड़ा-सा त्रिशूल!

अपलक स्थिर नेत्रों से मेरी ओर देखने लगी वह रहस्यमयी भैरवी! लगा—जैसे उसकी गहरी दृष्टि मेरी अन्तरात्मा को भेदती हुई भीतर—और भीतर उतरती जा रही हो। थोड़ा सहम गया मैं।

सहसा चीखकर बोली वह—"कारण वारि पिलायेगा? समझा नहीं! कारण वारि माने क्या? मदिरा... दारू समझे अब?"—हो-हो कर हँसने लगी भैरवी।

उस समय मेरे पास पैसा नहीं था। सोचा, किसीसे उधार रुपये लेकर कारण वारि ले आऊंगा। मगर जब जेब में हाथ डाला तो स्तब्ध रह गया एकबारगी। जेब में सौ-सौ के दस नोट पड़े थे। पूरे एक हजार रुपये। समझते देर न लगी। उसी भैरवी का चमत्कार था सब। मगर पूरा शहर घूम आया, शराब कहीं नहीं मिली। उस समय बनारस में दो-तीन दूकानें ही थीं शराब की। सब बन्द थीं। जब लौटकर आया तो बाबा ने बतलाया कि भैरवी रामनगर चली गयी है। उसी रात स्वप्न में भैरवी दिखलायी पड़ी मुझे। कह रही थी—"तुझे एक हजार रुपये अपने मित्र के उधार देने हैं न? दे दो उसे। वह बीमार पड़ा है। रुपये की जरूरत है उसे!"

सचमुच मैंने अपने मित्र से एक हजार रुपया उधार लिया था कुछ महीने पहले। दौड़ा-दौड़ा मित्र के घर गया। बीमार था वह। दवा इत्यादि के लिए उसे उस समय रुपये की आवश्यकता थी।

दूसरे दिन भैरवी की खोज में रामनगर गया मैं। इधर-उधर बहुत खोजा। मगर मिली नहीं वह। लगभग १५-२० दिनों बाद भैरवी अचानक शिवाला घाट की सीढ़ियों पर बैठी हुई मिल गयी। मुझे देखकर मुस्करायी। कहने लगी—"मैं जानती हूँ तू तन्त्र-मन्त्र की खोज में जुटा है। लेकिन समझ ले। जिन तत्त्वों से तू परिचित होना चाहता है वे तुझे पुस्तकों में नहीं मिलेंगे। पुस्तकों में तो ज्ञान नहीं, बल्कि विचारों और

भावों का जाल रहता है। पुस्तकों द्वारा हम किसी चिन्तक के विषयों के प्रति व्यक्त किये गये विचारों अथवा भावों से ही परिचित और अवगत होते हैं। विचार या भाव ज्ञान नहीं। ज्ञान तो अनुभव से उपलब्ध होता है।"

"वह अनुभव कैसे होगा ?"

साधना-चर्चा

"ध्यान के द्वारा आन्तर जगत् में प्रवेश करने पर। जो कुछ सत्य है वह सब भीतर है। बाहर उस सत्य का भ्रम है। सबसे पहले हमें यह समझना चाहिये कि आत्मा और शरीर अलग-अलग नहीं है। एक ही वस्तु के दो छोर हैं। आत्मा का जो हिस्सा हमारी पकड़ में आ जाता है—यानी इन्द्रियों की सीमा के भीतर आ जाता है—वह शरीर है और आत्मा का जो हिस्सा हमारी इन्द्रियों की सीमा के बाहर रह जाता है—उसका नाम आत्मा है। उसे हम आत्मा कहते हैं। मतलब यह कि अदृश्य शरीर का नाम आत्मा है और दृश्य आत्मा का नाम शरीर है। ये दो वस्तुएँ नहीं हैं। दोनों का अलग-अलग अस्तित्व भी नहीं है। एक ही अस्तित्व की दो अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचना ही 'ध्यान' है। संसार में जितने भी धर्म हैं—उन सबमें आपसी झगड़ा है और है आपसी विवाद। केवल एक बात के सम्बन्ध में किसी प्रकार का न झगड़ा है—और न तो विवाद है और वह बात है ध्यान! जितने भी धर्म हैं—और उन सबके जितने भी सिद्धान्त हैं—वे सब भिन्न-भिन्न हैं। उनमें अभिन्नता नहीं है। हाँ। अभिन्नता एक बात में अवश्य है—और वह है ध्यान! इसलिये सभी धर्मों ने एक स्वर में ध्यान को स्वीकार किया है। ध्यानयोग का अस्तित्व सभी धर्मों में है।"

"ध्यान की उपलब्धि क्या है ?"

"ध्यान की चरम प्राप्तव्य अथवा चरम उपलब्धि है आनन्द! परम आनन्द! संसार में आनन्द नहीं। संसार की कोई वस्तु या पदार्थ ये भी आनन्द नहीं हैं। जीवन के आनन्द का मार्ग ध्यान से होकर जाता है। परमेश्वर के निकट और परमात्मा के सान्निध्य में यदि कभी कोई पहुँचा है तो एकमात्र ध्यान के क्रमिक सोपान पर चढ़कर ही पहुँचा है। चाहे वह जीसस हो, चाहे मुहम्मद हो, चाहे बुद्ध हो और चाहे महावीर हो! अच्छा अब बस, फिर कभी मिलूँगी तो आगे चर्चा होगी।"—इतना कहकर भैरवी अपने स्थान से उठी। एक ओर चल पड़ी। मैं उन्हें जाते हुए देखता रहा। धीरे-धीरे उनका अस्तित्व लुप्त हो गया मेरे सामने से।

साधक शिवराम अवधूत

उन्हीं दिनों बाबा सोमारूराम से मिलने एक अवधूत सन्त पधारे थे। वे शायद आसाम के किसी इलाके से आये थे। नाम था शिवराम अवधूत।

लम्बी-चौड़ी काठी का शरीर—बिल्कुल काला रंग—घुटा हुआ बेडौल सिर—बड़ी-बड़ी गहरी आँखें—गले में रुद्राक्ष की माला—नंग-धड़ंग काया—केवल कमर में कफनी और हाथ में मुर्दे की पुरानी खोपड़ी—जो हमेशा और हर समय ढुघुवा (शराब) से भरी रहती थी, जिसे बाबा शिवराम अवधूत बराबर हमेशा पीते रहते थे !

अवधूत महाशय को न कभी कुछ खाते-पीते देखा और न कभी सोते-बैठते देखा। जब देखा, तो गाली बकते हुए ही देखा। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि वह रहस्यमयी विलक्षण खोपड़ी कभी किसी क्षण भी खाली नहीं रहती थी। कब और कैसे खोपड़ी अपने-आप शराब से भर जाती थी—यह मेरी समझ में नहीं आता था। जब भी मैंने इस रहस्यमय चमत्कार की गहराई में उतरने की कोशिश की तो असफलता ही हाथ लगी ! जब मैंने इसकी चर्चा बाबा शिवराम से की तो हो-हो कर हँसने लगे वह। बड़ी ही विलक्षण और रहस्य से भरी हुई थी उनकी हँसी। हंसते हुए ही बोले—"क्या करेगा जानकर ! दो सौ साल पुरानी है यह कपाल-पात्रिका !"

दो सौ साल पुरानी खोपड़ी

"दो सौ साल पुरानी ?" आश्चर्य से बोला मैं।

"हाँ ! दो सौ साल पुरानी है यह खोपड़ी ! दो सौ साल पहले एक युवती की बलि देकर उसकी खोपड़ी को सिद्ध किया था एक सिद्ध-साधक कापालिक ने। उसने अपने शिष्य को दी। फिर उस शिष्य ने दी अपने शिष्य को। इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परा के अनुसार यह सिद्ध खोपड़ी मेरे पास आ गयी। मेरे गुरु ने दी थी अपने अन्तिम समय में मुझे यह खोपड़ी !"

इतना कहकर बाबा शिवराम अवधूत ने बगल में रखी शराब से भरी हुई कपाल-पात्रिका (खोपड़ी) उठायी—और गट्-गट् कर सारी मदिरा एक ही साँस में पी गये। फिर कन्धे पर लटक रहे चिथड़े से मुँह पोंछकर एक दीर्घ निःश्वास लेते हुए बोले—"क्या करेगा यह सब रहस्य जान-समझकर। इतना बतला दिया—इसीमें सन्तोष कर ! इन सबके फेर में पड़ना ठीक नहीं ! जा, भाग, अपना काम कर !"

मैंने देखा—बाबा के पीते ही खोपड़ी अपने-आप शराब से फिर भर चुकी थी। मैंने झुककर बाबा के दोनों पैर थाम लिये। विनीत स्वर में कहा—"बाबा ! मैं अघोर-सम्प्रदाय के ऐसे तमाम रहस्यमय चमत्कारों के मूल कारणों को ही जानने-समझने के लिए श्मशान में भटक रहा हूँ। आप कृपा करें मुझ पर !"

मेरी बात सुनकर बाबा ने पलटकर मेरी ओर घूरकर एक बार देखा। उनकी आँखें उस समय लाल हो रही थीं। मैं सहम गया।

वे अपलक काफी देर तक सामने जलती हुई चिता की ओर निहारते रहे। फिर अचानक बोल पड़े—"दारू पीयेगा ?"

"कभी पीया तो नहीं है बाबा ! मगर आपकी आज्ञा होगी तो पीना ही पड़ेगा। किसी तरह पी लूँगा।"

बाबा ने फिर से भर गयी खोपड़ी की शराब मेरी ओर सरका दी।

रहस्यमय स्वप्न

"हे भगवान् ! इतनी शराब—मैं बुदबुदाया !"

बाबा गरजे—"देखता क्या है ? सब पी जा जल्दी से। रहस्य जानना चाहता है न ?"

खोपड़ी उठा ली मैंने काँपते हाथों से। करेन्ट-सा लगा। पहली ही घूँट में गले से लेकर कलेजे तक जल गया। मगर विवश होकर सारी शराब पीनी ही पड़ी मुझे। फिर सारा बदन सन-सन करने लगा। सिर भी घूमने लगा। किसी प्रकार उसी स्थिति में घर वापस लौटा। रात गहरा गयी थी। आते ही बिस्तर पर पड़ गया। फिर होश नहीं रहा मुझे। उसी अचेतन अवस्था में एक लम्बा सपना देखा मैंने। सपना पश्चिम बंगाल का था—पद्मा नदी के उस पार का। दो नदियों का संगम—गंगा और ब्रह्मपुत्र—वहीं से गंगा का नाम पद्मा हो जाता है। पद्मा थोड़ा आगे बढ़कर भयानक मोड़ लेती है। मैंने देखा—वक्राकार घूमी हुई पद्मा के कगार पर १५-२० झोपड़ियों और कच्चे मकानों का एक गाँव था जिसके चारों तरफ धान के लहराते खेत थे। नदी के बिल्कुल किनारे दो-तीन कमरों का कच्चा घर था। घर के सामने कच्चा ही एक चबूतरा था और उसके बाद केले का बगान था। चारों तरफ झक-झक करता हुआ साफ-सुथरा स्थान था। परिष्कृत ढंग से की गयी सजावट। घर के पिछवाड़े एक दरवाजा था जिससे केवल दस कदम पर ही फुफकारती हुई नदी का भयंकर कगार था। बड़ी ही खतरनाक जगह थी वह।

साँझ की स्याह कालिमा फैल चुकी थी। लगा, जैसे बंगाल की सारी उदासी और सारी रिक्तता वहीं सिमटकर छा गयी हो।

घर के भीतर कच्चा आँगन था जिसके बीच में तुलसी का बिरवा था और उस बिरवे के सामने घी का दीप जलाती हुई—गौरांग शरीर पर लाल किनारी की साड़ी पहने—वहाँ एक नवपरिणीता वधू उपस्थित थी। वह प्रणाम कर उठ खड़ी हुई। माँग में लाल सिन्दूर दम-दम कर रहा था। ललाट और कपोल पर चन्दन का प्रलेप था—जिससे चेहरे का लावण्य और अधिक बढ़ गया था। बड़ी-बड़ी कजरारी आँखों में बच्चों जैसा भोलापन था और थी नीले सागर जैसी स्निग्धता। कलाइयों में लाल चूड़ियाँ थीं और शंख के वलय। गले में मंगलसूत्र था।

प्रणाम कर चुकने के बाद लज्जा से विनम्र और कोमल स्वर में उसने पूछा—"माँ ! आप कुछ कह रही हैं क्या ?"

बाहर चबूतरे पर से माँ बोली—"हाँ बहू ! अब विश्वेश्वर आता ही होगा । आज रसोई का झंझट करने की जरूरत नहीं । मन्दिर से ढेर सारा प्रसाद आ गया है । वही थाली में लगाकर दे देना उसे और हाँ ! जल्दी ही लेट जाना ।" बहुत ही मिठास थी वृद्धा के स्वर में । सिर हिलाकर हामी भर दी बहू ने ।

रात गहरी होने लगी । वृद्धा का इकलौता बेटा विश्वेश्वर लौट आया । प्रसाद ग्रहण करने के बाद एक कमरे में वृद्धा ने अपने सोने का इन्तजाम किया—और उसके बगल-वाले कमरे में—बेटे की सुहागरात का इन्तजाम था । शादी में विशेष आडम्बर नहीं किया गया था । न ग्राम-वधुओं का समागम हुआ, न बातूनी पड़ोसिनों ने मजाक किया, न 'उलू' ध्वनि ही हुई और न तो किसी प्रकार का मंगल अनुष्ठान ही किया गया था ।

जतन सहित कृष्ण चूड़ा, बकुल और रजनीगंधा के फूलों से शय्या सजाकर—धरती पर माथा टेककर नववधू ने अपने पति को झुककर प्रणाम किया । उसके बाद मिट्टी के दीपक के मन्द आलोक में उसकी दोनों कजरारी आँखों में कुछ अश्रु-बिन्दु मोतियों की तरह झिलमिला उठे । अवरुद्ध कण्ठ से बोली बहू—"तुम मेरे परमेश्वर हो । सर्वस्व हो । तुम्हें मेरी हर श्वास अर्पित है । मुझे ग्रहण करके तुमने अपने मन की जिस उदारता का परिचय दिया है—उसकी तुलना नहीं की जा सकती है । मैं तुम्हारे चरणों में अन्तिम साँस तक रहूँगी । आशीर्वाद दो कि इन्हीं चरणों में मेरे प्राण निकलें ।"

रात्रि की गहन निस्तब्धता के बीच उसके आँसू पोंछ दिये विश्वेश्वर ने । अपने दोनों हाथों के बीच पत्नी का गुलाब के फूल जैसा चेहरा दबाकर—दीपक के मन्द आलोक में कुछ क्षणों तक देखता रहा वह ।

नववधू के गालों पर कुछ अश्रुकण ढुलक आये थे । पर वे आँसू नहीं थे—हृदय के उत्ताप में गलकर गिरे हुए लावण्य के कण थे । शायद विश्वेश्वर के दोनों हाथों के बीच—वह असाधारण सुन्दर चेहरा इस प्रकार स्थिर रहा—जैसे शुभ्र दीप की स्निग्ध शिखा हो । कुछ क्षण बाद—धीरे गम्भीर स्वर में विश्वेश्वर बोला—"नहीं ! मुझसे भूल नहीं हुई है अर्चना । अत्यधिक भाग्यवान् हूँ मैं । आओ ! रात्रि अधिक हो गयी है—चलकर सोयें अब हम दोनों ।"

चारों ओर सन्नाटा छा गया ।

रात्रि का गहन अन्धकार झींगुरों के अनन्त करुण क्रन्दन का भी जैसे गला घोंट रहा था । उस छोटे-से कमरे में सिर्फ दो मृदु—श्वास-प्रश्वासों का गम्भीर शब्दभर सुनाई पड़ता रहा—और इस असीम शान्ति के बीच निद्रारहित आँखों से सब कुछ देखनेवाला साक्षी था—उस छोटे-से कच्चे कमरे में जलनेवाला माटी का दीपक । धीरे-धीरे मनुष्य से लेकर कीट-पतंग और प्रकृति, अरण्य सब डूब गये गहन सुषुप्ति की गोद में ।

नीरवता में डूबी हुई गहन रात्रि का तीसरा प्रहर ।

एकाएक नीरवता भंग हुई।

"अर्चना!"—किसी ने बन्द दरवाजे पर खड़े होकर खूब जोर से आवाज लगायी।

निरन्ध्र अन्धकार को एकबारगी चौंका दिया उस शब्द ने।

अपने आलिंगन में लिये अर्चना को अलग कर विश्वेश्वर उठकर बैठ गया बिस्तर पर। डरकर अर्चना ने अपने दोनों हाथों से पकड़ लिया उसे।

दूसरे क्षण फिर कोई गरज उठा—"अर्चना!·· ···अर्चना, दरवाजा खोलो।"

आवाज को पहचान गया विश्वेश्वर! अर्चना भी समझ गयी कि कौन है बाहर!

पाषाणवत् बैठा रहा विश्वेश्वर बिस्तर पर! भय और आतंक से जैसे काठ हो गया था वह। उसके सीने में मुंह छिपाकर—फफक-फफककर रो पड़ी अर्चना।

दरवाजा अब जोर-जोर से पीटा जाने लगा था। उसी समय बगल के कमरे का दरवाजा खोलकर—आँचल सँभालती हुई वृद्धा बाहर निकल आयी। उसका विनयभरा स्वर सुनाई दिया—"महाराज! अर्चना और विश्वेश्वर का धार्मिक रीति से विवाह हुआ है। अब विश्वेश्वर का पूर्ण अधिकार है अर्चना पर! अब वह आपकी भैरवी नहीं, विश्वेश्वर की पत्नी है।"

"चुप रह बुढ़िया! ज्यादा बक-बक मत कर।"—वह व्यक्ति चिघाड़कर बोला।

और तभी टूटे हुए धनुष की तरह उछलकर विश्वेश्वर दरवाजे पर आ गया। हल्के अँधेरे में भी साफ दिखलायी दिया उसका गोरा शरीर।

तनकर बोला विश्वेश्वर—"क्या चाहिये आपको?"

महिषासुर जैसी आकृति का वह भयानक व्यक्ति कठोर स्वर में बोला—"तेरी नहीं, मुझे अपनी भैरवी की जरूरत है। मेरी सिद्धि का समय निकला जा रहा है। बलि देनी है उसकी। बुला उसे।"

"वह मेरी पत्नी है, तेरी भैरवी नहीं।"—अकस्मात् कठोर हो उठा विश्वेश्वर का स्वर।

यह सुनकर अट्टहास कर उठा वह नर-पिशाच। उसका दानव जैसा काला शरीर थर-थर काँपने लगा क्रोध से। एकाएक गहन अन्धकार में डूबा हुआ निस्तब्ध वातावरण भयानक आर्तनाद कर उठा। उसीके साथ मैंने देखा—विश्वेश्वर जमीन पर गिरकर पीड़ा से कराह रहा था। धरती खून से लाल हो उठी थी। चौड़े फाल का एक काफी लम्बा बरछा उसकी छाती में घुसा हुआ था। कुछ ही क्षणों में उसका शरीर हमेशा के लिए शान्त हो गया।

विश्वेश्वर के शव को लाँघकर वह भयानक कापालिक कमरे के भीतर उछल पड़ा। फिर आँखें घुमाकर चारों तरफ देखने लगा। कमरे के एक कोने में दीप-शिखा लगातार जल रही थी। सुहाग-शय्या पर पड़े बकुल, रजनीगन्धा और रातरानी के फूल मुरझाते

रहे। पीछे के दरवाजे से पीठ टेके खड़ी रही सुन्दरी अर्चना। उसकी हिरणी जैसी आँखों में सिहरनभरे आतंक, भय, असीम घृणा और कठोर संकल्प का अजीब-सा संमिश्रण था। गहरे निःश्वासों से उसका कठोर वक्ष-स्थल उद्वेलित हो रहा था। उसके नासा-रन्ध्र फड़क रहे थे और गुलाबी ओंठ थरथरा रहे थे। सुन्दर चेहरे पर भी कठोरता का भाव आ गया था।

उस समय वहाँ का दृश्य देखकर यमराज भी थमककर खड़ा हो जाता। बहती हुई हवा भी थम जाती सहमकर।

समय ही कितना लगा इन सबमें ? महाकाल की गोद में एक नगण्य-सा क्षण। लेकिन उसी नगण्य क्षण में एक व्यक्ति का भाग्य-लेख निर्धारित हो गया।

पलक झपकनेभर की देर में दरवाजा खोलकर अर्चना पीछे के गहन अन्धकार में बिजली की चमकती, बल खाती रेखा की तरह विलीन हो गयी। दूसरे क्षण ही पद्मा के कल-कल-नृत्य छन्द में—एक बेसुरी-सी आवाज उभरी—जिसने उस नवपरिणीता बहू की परिणति की सूचना दे दी ! विलाप करती हुई तूफानी हवा—खुले दरवाजे के रास्ते से पछाड़ खाकर अन्दर दाखिल हुई। कमरे में जलता हुआ माटी का दीपक भक् से बुझ गया।

और उसीके साथ मेरी नींद उचट गयी। हड़बड़ाकर उठ बैठा मैं। कमरे का बन्द दरवाजा न जाने कब और कैसे खुल गया था। छाती को एकदम से खाली करके आने-वाली गहरी साँस जैसी तुहिन-शीतल हवा—हूँ-हूँ करती हुई अन्दर आ रही थी।

अजीब सपना था। सुन्दर भी था और भयानक भी। लेकिन इतना साफ और स्पष्ट भी होता है सपना—मुझे मालूम नहीं था। अब भी आँखें बन्द करने पर बिल्कुल साफ-साफ देख पाता हूँ उसे।

सबेरा होनेवाला था। फिर नींद नहीं आयी मुझे। सोचने लगा—अर्चना कौन थी ? इस सपने का मतलब क्या था ? क्या यही रहस्य था ? और इसी रहस्य से परिचित कराने के लिये अघोरी ने मुझे खोपड़ी में भरी शराब पिलाई थी ? मेरा मन उद्विग्न हो उठा एकबारगी।

× × ×

दूसरे दिन बाबा से मिलने जब श्मशान पर गया तो मालूम हुआ कि वे नारायणपुर के श्मशान में साधना करने चले गये हैं। उनका कब लौटना होगा ? कहा नहीं जा सकता। उसी समय नारायणपुर पहुँचा मैं। कार्तिक का महीना था। गुलाबी ठंड पड़ने लगी थी। साँझ की कालिमा फैल चुकी थी चारों तरफ। एक अबूझ-सी खिन्नता बिखरी हुई थी वहाँ ! कहीं किसी जानवर की लाश सड़ रही थी। सड़ाँध से मेरा

फिर चकराने लगा। घाट के ऊपर आया तो देखा—दो-तीन चिताएँ जलकर बुझ चुकी थीं। मगर उनकी राखों से अभी भी धुएँ की स्याह लकीरें उठ रही थीं। वातावरण में गहरी निस्तब्धता थी। मैंने देखा—उसी घोर निस्तब्धता में बाबा शिवराम अघोरी ध्यान लगाये चुपचाप बैठे हुए थे पद्मासन की मुद्रा में। सामने शराब से भरी हुई वही रहस्यमयी खोपड़ी रखी हुई थी। कुछ देर से मैं खड़ा चुपचाप बाबा की ओर देख रहा था। सोचा, जब बाबा ध्यान से उठेंगे तो बातें करूँगा। साँझ की कालिमा रात्रि के गहन अन्धकार में बदल चुकी थी। चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। सहसा श्मशान का पुराना पीपल का पेड़—जोर-जोर से हिलने लगा। उसीके साथ कुश की झाड़ियों से सियारों के रोने की आवाज भी आने लगी।

मैं किसी अज्ञात भय से काँप उठा। कहीं कोई प्रेतलीला तो घटित न होगी। तभी उस निबिड़ अन्धकार में किसीकी घुटी-घुटी-सी आवाज सुनाई पड़ी। लगा, कोई दबे कण्ठ से रो रहा है। मगर दूसरे ही क्षण किसीके खिलखिलाकर हँसने की भी आवाज सुनाई दी। आतंकित हो उठा मैं।

रहस्यमयी खोपड़ी की कथा

निश्चय ही वह सब प्रेतों का ही कौतुक था। मेरी हिम्मत अब जवाब दे रही थी। वहाँ से जैसे ही भागने के लिए मुड़ा कि एकाएक मेरी नजर बाबा की ओर अपने-आप घूम गयी। देखा—खोपड़ी के चारों ओर चक्कर काटती हुई एक धूम्राकृति ऊपर की ओर उठ रही थी। कुछ ही क्षणों के बाद वह धूम्राकृति एक युवती के रूप में बदल गयी। एकबारगी चौंक पड़ा मैं! वह युवती और कोई नहीं, अर्चना ही थी, जिसे कुलवधूवाले रूप में देखा था मैंने। उस गहन अन्धकार में भी उसे बिल्कुल साफ देख रहा था मैं। उस समय उसके चेहरे पर वही भाव थे, जिसे मैंने सपने के अन्तिम चरण में देखा था—आतंक, भय और कठोर संकल्प से मिले-जुले भाव।

पीपल का पेड़ अब भी बुरी तरह हिल रहा था।

जोर-जोर से सियारों के रोने-कलपने की आवाज अब भी सुनाई पड़ रही थी।

बाबा ने धीरे-धीरे अपनी बन्द आँखें खोलीं। फिर अपने बेडौल सिर को उठाकर—सामने खड़ी अर्चना की ओर देखा। उन्हें मेरी उपस्थिति का ज्ञान नहीं था शायद। कुछ देर तक अर्चना की ओर देखने के बाद बाबा भारी स्वर में बोले—"तू मुक्ति चाहती है न! लेकिन अभी मुक्ति नहीं मिलेगी तुझे!........"

सहसा घोर अंधकार में डूबे हुए श्मशानी वातावरण में भयंकर आर्तनाद करती हुई एक चीख उभरी और निस्तब्धता को भेदती हुई बिखर गयी। उसके बाद सामने मैंने जो दृश्य देखा—उससे मेरे शरीर का सारा रक्त जम गया। मैं भय और आतंक से काँप उठा। मेरी आँखें फैल गयीं। अर्चना की उँगलियाँ बाबा के गले को कसती जा

रही थीं। उनकी जीभ बाहर निकल आयी थी। मुँह से गों-गों की आवाज आ रही थी। वे बुरी तरह छटपटा रहे थे। दूसरे ही क्षण मुँह से भलभलाकर ढेर सारा खून निकला और उनकी काया निर्जीव होकर जमीन पर लुढ़क गयी।

मेरी समझ में कुछ नहीं आया। उस समय मेरा मस्तिष्क सनसना रहा था। उस रहस्यमयी पैशाचिक लीला को देखकर वहाँ मुझसे रुका नहीं गया। दिशाहीन और लक्ष्यहीन होकर काले अँधियारे के बीच मैं वहाँ से भागा। जब घर पहुँचा तो उस समय रात के दो बजे थे। मगर यह क्या ?

अपने कमरे का दरवाजा जैसे ही मैंने खोला—तो एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं। रोमाञ्चित हो उठा सारा शरीर। मेरे सामने अर्चना खड़ी मुस्करा रही थी। वही रूप, वही रंग, वही लावण्य, वही सौन्दर्य और वही वेश-भूषा ! जैसा कि मैंने सपने में देखा था।

अभी मैं चीखकर भागने ही वाला था कि अर्चना का शहद में डूबा हुआ स्वर कानों में पड़ा—"डरिये मत ! मैं आपको कोई नुकसान नहीं पहुँचाऊँगी ! अन्दर आइये ···।"

यह शब्द सुनते ही न जाने कैसे मेरा सारा डर-भय खत्म हो गया और मैं यह भी भूल गया कि मेरे सामने एक प्रेतात्मा सशरीर खड़ी है।

अर्चना ने कहना शुरू किया—"मैं अत्यन्त दुखी और सन्तप्त आत्मा हूँ। सोचा था—अघोरी को मारकर मैं अपने-आपको उसके बन्धन से मुक्त कर लूंगी और प्रेतयोनि से भी मुक्त हो जाऊँगी। मगर ऐसा न हो सका। वह तो मर गया, लेकिन उसकी आत्मा अब मेरे पीछे पड़ गयी है। अब उससे कैसे मिलेगा त्राण ? हे भगवान् ! हे परमेश्वर ! अब क्या करूँ मैं ? कहाँ जाऊँ ? कहाँ मिलेगी मुझे शान्ति ?" इतना कहकर अर्चना सिर थामकर सिसकने लगी। दयनीय थी उसकी स्थिति उस समय।

"बोलो, मैं तुम्हारी कोई सहायता कर सकता हूँ ? तुम्हारे किसी काम आ सकता हूँ ? कुछ बोलो, कुछ कहो।"—मैंने हौले से पूछा।

अर्चना ने अपना सिर ऊपर उठाया। आँसुओं में डूबी हुई आँखों से मेरी ओर देखती हुई—भर्राये स्वर में बोली—"आप इस समय मेरी सहायता नहीं करेंगे तो भला कौन करेगा ? इसीके लिए तो सारी लीला करनी पड़ी मुझे।"

"कैसी लीला ? समझ में नहीं आया मेरे।"—मैंने पूछा।

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में अर्चना ने जो कुछ बतलाया उसे सुनकर एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं।

× × ×

"आज से दो सौ वर्ष पूर्व त्रिपुरा का भयंकर वनप्रान्त और दुर्गम घाटियाँ कापालिक-सम्प्रदाय के दुर्धर्ष साधकों का गढ़ था। मदिरा, मांस-भक्षण और पशुबलि-नरबलि उनकी

साधनाओं के मुख्य अंग थे। त्रिपुरा में आज भी भगवती त्रिपुरसुन्दरी का अति प्राचीन मन्दिर है। उसी त्रिपुरसुन्दरी के नाम पर उस बीहड़ स्थान का नाम त्रिपुरा पड़ा। कापालिकों की त्रिपुरसुन्दरी त्रिपुरभैरवी के रूप में इष्टदेवी थीं। वे अपनी इष्टदेवी की उपासना पंचमकार के माध्यम से किया करते थे। कापालिक-सम्प्रदाय में 'शवसाधना' सबसे ऊँची 'साधना' समझी जाती है। शवसाधना के ही समान एक और साधना है— कापालिक-सम्प्रदाय में—और वह है 'भैरवी साधना'। इन दोनों साधनाओं में तत्काल मरे हुए व्यक्ति का सद्यः शव और अक्षतयोनि कुमारी कन्या की आवश्यकता पड़ती है। अपनी इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कापालिक लोग रोते-कलपते परिवार के बीच से जबर्दस्ती शव उठा लाते थे। भय के कारण कोई विरोध नहीं कर पाता था। ऐसे ही किसी भी कुल को अथवा किसी भी परिवार की कुमारी कन्याओं को भी 'भैरवी' बनाने के लिए पकड़ लाते थे। फिर उसे भैरवी दीक्षा देकर— यौनाचार करते थे।

"उन्हीं दिनों कापालिकों का एक गुरु था। नाम था भैरवानन्द कापालिक। पूरे छह फुट का लम्बा-तगड़ा शरीर, काला रंग, सिर पर जटाजूट, गले में हड्डी की माला, हाथ में त्रिशूल और मानव-खोपड़ी, शराब में डूबी हुई लाल-लाल आँखें और भयानक चेहरा। मस्तक पर श्मशान-भस्म का त्रिपुण्ड्र और बीच में सिन्दूर का गोल टीका।

"कापालिक भैरवानन्द का साधना-क्षेत्र त्रिपुरा से लेकर ढाका तक था। ढाका में 'ढाकेश्वरी देवी' का प्राचीन शक्तिपीठ है। वहाँ से कुछ दूर पर पद्मा के तट पर उसका एक मठ था। दीपावली की रात्रि में उस मठ में हर वर्ष वह चक्रपूजा और भैरवी साधना करता था और अन्त में सिद्धि प्राप्त करने के लिए नरबलि भी देता था। ऐसे ही एक अवसर पर उसकी भेंट चक्रमणि भट्टाचार्य से हुई। काली के उपासक थे भट्टाचार्य महाशय। उसी कापालिक से काली के बीजाक्षर मन्त्र की दीक्षा ली थी उन्होंने। अर्चना चक्रमणि भट्टाचार्य की इकलौती सन्तान थी। गुरु-दक्षिणा के रूप में कापालिक ने अर्चना को माँग लिया। अर्चना को भैरवी बनाना चाहा था उसने। मन्त्र-दीक्षा लेने के कारण गुरु की भैरवी बनने में एतराज नहीं किया भट्टाचार्य महाशय ने। खुशी-खुशी अपनी सुन्दरी कन्या का हाथ थमा दिया कापालिक गुरु को। उस समय अर्चना की आयु ग्यारह वर्ष की थी। वह बराबर अपने पिता के गुरु को सहयोग देती रही उसकी साधना में। लेकिन जब वह सोलह वर्ष की युवती हुई तो कापालिक ने उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर कोई और तांत्रिक साधना करनी चाही, जिसके लिए वह तैयार नहीं हुई। जब यह बात उसने अपने पिता को बतलायी कि कापालिक उसका कौमार्य भंग करना चाहता है तो उन्होंने चट-पट अपनी बेटी का विवाह कर देना चाहा। मगर कोई भी ब्राह्मण-परिवार अपनी बहू बनाने को तैयार नहीं हुआ अर्चना को। लोगों का कहना था कि अर्चना कापालिक की भैरवी है और एक तांत्रिक भैरवी को अपने गोत्र में स्वीकार करने का मतलब है सर्वस्वनाश।

"बेटी का सामाजिक बहिष्कार और परिवार का अपमान सहन न कर सके चक्रमणि भट्टाचार्य और एक दिन अचानक उनकी हृदय-गति बन्द हो गयी हमेशा के लिए। उनके परिवार में अब केवल दो ही सदस्य थे अर्चना और उसकी माँ कल्याणी देवी। उन दोनों अनाथों का आश्रय बना विश्वेश्वर भट्टाचार्य। बाईस वर्ष का युवक था विश्वेश्वर भट्टाचार्य। सुन्दर, स्वस्थ और बुद्धिमान्। पद्मा के किनारे धान के बीस बीघे खेत थे उसके। परिवार में केवल माँ थी। किसी बात की कमी न थी माँ-बेटे को।

"माँ से परामर्श करके उसकी आज्ञा से विश्वेश्वर ने हमेशा के लिए हाथ थाम लिया अर्चना का। साधारण वातावरण में चुपचाप शादी हो गयी विश्वेश्वर और अर्चना की। जब यह समाचार कापालिक भैरवानन्द को मिला तो क्रोध और अपमान से भड़क उठा वह। वह नहीं चाहता था कि उसकी भैरवी किसीकी अंकशायिनी या शय्या-संगिनी बने।"

"फिर क्या हुआ ?" मैंने सहजभाव से पूछा।

"होगा क्या ? उसके बाद जो कुछ हुआ—उसे आपने स्वयं देखा था।" थोड़ा रुककर वह आगे बोली—"बस ! मुझे अपनी खोपड़ी चाहिए। इसीलिए आपसे सम्पर्क किया है मैंने। मेरी खोपड़ी वहाँ उस श्मशान में पड़ी है। उसे जाकर ले आइये आप। दया करिये मुझ पर।"

"वह खोपड़ी तुम्हारी है ?"

"हाँ ! मेरी ही है। जब मैंने पद्मा में कूदकर आत्महत्या करने की कोशिश की—तो उसी समय न जाने कैसे मुझे बचा लिया उस कापालिक ने। बेहोशी की अवस्था में थी मैं। उसी अवस्था में वह मुझे अपने मठ में ले गया। जब मुझे होश आया तो मैं अपना पिछला जीवन भूल चुकी थी। मुझे कुछ भी याद नहीं रहा। ऐसी स्थिति में उस कापालिक ने पूरे एक वर्ष तक मेरे साथ भैरवी साधना की और अन्त में दीपावली की रात्रि में मेरी बलि दे दी गयी। फिर मेरी खोपड़ी को सिद्ध कर अपने पास रख लिया उसने।"

एकाएक मेरे मस्तिष्क में स्वप्न का अन्तिम दृश्य घूम गया। बोला—"वह कापालिक वही तो नहीं—जिसने सुहागरात को तुम्हारे पति की हत्या कर तुमको अपने साथ ले जाना चाहा था ?"

"हाँ, हाँ, वही था वह नरपिशाच कापालिक ! भैरवानन्द !" अर्चना ने गालों पर ढुलक आये आँसुओं को पोंछते हुए कहा।

"फिर ?"

"फिर क्या ? मेरी सिद्ध खोपड़ी एक के बाद एक कापालिक साधकों के हाथ पड़ती रही। सभी ने समय-समय पर मेरी सिद्ध खोपड़ी के बल पर मुझसे काम लिया।

पचास वर्ष पहले शिवराम अघोरी के हाथ लगी मेरी खोपड़ी । मुझे पाकर उल्लसित हो उठा वह । मेरी सहायता से उसने बकुल के शरीर में प्रविष्ट हाकिनी पर अपना अधिकार करना चाहा । मगर ऐसा सम्भव न हो सका । हाकिनी की शक्ति के सामने मैं तुच्छ थी । फलस्वरूप मैं हो गयी उसके वश में ।"

"उसके बाद ?"

"उसके बाद—बकुल के शरीर के नष्ट होने पर फिर असहाय-सा हो जाना पड़ा मुझे शिवराम अघोरी के पास । क्योंकि मेरी खोपड़ी तो उसीके अधिकार में थी । जब मुझे यह मालूम हुआ कि हाकिनी आपके अधिकार में अब है तो प्रफुल्ल हो उठी मैं । किसी प्रकार शिवराम अघोरी को प्रेरित कर काशी ले आयी मैं । उसके बाद की घटना आप जानते ही हैं ।"

"मुझसे आपका इतना क्यों लगाव है ? क्या चाहती हैं आप मुझसे ?" मैंने पूछा ।

"अपनी मुक्ति······अपनी आत्मा का उद्धार ·····।"

"यह मुझसे कैसे सम्भव होगा ? मैं तो कुछ जानता-समझता नहीं । मैं कोई तान्त्रिक या साधक भी नहीं हूँ । फिर कैसे क्या कर सकता हूँ मैं तुम्हारे लिए ।"

"आप मेरे लिए सब कुछ कर सकते हैं । तभी तो शिवराम अघोरी के द्वारा अपनी खोपड़ी में शराब पिलवाकर अपने सम्बन्ध में जानकारी दी । ताकि आप वास्तविकता समझ लें ।"

"मगर इससे लाभ क्या ? क्या होगा वास्तविकता जानकर ?"

"बहुत कुछ होगा ।"

"कैसे ?"

"समय पर मालूम हो जायेगा आपको । पहले जाकर श्मशान में पड़ी मेरी खोपड़ी ले आइये ।" इतना कहकर अर्चना अपलक शून्य में निहारने लगी । तभी टन्-टन् कर भोर का चार बजा । अचानक उसका पार्थिव शरीर मेरे देखते ही देखते धूम्राकृति में बदल गया । फिर वह धूम्राकृति भी गायब हो गयी ।

× × ×

अर्चना की प्रेतात्मा आखिर मुझसे चाहती क्या है ? समझ नहीं पा रहा था मैं । शुरू से लेकर अन्त तक सब कुछ माया-जाल-सा लग रहा था मुझे । यदि दूसरे दिन श्मशान में जाकर मैं खोपड़ी न लाया होता तो यह प्रसंग यहीं समाप्त हो जाता । मगर नहीं, मुझे तो एक भयंकर विपत्ति जो मोल लेनी थी । अघोरी शिवराम की प्रेतात्मा के चक्कर में फँसना था । जब मैंने श्मशान में पड़ी खोपड़ी उठाई—निश्चय ही उसी समय कहीं दूर अदृष्ट ने ठहाका लगाया होगा, जिसे मैं सुन न सका । खोपड़ी को लाने की जरा-सी भी इच्छा नहीं थी । मगर न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत

होकर खोपड़ी श्मशान से लाकर अपने कमरे में रख दी मैंने। उसी रात सपने में अर्चना को देखा मैंने।

उसका रूप, रंग और सौन्दर्य पहले से अधिक खिल गया था। मेरी ओर देखकर खिलखिलाकर हँसने लगी वह। बड़ी ही विचित्र और रहस्यमयी हँसी थी उसकी। समझ न सका मैं। उसी प्रकार हँसते हुए उसने कहा—"प्रेतयोनि से मुझे मुक्ति मिल गयी। अब कुछ समय तक सूक्ष्मलोक में रहूँगी। फिर आपके जगत् में जन्म लेने का प्रयास करूँगी।" फिर थोड़ा रुककर आगे बोली वह—"आपने मेरा बहुत कल्याण किया है। आपके इस उपकार को कभी भी भूल न सकूँगी मैं। जन्म लेने के बाद समय आने पर अवश्य मैं आपसे सम्पर्क स्थापित करूँगी! फिर मुझसे जो भी होगा वह करूँगी मैं आपके लिए।"

अचानक मेरी नींद उचट गयी। सपना टूट गया उसीके साथ। सबेरे जब खोपड़ी पर नजर पड़ी तो स्तब्ध रह गया मैं। वह शराब के बजाय खून से भरी हुई थी। बिल्कुल ताजा गरम-गरम खून। घबराकर बाबा सोमारूराम के पास पहुँचा। उस समय वे तन्मय होकर कोई भजन गुनगुनाते हुए चिता की अधजली लकड़ियाँ बीन रहे थे। मैंने एक ही साँस में सारी बातें और सारी घटनाएँ सुना डालीं। बाबा निर्विकार भाव से सुनते रहे और लकड़ियाँ बीनते रहे। फिर वहीं एक ओर जमीन पर बैठकर एक बार गहरी दृष्टि से मेरी ओर देखा उन्होंने। बड़ी ही रहस्यमयी दृष्टि थी उनकी। मैं समझ न सका। थोड़ी देर बाद गम्भीर स्वर में बाबा बोले—"तू तो बुरी तरह शिवरमवा के प्रेत के चक्कर में फँस गया रे······।"

"ऐं! क्या कह रहे हैं आप?"

बाबा हँस पड़े। मगर उस हँसी में कड़वाहट थी।

"श्मशान से खोपड़ी लाकर तूने अच्छा नहीं किया।" बाबा आगे बोले—"अघोरी की आत्मा से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए अर्चना यही तो चाहती थी कि तू वहाँ से खोपड़ी लाकर अपने पास रख ले। क्योंकि जब तक खोपड़ी श्मशान की सीमा में रहती—तब तक अर्चना को मुक्ति न मिल पाती। जानते हो······इससे क्या हुआ? अर्चना तो प्रेतयोनि से मुक्त हो गयी, शिवराम के चंगुल से भी छूट गयी, मगर तू फँस गया शिवराम की प्रेतात्मा के मायाजाल में······समझे।"

बाबा की बात सुनकर मेरे सारे शरीर में कँपकँपी होने लगी। पसीना छूटने लगा। मुँह सूख गया भय से। हकलाते हुए बोला—"अब क्या होगा बाबा? कैसे छुटकारा मिलेगा मुझे?"

"और पीछे पड़ अघोरियों, कापालिकों और तमोगुणी तांत्रिकों के। कर खोज!"

बाबा व्यंग्यभरे स्वर में बोले—"ठीक है। आज अष्टमी है न! अमावस्या की रात में यहीं श्मशान में आना। रास्ता बतलाऊँगा।"

मुझसे आगे कुछ बोला न गया। कुछ कहा भी न गया। वापस लौट आया मैं।

अमावस्या को सात दिन बाकी थे। मगर वह सात दिन खोज और अनुभव की दृष्टि से अत्यधिक मूल्यवान् सिद्ध हुए मेरे लिए। उसी अष्टमी की रात! साँझ होते ही मेरा पूरा कमरा अजीब-सी दुर्गन्ध से भर गया। न जाने कैसी दुर्गन्ध थी वह? समझ में नहीं आया। फिर लगा, जैसे कोई मेरे कमरे में इधर-उधर टहल रहा है भारी कदमों से। सहसा मेरी नजर घूम गयी कोने में रखी हुई खोपड़ी की ओर। देखा—वह अपने स्थान पर धीरे-धीरे हिल रही थी। फिर वह थोड़ा ऊपर उठी। लगा, जैसे किसीने दोनों हाथों से उसे उठाया हो। मैं मुँह बाये पथरायी आँखों से देख रहा था वह कौतुक। फिर धीरे-धीरे खून से भरी हुई वह खोपड़ी अपने-आप खाली हो गयी। निश्चय ही किसी अशरीरी ने अपने दोनों अदृश्य हाथों से खोपड़ी उठाकर रक्तपान किया था। दूसरे क्षण यथास्थान खोपड़ी रख दी उस अशरीरी ने और उसीके साथ भक् से कमरे में जलता हुआ ६० पावर का बल्व भी अपने-आप बुझ गया। अन्धकार से भर गया कमरा। आतंक और भय से भर उठा मैं। मगर कमरे से निकलकर भागा नहीं। हाँ। एक बार भागने की कोशिश अवश्य की—मगर भाग न सका। लगा, जैसे किसीने मेरे दोनों पैरों को कसकर पकड़ लिया हो। मैं पाषाणवत् बैठा देख रहा था सब कुछ! सहसा कोने में जहाँ खोपड़ी रखी हुई थी, तीव्र रोशनी होने लगी। उस रोशनी का रंग सुनहरा था और वह गोल दायरे में थी। वह रहस्यमयी सुनहरी रोशनी वहाँ उस कोने में कहाँ से आ रही थी—यह मेरी समझ में नहीं आ पा रहा था। धीरे-धीरे उस रोशनी के गोल दायरे में अद्भुत और साथ ही लोमहर्षक तथा भयानक दृश्यों की सृष्टि होने लगी। मैं उन दृश्यों को उसी प्रकार देख रहा था—जैसे लोग टी० वी० में चित्र देखते हैं।

सबसे पहले मैंने एक मैदान देखा। काफी लम्बा-चौड़ा था वह मैदान, जिसकी जमीन दलदली थी और तमाम कीचड़ से भरी थी। मैदान जहाँ समाप्त होता था वहाँ एक घाटी थी। बिल्कुल सुनसान घाटी थी वह, जिसके एक ओर एक नदी बह रही थी और दूसरी ओर छोटी-छोटी पहाड़ियों का लम्बा सिलसिला था। नदी का पानी बिल्कुल खून जैसा था—और उसमें तमाम मांस के लोथड़े और कंकाल तैर रहे थे। नदी के किनारे काफी दूर तक काफी लम्बे-लम्बे पेड़ों के घने जंगल थे और उस जंगल के सभी पेड़ सूखे थे और उनकी सूखी डालियों पर भी मांस के खून से सने लोथड़े लटक रहे थे। बड़ा ही बीभत्स दृश्य था वह। जी मितलाने लगा मेरा। अब मेरे सामने जंगल के पार का दृश्य था। मैंने देखा, घाटी वहीं समाप्त हो जाती थी और घाटी

जहाँ समाप्त होती थी, वहाँ एक बहुत ही सुन्दर बाग था, जिसमें तरह-तरह के रंग-बिरंगे सुगन्धित फूल खिले हुए थे। चारों ओर ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे वृक्ष थे। बाग के बीच में एक सरोवर भी था, जिसका पानी स्वच्छ और निर्मल था। बाग के एक तरफ एक बड़ी-सी झोपड़ी थी जिसके चारों ओर केले के पेड़ थे। झोपड़ी के भीतर काफी तेज रोशनी हो रही थी। मैंने उस रोशनी में देखा—तख्त पर व्याघ्रचर्म बिछा था, जिस पर एक बालक ध्यान की मुद्रा में, पद्मासन लगाये बैठा हुआ था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उस योगी-साधक जैसे लग रहे बालक के सिर पर लम्बी-लम्बी जटायें थीं। लेकिन दाढ़ी-मूंछ सफाचट थी। वह केवल एक कौपीन पहने हुए था। उसके चेहरे पर देवताओं जैसा तेज था। उसकी अधखुली आँखों से भी प्रकाश की किरणें फूट रही थीं। वह मन्द-मन्द मुस्करा भी रहा था। उस मुस्कराहट में प्रकृति का सारा सौन्दर्य भरा था जैसे। सहसा मुझे एक विचित्र-सी आवाज सुनाई दी। ऐसा लगा, जैसे कोई मरणासन्न व्यक्ति कराह रहा है। धीरे-धीरे वह आवाज ऊँची होती चली गयी। मैंने प्रश्नसूचक दृष्टि से चारों तरफ देखा। मगर कोई दिखलायी नहीं दिया मुझे। फिर वह कराहने की आवाज बन्द हो गयी और एक भयानक नीरवता छा गयी वहाँ। वह बालकरूप सन्त पूर्ववत् बैठा रहा अपने आसन पर। एकाएक उस निस्तब्ध वातावरण में एक चीख उभरी—और उसीके साथ रोने-धोने की और चीखने-चिल्लाने की आवाजें सुनाई देने लगीं। लगता था, जैसे सैकड़ों लोग मिलकर एक साथ विलाप कर रहे हों।

अब मैं दो तरह के अलग-अलग दृश्यों को एक साथ देख रहा था। एक दृश्य तो था झोपड़ी के भीतर का और दूसरा दृश्य था उस घाटी का, मैदान का और खूनी नदी का। सामूहिक विलाप का स्वर उस मैदानी इलाके और घाटी में गूंज रहा था। सहसा उस झोपड़ी में एक व्यक्ति प्रकट हुआ। लगा, जैसे किसीने जबर्दस्ती उस व्यक्ति को झोपड़ी के भीतर ढकेल दिया हो। उस व्यक्ति की हालत काफी दयनीय थी। उसकी वेश-भूषा किसी ज्योतिषी और तान्त्रिक जैसी थी। अभी मैं उस व्यक्ति को देख ही रहा था कि—उसी प्रकार तीन-चार व्यक्ति और झोपड़ी के भीतर आ गये। उन लोगों की दशा दयनीय और शोचनीय थी। सभी के चेहरे पर करुणा और पश्चात्ताप का भाव था और सभी के शरीर भय से थर-थर काँप रहे थे। सहसा मेरे सामने से वे सभी दृश्य लुप्त हो गये। गोलाकार रोशनी का दायरा भी खत्म हो गया। मगर मैं पहले की ही तरह पत्थर का बुत बना अपनी जगह पर बैठा हुआ था। थोड़ी देर बाद लगा—जैसे कोई व्यक्ति मेरे निकट जोर-जोर से साँस ले रहा हो। धीरे-धीरे साँस लेने की आवाज ऊँची होती जा रही थी और अब स्पष्ट रूप से सुनाई देने लगी थी। महसूस होता था कि जैसे कोई व्यक्ति लम्बी दौड़ के बाद हाँफ रहा हो। सिर घुमाकर अँधेरे में देखा—तो एकबारगी स्तब्ध हो गया मैं। उस घोर अंधकार में भी उस

व्यक्ति को ठीक-ठीक पहचान गया था मैं। वह अघोरी था। शिवराम अघोरी। वह लाल-लाल आँखों से मुझे घूर रहा था। उसके चेहरे पर क्रोध, घृणा और बदला लेने का भाव था। भय के कारण आँखें बन्द कर लीं मैंने और तभी अपने-आप कमरे का बल्ब जल उठा और कमरे में रोशनी फैल गयी।

× × ×

दूसरे, तीसरे और चौथे दिन भी वही घटना घटी। ताजे खून से भर जाया करती थी खोपड़ी और कोई अदृश्य व्यक्ति अपने अदृश्य हाथों से उसे उठाकर पी जाया करता था उस शोणित को। मगर कोई दृश्य फिर दिखलाई नहीं दिया मुझे उसके बाद! अमावस्या की रात्रि में खोपड़ी ले जाकर मैंने दे दी सोमारूराम बाबा को। उन्होंने खोपड़ी का क्या किया—यह तो मुझे नहीं मालूम—लेकिन हाँ! उस दिन से कोई उत्पात नहीं हुआ—और न तो कोई घटना ही घटी फिर।

बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन औघड़ी चमत्कारों और अविश्वसनीय औघड़ी घटनाओं ने मेरे अवचेतन मन को काफी हद तक प्रभावित किया था। कभी-कभी मेरी मानसिक स्थिति विचित्र हो जाती थी और ऐसी स्थिति में—देश-काल से परे मैं अपने-आपको ऐसे वातावरण में पाता था—जहाँ मुझे गहरी शून्यता का अनुभव होता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि संसार के प्रति धीरे-धीरे मेरा आकर्षण समाप्त हो गया और मेरा अधिकांश समय श्मशान के बगलवाले लालीघाट पर व्यतीत होने लगा। कभी-कभी तो पूरी रात बैठा रह जाता था लालीघाट की धूलभरी सीढ़ियों पर।

× × ×

हल्के कुहरे की पर्त में लिपटी साँझ की कालिमा धीरे-धीरे गहरी होती जा रही थी। श्मशान में नीरवता छायी हुई थी। कभी-कदा कुत्तों के भूँकने की आवाज उस नीरवता को भंग कर देती थी। कुछ देर पहले हा-हा-कार कर जलती हुई चिताएँ अब मुट्ठीभर राख में बदल चुकी थीं। उस समय पूरे श्मशान में केवल एक चिता जल रही थी। वह किसी युवक की चिता थी जिसकी ताजी लाश को—उसके बूढ़े बाप ने अपने कमजोर बाजुओं से उठाकर—चिता की धधकती आग में रखा था। लाश रखते समय मैंने उस बूढ़े की तरफ देखा। उसकी सूनी और कमजोर आँखों में आँसू तैर रहे थे। चेहरे पर शोक और वेदना की स्याही पुती हुई थी और हाथ काँप रहे थे। उसके समीप ही एक जवान औरत खड़ी सिसक रही थी, जिसकी गोरी कलाइयों में काँच की लाल चूड़ियाँ थीं। निश्चय ही वह औरत—मरनेवाले उस युवक की पत्नी थी। मैंने देखा—लाश जैसे ही चिता पर रखी गयी, उसने अपने दोनों हाथों को पत्थर पर पटक दिया। काँच की लाल चूड़ियाँ टूटकर चारों तरफ बिखर गयीं। चूड़ियों के टूटने के साथ ही उस विधवा युवती की सिसकी और तेज हो गयी।

●

योगी भूपेन्द्रनाथ सान्याल और साधना-चर्चा

कालीघाट की धूलभरी सीढ़ियों पर बैठा मैं इन तमाम कारुणिक दृश्यों को, चिता की लाल-पीली लपटों की रोशनी में चुपचाप देख रहा था। तभी याद हो आया भूपेन्द्रनाथ सान्याल का प्रवचन। सान्याल महाशय श्मशानघाट के ऊपर हरिश्चन्द्र रोड के एक मकान में निवास करते थे। जब कभी मन में वैराग्य की भावना उत्पन्न होती थी तो कभी-कदा उन्हींके पास चला जाया करता था मैं। सान्याल महाशय योगी थे और साधक भी। तन्त्र-दर्शन के अनुभवी विद्वान् तो थे ही। उनका कहना था—मनुष्य संसार में अकेला आता है, अकेला रहता है और एक दिन संसार को छोड़कर अकेला ही चला भी जाता है। मानव-जीवन अति मूल्यवान् है और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है मानव-शरीर। इन दोनों का उपयोग 'सत्य' की खोज में करना चाहिए।

इस संसार में कोई अकाट्य सत्य है तो केवल मृत्यु ! जी हाँ ! केवल मृत्यु ! परमात्मा या ईश्वर की सत्ता है या नहीं, यह कोई निश्चित रूप से बतला नहीं सकता। ईश्वर सत्य हैं या नहीं—इसे भी कोई निश्चित रूप से जानता-समझता नहीं। मगर मृत्यु – एक निश्चित कटु और ध्रुव सत्य है। इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता, कोई झुठला भी नहीं सकता। इसके लिए न कोई विवाद है। सान्याल महाशय का कहना था—वास्तव में हम जिसे जीवन समझते हैं, वह सत्य जीवन नहीं है। यदि हम जन्म से मृत्यु तक की यात्रा को ही जीवन समझने लग जायेंगे तो सत्य और वास्तविक जीवन से वंचित रह जायेंगे। जन्म तो सभी को मिलता है। मगर सबसे बड़ी भूल यह है कि हम जन्म को ही जीवन समझ बैठते हैं। जिसे हम जीवन समझते हैं, वास्तव में वह केवल एक जीवन पाने का अवसर है। मूल्यवान् अवसर ! एक सम्भावना है। एक बीज है। मगर उस बीज को लाखों-करोड़ों में कोई एक व्यक्ति ही अपने-आपमें अंकुरित कर पाता है। जब वही बीज अंकुरित होकर फूल बनता है तो उसमें से परमात्मा की सुगन्ध निकलती है और तब हम उस व्यक्ति को 'भगवान्' कहकर पुकारते हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, क्राइस्ट, महावीर आदि महापुरुष हमारे जैसे ही साधारण पुरुष थे। वे अपने भीतर छिपे बीज को अंकुरित करके ही अवतीर्ण और युगपुरुष बने।

हम भी उनकी ही तरह अपने जीवन-बीज को अंकुरित कर सकते हैं। मगर उसके लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि हमें जब तक स्मरण न आये कि हम जिस मार्ग पर चल रहे हैं, जिस दिशा में हमारे कदम बढ़ रहे हैं—वह एकदम गलत हैं।

जिसे हम जीवन समझते हैं, वह रोज-रोज और धीरे-धीरे मरने के सिवा और कुछ नहीं है। लम्बी मृत्यु को जीवन नहीं कहा जा सकता। जीवन के जितने क्षण हम गँवा देते हैं—उनको वापस पाने का कोई उपाय नहीं है, कोई रास्ता नहीं है। जीवन एक अवसर है, जिसको हम किसी भी रूप में परिवर्तित कर सकते हैं—धन-सम्पत्ति के रूप में, यश-कीर्ति के रूप में, मान-प्रतिष्ठा के रूप में। मगर मृत्यु आकर सामने खड़ी होती है तो वे सब व्यर्थ हो जाते हैं। इन सबसे केवल हमारे अहंकार की ही तृप्ति होती है। लेकिन मृत्यु के सामने सब कुछ टूटकर बिखर जाता है।

जीवन व्यर्थ नहीं गया, इसका निर्णय हम कैसे कर सकते हैं? यह पूछने पर सान्याल महाशय ने कहा—"जीवन के अवसर को जिस रूप में परिवर्तित किया गया हो, मृत्यु जब सामने आकर खड़ी हो, तो वह व्यर्थ न हो जाय, उसकी सार्थकता बनी रहे—बस, यही एकमात्र कसौटी है। मृत्यु के सामने जो सार्थक है, वास्तव में वही सार्थक है। शेष सब व्यर्थ है। हर समय और हर क्षण हमें इस बात को सोचते रहना चाहिए कि जब हमारा जीवन अपने अन्तिम क्षण पर खड़ा होगा—तो जीवनभर हमने जो कमाया है, जो एकत्र किया है, उसकी सार्थकता उस समय मृत्यु के सामने सिद्ध होगी या नहीं। अगर नहीं होगी तो आज इसी क्षण हमें सचेत और सतर्क हो जाना चाहिए और उस दिशा में कदम उठा लेना चाहिए। जहाँ हमें ऐसी सम्पदा, ऐसी शक्ति और ऐसी ऊर्जा मिल सके जिसकी सार्थकता मृत्यु के सामने बनी रहे। वह सम्पदा, वह शक्ति और वह ऊर्जा किसी गुरु के चरणों में बैठकर नहीं पायी जा सकती। दान के रूप में भी नहीं मिल सकती और न तो उसकी चोरी ही की जा सकती है।

"जीवन कहीं भ्रान्त है और कहीं गलत। दिशाएँ हमें ऐसे मार्गों पर ले जाती हैं—जो हमें कहीं नहीं पहुँचाते। जीवनभर हम उन्हीं मार्गों पर भटकते ही रहते हैं। इसका भी बोध हमें होना जरूरी है। हमें इस बोध को अपने भीतर पैदा करने के लिए हर समय और हर क्षण मृत्यु का स्मरण करना होगा। उसे हर क्षण अपने सामने रखकर जीवन को तौलना होगा और इनके साथ अपनी आत्मा से बराबर पूछते रहना होगा कि हमने क्यों जन्म लिया है? हम क्यों जी रहे हैं? इससे कुछ मिलेगा? जब ये सारे प्रश्न घनीभूत होकर मन के अन्तराल में खड़े हो जायेंगे तभी हमारे जीवन में धर्म का उदय होगा। तभी हम समझ पायेंगे कि शरीर 'मृत' होनेवाला है, एक दिन वह मृत होगा। लेकिन उसके भीतर निवास करनेवाली आत्मा 'अमृत' है—यानी कभी नहीं मरनेवाली है। हमारे भीतर उस अमृत को पाने की वास्तविक आकांक्षा तब पैदा होगी, जब कि हमारा वर्तमान जीवन अपनी पूरी व्यर्थता में स्पष्ट न हो जाय। हमारे जीवन का ढंग, सोच-विचार व चिन्तन-मनन करने के ढंग और प्राणों की गति पूरी तरह व्यर्थ सिद्ध न हो

जाय। जब तक हमें यह समझ में न आने लगे कि हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वह सब व्यर्थ और निरर्थक है।

"मृत्यु का कोई भरोसा नहीं। कोई निश्चित समय भी नहीं। आखिर एक दिन हमारे सामने आकर खड़ी होगी ही। क्यों न उसकी उपस्थिति की अनुभूति आज और इसी क्षण कर लें। आज ही हम सोचें कि कल सबेरे हम नहीं उठेंगे। एक दिन तो ऐसा सबेरा होगा ही जब हम नहीं होंगे।

"यदि हम मृत्यु का हर क्षण चिन्तन करने लग जायँ और हर समय उसका सामना करने के लिए तैयार रहें तो कुछ ही दिनों में हमारे जीवन की गति और दिशा बदल जायेगी। जीवन कुछ से कुछ होने लगेगा।

"हमारी जो साँसें मृत्यु की दिशा में चल रही थीं, वे सत्य और शाश्वत जीवन की दिशा में चलने लग जायेंगी और अन्त में एक ऐसा क्षण आयेगा, जब कि हमारे सामने जीवन का एक नया द्वार खुल जायेगा। वह द्वार हमें अमृत की ओर ले जायेगा और तब हमारे जीवन में एक नयी खोज की प्यास अपने-आप शुरू हो जायेगी। जीवन में जो कुछ पहले चल रहा था, वह सब वैसा ही चलता रहेगा, कोई फर्क नहीं पड़ेगा। मगर जीवन के किनारे-किनारे एक नयी गति भी शुरू हो जायेगी। धीरे-धीरे हम यह अनुभव करने लगेंगे कि काम तो हम वही सब कर रहे हैं, जो पहले कर रहे थे, लेकिन प्राण हमारे इन कामों के साथ न रहें। अब मात्र हमारा शरीर ही इन कामों के साथ है। हमारी आत्मा ने किसी और दिशा को स्वीकार कर लिया है, उसने अपने कदम परमात्मा की ओर बढ़ा दिये हैं।

"आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही तन्त्र का शक्ति-साक्षात्कार है। आत्मशक्ति ही एकमात्र तन्त्र की पराशक्ति है। लेकिन आत्मतत्त्व की उपलब्धि तभी सम्भव है जब कि अन्तःकरण शुद्ध हो। शुद्ध अन्तःकरण में ही पराशक्ति का प्राकट्य होता है।"

"मगर यह सम्भव कैसे है?"

"तुम यह समझने का प्रयास करो कि 'आत्मा' एक स्वतन्त्र सत्ता है। शरीर, मन और आत्मा। शरीर परतन्त्र है, वह कभी भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मन भी परतन्त्र है, मगर प्रयास से स्वतन्त्र हो सकता है। आत्मा स्वतन्त्र है—वह कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकती।"

थोड़ा रुककर सान्याल महाशय ने आगे कहा—"तन्त्र के जितने भी दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त हैं, एक सीमा तक वे 'गीता' पर आधारित हैं। जैसे गीता के इस श्लोक के अर्थ पर ध्यान दो—

'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥'"

"इसका क्या अर्थ है ?

"इसका अर्थ है कि शरीर को छोड़कर जाते हुए को, अथवा शरीर में स्थित हुए को और तमाम विषयों को भोगते हुए को, अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानी लोग नहीं जानते।

"सचमुच नहीं जानते। अपने इकलौते बेटे की लाश को कमजोर बाजुओं से उठाकर चिता पर रखनेवाले बाप को नहीं मालूम कि उसका बेटा कौन है। पत्थर पर पटककर अपने सुहाग की चूड़ियाँ तोड़नेवाली पत्नी भी नहीं जानती कि उसका पति कौन है ? वास्तव में कोई किसीको नहीं जानता। माँ-बाप न अपने बेटे को जानते हैं और न बेटा अपने माँ-बाप को जानता है। पति न अपनी पत्नी को जानता है और न तो पत्नी ही अपने पति को जानती है। सर्वत्र अज्ञानता है। गीता में भगवान् ने कहा है—"शरीर को छोड़कर जाते हुए को···। जब शरीर छूटता है, समझने की बात है। हमारा शरीर बहुत बार छूटा है और आपका भी शरीर न जाने कितनी बार छूटा है। मगर वह क्षण चूक जाता है। इसलिए कि शरीर छूटने के पहले यानी आत्मा का शरीर से अलग होने के पहले हम और आप बेहोश हो जाते हैं। बेहोशी तीन प्रकार की होती है—शरीर की बेहोशी, मन की बेहोशी और आत्मा की बेहोशी। हम और आप मृत्यु के पहले आत्म बेहोशी की अवस्था में चले जाते हैं। पहले दो प्रकार की बेहोशी में हमारी चेतना, प्रयास करने पर वापस लौट आ सकती है। मगर तीसरे प्रकार की बेहोशी में नहीं।

"जब कभी कोई आदमी मरता है तो मरने के पहले ही बेहोश हो जाता है वह। उसकी मृत्यु बेहोशी में होती है। एक विशेष प्रकार की गहरी मूर्च्छा की स्थिति में होती है और यही एकमात्र कारण है कि हमको, आपको अथवा किसीको भी शरीर से आत्मा को अलग होने का—यानी अपनी मृत्यु का ज्ञान अथवा अनुभव नहीं हो पाता। मृत्यु की रहस्यमयी घटना मरनेवाले के लिए अनजानी रह जाती है।

"मरनेवाला आदमी मरने के पहले—शरीर छोड़ने के पहले—मूर्च्छित हो जाता है और यही कारण है कि मृत्यु के समय जो अनुभव घटित होता है—उसकी जानकारी उसे नहीं हो पाती। शरीर आत्मा से अलग होता है—और आत्मा शरीर से अलग होती है। इन्द्रियरूपी फूल पीछे पड़े रह जाते हैं। लेकिन सूक्ष्म संस्कारों, सूक्ष्म वासनाओं, सूक्ष्म विचारों, भावों और सूक्ष्म भावनाओं की सुगन्ध आत्मा में लिपटकर उसके साथ नयी यात्रा पर निकल पड़ती है और जब आत्मा नवीन शरीर धारण करती है तो वह सुगन्ध फिर इन्द्रियों के माध्यम से प्रकट हो जाती है। मगर यह घटना मरनेवाले की समझ में नहीं आ पाती, क्योंकि वह उस समय मूर्च्छित रहता है।"

"मृत्यु के क्षण हम मूर्च्छित क्यों हो जाते हैं ?"

सान्याल महाशय ने कहा—"जीवन की एक प्राकृतिक व्यवस्था है और उस व्यवस्था के अनुसार पीड़ा और दुःख को झेला जा सकता है एक सीमा तक। लेकिन जब वही दुःख, कष्ट, पीड़ा असह्य हो जाती है, प्राकृतिक व्यवस्था की सीमा के बाहर हो जाती है—तो वहीं मूर्च्छा आ जाती है। हम बेहोश हो जाते हैं। इसलिए जब कभी कोई आदमी यह कहता है कि वह असह्य दुःख, कष्ट और असह्य पीड़ा में है तो वह आदमी गलत कहता है। क्योंकि असहनीय दुःख और असहनीय पीड़ा या वेदना में आदमी कभी भी होश में नहीं रह सकता। वह तत्काल बेहोश हो जाता है। होश तभी तक रहता है जब तक सहन करने योग्य शक्ति आदमी के पास होती है। जितना गहरा आघात होगा उतनी गहरी मूर्च्छा भी होगी। वास्तव में दुःख, कष्ट, पीड़ा और वेदना का असहनीय हो जाना ही मूर्च्छा है और तुमको मालूम होना चाहिए कि मृत्यु सबसे बड़ी पीड़ा है, वेदना है, और है सबसे बड़ा दुःख। क्योंकि आदमी डरता है अपने-आपके मिटने से, नष्ट होने से। दुःख मृत्यु का कारण नहीं है। कारण है, अपने को मिटने से डरना।

"मैं मिटा। मेरा अस्तित्व समाप्त हो रहा है। संसार से मेरा सम्बन्ध टूट रहा है—इससे जो भय, पीड़ा, सन्ताप आदि पैदा होता है, उसीके कारण आदमी का चित्त मूर्च्छित हो जाता है। इसीको कहते हैं 'अचेतन मृत्यु'।"

"मृत्यु के समय मूर्च्छा से बचने का क्या कोई उपाय है ?"

सान्याल महाशय ने कहा—"जिन्होंने अपने जीवन में समर्पण की कला साधी हो, जो समर्पण-भाव को उपलब्ध हुआ हो वह मृत्यु के समय कभी भी मूर्च्छित न होगा। क्योंकि उसने मिटने का विज्ञान जान लिया है। वह पहले से ही तैयार बैठा है मिटने के लिए। जिसने योग की साधना की है, जिसने तन्त्र की साधना की है, जिसने समाधि में प्रवेश किया है, ऐसे लोग मृत्यु के समय सहज भाव से तैयार हो जाते हैं मिटने के लिए। क्योंकि वे इस बात से पूर्ण रूप से परिचित हो जाते हैं कि उनका होना ही पीड़ा है। उनका मिटना ही आनन्द है। जो समर्पण-भाव को उपलब्ध हैं—वे जानते हैं कि मृत्यु किसीको मिटाती नहीं, किसीके अस्तित्व को नष्ट नहीं करती। वह तो मरनेवाले के लिए एक नया द्वार खोलती है। लेकिन नया द्वार उसीके लिए खुलता है—जो मरते समय होश में रहते हैं। एक बात और है—मृत्यु के समय शरीर छोड़कर जानेवाले को भी हम नहीं जान पाते हैं, क्योंकि हम बेहोश होते हैं। हम तभी जान सकेंगे जब मृत्यु में होश सधे।"

"यह कैसे होगा ?"

सान्याल महाशय ने कहा—"अभ्यास से। इसका इतना अभ्यास करना चाहिए कि हम चेतन की सीमा लाँघकर अचेतन में चले जायँ। इसलिए गीता की तरह तन्त्र-योग भी दो शब्दों का उपयोग करता है—पहला शब्द है वैराग्य और दूसरा शब्द है अभ्यास। (शरणागत भाव, वैराग्य और अभ्यास इन तीनों विषयों पर आगे विस्तार से चर्चा की जायेगी।)

"मृत्यु के समय हम अपने आपको तभी होश में रख पायेंगे जब जीवनभर मृत्यु का अभ्यास किया हो—और वह अभ्यास इतना गहरा हो गया हो कि मृत्यु सामने आकर खड़ी हो जाय तब भी चित्त मूर्च्छित न हो। अभ्यास के मार्ग से अचेतन अवस्था तक पहुँचना इसके लिए आवश्यक है। इसलिए समर्पण-भाव का गहन-से-गहन प्रयोग करना चाहिए। हम समर्पण-भाव की गहराई में जितना उतर जायेंगे, उतना हम अपने-आपको खोते भी जायेंगे। एक दिन वह हमारा 'खोना' एकत्र हो जायेगा—जिसका परिणाम यह होगा कि जब हम मरेंगे तो होशपूर्वक मरेंगे।

"सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अगर हम होशपूर्वक मरते हैं तो हमारा अगला जन्म भी होशपूर्वक होगा। जैसे हम मरते हैं बेहोशी में—उसी प्रकार जन्म भी लेते हैं बेहोशी में। अगर एक बार भी होश में मरें और होश में जन्में—तो समझ लें कि जन्म और मृत्यु से हमेशा के लिए मुक्ति मिल गयी।

"सचेतन मृत्यु से सबसे बड़ा लाभ एक और है।"

"वह क्या"—मैंने पूछा।

"मृत्यु का मतलब है शरीर के बाहर हो जाना। जन्म का मतलब है—शरीर के भीतर हो जाना। दोनों प्रक्रियाएँ वास्तव में एक ही हैं। अगर हम होशपूर्वक मर सकते हैं तो हमारा जन्म भी होशपूर्वक होगा और ऐसी स्थिति में हमें अपने पिछले जन्म की याद रहेगी। अपने पिछले जीवन की सारी स्मृतियाँ भी रहेंगी और तब पिछले जीवन के अनुभव व्यर्थ नहीं जायेंगे। उनका अपना मूल्य होगा। उनका निचोड़ और सारांश हमारे हाथों में होगा और तब हमने पिछले जन्म में जो भूलें की हैं—जो गलतियाँ की हैं—वे सब भूलें और गलतियाँ इस जन्म में नहीं करेंगे। भूलों व गलतियों की स्मृति न रहने के कारण हम बार-बार हर जन्म में वही भूल और वही गलतियाँ करते रहते हैं।

"हम ऐसा कई बार कर चुके हैं। जिन कामों को हम इस जन्म में कर रहे हैं—उन्हें हम पिछले जन्मों में हजारों बार कर चुके हैं। वही पढ़ाई-लिखाई, वही शादी-ब्याह, वही नौकरी, वही व्यापार, वही बच्चे, वही पद-प्रतिष्ठा। यहाँ तक कि वही लड़ाई-झगड़ा, कलह, अदालत और वही रोग-बीमारी। काश! हमें एक बार भी

स्मरण हो जाय कि यह सब कुछ हम बहुत बार कर चुके हैं—तो इन सबमें हमें आज जो रस मिल रहा है, आनन्द मिल रहा है वह सब एकबारगी समाप्त हो जायेगा। हमारा जीवन एकाएक स्थिर हो जायेगा। क्योंकि फिर सब पागलपन-सा लगेगा।"

सान्याल महाशय ने आगे कहा—"जो होशपूर्वक मरता है वह होशपूर्वक जन्म भी लेता है। ऐसा आदमी जीवन में भी होशपूर्वक रहता है।"

"क्या हम जीवन में भी बेहोश हैं?"

"हाँ! और नहीं तो क्या? जन्म और मृत्यु छोर हैं। उन दोनों छोरों के बीच में जीवन है और हम तीनों में बेहोश हैं और यही कारण है कि हम कितनी भी सुनें कि शरीर नहीं है, आत्मा है। शरीर नश्वर है, आत्मा अमर है। मगर हमारे भीतर यह सत्य प्रवेश नहीं कर पाता। शास्त्र, पुराण, वेद, उपनिषद् आदि कितना भी कहें कि हम शरीर नहीं, आत्मा हैं। मान भी लें, स्वीकार भी कर लें, फिर भी ये बातें हमारे भीतर उतरती नहीं।"

"क्यों?"

"इसलिए कि हमारा कोई अनुभव नहीं है। शरीर सत्य समझ में आता है—क्योंकि वह सामने है। उसका अनुभव है। आत्मा हवाई बात मालूम पड़ती है। काल्पनिक समझ में आती है। इसलिए कि उसका कोई अनुभव नहीं है।

"आत्मतत्त्व का अनुभव तो केवल ज्ञानीजन ही करते हैं। जिनके पास ज्ञान-नेत्र हैं—वही आत्मा का दर्शन करते हैं।"

"कौनसा ज्ञान-नेत्र?"

"जिसे हम अमूर्च्छा की स्थिति कह सकते हैं। पूर्ण चैतन्य की स्थिति कहते हैं।"

"कैसे होगी इसकी उपलब्धि?"

"जन्म, मृत्यु और जीवन ये तीनों आत्मा के लिए महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। होशपूर्वक इन तीनों घटनाओं को घटित होते देखना। अगर ये तीनों घटनाएँ होशपूर्वक घट जायें तो समझ लें कि हमें ज्ञान-नेत्र उपलब्ध हो गया।"

"लेकिन इसका प्रारम्भ कहाँ से और कैसे होगा?"

"हम जीवन में जहाँ हैं, जिस स्थिति में हैं, जिस मोड़ पर हैं, वहीं से शुरू करना होगा। हमारा जन्म तो पीछे छूट गया। मृत्यु भविष्य में है। जीवन अभी है। इसलिए हमें जीवन से ही शुरू करना होगा। हम जीयें तो ज्ञानपूर्वक जीयें। जो कुछ भी करें, होशपूर्वक करें। मार्ग में चलें तो होश में चलें। किसीसे बात करें तो होश में करें। भोजन करें तो होश में करें। क्रोध भी करें या किसीको गाली भी दें तो भी होश

सँभाले रखें अपना। फिर उत्तर दें। हम आश्चर्य में पड़ जायेंगे। चकित रह जायेंगे। हमें अपने क्रोध पर हँसी आयेगी। मुँह से उत्तर भी नहीं निकलेगा।

"जन्म विस्मृत हो गया है। मृत्यु से हम अपरिचित हैं अभी। जीवन हमारे हाथ में है। इसीलिए जो भी कुछ करना होगा अभी करना होगा। वाणी, विचार, आचरण आदि की साधना हमें होश में करनी होगी। हम जो भी कहें, जो भी सुनें, जो भी करें, होश में करें। धीरे-धीरे हमें ऐसा लगने लगेगा कि हमारी मूर्च्छा टूटती जा रही है और उसीके साथ हमारे सारे क्लेश और सारे दुःख भी समाप्त होते जा रहे हैं। सच बात तो यह है कि बेहोशी के कारण ही हम तमाम दुःखों को आमन्त्रित करते हैं और वे क्षण हमारे हाथ से निकल जाते हैं, जिनमें हमें आनन्द उपलब्ध हो सकता था। परम शान्ति की उपलब्धि हो सकती थी।"

साधक ताराप्रपन्न शाक्त

केदारघाट मुहल्ले में एक साधक रहते थे। नाम था ताराप्रपन्न शाक्त। माँ तारा के परम भक्त और गुह्य तन्त्र के साधक थे ताराप्रपन्न महाशय। उनका कहना था कि तान्त्रिक दृष्टि से आत्मलाभ के लिए अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है। इसके लिए यत्न ही काफी नहीं है। सघन प्रयास करना होगा। लेकिन प्रयास के साथ-साथ हृदय की पवित्रता और शुद्धि भी आवश्यक है। प्रायः लोग प्रयास ही करते हैं। भाव की शुद्धता पर ध्यान नहीं देते, जिसका परिणाम बड़ा भयानक होता है। अघोर मत के साधक प्रयास को ही अधिक महत्त्व देते हैं। भाव की पवित्रता अथवा उसकी शुद्धता पर ध्यान नहीं देते। यही मूल कारण है कि अघोर-साधकों में बिरले ही किसीको आत्मज्ञान, आत्मतत्त्व की उपलब्धि अथवा आत्मलाभ सम्भव हो पाता है।

ताराप्रपन्न शाक्त का कहना था—"बिना हृदय की शुद्धता अथवा बिना भाव की शुद्धि के भी एकाग्रता सध सकती है। निम्न कोटि का और बुरे से भी बुरा व्यक्ति एकाग्रता साध सकता है। 'एकाग्रता' से बुराई-अच्छाई का कोई सम्बन्ध नहीं। सच तो यह है कि अच्छे व्यक्ति से बुरा व्यक्ति बड़ी सरलता और सहजता से एकाग्रता को साध सकता है। उसके लिए आसानी होगी। इसका कारण है। वह यह कि बुरे व्यक्ति में

एक खास गुण होता है कि वह जिस काम में भी लग जाता है, पागल की तरह लग जाता है। बिना उसे पूरा किये मानेगा नहीं। वह हद से ज्यादा जिद्दी होता है। क्योंकि कोई भी बुराई बिना जिद के पैदा हो ही नहीं सकती। जिद के धरातल पर ही सारी बुराई फलती-फूलती है। इसलिए बुरे आदमी के लिए 'हठयोग' अति सरल है। बस, उसे पकड़भर चाहिए। बुरा व्यक्ति दुष्टता कर सकता है, कष्ट भी दे सकता है, उसके लिए कोई बाधा नहीं। अपने साथ भी दुष्टता कर सकता है और दूसरों के साथ भी। अपना भी नुकसान कर सकता है और दूसरे का भी।

"विचारवान् व्यक्ति हठयोग नहीं साध सकता। वह सोचेगा कि व्यर्थ का शरीर को कष्ट देना होगा। मगर बुरा व्यक्ति अथवा अविवेकी व्यक्ति इसकी चिन्ता नहीं करेगा। वह दूसरे को तो सता ही सकता है—उतना ही अपने को भी सता सकता है। उसको फर्क नहीं पड़ेगा।"

ताराप्रपन्न शाक्त ने कहा—"तन्त्रमार्गानुयायी ज्ञानयोगियों को छोड़कर तन्त्र के जितने सम्प्रदाय हैं—उनके साधक प्रायः अपने शरीर के ही शत्रु होते हैं। मन और आत्मा को साधने के बजाय शरीर को ही साधने लग जाते हैं। ऐसे साधकों से समाज की न कोई हानि है, न कोई लाभ। जहाँ तक हानि का प्रश्न है—तो उन्हें स्वयं को है। यदि एक दुष्ट प्रकृति का और नीच स्वभाव का व्यक्ति एकाग्रता साधना चाहे तो साध सकता है। मगर ख्याल रखें, उसकी एकाग्रता से उसे स्वयं को खतरा हो ही सकता है—उसके अलावा अन्य लोगों को भी होना सम्भव है। एक ओर तो एकाग्रता से उसे शक्ति प्राप्त होगी, दूसरी ओर उसका हृदय शुद्ध नहीं है। फलस्वरूप उस प्राप्त शक्ति का भयंकर दुरुपयोग होगा। क्योंकि उनमें वह शक्ति उनके शब्दों, विचारों और उनके भावों द्वारा प्रकट होगी। अगर वह किसीको शाप दे दे कि 'जा, कल तू मर जायेगा।' अथवा 'जा, तेरा नाश होगा।' निश्चय ही वैसा ही होगा। आदमी बच नहीं पायेगा। उसकी मृत्यु अथवा उसका नाश निश्चित है। इस प्रकार वह जो भी कहेगा, वह होगा। निश्चय होगा। कारण कि उसके शब्दों में बल है। इतना बल है कि उसके शब्द अन्तःस्तल में प्रवेश कर जायेंगे।"

ताराप्रपन्न शाक्त ने कहा—"आपने बहुत से ऐसे अघोरियों अथवा तान्त्रिकों को देखा होगा कि जरा-सा नाराज होने पर चट-पट गाली देने लग जाते हैं। अमंगल और कटु शब्दों का प्रयोग करने लग जाते हैं। इतना ही नहीं, सर्वस्व नाश का शाप भी क्रोधावेश में दे बैठते हैं। यह सब सत्य भी हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं। कारण स्पष्ट है। ऐसे महापुरुष लोग—एक ही विचार पर अपनी पूरी शक्ति इकट्ठा कर लेते हैं। उनकी आँखें, उनके व्यक्तित्व, उनके ढंग, उनकी एकाग्रता और उनकी अखण्डता उस विचार को तीर की तरह सामनेवाले व्यक्ति के हृदय में चुभा देगी। लाख प्रयत्न करने पर भी शक्तिपूर्ण उस विचार से छुटकारा पाना कठिन है।"

"क्या ऐसे साधकों से कल्याणकारी सम्भावना भी है ?"

"बहुत कम ! इसलिए कि वे शुद्ध भाव और शुद्ध अन्तःकरणवाले नहीं होते । ऐसे तान्त्रिकों व ऐसे अघोर साधकों से कल्याण की बात सोचना मूर्खता है । तन्त्रयोग का कहना है कि केवल यत्न ही काफी नहीं है । आत्मसाक्षात्कार के लिए एकाग्रता के यत्न के साथ-साथ अन्तःकरण की शुद्धि भी आवश्यक है । दोनों साथ होना चाहिए । आपको यह जानना चाहिए कि केवल तन्त्रयोग ही नहीं, बुद्ध, महावीर, भगवान् कृष्ण जैसे महापुरुषों ने भी प्रथम स्थान दिया है—हृदय की शुद्धि को ।

"तन्त्रयोग का कहना है कि आहार-शुद्धि, शरीर-शुद्धि, आचरण-शुद्धि तथा विचार-शुद्धि हो जाने पर तब एकाग्रता का यत्न करना चाहिए और उस यत्न के साथ उन तमाम शुद्धताओं पर भी बराबर ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो खतरा है ।

"यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए । हृदय शुद्ध न होने पर भी यत्न करने पर शक्ति प्राप्त हो सकती है । मगर उससे आत्मज्ञान अथवा आत्मोपलब्धि सम्भव नहीं । तमोगुणीप्रधान तन्त्रसाधकगण प्रायः चित्त की एकाग्रता पर ही विशेष ध्यान देते हैं—चित्त के निर्मलीकरण अथवा शुद्धिकरण पर नहीं । एकाग्र साधना से जो शक्ति प्राप्त होती है—उसे चित्-शक्ति कहते हैं । क्योंकि एकाग्रता का सम्बन्ध चित्त से है । बिना चित्त की शुद्धि के एकाग्र साधन होने पर चित्त में जिस शक्ति का आविर्भाव होगा—वह निश्चय ही तमोगुणी होगी, इसमें सन्देह नहीं । ऐसी शक्ति के बल तामसिक तन्त्र से सम्बन्धित ही सारे अनुष्ठान सफल और फलीभूत होते हैं । कहने की आवश्यकता नहीं—मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि तान्त्रिक अनुष्ठानों में एक-मात्र यही शक्ति क्रियान्वित होती है । तात्पर्य यह कि जितने भी प्रकार के भौतिक कार्य हैं—उनकी सफलता के निमित्त जितने भी तान्त्रिक प्रयोग किये जाते हैं—उनके मूल में एकमात्र यही शक्ति काम करती है साधकों को ।

"इस प्रसंग में एक बात और बतला देना श्रेयस्कर है । वह यह कि यहाँ शक्ति को दो रूपों में विभक्त किया गया है । पहली है आत्मशक्ति और दूसरी है चित्शक्ति । तन्त्र में इसीको पराशक्ति और अपराशक्ति कहते हैं । चित्त के निर्मलीकरण और पूर्ण रूप से शुद्धिकरण होने पर जब चित्त में एकाग्रता सधती है—और जब वह एकाग्रता अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर जिस शक्ति के रूप में परिवर्तित होती है, वही आत्म-शक्ति अथवा पराशक्ति है । कहने की आवश्यकता नहीं, उसी महाशक्ति के प्रखर आलोचक में साधकगण आत्मलाभ और आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं । जिस प्रकार चित्तशक्ति से भौतिक लाभ है, उसी प्रकार इस सात्त्विक आत्मशक्ति से आध्यात्मिक लाभ है ।"

"हृदय-शुद्धि का क्या अर्थ है ?"—प्रश्न किया मैंने ।

"भावों की निर्मलता। बालक जैसा सरल हृदय। हृदय में कठोरता न हो, क्रोध न हो, अहंकार न हो। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा न हो, हृदय शुद्ध हो और साथ ही साथ योग का भी यत्न हो। शक्ति-साधना में योग के साथ भक्ति का भी होना आवश्यक है। केवल योगी होना खतरनाक है। भक्त अपने को कमजोर समझता है। भक्त निर्बल है। वह केवल दीन-हीन भाव से विनय और प्रार्थना कर सकता है। उसके पास किसी भी प्रकार की शक्ति नहीं होती। इसके विपरीत योगी के पास शक्ति की बहुलता होती है। मगर उसके पास भाव का अभाव होता है। जहाँ योग और भक्ति का मिलन होता है, जहाँ भाव और यत्न संयुक्त होते हैं, वहीं आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है।"

× × ×

"तान्त्रिक साधना का मतलब है शक्ति-साधना। शक्ति स्वयं में निष्पक्ष और निरपेक्ष है। शक्ति अपने-आपमें न शुभ है और न अशुभ है। न किसीका वह कल्याण करती है और न अकल्याण। दीपक से प्रकाश भी हो सकता है और घर में आग भी लग सकती है। शक्ति भौतिक हो या अभौतिक, सभी निरपेक्ष हैं। शक्ति के उपयोग पर उसका परिणाम निर्भर होता है। शक्ति शुद्ध अन्तःकरणवाले को भी उपलब्ध हो सकती है और अशुद्ध अन्तःकरणवाले का भी। मगर विडम्बना यह है कि अशुद्ध अन्तःकरणवाले साधक पहले उपलब्ध कर लेते हैं शक्ति को।"

"क्यों? इसका कारण क्या है?"

शास्त्र महाशय बोले—"क्योंकि शक्ति की आकांक्षा भी अशुद्ध हृदय की ही आकांक्षा है। शुद्ध अन्तःकरणवाले साधकगण शक्ति की साधना शक्ति-अर्जन के लिए नहीं, बल्कि शान्ति और आनन्द की उपलब्धि के लिए करते हैं। जब कि अशुद्ध अन्तःकरणवाले साधक शक्ति की साधना शक्ति-प्राप्ति के लिए करते हैं। एक की कामना है और दूसरे की है वासना।

"दूसरे प्रकार के साधक शक्ति-प्राप्ति की अभिलाषा इसलिए करते हैं कि वे कुछ करना चाहते हैं। अपनी वासनाओं की पूर्ति शक्ति की सहायता से करना चाहते हैं और करना चाहते हैं अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति।

"शक्ति से शुद्धि और अशुद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसकी उपलब्धि होती है साधना से।"

"वह साधना क्या है?"

"ध्यान! चित्त की एकाग्रता के लिए एकमात्र साधन है ध्यान। ध्यान दो प्रकार का है—शुद्ध ध्यान और अशुद्ध ध्यान। शुद्ध अन्तःकरण से होनेवाला ध्यान 'शुद्ध ध्यान' है और अशुद्ध हृदय अथवा अशुद्ध अन्तःकरण से होनेवाला ध्यान 'अशुद्ध ध्यान' है।"

"क्या आप इन दोनों प्रकार के ध्यानों को स्पष्ट करेंगे?"

"ध्यान की शुद्धता और अशुद्धता ध्येय वस्तु पर निर्भर है। जब आदमी 'वासना' में रहता है अथवा क्रोध की स्थिति में रहता है तो उस समय अपने-आप चित्त स्थिर और एकाग्र हो जाता है। किसी सुन्दर युवती के रूप में मन अटक जाय तो चित्त स्वयं एकाग्र हो जायेगा, प्रयास नहीं करना पड़ेगा। किसी युवती का नग्न चित्र सामने आ जाय तो बिना प्रयास अपने-आप मन स्थिर और चित्त एकाग्र हो जायेगा आदमी का। पास में कितना ही शोरगुल हो, विचलित नहीं होगा मन। यह भी तो ध्यान है और ऐसे ध्यान को कहते हैं अशुद्ध ध्यान। 'ध्यान' का मतलब केवल इतना ही है—मन का स्थिर हो जाना, चित्त का एकाग्र हो जाना। वह कहाँ ठहरता है अथवा कहाँ स्थिर होता है—इसका प्रश्न नहीं।

"परमात्मा की मूर्ति पर, भगवान् के चित्र पर शीघ्र मन स्थिर नहीं होगा। चित्त भी एकाग्र न होगा। उसके लिए प्रयास अथवा अभ्यास करना होगा। इसीको कहते हैं शुद्ध ध्यान। मगर इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं में 'मन' में अगाध शक्ति उत्पन्न होती है। मन जहाँ एकाग्र हुआ कि शक्ति अपने-आप उत्पन्न होने लग जायेगी मन में।

"जब हम क्रोध में होते हैं तो मन स्थिर हो जाता है अपने-आप। इसलिए क्रोधी व्यक्ति को यह अनुभव होगा कि उसकी शक्ति कई गुनी बढ़ गयी है। वास्तव में क्रोध में मन स्थिर हो जाता है, एकाग्र हो जाता है और शक्ति प्राप्त होती है। कामवासना में मन स्थिर हो जाता है, एकाग्र हो जाता है और शक्ति प्राप्त होती है। भगवान् के चित्र या मूर्ति में भी मन स्थिर व एकाग्र हो जाता है और शक्ति उपलब्ध होती है। मन की एकाग्रता शक्ति है। मन कहाँ एकाग्र हो रहा है—यह बात निर्णायक होगी। एकाग्रता के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह शुभ है या अशुभ। एकाग्रता तो एक कला है और वह कला अच्छा आदमी भी जान सकता है और बुरा आदमी भी।

"मन शक्ति का स्रोत है और यही कारण है कि 'तन्त्र' में मन की साधना पर सर्वाधिक बल दिया गया है। तन्त्र का कहना है कि शक्ति का स्रोत एक ही है। गांधी में भी वही स्रोत है, हिटलर में भी। राम में भी वही स्रोत है और रावण में भी। शक्ति का स्रोत एक ही है। मगर दोनों के हृदय में अन्तर है। यदि हृदय अशुद्ध है तो वही शक्ति विष बन जायेगी। अगर शुद्ध है तो वही शक्ति अमृत का काम करेगी।"

थोड़ा रुककर कुछ सोचते हुए ताराप्रपन्न शाक्त महाशय ने आगे कहना शुरू किया—"तन्त्र के आचार्यों ने स्वयं की साधना के अनुभवों के आधार पर अनिवार्य रूप से कुछ व्यवस्था की है जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो सके, हृदय निर्मल हो सके। साधना-काल में शुद्ध व निर्मल हो या फिर उसके पहले। यदि शक्ति-प्राप्ति के पहले शुद्ध व निर्मल होता है तो निश्चय ही कल्याण होगा साधकों का भी और समाज व संसार का भी। नहीं तो अनहित निश्चित है।

"हमारे तान्त्रिक आचार्य दूरदर्शी थे। अशुद्ध अन्तःकरणवाले कलुषित हृदय को शक्ति उपलब्ध न हो इसलिए उन्होंने शक्ति के मूल स्रोतों को बराबर गोपनीय रखने का ही प्रयास किया। विशेष तान्त्रिक क्रियाओं और गुह्य साधनाओं की गुप्तता अथवा गोपनीयता का एकमात्र कारण यही है।

"विज्ञान कोई भी हो। भौतिक हो या आध्यात्मिक। जब वह अपनी ऊँचाइयों पर पहुँचता है तो उससे खतरे की सम्भावना बढ़ जाती है। भौतिक विज्ञान को ही लें। इस समय वह अपनी सीमा पर है। इसलिए उससे खतरा पैदा हो रहा है। वैज्ञानिक अपनी उपलब्धियों को गुप्त रखने के प्रयास में हैं। उन्हें भय है कि उनकी खोज और उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ किसी खतरनाक आदमी के हाथों में न पड़ जायँ। आपने आइंस्टाइन का नाम सुना होगा। उसने अणुशक्ति के निर्माण में योगदान दिया था। उस महान् वैज्ञानिक ने सपने में भी नहीं सोचा था कि उसकी खोज से और उसकी उपलब्धि से हिरोशिमा और नागासाकी में लाखों लोग अणुशक्ति की प्रचण्ड आग में जलकर भस्म हो जायेंगे। उसने अपने एक मित्र को पत्र में लिखा था कि—भविष्य में हमें सतर्क और सचेत हो जाना चाहिए। हम वैज्ञानिक जो भी नयी चीज खोजें उसे सर्वथा गुप्त रखें।

"कहने की आवश्यकता नहीं, पश्चिम के लोगों ने अब इस पर विचार करना शुरू कर दिया है। हमारे मनीषी तत्त्ववेत्ता और योगी, साधकगण के मन में आज से चार हजार वर्ष पहले ही यह विचार आ गया था। तांत्रिक शक्ति-साधना के सूत्रों को उन्होंने सर्वथा गुप्त ही रखा। वे जिसे योग्य पात्र समझते थे, उसीको वह गुप्त सूत्र बतलाते थे। तन्त्र और योग-मार्ग में इसीलिए गुरु-शिष्य-परम्परा है। गुरु अपने जिस शिष्य को योग्य पात्र समझता है, उसीको साधना का रहस्य बतलाता है और गोपनीय सूत्रों को समझाता है। वह हमेशा इस बात का ख्याल रखता है कि तांत्रिक शक्ति के स्रोत का पता कहीं अयोग्य शिष्य के हाथों में न पड़ जाय, वर्ना दुरुपयोग हो जायेगा और हो जायेगा अनर्थ। अब शास्त्रों की बात लो। तन्त्रशास्त्र में सभी विषयों को विस्तृत रूप दिया गया है—मगर जानते हैं—मूल बिन्दु को छोड़ दिया गया है। उस पर प्रकाश नहीं डाला गया है। शक्ति के मूल स्रोतों की कुंजी शास्त्रों में कहीं नहीं मिलेगी। यदि मिलेगी तो गुरु के पास ही मिलेगी।"

"वह कुंजी क्या है?"

"तन्त्र में जिसे मन्त्र कहते हैं, जिसे दीक्षा कहते हैं वही है 'कुंजी'। आचार्यों का कहना था—भले ही ज्ञान लुप्त हो जाय, मगर कुंजी किसी गलत व्यक्ति के हाथ में न पड़े और यही कारण था कि उन आचार्यों का बराबर यही प्रयास रहा और बराबर यही चेष्टा रही कि तन्त्र से सम्बन्धित शास्त्र लिखने के बजाय कण्ठस्थ किये जायँ। इसलिए

कि लिखने से विषय सामान्य हो जाता है। अच्छे-बुरे सभी के पास पहुँच जाता है। उस पर अधिकार नहीं रह जाता। उस पर नियन्त्रण रखना भी कठिन हो जाता है। वेद परम ज्ञान है। तन्त्र गुह्य ज्ञान है। तन्त्र के शास्त्र लिखे अवश्य गये। लेकिन उनकी गुह्यता को यथावत् रहने दिया गया। उसे लिपिबद्ध नहीं किया गया और यही कारण है कि तन्त्रशास्त्र का अध्ययन कितना भी करें, 'सत्य' नहीं मिलेगा आपको। सत्य के लिए गुरु के सम्पर्क में अन्त में जाना ही पड़ेगा आपको। इसीलिए तांत्रिक साधना में गुरु का स्थान सर्वोपरि समझा जाता है।"

●

साधक कालीपद गुहाराय

ताराप्रपन्न शाक्त के ही माध्यम से एक तन्त्र-साधक से मेरा और परिचय हुआ। उनका नाम था कालीपद गुहाराय। शरीर बंगदेशीय था। अवस्था साठ-पैंसठ के लगभग। काशी के मानसरोवर मुहल्ले में निवास करते थे गुहाराय महाशय। काली का इष्ट था उन्हें। साधना में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था उन्होंने। तैलंग स्वामी ने एक बार उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। चार मास तक मैं उनके सम्पर्क में रहा था और इस अल्प समय में उनसे मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ था, वह निश्चय ही मूल्यवान् था साधना की दृष्टि से।

ताराप्रपन्न शाक्त ने अपने प्रवचन-प्रसंग में वैराग्य और अभ्यास की चर्चा की थी। मैंने इन्हीं दोनों विषयों पर अवसर देखकर गुहाराय महाशय से प्रश्न किया।

मेरा प्रश्न था—"तांत्रिक साधन तत्त्व को वैराग्य और अभ्यास—इन दो भागों में क्यों विभक्त किया गया है?"

दूसरा प्रश्न था—"क्या सम्यक् साधन-पद्धति के अभ्यास से वैराग्य का उदय सम्भव नहीं?"

तीसरा प्रश्न था—"क्या वैराग्य स्वयं एक साधन-पद्धति नहीं है?"

मेरे इन तीनों प्रश्नों को सुनकर गुहाराय महाशय काफी देर तक मौन साधे रहे। फिर कहना शुरू किया उन्होंने—"वैराग्य और अभ्यास दोनों में काफी भिन्नता है।

वैराग्य भाव है। अभ्यास है प्रयत्न अथवा प्रयास। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में कई अवसरों पर वैराग्य का अनुभव करता है। विशेषकर सम्भोग के वाद, कथा सुनने के बाद, श्मशान में, किसी निकट के व्यक्ति की मृत्यु पर। लेकिन हम ऐसे वैराग्य को नहीं, बल्कि वैराग्य की झलक कहते हैं। अगर उस झलक को हम 'अभ्यास' बना लें तो वास्तविक वैराग्य के भाव का उदय हो जायेगा हमारे अन्तःकरण में। सुख-शान्ति के लिए और आनन्द के लिए हम धन, यश, कीर्ति, मान-सम्मान और पद-प्रतिष्ठा के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। सारे प्रयत्न सफल होने पर सब कुछ मिल भी जाता है तब भी मन को न शान्ति मिलती है, न सुख मिलता है और न तो मिलता है आनन्द ही। सब कुछ मृग-मरीचिका-सा लगता है। खाली-खाली-सा लगता है। गाल पर हाथ रखकर सोचने लगते हैं—इतना लम्बा जीवन मुफ्त में ही चला गया। लेकिन फिर भी हम उसी सबके मोह में डूबे रहते हैं, लिप्त रहते हैं। हमें अपने जीवन की उन घटनाओं का अध्ययन करना चाहिए, जिनके घटने से वैराग्य की झलक हमें मिली थी। उनमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली घटना हो, उसे हमें पकड़ लेना चाहिए और हर समय उसके दृश्य को सामने रखकर चिन्तन के रूप में अभ्यास करना चाहिए।

"अभ्यास का मतलब है पुनरुक्ति। यानी बार-बार घटना का स्मरण। अपने मन पर वैराग्य के भाव की चोट। समझ में आया न ? हमारा अभ्यास से तात्पर्य इतना ही है कि जीवन में जो सहज रूप से वैराग्य की झलक मिलती है, उसे एकत्र कर लेना। अभ्यास दो प्रकार के हैं। पहला है मन का अभ्यास और दूसरा है वैराग्य का अभ्यास।"

"मन का अभ्यास क्या है ?"

"हम बार-बार क्रोध करते हैं। बार-बार कोई न कोई गलत काम करते हैं। बार-बार कोई न कोई भूल करते हैं और हर बार हम पश्चात्ताप करते हैं सब कुछ करके। हर बार बुरा करके फिर न करने की प्रतिज्ञा करते हैं। यह है मन का अभ्यास। मन प्रबल है। उसका इस प्रकार का अभ्यास जनम-जनम का है। हम मन का अभ्यास बराबर पूरा करते हैं। वैराग्य का अभ्यास मन के विपरीत है। जिस भूल के लिए, जिस गलत काम के लिए और जिस बुराई के लिए हमने बार-बार प्रायश्चित्त किया है, वह जब भी सामने आये उसी समय हमें वैराग्य की स्मृति मस्तिष्क में लानी होगी और बार-बार मन में दुहराना होगा—यह तो हम पहले भी सुन चुके हैं। यह तो हमने पहले भी गलती की थी। ऐसा तो हम पहले भी कर चुके हैं। यह तो मेरा अनुभव है।......और परिणाम क्या सामने आया। वास्तव में निरन्तर परिणामों का चिन्तन-मनन पुराने अनुभव की स्मृति है और है पुरानी झलकों का एकमात्र संग्रह। इसको जब हम बराबर साधते चले जाते हैं तो धीरे-धीरे मन के विपरीत एक नयी शक्ति का निर्माण शुरू होने लग जाता है जो बाद में मन के लिए 'नियन्त्रण' बन जाता है और बन

जाता है मन के लिए साक्षी। इतना ही नहीं, मन का जो अभ्यास है उसे भी तोड़ने में सहायक सिद्ध होता है।"

× × ×

"तन्त्र-मार्ग में महाशक्ति का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए वैराग्य का होना आवश्यक है। तान्त्रिक साधना में वैराग्य एक आवश्यक अंग है। शुद्ध ध्यान के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण की उपलब्धि और फिर परम वैराग्य।

"मगर शुद्ध ध्यान तभी सम्भव है जब कि वासना का प्रणाश होगा। जब तक वासना की अग्नि में हृदय दग्ध रहेगा, तब तक अन्तःकरण की शुद्धि अथवा भाव की शुद्धि सम्भव नहीं। वासनाओं की जड़ें अचेतन मन की गहराई तक फैली हुई रहती हैं—यह समझ लेना चाहिए। उस गहराई से वासनाओं को निकाल बाहर करना होगा। तभी शुद्ध ध्यान सम्भव है।"

"क्या इस सम्बन्ध में एक प्रश्न कर सकता हूँ?"

"करिये!" शाक्त महाशय बोले।

"आपने बतलाया कि वासनाओं की जड़ें अचेतन की गहराई तक फैली हुई रहती हैं। इसके साथ ही आपकी बातों से यह भी स्पष्ट लक्षित होता है कि केवल बौद्धिक तल पर घटित वैराग्य का निर्णय पर्याप्त नहीं है। मगर यह मेरी समझ में नहीं आया कि वैराग्य का जागरण अचेतन की गहराई तक कैसे सम्भव है?"

यह सुनकर कालीपद गुहाराय हँस पड़े और हँसते हुए ही कहने लगे—"स्वयं के अनुभव के अलावा कोई भी उपाय नहीं। तान्त्रिक साधना-मार्ग अनुभव का मार्ग है और हम सब लोग बराबर यही कामना करते हैं कि अनुभव के बिना सब सध जाय, सब कुछ सम्पन्न हो जाय। लेकिन नहीं—अनुभव के मार्ग से बिना गुजरे कोई उपाय नहीं है। भले ही हमें अनुभव, कितनी ही पीड़ा दे—दुःख दे—क्लेश दे और कितना ही जलाये। प्रायः लोग तान्त्रिक साधना-मार्ग में यही सोचते हैं कि दूसरे के अनुभवों से उन्हें लाभ हो। उनकी धारणा वैसी ही होती है—जैसे सोना सोचे कि बिना अग्नि में तपे-पिघले-गले शुद्ध-स्वच्छ हो जाऊँ। साधक को हर हालत में साधना की अग्नि में तपना होगा, गलना होगा, दग्ध होना होगा। स्वयं के अनुभवों से गुजरना होगा। किसी और के अनुभव काम नहीं आयेंगे। बराबर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बिना अनुभव किये कुछ भी न होगा। भगवान् बुद्ध के शब्दों में—संसार दुःख है। दुःख के सिवा और कुछ नहीं।

"इस शब्द को हम पढ़ लें, समझ लें। मगर केवल पढ़ने या सुनने से क्या लाभ? कोई लाभ नहीं। हाँ, हमारे लिए प्रपञ्ची और पाखण्डी होने का खतरा अवश्य पैदा हो जायेगा। जिस बात का हमें अनुभव नहीं, यदि हम उसका प्रचार करें तो पाखण्ड के अलावा और कुछ होगा?

"संसार दुःख है—इसका अनुभव हमें होना चाहिए। ऐसा ही प्रश्न है कि 'वैराग्य कैसे गहरा हो ?' हमारा कहना है कि वैराग्य को गहरा करने का प्रश्न नहीं। प्रश्न है जीवन को पूर्ण रूप से जीने का—भोगने का।

"वैराग्य के बाद जो आनन्द प्राप्त होता है—वही वास्तविक आनन्द है। उसीको तन्त्र परमानन्द और आत्मानन्द कहता है। बुद्ध ने पूर्ण रूप से दुःख भोगने के बाद आनन्द को प्राप्त किया था। वास्तविक शान्ति और वास्तविक आनन्द को प्राप्त करने के लिए दुःख को गहराई से भोगना आवश्यक है। साधारणतः लोग दुःख भोगने से बचना चाहते हैं और जैसा वैराग्य भगवान् तथागत को उपलब्ध हुआ था, वैसा वैराग्य भी चाहते हैं। वैराग्य के बाद जैसा आनन्द उन्हें प्राप्त हुआ था, वैसा आनन्द भी चाहते हैं। नहीं, यह सम्भव नहीं है। ऐसा हो ही नहीं सकता। बिना दुःख को झेले और बिना अनुभव प्राप्त किये वैराग्य सम्भव नहीं आनन्द सम्भव नहीं। बुद्ध जैसे दुःख से गुजरे थे, वैसे दुःख से गुजरना पड़े तभी बुद्ध जैसा हमें वैराग्य और आनन्द प्राप्त होगा।

"संसार में सबसे बड़ा दुःख है मृत्यु का दुःख। मृत्यु के दुःख को छोड़कर मनुष्य सब तरह का दुःख झेलने और सहने के लिए तैयार है।

"तन्त्र कहता है—मृत्यु सामने खड़ी है। उसकी पीड़ा को और उसके दुःख को भोगो। उसे झुठलाओ नहीं। उससे भागने का मार्ग मत खोजो। उच्चकोटि के तन्त्र-साधकगण महाशक्ति से सुख नहीं माँगते। जब भी माँगते हैं असीम पीड़ा और असीम दुःख ही माँगते हैं। जितनी पीड़ा और जितना दुःख हम सहेंगे उतनी कृपा और उतना अनुग्रह हमें प्राप्त होगा महाशक्ति का।

"इसलिए हमें साधना-भूमि में दुःख की ही कामना करनी चाहिए। जिस माता-पिता और जिस पत्नी-पुत्र का सुख प्राप्त किया—उसके वियोग और उसके अभाव का दुःख और कष्ट भी झेलने व सहने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। उसे न शास्त्रों के सिद्धान्तों को पीकर झुठलाना चाहिए और न तो 'आत्मा अमर है' कहकर अपने को समझाना चाहिए। दुःख है तो हमें भोगना होगा, उसका अनुभव प्राप्त करना होगा। उससे भागने का प्रयास कदापि न करना होगा।

"जैसा कि हमने कहा—मृत्यु सबसे बड़ा दुःख है। इसलिए हमारे ध्यान का सतत ध्येय वही होना चाहिए। हर पल मृत्यु का ध्यान। एक बार भी हम मृत्यु के अनुभव से गुजर जायेंगे तो हमारी आत्मा निखर जायेगी, तृप्त हो जायेगी, निर्मल हो जायेगी। तब सच्चे वैराग्य का जन्म होगा हमारे भीतर। एक बार भी हम अच्छी तरह मृत्यु को देख लें, समझ लें, जीवन व्यर्थ हो जायेगा। जीवन की व्यर्थता समझ में आ जायेगी। मृत्यु दुर्घटना नहीं है, वास्तविक तथ्य है। मृत्यु कोई संयोग भी नहीं है। वह होने

ही वाली है। मृत्यु जीवन की नियति है और उस नियति को कभी भी टाला नहीं जा सकता। किसीको मरते हुए देखकर हम उस समय यह नहीं सोचते कि हमें भी मरना है एक न एक दिन। यह भी नहीं सोचते कि वह मृत्यु हमारी मृत्यु की सूचना है। यदि हम दुःख और पीड़ा को ठीक से स्वीकार कर उसे जीयें तो हमें हर किसीकी मृत्यु अपनी मृत्यु मालूम पड़ेगी और हमारा वैराग्य गहरा हो जायेगा। अपने को समझाने से वैराग्य गहरा न होगा। बुद्ध का वैराग्य इसलिए गहरा हुआ था कि उन्होंने अपने को कभी भी समझाया नहीं। सीधा देखा—और अन्त में पाया कि जीवन पूर्ण रूप से असफलता है। इसमें कारण की कोई आवश्यकता नहीं।

"वैराग्य गहरा होने पर गुरु को खोजना नहीं पड़ता। गुरु स्वयं हमें खोजते हुए आ जायेंगे और हमसे सम्बन्ध जोड़ लेंगे। शास्त्रों का अर्थ भी खोजना नहीं पड़ेगा। शास्त्रों का अर्थ स्वयं प्रकट हो जायेगा। एक प्रकार से हमारा सम्पूर्ण जीवन गुरुमय और शास्त्रमय हो जायेगा।

"कहने का तात्पर्य यह कि वैराग्य को गहरा करने का एकमात्र साधन है—अनुभव। भले ही वह अनुभव सुख का हो, दुःख का हो, पीड़ा का हो, व्यथा का हो, अभाव का हो, सन्ताप का हो या हो असफलता का। जो भी अनुभव हो, उसे पूरी तरह जीयें—और होशपूर्वक जीयें।"

साधक तारानाथ भट्टाचार्य

तन्त्र के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को लेकर भूपेन्द्रनाथ सान्याल, ताराप्रपन्न शाक्त और कालीपद गुहाराय के बाद जिस गुप्त साधक से मेरा साक्षात्कार हुआ, वह थे तारानाथ भट्टाचार्य। सुनारपुरा स्थित कालीबाड़ी में रहते थे भट्टाचार्य महाशय।

चित्त की एकाग्रता के सम्बन्ध में उनका कहना था कि "चित्त जीवन की अनिवार्यता है। चित्त का मतलब है विचारों का प्रवाह। हर समय और हर पल चित्त में विचारों का प्रवाह है। उस प्रवाह को न नींद बन्द कर सकती है और न तो मृत्यु ही। मृत्यु के बाद तो वह प्रवाह और तीव्र हो जाता है।

"विचारों के सतत प्रवाह के कारण चित्त हमेशा अस्थिर रहता है। उसीके फलस्वरूप मन भी अस्थिर और चंचल रहता है। वह भी बदलता रहता है। इस संसार में दो वस्तुएँ हैं। पहली वह जो बराबर बदलती रहती है, परिवर्तित होती रहती है और वह वस्तु है पदार्थ। दूसरी वस्तु वह है—जो हमेशा स्थिर रहती है, शाश्वत रहती है, जिसमें कभी किसी काल में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता और जो सर्वथा अविनाशी है और वह वस्तु है चेतना अथवा चैतन्य जिसे आत्मा भी कहते हैं। आत्मा का जो समष्टि रूप है—वही परमात्मा है।"

"समझा नहीं"—मैंने कहा।

"परमात्मा का मतलब है परमतत्त्व। वह परमतत्त्व यानी परमात्मा जब शरीर की सीमाओं में बँधता है तो उसे आत्मा कहते हैं। कहने का मतलब यह कि शरीर की सीमा में जो परमात्मा है—उसका नाम आत्मा है। लेकिन इस आत्मा को यदि यह भ्रम हो जाय कि मैं यह शरीर हूँ—तो इसका नाम जीव या जीवात्मा है। मगर अन्तर कहीं नहीं है। परमतत्त्व का समष्टिरूप परमात्मा है और व्यष्टिरूप है आत्मा और आत्मा जब जीवभावापन्न होता है उसीको जीव या जीवात्मा कहते हैं। परमात्मा की जो शक्ति है—उसीको तन्त्र में परमाशक्ति या आद्याशक्ति कहते हैं। अपरा, परा और परमा—यह त्रिधाशक्ति तान्त्रिक साधना की मूल भित्ति है।

"इस संसार में जो पदार्थ की सत्ता है—उसमें बराबर परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार जैसे मन में बराबर परिवर्तन होता रहता है। इसलिए मन के द्वारा संसार के पदार्थ को जाना जा सकता है। क्योंकि परिवर्तनशील वस्तु को परिवर्तनशील तत्त्व से ही जाना या समझा जा सकता है। परमात्मा और आत्मा को नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह स्थिर और शाश्वत है।

"इस प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिए कि आत्मा और मन एक ही वस्तु के दो रूप हैं। जो रूप स्थिर है वह आत्मा है और जो रूप अस्थिर, चंचल और परिवर्तनशील है वह मन अथवा चित्त है। अस्थिरता अथवा चंचलता मन या चित्त का स्वभाव है। इस स्वभाव के कारण उसके द्वारा स्थिर, अपरिवर्तनीय तत्त्व को नहीं जाना या समझा जा सकता। सोच-विचार, तर्क, अनुमान और शास्त्र-सिद्धान्त आदि सब मन के गुण और विषय हैं। इसलिए इन सबसे भी शाश्वत वस्तु का ज्ञान असम्भव है। जो शाश्वत वस्तु है यानी चैतन्य, उसे जानने के लिए बीच में से मन को हटाना पड़ेगा। मन के हटते ही चैतन्य का साक्षात्कार होता है। जब तक मन का अस्तित्व बना रहेगा तब तक हमारे सामने जगत् का अस्तित्व रहेगा। क्योंकि मन से केवल जगत् का बोध होता है, चैतन्य का नहीं। मन के हटते ही हम उस जगत् में प्रवेश कर जाते हैं—जो अपरिवर्तनीय और शाश्वत है और जहाँ परम शान्ति और परम आनन्द का साम्राज्य है।

"चित्त का स्वभाव है—प्रवाह। अपने इस स्वभाव के कारण वह जिस वस्तु को पकड़ेगा उस पर ही चिन्तन करने लग जायेगा। ध्यान और चिन्तन में यही अन्तर है। ध्यान का अर्थ है चिन्तन का ठहर जाना, चित्त के प्रवाह का रुक जाना। एकाग्रता का मतलब है—ध्येय वस्तु के प्रति किसी प्रकार का चिन्तन न रहे। चिन्तन चित्त का प्रवाह है—और ध्यान उस प्रवाह का रुक जाना है। एकाग्र करने की जो प्रक्रिया है—उसीसे मन का नाश हो जाता है और मनोनाश होते ही जो परमतत्व प्रकट होता है वही परमेश्वर है, परमात्मा है अथवा है परमाशक्ति।"

× × ×

"तन्त्र में दो मत हैं—शैवमत और शाक्तमत। शाक्तमत की सम्पूर्ण साधना का आधार तीन भाव और सात आचार हैं। भाव मानसिक अवस्था है और आचार है बाह्य आचरण। पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव—ये तीन भाव हैं। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार—ये सात 'आचार' हैं। इन सातों आचारों में कौलाचार अत्यन्त गम्भीर, रहस्यमय और गुह्य है। इस आचार का सम्बन्ध दिव्यभाव से है। तन्त्र एकमात्र अद्वैत की साधना है और वह साधना कौलमार्ग से ही सम्पन्न होती है। वास्तव में कौलमार्ग तन्त्र-साधना का सर्वोच्च मार्ग है। 'कौल' शब्द से 'कुल' शब्द बना है और 'कुल' का अर्थ है 'कुण्डलिनी' शक्ति! 'कुण्डलिनी' वही शक्ति है—जिसे तन्त्र 'परमा' कहता है। कौल-साधना वास्तव में कुण्डलिनी-साधना है और वह साधना तीन चरणों में विभक्त है। साधना के प्रथम चरण में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण, दूसरे चरण में कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान और तीसरे चरण में कुण्डलिनी शक्ति का 'शिव' से सामरस्य। यही सामरस्यभाव अद्वैत की सिद्धि है। साधना के इन तीनों चरणों से तीनों भावों का सम्बन्ध है। दिव्यभाव का मतलब है अद्वैत में पूर्ण स्थिति। कुण्डलिनी साधना की जो प्रक्रिया है–उसे कुलाचार या कौलाचार कहते हैं, जो पंचमकार द्वारा अनुष्ठित होता है। मांस, मदिरा, मुद्रा, मैथुन और मत्स्य—इन पाँच मकारों को पंचमकार कहते हैं। इनका रहस्य अत्यन्त गूढ़ और गोपनीय है। पंचमकार का उपयोग बाह्य भी है और आन्तरिक भी है। बाह्य उपयोग का सम्बन्ध बहिर्योग से और आन्तरिक उपयोग का सम्बन्ध अन्तर्योग से है। बहिर्योग पूर्ण हो जाने पर ही अन्तर्योग में प्रवेश सम्भव है!

"ठीक से न समझने के कारण ही पंचमकार के विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, वे तमाम भ्रान्तियाँ उन तन्त्र-साधकों के कारण फैली हुई हैं जो बिना महती आस्था के और बिना योग के ही तान्त्रिक बनकर भ्रष्टाचार के उन्नायक बने।"

इस गूढ़ प्रसंग के सम्बन्ध में तारानाथ भट्टाचार्य का कहना था कि "प्रकृति के अधीन रहना पशुभाव है। प्रकृति पर विजय प्राप्त करना 'वीरभाव' है। इसी प्रकार प्रकृति से मुक्त होना दिव्यभाव है।

"वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञान—ये तीनों मूढ़ता के लक्षण हैं। जिनमें ये लक्षण हैं—वह 'पशु' भाववाला है।"

"वृथा आशा क्या है?"—प्रश्न किया मैंने।

"हम जिस आशा में जीवित रहते हैं—उसमें कभी हमने कोई सार्थकता पायी है? बतलाइये। नहीं! सभी लोग आशा में जीवित रहते हैं। आशा के अभाव में जीवित रहना कठिन है। हम सब लोग आशा का सहारा लेकर ही जीवित रहते हैं।"

"आशा का अर्थ क्या है?"

"आशा का अर्थ है भविष्य।" थोड़ा रुककर भट्टाचार्यजी आगे बोले—"अतीत तो हमें सिवा क्लेश और दुःख के और कुछ भी नहीं दे जाता। पीछे लौटकर हम अपने अतीत को देखें तो दुःख का, कष्ट का, पीड़ा का, क्लेश का और व्यथा का समूह मिलेगा हमें। अतीत की गहराई में हमें केवल मिलेगा—असफलताओं और विफलताओं का ढेर। सपनों की राख। जरा-सी भी आनन्द की झलक हमें नहीं मिलेगी। सच बात तो यह कि—हम अतीत को भूल जाते हैं। भूलना अच्छा है। इसलिए कि हम अतीत के सहारे जीवित रह ही नहीं सकते। अगर जीना हो तो इसी समय हम गिर जायेंगे। जीवित रह ही नहीं सकते। हमारी प्रेरणा बनने के लिए अतीत में तो कुछ भी नहीं है। अतीत से हमें न प्रेरणा मिलती है—न सहारा मिलता है—और न तो किसी प्रकार की गति ही मिलती है जीने के लिए। हमें जीने की प्रेरणा अतीत से नहीं मिलती। मिलती है भविष्य से। अतीत से विरक्ति और अतीत की विस्मृति तथा भविष्य के प्रति आकर्षण मानव-स्वभाव है। भविष्य के आकर्षण का ही नाम 'आशा' है।

"आशा का मतलब है—जो कल नहीं हुआ—कल जो नहीं मिला। वह आनेवाले कल में होगा—वह आनेवाले कल में मिलेगा। जो अतीत में सम्भव न हो सका—वह आगे आनेवाले समय में सम्भव होगा। कहने की आवश्यकता नहीं—सम्भावना का यह जो सपना है—वास्तव में वही हमें जीवित रखता है। अतीत व्यर्थ गया—जाने दो—कोई हर्ज नहीं। भविष्य में अवश्य सफलता मिलेगी। भविष्य निश्चय सार्थक होगा। यह जो सम्भावना है—यह जो आशा है—वही हमें जीवन में खींचती चली जाती है। आशा के वश में होकर हम खिंचे चले जाते हैं। हम लोगों को तमाम कष्ट और दुःख झेलते हुए देखते हैं। फिर भी हम उन्हें जीते हुए देखते हैं। हमने लोगों को पीड़ा पाते हुए देखा, रोगग्रस्त देखा। फिर भी उनमें जीवेषणा भरी हुई देखी।

आश्चर्य है। संसार में इतना क्लेश और इतना दुःख है कि समस्त मानव-जाति को आत्महत्या कर लेनी चाहिए। जीवन में इतनी पीड़ा है कि जीवन असम्भव हो जाना चाहिए।

"आपने उमर खैयाम का नाम सुना होगा। बहुत बड़ा कवि था। उसने अपनी एक कविता में कहा है कि मैंने इसका कारण ज्ञानियों से पूछा। तमाम बुद्धिजीवियों से पूछा। तमाम तत्त्ववेत्ता मनीषियों से पूछा। मगर मुझे इसका उत्तर कहीं नहीं मिला। वे लोग भी मुझे नाना प्रकार के कष्टों से पीड़ित मिले। समाधान नहीं हुआ मेरा। तब मैंने निराश और हताश होकर एक दिन सिर उठाकर आकाश से पूछा—तुमने सबको दुःख में जीते हुए देखा है। क्या तुम मुझे यह बतला सकते हो कि जीने का रहस्य क्या है। इतना क्लेश ? इतनी पीड़ा ? इतना कष्ट ? मगर फिर भी मनुष्य जीये चला जा रहा है। क्या कारण है इसका ?

"उमर खैयाम ने अपनी कविता की अगली पंक्ति में लिखा है कि आकाश की ओर से एक शब्द सुनाई दिया मुझे उम्मीद ! आशा।

"वृथा आशा रखना पहली मूढ़ता है। वृथा आशा का मतलब है—इस बात की प्रतीति न हो कि जो हम चाहते हैं—वह चाहना ही व्यर्थ है। वह कभी किसी समय पूर्ण न होगा। हम जो माँगते हैं—वह कभी नहीं मिलेगा। मगर समय का धोखा! एक आशा का दीप बुझते ही हम कई दीप जला लेते हैं एक साथ—और हमें जीने की गति मिल जाती है। जीने का आकर्षण बढ़ जाता है। यह हम कभी सोचने का प्रयत्न नहीं करते कि जिसे हम आज अतीत कहते हैं—वह भी कभी भविष्य था। उसमें भी हमने कई सुनहरे सपने सँजोये थे। आशा के न जाने कितने बीज बोये थे। मगर उस बीज से एक भी फूल न खिला।

"आशा की व्यर्थता इसीसे सिद्ध हो जाती है कि काल के प्रवाह में आयु व्यतीत होती चली जा रही है—मगर जो गलती हमने अतीत में की थी—वही गलती वर्तमान में कर रहे हैं—और वही गलती भविष्य में भी करेंगे। एक दिन काल सामने आकर खड़ा हो जायेगा—लेकिन भूल करने से हम नहीं चूकेंगे तब भी।"

"इस मूढ़ता से उबरने का कोई मार्ग है ?" मैंने पूछा।

"उबरने का प्रश्न नहीं। प्रश्न है विचार करने और समझने का। अगर आप बुद्धिमान् हैं तो अपने अतीत में झाँकें और यह देखें कि पचास-साठ साल आपने जी लिया। जीवन के इतने लम्बे अर्से में आपकी कौन-सी आशा पूरी हुई ? आपने जैसा जीवन जीना चाहा था—वैसा जीया आपने ? आपने जैसा प्रेम चाहा था, वैसा मिला प्रेम आपको ? आपने जो सुख चाहा था वह सुख मिला आपको ? वैसी शान्ति मिली

आपको ? मिला वैसा आनन्द ? आप जैसा बनना चाहते थे, वैसा बन सके जीवन में ? नहीं। जिन आशाओं की गठरी लेकर आप जीवन-यात्रा पर निकले थे—उनमें से कितनी पूरी हुई कभी सोचा आपने ? आपने जो भी कुछ चाहा है—यदि आप उसे विस्तार से देखें तो समझ में आ जायेगा कि निराशा अथवा दुराशा क्या है ?

"आज तक किसीको किसीसे सुख नहीं मिला है। लेकिन सभी ने दूसरे से सुख चाहा है। क्या किसीको आज तक किसीसे सुख मिला है ? नहीं, कभी नहीं। कभी किसीने कहा भी है कि मुझे सुख मिला तो उनका कहना है कि—मैंने सुख को अपने भीतर खोजा और भीतर पाया। जब-जब मैंने दूसरे से सुख पाने का प्रयत्न किया—तब-तब मैंने दुःख ही पाया। सुख की खोज में दूसरे से दुःख ही मिला मुझे।

"मगर एक अति आश्चर्य की बात है।"

"वह क्या ?"—मैंने पूछा।

"जब हमें किसी वाञ्छित व्यक्ति से सुख नहीं मिलता तो हम एक दूसरी गलती करते हैं।"

"कौन-सी गलती ?"

"वह यह कि हम कहते हैं—दूसरे से दुःख मिला। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जब हमें किसीसे सुख नहीं मिल सकता तो किसीसे दुःख भी नहीं मिल सकता। सुख-दुःख दोनों की भ्रान्ति वास्तव में एक ही है। हम सोचते हैं—हम चाहते हैं कि हमें माता-पिता से, भाई-बहन से, पत्नी-पुत्र से और मित्र से सुख मिले। यह सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए कि सुख की जितनी भी सम्भावनायें हैं—वे सब हमारे पास हैं—हमारे भीतर हैं।

"जब हमें दूसरे से सुख नहीं मिलता—और असफलता और विफलता हाथ लगती है—तो कहते हैं कि दूसरे से दुःख मिला हमें। यह हमारी दूसरी भारी गलती है और है भारी भूल। हम अपने किसी आत्मीय से सुख की आशा रखते हैं—और जब समय आने पर वह आशा पूरी नहीं होती तो यह कहते हैं कि हमारे आत्मीय ने हमें दुःख दिया। हम यह समझने की कोशिश नहीं करते कि सारे सुख और सारे दुःख के कारण स्वयं हम ही हैं। दोनों के केन्द्र स्वयं हम ही हैं। यह न समझ सकना ही मूढ़ता है। वह इसलिए कि हम जीवन के नियम को समझ नहीं पाते। समझने का प्रयास भी नहीं करते, जब कि जीवन के नियम प्रति पल हमारे सामने प्रकट हो रहे होते हैं।

"हम जब भी किसीसे सुख चाहेंगे तो तुरन्त दुःख ही मिलेगा हमें। वह दुःख हमें किसी दूसरे से नहीं मिलता। वास्तव में दूसरे से सुख चाहने के कारण मिलता है। दुःख मिलने का कारण यह है कि हमने जीवन के नियम के विपरीत चलने का प्रयत्न किया है। इसलिए सुख के बजाय दुःख मिल जाता है हमें।

"प्रत्येक व्यक्ति दुःखी है। हम दुःख का कारण अपने जीवन को मानते हैं। गलत बात है। जीवन परमेश्वरी माँ भगवती का वरदान है, आशीर्वाद है। बड़ी मुश्किल से और न जाने कितनी प्रतीक्षा के बाद जीव को मानव-जीवन मिलता है। मानव-जीवन दुर्लभ है। इस विश्व ब्रह्माण्ड में मानव-जीवन जैसा और किसी प्राणी का जीवन नहीं है। जीवन में दुःख हो ही नहीं सकता। असम्भव है। वास्तव में जीवन में दुःख का कारण है—जीवन के शाश्वत नियम के प्रति अज्ञानता। जब भी हम उस नियम के विपरीत जाते हैं—तब हमें दुःख मिलता है। हम जीवन में न जाने कितनी आशाओं का जाल बुन लेते हैं। मगर जब वे आशाएँ पूरी नहीं होतीं, उनका जाल टूटता है, सपने बिखरते हैं, कल्पनाओं का महल गिरता है तब हम ईश्वर को दोष देने लग जाते हैं। अपने भाग्य को दोष देने लग जाते हैं।

"भाग्य हम सबके साथ है। हर व्यक्ति के पास उसका भाग्य है। मगर भाग्य का अर्थ बहुत कम ही लोग समझते हैं। भाग्य का अर्थ है—जीवन के परम नियम। हमें जीवन में सफलता तभी मिलती है जब हम भाग्य के साथ होते हैं। जब हम भाग्य के विपरीत हो जाते हैं तो हमें असफलता ही मिलती है। भाग्य वास्तव में किसीके विपरीत नहीं होता। सच तो यह है कि हम आशाओं का जो जाल बुनते हैं—उसीमें मौलिक भूल हमसे हो जाती है।"

"वह मौलिक भूल क्या है?"

"यह जानकर आश्चर्य होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर खालीपन का, रिक्तता का अनुभव करता है। वह हर समय अपने-आपमें यही अनुभव करता है कि वह खाली है—रिक्त है—उसके भीतर कुछ भी नहीं है।

"बस, यहीं से मनुष्य की आशाओं की दौड़ शुरू हो जाती है। कोई उस खालीपन को धन से भरना चाहता है। कोई यश-कीर्ति से भरना चाहता है, तो कोई उस रिक्तता को ज्ञान से भरना चाहता है। मगर फिर भी भीतर का वह खालीपन, वह अभाव और वह रिक्तता ज्यों की त्यों बनी रहती है। क्योंकि ये सब चीजें भीतर प्रवेश नहीं कर सकतीं. क्योंकि ये सब चीजें बाहर की हैं और बाहर ही रह जाती हैं।

"हम धन-दौलत जितना एकत्र करते हैं, उतना ही हमारे भीतर गरीबी और निर्धनता प्रकट होने लग जाती है। धनी व्यक्ति से अधिक गरीब व्यक्ति इस संसार में खोजना कठिन है। किसी बहुत बड़े गरीब को देखना हो तो बहुत बड़े अमीर व्यक्ति को देखना चाहिए। अमीर सबसे बड़ा गरीब है। अमीर व्यक्ति बाहर से धनी, मगर भीतर से बिलकुल निर्धन होता है। इसीलिए समय-समय पर बुद्ध, महावीर जैसे धनी राजपुत्र अमीरी का परित्याग कर राजपथ पर भीख माँगने के लिए चल पड़े।

"भूख दो तरह की है—पहली भूख है शरीर की और दूसरी भूख है आत्मा की। गरीब व्यक्ति का पेट खाली होता है और अमीर व्यक्ति की खाली होती है आत्मा। खाली पेट को भरना कठिन नहीं है। कठिन है खाली आत्मा को भरना। जब तक पेट खाली रहता है—तब तक खाली आत्मा की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। हमारी आत्मा खाली है, इसे हम नहीं समझ पाते। जब पेट भर जाता है तब आत्मा की ओर हमारा ध्यान जाता है। वास्तविक गरीबी और वास्तविक अभाव तब प्रारम्भ होता है जब हमारी बाहरी गरीबी और बाहरी अभाव समाप्त होता है।

"वास्तविक गरीबी आत्मा की गरीबी है। आत्मा का अभाव है। आत्मा का खालीपन है। और वह गरीबी, वह अभाव और वह खालीपन न धन से भर सकता है, न तो यश-कीर्ति, मान-सम्मान और प्रतिष्ठा से ही भर सकता है।

"प्रत्येक व्यक्ति यह जानना चाहता है—वस्तुतः मैं कौन हूँ। इसीका उत्तर आत्मा की भूख की तृप्ति है। इसीका उत्तर आत्मा के अभाव की पूर्ति है। इसीका समाधान आत्मा के खालीपन को भरना है।

"जिस समय इस प्रश्न का उत्तर मिल जायेगा, जिस दिन इस प्रश्न का समाधान मिल जायेगा उसी समय और उसी दिन पशुभाव समाप्त हो जायेगा।"

× × ×

"मैं कौन हूँ? के बाद दूसरा प्रश्न है—मैं कहाँ से आया हूँ? जिसका उत्तर मिलता है और जिसका समाधान होता है 'वृथा कर्म' से निवृत्त होने पर।"

"वृथा कर्म से आपका क्या तात्पर्य है?"—प्रश्न किया मैंने।

"वृथा कर्म का अर्थ अथवा तात्पर्य है—गलती कोई और करे—अपराधी कोई और हो—और सजा अथवा परिणाम कोई और ही भोगे। बहुत से ऐसे कर्म हैं, जो बिल्कुल व्यर्थ हैं, बेकार के हैं—लेकिन हम बराबर उस कर्म को किये ही जाते हैं।

"वृथा कर्म वह है, जिससे अहित हो, जिसका परिणाम दुःखद हो। जिससे कोई लाभ न हो। उदाहरण के रूप में क्रोध को ही लीजिये।" तारानाथ भट्टाचार्य बोले—"हम सब जानते हैं कि 'क्रोध' करना व्यर्थ का कर्म है। मगर हम-सब रोज ही किसी-न-किसी कारणवश क्रोध करते हैं और रोज ही क्रोध करके पछताते भी हैं और पछताने के बाद रोज ही मन में यह दृढ़ निश्चय करते हैं कि अब कभी क्रोध नहीं करेंगे। पश्चात्ताप हम तभी करते हैं जब कि क्रोध की व्यर्थता हमारे सामने प्रकट होती है। लेकिन वह क्षणिक होती है। दूसरे दिन हम फिर क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं। क्रोध करने से हमें कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि क्रोध सारे पापों का मूल है। क्रोध करने का मतलब है किसीकी गलती अथवा किसीके अपराध की सजा अपने-आपको देना। किसीने

हमें गाली दी, हमारा अपमान किया, यह गलती, यह अपराध उस आदमी का है, क्रोध हम कर रहे हैं, सजा हम अपने-आपको दे रहे हैं।

"ऐसे व्यर्थ के कर्मों से सिवा हानि के कोई लाभ नहीं होता हमें। मगर हम आदतवश बराबर क्रोध करते ही चले जाते हैं। ऐसे ही बहुत सारे ऐसे कर्म हैं—जिन्हें हम करते हैं और करने पर सफल भी होते हैं। मगर भीतर का हमारा जो अभाव है वह उस सफलता से पूर्ण नहीं होता। रिक्तता बनी ही रहती है। ऐसी स्थिति में हम पाते हैं कि सफलता मिलने पर भी कर्म व्यर्थ ही था। सच तो यह है कि जिस कर्म से हमारी आन्तरिक रिक्तता की निवृत्ति होती है, वही वास्तविक कर्म है।

"नेपोलियन का नाम सुना होगा। सिकन्दर को भी जानते होंगे। संसार की दृष्टि में दोनों अपने-अपने स्थान पर महान् थे। मगर उनकी वह महानता बाहरी थी। भीतर वे दोनों रिक्त थे। भीतर से अभावग्रस्त थे। उनके भीतर कुछ भी नहीं था। अन्तिम समय किसी बहुत बड़े दीन, दरिद्र की तरह मरे। यदि हम ध्यानपूर्वक, विचार-पूर्वक देखें तो हमें मालूम होगा कि हम जितने भी कर्म करते हैं वे सब अपने अहंकार की पूर्ति के लिए ही करते हैं। अपने 'मैं' को दृढ़ करने के लिए करते हैं। हमारा हर कर्म हमारे अहंकार और हमारे 'मैं' की तृप्ति के लिए होता है। आत्मा की तृप्ति के लिए नहीं होता।"

"आत्मतृप्ति कब होती है?"

"जब हम सार्थक कर्म करते हैं।"

"सार्थक कर्म क्या हैं?"

"जिससे कोई शुभ परिणाम तुरन्त न निकले वह व्यर्थ कर्म है। जिसका फल सार्थक हो, शुभ हो और तत्काल प्राप्त हो वह सार्थक कर्म है। उदाहरण के रूप में इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। हम क्रोध करते हैं तो भीतर-ही-भीतर जल जाते हैं। मस्तिष्क उत्तेजित हो जाता है। पूरे शरीर में रक्त का संचार भी तीव्र हो उठता है। यह वृथा कर्म है। इसे हम व्यर्थ का कर्म कहते हैं।

"किसी अबोध शिशु को देखकर हम मुस्करा देते हैं तो भीतर ही भीतर हम खिल जाते हैं। हमें अपने मुस्कराने का तुरन्त फल मिल जाता है—यह सार्थक कर्म है।

"रास्ते में एक अंधा आदमी चला जा रहा है। अचानक ठोकर खाकर गिर पड़ता है। हम दौड़कर उसे उठा देते हैं। किसीका रास्ते में सामान गिर जाता है। हम उठाकर उसे थमा देते हैं। कोई असहाय व्यक्ति है—उसकी निःस्वार्थ सहायता कर देते हैं। कोई बीमार है—उसकी निःस्वार्थ भाव से सेवा कर देते हैं। ये कृत्य तो हैं छोटे और साधारण, मगर भीतर बहुत बड़ा अर्थ रखते हैं। दूसरे के प्रति इतना

करने का जो सद्भाव है—वह हमारे भीतर तुरन्त आनन्द भर देता है और हमारी आत्मा अनजाने में तृप्ति का अनुभव कर लेती है। कहने का मतलब यह कि सद्भाव-पूर्ण किया गया इस प्रकार का कर्म तुरन्त आत्मा में फलित होता है, क्योंकि उसमें वास्तविक प्रेम की सुगन्ध रहती है।"

× × ×

"मैं कौन हूँ ? और मैं कहाँ से आया हूँ ? के बाद तीसरा प्रश्न है—मैं कहाँ जाऊँगा ? जिसका उत्तर मिलता है और जिसका समाधान होता है 'वृथा ज्ञान' से निवृत्त होने पर।"

"वृथा ज्ञान क्या है ?"

तारानाथ भट्टाचार्य महाशय हँसकर कहने लगे—"संसार में सर्वत्र ज्ञान का विस्तार है। संसार में कहीं भी ज्ञान का अभाव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के पास पर्याप्त मात्रा में ज्ञान है। यदि यह कहा जाय कि आवश्यकता से अधिक है तो अतिशयोक्ति न होगी। हर व्यक्ति यही समझता है कि उसके पास ज्ञान का भण्डार भरा है और यही कारण है कि वह अपना ज्ञान हर किसीको बाँटता रहता है।

"इस संसार में हम ज्ञान को जितना मुक्तहस्त से वितरित करते हैं—उतना और कोई वस्तु को नहीं। हालाँकि हमारे ज्ञान को कोई स्वीकार नहीं करता, मगर हम हैं कि उसे हर किसीको बाँटते चले जाते हैं बिना किसीके माँगे। क्योंकि वह पहले से ही भरा है ज्ञान से। फिर भला हमारा ज्ञान क्यों स्वीकार करेगा ?

"कोई किसीका परामर्श भी नहीं स्वीकार करता। ज्ञान के बाद सबसे अधिक दिया जाता है परामर्श और सबसे कम लिया भी जाता है परामर्श।

"हमें यह सोचना चाहिए कि जिस ज्ञान को हम बराबर बाँटते फिरते हैं—वह कभी हमारे काम आया है अथवा नहीं ? कभी हमने उसका उपयोग किया है या नहीं और कभी वह ज्ञान हमारे जीवन का और हमारी आत्मा का अन्तरंग हिस्सा बना या नहीं ? उस ज्ञान से हमारी अतृप्त आत्मा की तृप्ति हुई अथवा नहीं। क्योंकि आत्मा की एकमात्र भूख ज्ञान ही है। जिस ज्ञान से आत्मा तृप्त हो वही वास्तविक ज्ञान है। वही सार्थक ज्ञान है। बाकी सब व्यर्थ।

"क्या वास्तविक ज्ञान ने हमारी आत्मा का कभी स्पर्श किया ? यदि हम इस प्रश्न पर बार-बार विचार करें तो उत्तर मिलेगा कि 'नहीं'।

"जो ज्ञान हमारी आत्मा का स्पर्श नहीं करता, हमारे हृदय की धड़कन नहीं बनता, हमारे रक्त में प्रवाहित नहीं होता और हमारे मस्तिष्क की मज्जा नहीं बनता तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि वह ज्ञान केवल शब्दमात्र है, जो हमारे भीतर

बराबर गूंजता रहता है। ऐसा ज्ञान वृथा ज्ञान है। इसलिए कि वह हमारे जीवन को रूपान्तरित करने में असमर्थ होता है। सार्थक ज्ञान वह है जो हमारे जीवन को रूपान्तरित कर देता है। हमारी आत्मा को सुगन्ध से भर देता है। जो ज्ञान स्वयं के काम नहीं आता, वह भला और किसीके क्या काम आयेगा ? जो ज्ञान स्वयं अपने के काम में न आये,किसी और के भी काम में न आये—ऐसे ज्ञान के भण्डार से क्या लाभ ? ऐसे ही वृथा ज्ञान के भार से दबे व्यक्ति को तन्त्र मूढ़ कहता है और कहता है पशु।

"वास्तव में ज्ञान पाने की वस्तु नहीं है—रूपान्तरित होने की वस्तु है। ज्ञान का अद्भुत और मौलिक ग्रन्थ है गीता। इसी गीता को ही लीजिये। जीवनभर हम गीता पढ़े। जीवनभर गीता को सुने। क्या लाभ ? गीता से लाभ तो तब है जब कि हम गीता-ज्ञान में अपने-आपको रूपान्तरित कर लें। ज्ञान की सार्थकता रूपान्तरण में है। जिस ज्ञान से रूपान्तरण नहीं होता—वह व्यर्थ है।"

तन्त्र के दार्शनिक पक्ष का आधार

तारानाथ भट्टाचार्य निश्चय ही योग और तन्त्र के निष्णात विद्वान् थे। इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने जिस ढंग से तन्त्र के दार्शनिक पक्ष को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया था उससे जहाँ मेरी खोज-वृत्ति को गहरी प्रेरणा मिली, वहीं विभिन्न प्रकार की जिज्ञासाओं ने भी जन्म ले लिया, मेरे मन में, जिसके वशीभूत होकर तन्त्र के कर्मपक्ष और ज्ञान-पक्ष की तरह उसके आध्यात्मिक पक्ष को भी अपनी खोज का विषय बना लिया मैंने। निश्चय ही वह मेरी खोज और मेरे अन्वेषण का संक्रान्ति-काल समझा जायेगा।

× × ×

यह तो निर्विवाद सत्य है कि तन्त्र का जो दार्शनिक पक्ष है वह पूर्ण रूप से 'अद्वैत-वाद' का प्रतिपादन करता है। 'सामरस्य भाव' उसका चरम और अन्तिम प्राप्तव्य है। तन्त्र के समक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण दो समस्याएँ हैं। पहली समस्या है शरीर की और दूसरी समस्या है संसार की। शरीर और संसार दोनों बंधन हैं। इन दोनों बन्धनों से मुक्त होने पर ही साधना के वास्तविक लक्ष्य को उपलब्ध हुआ जा सकता है।

इस प्रक्रिया में तन्त्रसाधक के सामने मुख्य रूप से दो प्रश्न उभरते हैं—पहला है—शरीर और संसार पर किस प्रकार विजय प्राप्त हो ? दूसरा है—शरीर और संसार से मुक्त कैसे हों ?

कहने की आवश्यकता नहीं, ये दोनों प्रश्न अतिगम्भीर हैं। अपनी धारणा के अनुसार अब तक दो ही युगपुरुष अथवा महापुरुष इस संसार में अवतरित हुए हैं। पहले हैं भगवान् श्रीकृष्ण और दूसरे हैं महामुनि पतञ्जलि।

शरीर और संसार पर विजय प्राप्त कैसे हो ? इसका समाधान किया है अपनी गीता के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण ने। शरीर और संसार से मुक्त कैसे हों ? इसकी सर्वांगीण व्यवस्था बतलायी है अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'योगदर्शन' द्वारा महामुनि पतञ्जलि ने।

तन्त्र-दर्शन में इन दोनों महापुरुषों के सिद्धान्तों का समन्वय है। वह गीता के योग और सांख्य दोनों के आधार पर अध्यात्म के विषय में अपने विचारों को व्यक्त करता है।

शरीर, मन और आत्मा। शरीर सदैव और प्रत्येक परिस्थिति में परतन्त्र है। वह कभी भी और किसी भी तरह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मन भी शरीर की तरह परतन्त्र है। मगर प्रयास करने पर वह स्वतन्त्र हो सकता है। तीसरी वस्तु है आत्मा। आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र है। वह किसी भी स्थिति अथवा अवस्था में परतन्त्र नहीं हो सकती।

मन शरीर की माँग करता है। एक शरीर के छूटते ही दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिए प्रयास करने लग जाता है तत्काल। मन शरीर से जुड़ा है और यही उसकी परतन्त्रता है। शरीर भी प्रकृति से जुड़ा है और यही उसकी भी परतन्त्रता है। इसी प्रकार आत्मा भी मन से जुड़ी हुई है। यही आत्मा का जीवभाव है। तीनों एक-दूसरे से बँधे हुए हैं और यही बंधन मनुष्य के आवागमन यानी जन्म और मृत्यु का कारण है। साधना दो तरह की है। पहली साधना है—शरीर को मन से तोड़ने की साधना जिसे तपश्चर्या अथवा योग कहते हैं। दूसरी साधना है—मन को आत्मा से तोड़ने की साधना जिसे वेदान्त, ज्ञान अथवा 'सांख्य' कहा जाता है।

तपश्चर्या यानी योग का मार्ग काफी लम्बा है। उसकी यात्रा भी काफी कठिन है। साथ ही उसका परिणाम भी सन्दिग्ध है।

बस, ये ही दो निष्ठायें हैं—योग और सांख्य। सांख्य का मतलब है—मात्र ज्ञान ही पर्याप्त है। ज्ञान-प्राप्ति के अलावा कुछ करना आवश्यक नहीं है। मगर 'योग' का मतलब है—बहुत कुछ करना होगा। लम्बी यात्रा करनी पड़ेगी। काफी कुछ झेलना पड़ेगा। तभी जाकर कोई परिणाम निकलेगा। तन्त्र-दर्शन का कहना है—मात्र केवल आत्मा ही सत्य है। सांख्य का प्रश्रय लेकर वह कहता है—आत्मा में सभी वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है। ठीक से इसे समझ लेने पर स्वयं ही पूर्ण अद्वैत की स्थिति बन जाती है।

●

साधक कालीचरण

जीवन का जो परम सत्य है—वह न कर्म से मिलता है और न तो ज्ञान से ही, क्योंकि वह हमें सदैव उपलब्ध है। सत्य की जो स्मृति है—हमने केवल उसीको खो दिया है। बस, उसी स्मृति को जगाना है। उसे जगाने की जो प्रक्रिया है, उसीका नाम 'तान्त्रिक साधना' है।

तारानाथ भट्टाचार्य के बाद मेरा जिन महापुरुष से साक्षात्कार हुआ वे महाशय थे कालीचरण साधक। गोरा रंग, लम्बा कद, मुण्डित सिर, सफाचट दाढ़ी-मूँछ, गौरांग शरीर पर काषाय वस्त्र। पातालेश्वर गली के एक छोटे-से मकान में रहते थे कालीचरण साधक। अवस्था यही थी साठ के लगभग। हमेशा सहज समाधि की अवस्था में रहते थे वह।

कालीचरण साधक उच्चकोटि के साधक तो थे ही, इसके अलावा उद्भट विद्वान् और चिन्तक भी थे वह। उनका कहना था—"भारतीय मनीषियों ने आध्यात्मिक विषयों पर जितना जो कुछ चिन्तन-मनन किया है—वह मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त है। पहले भाग के अन्तर्गत जो चिन्तना है उसका नाम है 'योग'। इसी प्रकार दूसरे भाग के अन्तर्गत जो चिन्तना है उसका नाम है 'सांख्य'। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि विश्व में आध्यात्मिक चिन्तना की जितनी भी प्रणालियाँ हैं, वे सब कहीं-न-कहीं इन दोनों प्रणालियों से प्रभावित हो गयी हैं। योग और सांख्य—ये दोनों शब्द और उसके गर्भ में रहस्यमय ढंग से विद्यमान आध्यात्मिक तथ्य और सत्य, पूर्ण रूप से मौलिक और भारतीय हैं और जाने-अनजाने में उनका प्रभाव संसार के सभी धर्माचार्यों, मनीषियों, तत्त्ववेत्ताओं पर पड़ा है। अरस्तू, सुकरात, अब्राहीम, इजे किकल, लाओत्से, कनफ्यूशियस् आदि जितने भी संसार के तत्त्वचिन्तक हैं, वे योग और सांख्य के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे और न तो कभी उन्होंने उनका नाम ही सुना था। मगर उनकी चिन्तन-प्रणाली कहीं-न-कहीं योग और सांख्य में से किसी न किसी एक पर अवश्य आधारित होगी। सांख्य के अनुसार तन्त्र-दर्शन का कहना है कि सत्य की जानकारी केवल ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। किसी प्रकार की साधना, उपासना अथवा किसी भी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता नहीं, जब कि 'योग' का कहना है कि बिना तपश्चर्या के, बिना कर्म किये कुछ भी सम्भव नहीं। लक्ष्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। दोनों अपनी-अपनी जगह सही हैं। तन्त्र दोनों को स्वीकार करता है मगर अपनी दृष्टि से।

तन्त्र-दर्शन का कहना है—'सांख्य' परम निष्ठा है। मानव का अब तक का जो श्रेष्ठतम विचार है वही सांख्य का सार-सूत्र अथवा सार-तत्त्व है। यदि सच्चे अर्थों में जीवन में 'ज्ञान' उपलब्ध हो जाय तो फिर कुछ शेष नहीं रह जाता जीवन में करने के लिए। ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार की परेशानी अथवा झंझट नहीं रह जाती। कोई समस्या भी नहीं रह जाती। मगर इसका मतलब यह नहीं कि परेशानी, झंझट और समस्याएं समाप्त हो जाती हैं। वे रहती हैं, पर ज्ञानवान् के लिए वे सब मात्र लीलाएँ होती हैं। सारी परेशानियों को, सारी झंझटों को और सारी समस्याओं को नाटक, खेल, अथवा लीला के सिवा और कुछ नहीं समझता है वह।

ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति जीवन को गम्भीरता से स्वीकार करना व्यर्थ समझता है। उसके लिए ज्ञान गम्भीर है। कर्म गम्भीर नहीं है। सभी प्रकार के कर्म उसके लिए स्वप्नवत् हैं।

सांख्य और योग—यानी ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा क्या अपने-आपमें पूर्ण नहीं हैं?—मेरे इस प्रश्न के उत्तर में साधक महाशय ने कहा—"दोनों में कोई आपसी विरोध नहीं है। दोनों अपने-आपमें पूर्ण और महत्त्वपूर्ण हैं। जिसके लिए सांख्य उपयोगी है उसके लिए योग व्यर्थ है। जिसके लिए योग अनुकूल है उसके लिए सांख्य प्रतिकूल है।

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्व

"तन्त्र-दर्शन ने व्यक्तित्व की दृष्टि से मनुष्य को दो रूपों में विभाजित किया है। एक वह—जो बहिर्मुखी है और दूसरा वह—जो अन्तर्मुखी है। बहिर्मुखी व्यक्तित्ववाले व्यक्ति के लिए 'योग-मार्ग' ही सर्वोत्तम मार्ग है और अन्तर्मुखी व्यक्तित्ववाले के लिए एकमात्र सांख्य। इसलिए कि बहिर्मुखी व्यक्ति ही कर्म कर सकता है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्ववाला व्यक्ति नहीं। वह तो ज्ञान के अथाह सागर में आकण्ठ डूबा रहना ही स्वीकार करेगा। यह कहना असंगत न होगा कि विरोध इन दो प्रकार के व्यक्तित्वों में है। योग और सांख्य में नहीं। योग को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति के लिए 'धर्म' सेवा बन जाता है, जब कि सांख्य को अपनानेवाले अन्तर्मुखी व्यक्ति के लिए 'धर्म' ध्यान बन जाता है। मगर सबसे बड़ी बात तो यह है कि पूर्ण रूप से न कोई व्यक्ति बहिर्मुखी होता है और न तो अन्तर्मुखी ही। आदमी दोनों का मिश्रण है। इसलिए न योग में पूर्ण रूप से सफलता मिलती है और न तो सांख्य में ही मिलती है पूर्ण सफलता।"

"तो क्या मनुष्य को योग और सांख्य दोनों की साधना एक साथ करनी चाहिए?"—मैंने प्रश्न किया।

"बाघ और बकरी की मित्रता सम्भव नहीं है। दोनों को एक घाट पर पानी पिलाना दुरूह कार्य है। इसी प्रकार एक ही व्यक्ति के लिए दो प्रकार की साधना

करना कठिन है। वह कभी भी किसी लक्ष्य पर पहुँच न सकेगा। हमें अपने व्यक्तित्व को समझना चाहिए। जितना हम अपने-आपको समझ सकते हैं उतना और कोई नहीं। यदि हमारा व्यक्तित्व बहिर्मुखी अधिक मात्रा में है तो हमारे लिए योग का मार्ग श्रेष्ठ होगा। यदि हमारा व्यक्तित्व अन्तर्मुखी अधिक मात्रा में है तो हमारे लिए सांख्य का मार्ग उपयोगी होगा।

"बहिर्मुखी व्यक्ति योग-मार्ग पर चलते-चलते अन्त में उस स्थान पर पहुँच जाता है—जहाँ बाहर उसके लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड से उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसलिए उसके ऐसी स्थिति में—जब कि न बाहर कुछ शेष है और न तो भीतर ही कुछ शेष बचा है—व्यक्ति भीतर और बाहर परम शून्य का मात्र केवल अनुभव करने लग जाता है और अन्त में परम शून्य में—परम सत्ता का दर्शन लाभ उसे होता है। उस समय उसके भीतर सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड भासता है। ऐसी अवस्था में तब उसे अपनी आत्मा के अन्तराल में यह अनुभव होता है—मैं ब्रह्म हूँ। मैं ब्रह्म हूँ की अनुभूति वास्तव में भीतर-बाहर—दोनों स्थानों में विराट् के दर्शन का ही एकमात्र परिणाम है। योग-मार्ग का यही चरम प्राप्तव्य है।"

× × ×

"इसी प्रकार सांख्य यानी ज्ञान-मार्ग का साधक भी अन्तर्मुखी अवस्था में भीतर इतना डूब जाता है, इतना लीन हो जाता है कि उसके अपने-आपमें फिर कुछ शेष बचता ही नहीं। वह भी अन्त में वहीं पहुँच जाता है—जहाँ कर्म-मार्ग का पथिक योगी पहुँचता है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—दोनों अपनी-अपनी साधना की चरम अवस्था में पूर्ण अभाव यानी परम शून्य का—भीतर और बाहर—अनुभव करते हैं। मगर पहला साधक—साधना की चरम अवस्था में 'मैं ब्रह्म हूँ' कहता है और जब कि दूसरा साधक साधना की चरम अवस्था में कहता है 'नेति' 'नेति'। योगी का अन्तिम शब्द है 'मैं ब्रह्म हूँ!' और ज्ञानी का अन्तिम शब्द है 'नेति-नेति'। दोनों की उपलब्धि एक ही है। उसमें कोई अन्तर नहीं। केवल उपलब्धि का मार्ग अलग-अलग है। पहला बाहर से यात्रा करके मंजिल पर पहुँचता है, जब कि दूसरा पहुँचता है मंजिल पर भीतर से यात्रा करके। रही बात 'मैं ब्रह्म हूँ' और 'नेति-नेति' की। तो दोनों में केवल शाब्दिक अन्तर है। भाव और अर्थ दोनों का एक ही है। खैर।"

× × ×

"अद्वैत की स्थिति में पहुँचने के लिए ये ही दो ढंग हैं और हैं दो परम मार्ग। आप योग-मार्ग से चलकर 'अद्वैत' भाव को उपलब्ध हो सकते हैं और सांख्य-मार्ग से भी चलकर। 'द्वैतभाव' दो प्रकार से मिट सकता है—योग के द्वारा सब कुछ स्वीकार करके या फिर सांख्य के द्वारा सब कुछ अस्वीकार करके।"

●

साधक कौलेश्वर ब्रह्मचारी

तन्त्र की दार्शनिक भूमि में 'कर्म'

तन्त्र के दार्शनिक पक्ष को लेकर मैं साधक महाशय के बाद जिस महापुरुष से मिला–वे थे कौलेश्वर ब्रह्मचारी। कौलेश्वर ब्रह्मचारी आसाम के निवासी थे। कुण्डलिनी योग पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे कुछ समय के लिए काशी आये हुए थे। आयु ८० वर्ष के लगभग थी। मगर देखने में वे ४०-४५ वर्ष से अधिक के प्रतीत नहीं होते थे। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें बराबर स्थिर रहती थीं। चेहरे पर भी अपूर्व तेज था। वार्तालाप के सिलसिले में पता चला कि बाल्यावस्था में—ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान करते समय उन्हें सर्प ने डस लिया था। प्रबल विष के प्रभाव से तत्काल उनकी मृत्यु हो गयी थी। परम्परानुसार परिवार के लोगों ने उनके शव को नदी में प्रवाहित कर दिया था। नदी के प्रवाह में बहता हुआ शव काफी दूर जाकर तट पर लग गया था। वहाँ एक महात्मा ध्यानस्थ बैठे हुए थे। सहसा महात्मा का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने आँखें खोलीं तो सामने नदी में एक युवक का शव देखकर एकबारगी विचलित हो उठे वह। वे महात्मा सिद्ध योगी थे। उनके स्पर्श करते ही शव तुरन्त जीवित हो उठा। इस प्रकार अकालग्रस्त बालक का पुनर्जन्म हो गया। महात्मा ने योग-दीक्षा देकर उसका नाम रखा कौलेश्वर ब्रह्मचारी। बाद में महात्मा ने तन्त्र की भी दीक्षा दी और कौलेश्वर ब्रह्मचारी को साधना की उच्च अवस्था में प्रतिष्ठित कर दिया उन्होंने।

कौलेश्वर ब्रह्मचारी का कहना था कि 'जीवन' ही 'कर्म' है। 'मृत्यु' 'कर्म का अभाव' है। जन्म कर्म का आरम्भ है और मृत्यु है कर्म का अन्त। जीवन में कर्म से रिक्त रहना या कर्म को रोकना असम्भव है। जीवन और कर्म एक-दूसरे के पर्याय हैं। जीवनकाल में कर्म से छुटकारा पाना नितान्त असम्भव है। जीने की प्रत्येक क्रिया 'कर्म' है। जीने के लिए हम जो श्वास लेते हैं वह भी कर्म है। मतलब यह कि जीते जी कर्म से मुक्ति नहीं। भारतीय संन्यासी-समाज हमेशा कर्म से मुक्त होने का परामर्श देता रहा है। संन्यासी-समाज को यह भी समझ में नहीं आया कि—परामर्श देना या मार्ग बतलाना भी एक प्रकार का कर्म ही है। मगर उस परामर्श और मार्ग-दर्शन का परिणाम यह हुआ कि 'कर्म' तो नहीं छूटा—हाँ, उसके स्थान पर निठल्लापन और आलस्यपन अवश्य पैदा हो गया समाज में।

"निष्क्रियता का क्या अर्थ है ?"—मैंने पूछा।

ब्रह्मचारीजी बोले–"निष्क्रियता का मतलब है—व्यर्थ के कर्मों का जाल ! जिनका

कोई फल नहीं और न कोई परिणाम है। जो व्यक्ति 'कर्म' को छोड़कर भागता है, उसके कर्म करने की जो ऊर्जा है—वह व्यर्थ के कर्मों के करने में सक्रिय हो उठती है।"

× × ×

"तन्त्र के अनुसार कर्म और जीवन-एक-दूसरे के नाम हैं। तन्त्र न कर्म को छोड़ने का परामर्श देता है और न तो कर्म को बदलने का ही आदेश देता है। उसका यह भी प्रश्न नहीं है कि 'आप क्या कर रहे हैं?' और 'क्या नहीं कर रहे हैं?' तन्त्र के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि 'आप क्या हैं?' और 'क्या नहीं हैं?' अगर आप भीतर गलत हैं—तो आप जो भी कर्म करेंगे वह गलत ही होगा—सही नहीं और उसका फल या परिणाम भी गलत होगा। यदि आप भीतर सही हैं—तो आप जो भी कुछ करेंगे—वह सही ही होगा और उसका परिणाम या फल भी सही ही होगा। कर्म का प्रश्न नहीं है। आपके भीतर जो आत्मा है यानी जो चेतना है, कर्म उसीसे प्रवाहित होता है। कर्म का मूल स्रोत वहीं है। सारे कर्मों की व्यवस्था वहीं मूल स्रोत में है। प्रश्न उसी आत्मा या चेतना का है। मगर हमारी-आपकी—सबकी आत्मा बीमार है, अस्वस्थ है।"

"समझा नहीं मैंने आपका आशय ?"

"प्रश्न कर्म का नहीं—आत्मा का है"—ब्रह्मचारीजी बोले—"और आत्मा हम सबकी बीमार है— अस्वस्थ है, विक्षिप्त-सी है। आत्मा की बीमारी सबसे बड़ी बीमारी है। शरीर की बीमारी और मन की बीमारी तो ठीक हो सकती है मगर आत्मा की बीमारी के लिए कोई औषधि नहीं।"

"आत्मा की बीमारी क्या है ?"

" 'मैं हूँ' यही है आत्मा की बीमारी।"

ब्रह्मचारीजी ने थोड़ा थमकर आगे कहना शुरू किया—"आपने कभी अपने शरीर की तरफ ध्यान दिया है ? जब आपका शरीर स्वस्थ रहता है, तो उस अवस्था में आपका ध्यान शरीर की तरफ नहीं रहता। स्वस्थ शरीर का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि शरीर का ज्ञान न रहे। देहशून्यता का भाव आ जाय। जब आप अस्वस्थ रहते हैं, जब आपका शरीर क्लान्त और कष्टमय रहता है, तभी आपको, हमको—सबको शरीर के प्रति बोध होता है। स्वस्थता की अवस्था में देह-शून्यता का भाव रहता है हममें। मगर शरीर में जहाँ कहीं वेदना हुई कि हममें तुरन्त शरीर के प्रति बोध जागृत हुआ। जिस अंग में वेदना होती है, उसी अंग या उसी स्थान पर हमारी चेतना भी घनीभूत हो जाती है अपने-आप। घोर वेदना के समाप्त होते ही 'चेतना' भी वहाँ से बिदा ले लेती है।"

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"आपने कभी 'वेदना' शब्द पर ध्यान दिया है ? बड़ा ही

अद्‌भुत शब्द है वेदना ! वेदना शब्द के दो अर्थ हैं—पहला है, दुःख अथवा पीड़ा और दूसरा है—ज्ञान ! एक और शब्द है—और वह है 'वेद'।

"आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि 'वेद' से ही 'वेदना' का जन्म हुआ है। एक ओर जहाँ वेदना का अर्थ है—ज्ञान अथवा बोध, वहीं दूसरी ओर उसका अर्थ है–पीड़ा, कष्ट और व्यथा। यह अर्थ अकारण नहीं है। वास्तव में जहाँ पीड़ा है, व्यथा है, कष्ट है वहीं बोध भी है, ज्ञान भी है। आपके शरीर में पीड़ा नहीं है, वेदना नहीं है तो समझ लीजिये कि आपको उस अवस्था में अपने शरीर का भी बोध अथवा ज्ञान नहीं है। वह आपकी विदेह-अवस्था है।"

ब्रह्मचारीजी आगे बोले—"ठीक इसी प्रकार यदि आपकी आत्मा स्वस्थ है तो आपको 'मैं' का पता ही नहीं चलेगा। आप अपने-आपको तब तक 'मैं' कहेंगे और आपको तब तक 'मैं' का बोध होता रहेगा जब तक आपकी आत्मा बीमार रहेगी, रुग्ण रहेगी, अस्वस्थ रहेगी।"

"आत्मा स्वस्थ कैसे होती है ?"

"ज्ञान से ! आत्मा का भोजन है—शान्ति और एकान्त और औषधि है ज्ञान। ज्ञान आत्मा के तल पर आपको स्वस्थ कर देता है। आत्मा का—ज्ञान द्वारा स्वस्थ होने पर–आप होते तो हैं, लेकिन आपको ऐसा नहीं लगता कि 'मैं हूँ'। आपको ऐसा लगता है कि 'मैं' तो लुप्त हो गया है। केवल 'हूँ' रह गया है। 'मैं हूँ' में से 'मैं' तो लुप्त हो जाता है, केवल रह जाता है 'हूँ'। इस अवस्था में 'हूँ' ही काफी है।"

ब्रह्मचारीजी बोले—कभी आपने यह सोचने-समझने की कोशिश की है कि जब कोई 'मेरा' मरता है तो कष्ट क्यों होता है ? पीड़ा क्यों होती है ? क्यों इसलिए पीड़ा होती है, दुःख होता है कि जो 'मेरा' अपना था—वह मर गया ! नहीं ! इसलिए नहीं होती। इसका कारण यह है कि 'मेरा' होने के फलस्वरूप आपके 'मैं' का जो हिस्सा था वह मर गया। सच बात तो यह है कि किसीके मरने से किसीको कष्ट, दुःख या वेदना नहीं होती। कोई दुःखी और सन्तप्त भी नहीं होता। लेकिन—'मेरा है' इसलिए दुःख होता है। 'मेरा' न रहे तो फिर कोई दुःख या सन्ताप नहीं। कोई वेदना भी नहीं। यही 'मेरा' ही माया है और उसी माया के वशीभूत होकर हम सब 'मेरा' को बढ़ाते चले जाते हैं जीवनभर। मेरा मकान हो। मेरी जमीन हो। मेरा व्यापार हो। मेरा राज्य हो। मेरी मान-प्रतिष्ठा हो। मेरी शान हो। मेरा धन हो। मेरा पुत्र हो। मेरी पत्नी हो। मेरा नौकर-चाकर हो। मेरा सब कुछ हो।

"मेरा का विस्तार जितना बढ़ता जायेगा–और 'मैं' जितना मजबूत होता जायेगा–उतना ही हमारा और आपका क्लेश बढ़ता जायेगा और बढ़ती जायेगी पीड़ा व

परेशानियाँ भी। अगर मेरा न रहे, मेरा सदा के लिए बिदा हो जाय तो 'मैं' को भी नष्ट होने में देर न लगेगी। 'मैं' अपना अस्तित्व तुरन्त खो बैठेगा।"

× × ×

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"तन्त्र की दार्शनिकता इस मामले में—इस विषय में बहुत गहरी है। वास्तव में शर्माजी! कोई किसीके लिए न दुःखी होता है और न तो होता है पीड़ित या सन्तप्त! सब अपने लिए दुःखी, पीड़ित और सन्तप्त होते हैं। इसी प्रकार न कोई किसीके लिए प्रसन्न और आनन्दित ही होता है। सभी अपने लिए दुःखी और आनन्दित होते हैं। कोई किसीके लिए जीता भी नहीं। सभी अपने 'मैं' के लिए ही जीते हैं। जिन-जिन लोगों से हमें अपने 'मैं' को सहयोग मिलता है—सहारा मिलता है—वे-वे लोग अपने मालूम पड़ते हैं और इसी प्रकार जिन-जिन लोगों से हमारे 'मैं' को असहयोग मिलता है—वे-वे लोग पराये मालूम पड़ते हैं। इसलिए जिसका 'मैं' समाप्त हो जाता है, उसका न कोई अपना रह जाता है और न कोई रह जाता है पराया ही। न कोई मित्र रह जाता है और न तो रह जाता है शत्रु ही। सभी उसके लिए समान हो जाते हैं। उसके भीतर 'समत्व' का भाव पैदा हो जाता है। समत्व-बुद्धि आ जाती है। गीता का 'समत्वं योग उच्यते' यहाँ चरितार्थ हो जाता है।

"कहने का मतलब यह कि सारा जाल और सारा विस्तार केवल 'मैं' पर ही खड़ा है। 'मैं' के कारण ही सारा सांसारिक बन्धन है। 'मैं' के नष्ट होते ही सारा जाल, सारा विस्तार और सारा बन्धन अपने-आप टूट जाता है और हो जाता है नष्ट। किसी भी प्रकार का प्रयास इसके लिए नहीं करना पड़ता। सच पूछा जाय तो तान्त्रिक साधना इसी 'मैं' को नष्ट कर साधक के भीतर समत्वभाव और समत्वबुद्धि उत्पन्न करने का एकमात्र प्रयास है।"

साधक के लिए जीवन एक अभिनय

"मैं का नाश कैसे होता है?"

" 'मैं' का नाश होता है ज्ञान से। और जिस ज्ञान से 'मैं' का नाश होता है—वह उपलब्ध होता है—कर्म के प्रति अनासक्त भाव से और कर्म के प्रति अनासक्त भाव का आविर्भाव उस समय होता है, जब हम जीवन को अभिनय समझने लग जाते हैं और अपने-आपको समझने लग जाते हैं 'अभिनेता'।

"तन्त्र के दार्शनिक पक्ष का कहना है कि 'कर्म' के प्रति आसक्त अज्ञानी लोग जैसे कर्म करते हैं—ठीक उसी प्रकार साधक को भी अनासक्त भाव से कर्म करना चाहिए' इसके सम्बन्ध में गीता का बहुत सुन्दर श्लोक है—

'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥'

"इस श्लोक में दो बातें हैं। पहली है—ठीक वैसा ही कर्म करे जैसा आसक्त व्यक्ति कर्म करता है। दूसरी है—अन्तर कर्म में न करें। अन्तर आसक्ति में करें। क्या होगा इससे? इससे जीवन अभिनय हो जायेगा। अभिनेता भी तो कर्म ही करता है। तन्त्र का कहना है कि साधक को अभिनेता की भाँति होना चाहिए। अभिनेता कर्म तो करता है, लेकिन कर्म में उसकी आसक्ति कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ती।

"भारतीय संस्कृति में भगवान् राम और भगवान् कृष्ण ही दो ऐसे महापुरुष हुए हैं जिनका सारा कर्म अनासक्त भाव से ओतप्रोत रहा है। मगर दोनों के जीवन में अन्तर भी रहा है। भगवान् राम के जीवन को हम 'चरित्र' कहते हैं, जब कि भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन को कहते हैं 'लीला'। एक का जीवन चरित्र है और दूसरे का जीवन है लीला मात्र। राम अपने जीवन के प्रति गम्भीर थे, जब कि श्रीकृष्ण का जीवन एक अभिनय के सिवा और कुछ नहीं था। इसलिए हम कृष्ण की जीवन-कथा को लीला कहते हैं, चरित्र नहीं। चरित्र में बड़ा ही गम्भीर होना पड़ता है, चरित्र करनेवाले व्यक्ति को चरित्र के साथ संयुक्त होना पड़ता है, जब कि लीला करनेवाले व्यक्ति को लीला के साथ विमुक्त होना पड़ता है। इसीलिए भगवान् राम को 'पुरुषोत्तम' और भगवान् कृष्ण को 'नरोत्तम' कहा गया है, क्योंकि ये दोनों नाम 'उत्तम पुरुष' के वाचक हैं।"

उत्तम पुरुष

"तन्त्र ने उत्तम पुरुष की व्याख्या अपने ढंग से की है। हमारे शास्त्रों में क्षर और अक्षर—इन दो शब्दों की चर्चा की गयी है। इन दोनों शब्दों का मतलब है जड़ और चेतन। जड़ अथवा भूत मात्र 'क्षर' हैं और उसमें स्थिर रहनेवाला जो चेतन है, वह 'अक्षर' है। 'अक्षर' पुरुष है और पुरुष अन्तर्यामी और अविनाशी है। दूसरे शब्दों में हम 'अक्षर' को 'आत्मा' भी कह सकते हैं। लेकिन दोनों–क्षर और अक्षर के अलावा एक और तत्त्व है, एक और पुरुष है, जिसे उत्तम पुरुष यानी 'परमात्मा' कहते हैं। अतः जो क्षर और अक्षर से भी उत्तम है—वह 'पुरुषोत्तम' कहलाता है। इस प्रकार हमारी भारतीय संस्कृति ने उत्तम पुरुष को 'पुरुषोत्तम' और पुरुषोत्तम को परमेश्वर, परमात्मा और ईश्वर माना है। पूर्ण, पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम है। पुरुषोत्तम उस पूर्णत्व का प्रतीक है—जिसे प्राप्त करना मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है। तन्त्र धर्म का विश्लेषण करते हुए कहता है कि धर्म इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का संयोजक है। पुरुषार्थ, वर्णाश्रम-व्यवस्था और कर्म जहाँ एक ओर व्यक्ति के सामाजीकरण का माध्यम बनकर व्यक्ति तथा समाज का तादात्म्य स्थापित करते हैं—और व्यक्ति को संस्कृतिवान् बनाते हैं, वहाँ दूसरी ओर उनके द्वारा व्यक्ति का इहलौकिक जीवन पारलौकिकता की ओर उन्मुख होता है। तन्त्र के अनुसार पुरुषार्थ, वर्णाश्रम और कर्म,

मोक्ष के साधन हैं। सिद्धान्ततः इनकी परिणति मोक्ष में होती है। मोक्ष—जिसे तन्त्र सामरस्य महामिलन कहता है—पूर्णत्व की अवस्था है और पूर्णत्व पुरुषोत्तम में है।

"मोक्ष पुरुषोत्तम की गति की प्राप्ति है। हिन्दू-संस्कृति की दृष्टि में मानव-जीवन का उद्देश्य केवल पुरुष बने रहना नहीं है। यही उसकी सीमा नहीं है। यहाँ जीवन का उद्देश्य है—पुरुष से पुरुषोत्तमत्व की प्राप्ति। पुरुषोत्तमत्व की प्राप्ति एक सतत उद्विकासी प्रक्रिया है। धर्म, कर्म और आवागमन उस प्रक्रिया के आधार हैं। तन्त्र के अनुसार जीवन आत्मा की वह यात्रा है—जिसका गन्तव्य मोक्ष या सामरस्य भाव है। मानव-जीवन एक सतत खोज है उस पूर्णत्व की—जो ज्ञानातीत, गुणातीत, कर्मातीत और अव्यक्त है।

"नर, नारायण और नरोत्तम—मानव-जीवन की उद्विकासी प्रक्रिया की तीन अवस्थाएँ हैं। नर पुरुष का प्रतीक है—शाश्वत मानव का। नारायण, नर में दैवत्व का और नरोत्तम, नर के उद्विकास की उस चरम अवस्था का जहाँ इहलौकिक नर, पारलौकिक शाश्वत विराट् में मिल जाता है। मोक्ष या 'सामरस्य' इस विकास की उच्चतम गति का प्रवेशद्वार है। धर्म, अर्थ, काम वे माध्यम हैं जिनके द्वारा जीवन के विभिन्न पहलुओं को एकीकृत करके—उन्हें मोक्ष की ओर उन्मुख किया जाता है। जीवन का पूर्णत्व उसे ही प्राप्त होता है—जो इहलौकिक जीवन में पूर्णत्व को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसलिए हिन्दू-विचारधारा में जहाँ एक ओर इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है, वहाँ दूसरी ओर इहलौकिक जीवन में पूर्णत्व क्या है, व्यक्ति-विकास में कौन-सी अवस्था पूर्णत्व की अवस्था है और पूर्णत्व की अवस्था को प्राप्त हुए मनुष्य की क्या विशेषताएँ हैं, इस पर भी विचार किया गया है। जैसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, वर्ण, कर्म, निवृत्ति, प्रवृत्ति सम्बन्धी विचारों का वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक गत्यात्मक विकास हुआ और समयानुसार उनमें परिवर्तन होते रहे हैं उसी प्रकार इहलौकिक पूर्णत्व या पूर्ण मनुष्य की धारणा का भी गत्यात्मक विकास हुआ है और समयानुसार उसमें परिवर्तन होता रहा है। उत्तम पुरुष की धारणा है—जिसका उद्भव वैदिक काल में हुआ है और जिसे युग-युग की मर्यादाओं के अनुसार ढाला गया है। इसी गत्यात्मक विकास के परिणामस्वरूप पूर्ण पुरुष के प्रतीक के रूप में उत्तम पुरुष, योगी, तान्त्रिक, स्थितप्रज्ञ, अर्हत, बोधिसत्त्व, केवलिन्, जीवन्मुक्त और सत्याग्रही जैसी धारणाओं का विकास हिन्दू संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति की विचारधारा में हुआ है।"

उत्तम पुरुष कौन है ?

"उत्तम पुरुष वह है जो इहलौकिक पूर्णता को प्राप्त करके पारलौकिक पूर्णत्व का अधिकारी हो गया है। इसलिए उत्तम पुरुष न तो नितान्त इहलौकिक है और न नितान्त

पारलौकिक। उत्तम पुरुष वह है—जिसके इहलौकिक जीवन में पारलौकिक उन्मुखता का समावेश हो गया है। वही इहलौकिक जीवन पूर्ण है जिसमें धर्मप्राण 'अर्थ' और 'काम' की साधना होती है। धर्मप्राण अर्थ और काम की साधना से तात्पर्य है—धर्म द्वारा निर्धारित आदर्श नैतिक नियमों के अनुसार अर्थ और काम की साधना करना। अर्थ और काम की साधना समाज और संस्कृति से होती है। अतः इहलौकिक पूर्णत्व का अर्थ हुआ—समाज और संस्कृति के आदर्श नियमों के साथ व्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य। यह तभी होता है जब व्यक्ति का पूर्ण सामाजीकरण हो जाय। उत्तम पुरुष की धारणा उस पूर्ण पुरुष की धारणा है जो इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का मध्यबिन्दु है। इसलिए उत्तम पुरुष का एक पहलू सामाजिक और दूसरा आध्यात्मिक है। इहलौकिक जीवन का निष्पादन करते हुए जो पुरुष आत्मपरायण तथा ब्रह्मपरायण है—वही उत्तम पुरुष है।

"सारांश यह कि पुरुषार्थ आवश्यक है। क्योंकि मानव-जीवन का उद्देश्य केवल पुरुष ही बने रहना नहीं है। मानव-जीवन का उद्देश्य है—मानवी स्तर से मानवीयता की ओर अग्रसर होना, जिसका तात्पर्य है—पुरुष से पुरुषोत्तम और नर से नरोत्तम होना। इस साधना में व्यक्ति और समाज दोनों हैं। क्योंकि पुरुष से पुरुषोत्तम और नर से नरोत्तम बनने की प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति से समाज की साधना होती हैं और समाज से व्यक्ति की। व्यक्ति और समाज में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, बशर्ते उनके सम्बन्धों का प्रणयन धर्म का आश्रय लेकर हो।" (लेखक की 'तान्त्रिक संस्कृति और साधना' पुस्तक से)

× × ×

तान्त्रिक दृष्टि में उत्तम पुरुष

"उत्तम पुरुष वास्तव में ज्ञान और कर्म का प्रकाशस्तम्भ है। कर्म के आधार पर ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वय तन्त्र में हुआ है। तन्त्र के अनुसार कर्म, ज्ञान और भक्ति योग है, जिनका आधार निष्कामता और स्थितप्रज्ञता है। क्योंकि निष्कामता और स्थितप्रज्ञता के द्वारा ही आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता आती है। जो कर्म ज्ञान और भक्ति, निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता पर आधारित है। उसीके द्वारा आत्मा और ब्रह्म यानी शिव-शक्ति का योग होता है। वही कर्म, ज्ञान और भक्ति आदर्श है जो निष्काम और धर्मपरायण है। तन्त्र के अनुसार वही उत्तम पुरुष है, जो स्थितप्रज्ञ है। (स्थितप्रज्ञ के विषय में आगे विस्तार से विचार किया जायेगा।) तन्त्र ने स्थितप्रज्ञ और समाधिस्थ में कोई अन्तर नहीं किया है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाधि का आधार स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञता की उत्पत्ति समत्वबुद्धि से होती है और समत्वबुद्धि का आधार निष्कामता है और दूसरा है समभाव। इसलिए तन्त्र में उसे स्थितप्रज्ञ कहा है—जो मन की उठी हुई समस्त कामनाओं का त्याग

करता है। आत्मा के द्वारा आत्मा में सन्तुष्ट रहता है। राग, भय और क्रोधरहित होता है। न दुःख से दुःखी होता है और न सुख की इच्छा रखता है। शुभ, अशुभ के विषय में समभाव रखता है और समस्त इन्द्रियों को वश में कर—ईश्वर में, महाशक्ति में यानी परमेश्वरी में रत रहता है। स्थितप्रज्ञ वह कर्मयोगी है, जो कर्म को कर्म समझकर करता है और कर्म फलासक्ति से, संगरहित होने के कारण शुभ-अशुभ, दुःख-सुख, राग, भय और क्रोध से विचलित नहीं होता। कर्म करते हुए स्थितप्रज्ञ वैसे ही शान्त रहता है, जैसे नदियों के बराबर प्रवेश करने पर समुद्र। तन्त्र का स्थितप्रज्ञ संसार में प्रवृत्त होते हुए भी संसार से वैसे ही निवृत्त रहता है जैसे पंक से पंकज। सच तो यह है कि तन्त्र में उत्तम पुरुष की धारणा—निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के जीवन-दर्शन पर आधारित है।

"तन्त्र का कहना है—कार्य तो आप करें—ठीक उसी प्रकार और उसी कुशलता से, जैसे अज्ञानी और मोह में डूबा हुआ संसारी व्यक्ति आसक्त होकर किया करता है। लेकिन आप रहें पूरी तरह अनासक्त और निर्लिप्त। कहने का मतलब यह कि आप अभिनय करें और संसार को एक विशाल रंगमंच के सिवा और कुछ न समझें।"

कौलेश्वर ब्रह्मचारी ने कहा—"आप साधकों को मदिरापान करते हुए देखते हैं। मांस खाते हुए देखते हैं। भोग-विलास में डूबे हुए देखते हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वे आसक्त हैं। वास्तव में वे ऊपर से आसक्त दिखलाई देते हैं—मगर भीतर से पूर्ण अनासक्त रहते हैं और रहते हैं निर्लिप्त। एक उच्चकोटि का साधक यह कभी नहीं सोचता है कि वह अच्छा कर रहा है या बुरा। वह केवल यही जानता है कि जो कुछ उससे हो रहा है—वह मात्र अभिनय है। अभिनय के सिवा और कुछ नहीं है।

"तन्त्र की यह बहुत गहरी बात है। मोह से आकण्ठग्रस्त अज्ञानी जन आसक्त होकर कर्म में जैसे डूबे हुए दिखलाई देते हैं—हम भी उसी प्रकार डूबें। डूबने में फर्क नहीं होना चाहिए। फर्क डूबनेवाले में होना चाहिए। फर्क कर्म में नहीं होना चाहिए। फर्क कर्ता में होना चाहिए। फर्क बाहर मत करें। फर्क भीतर करें। तन्त्र का सारा जोर इसी बात पर है कि जो भीतर का सत्य है—उसे पूरी तरह रूपान्तरित कर डाला जाय, बदल डाला जाय। वहाँ हम बस अभिनेता हो जायें।"

●

योगी बटेश्वर गिरि

साधक की दृष्टि में जीवन एक जुआ

सुनारपुरा चौराहे से केदारघाट की ओर जानेवाली सँकरी सड़क पर चिन्तामणि गणेश का एक अति प्राचीन मन्दिर है। ४० वर्ष पहले उसी मन्दिर में एक महात्मा रहते थे। नाम था बटेश्वर गिरि। बटेश्वर गिरि गणपति के सिद्ध साधक थे। गणपति का इष्ट था उन्हें। 'हिन्दू देवी-देवताओं का वैज्ञानिक रहस्य' शीर्षक पुस्तक लिखते समय मेरा बटेश्वर गिरि से परिचय हुआ था। गिरि महाशय गिरनार पर्वत निवासी स्वामी मणिमुक्तानन्द गिरि के शिष्य थे। मणिमुक्तानन्द गिरि आकाशचारी सिद्ध योगी थे। वे आकाश-मार्ग से गिरनार से हिमालय की नित्य यात्रा करते थे। खैर, बटेश्वर गिरि बहुत बड़े मनस्वी, वीतराग और स्थितप्रज्ञ जीव थे। तान्त्रिक साधना प्रसंग की चर्चा होने पर उन्होंने कहा—"साधक की दृष्टि में जीवन एक जुआ के सिवा और कुछ नहीं है। जीवन छल है, जुआ है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'द्यूतं छलयतामस्मि··· ··· ···।' यानी छल करनेवालों में मैं जुआ हूँ।

"जीवन में सभी कुछ छल है और जीवन की जो छल-स्थिति है—जैसे जुए में प्रकट होती है—वैसी और कहीं नहीं। जीवन जुआ है और जुआ में जोवन का मार्मिक रूप जो छल है—वह अपनी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति को उपलब्ध होता है।

"जीवनभर हम प्रयत्न करते हैं जो भी पाने की—उसे कभी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। लगता है कि मिलेगा। लगता है कि अब मिला। लगता है कि बस, अब मिलने में कोई देर नहीं। मगर बार-बार निशाना चूक जाता है और जब मृत्यु का समय आता है तब मनुष्य पाता है कि जो भी चाहा था और जो भी सोचा था—वह कुछ भी नहीं मिला। वह कुछ भी पूरा नहीं हुआ। केवल कामना की और अपनी वासना की राख ही हाथ में रह जाती है। मृत्यु के क्षण में जो पीड़ा है, जो तकलीफ है और जो कष्ट है—वह मृत्यु का नहीं। वह व्यर्थ गये जीवन का होता है। जो लोग जीवन को-जीवन की सार्थकता को और जीवन के आनन्द को प्राप्त कर लेते हैं—वे मृत्यु से पीड़ित होते हुए देखे नहीं जाते। उन्हें तो मृत्यु गहरा विश्राम मालूम होती है। मगर प्रायः लोग मृत्यु से दुःखी और पीड़ित ही देखे जाते हैं। सभी को यही लगता है कि वह जीवन चला गया, जिसमें पाने के लिए बहुत सारे सपने थे, इच्छाएँ थीं, बड़ी आकांक्षाएँ थीं। बड़े दूर के लम्बे सपने थे, जिन्हें पूरा हुए बिना ही वह मृत्यु को उपलब्ध हो जाता है।

"मृत्यु का जो कष्ट है, जो पीड़ा है, वह जीवन की व्यर्थता के कारण है। सारा जीवन व्यर्थ चला गया। कोई सपना साकार नहीं हुआ। कोई इच्छा और अभिलाषा पूरी नहीं हुई। यही मृत्यु का दंश है।

"इसलिए किसीने बुद्ध को मरते समय दुःखी नहीं देखा। सुकरात को भी नहीं देखा मरते समय पीड़ित। महावीर को भी नहीं देखा, क्योंकि उन महापुरुषों को मृत्यु एक परम हितैषी और परम मित्र की भाँति आती हुई दिखलाई दी थी। लेकिन हमें शत्रु की भाँति आती हुई मालूम पड़ती है। क्यों? इसका कारण क्या है? इसलिए कि हमारी वासनाएँ और हमारी कामनाएँ तो पूर्ण हुई नहीं। हमें अभी और समय चाहिए। अभी और जीवन चाहिए। हमारी कामनाएँ, हमारी इच्छाएँ और हमारी वासनाएँ तो अभी अपूर्ण हैं। पूरी नहीं हुई हैं। अभी हमें उन सबको पूर्ण करने के लिए भविष्य चाहिए।

"इच्छाओं और कामनाओं के विस्तार के लिए भविष्य की आवश्यकता है। भविष्य न हो तो इच्छाओं और कामनाओं आदि को फैलने के लिए स्थान नहीं रह जाता। भविष्य तो चाहिए ही, तभी हमारी इच्छाओं की शाखाएँ फैल सकेंगी। वर्तमान से इच्छा व कामना का सम्बन्ध नहीं है। इच्छा और कामना वर्तमान में नहीं होती। हमेशा भविष्य में होती है। कामनाओं व वासनाओं का जाल वर्तमान में नहीं, हमेशा भविष्य में होता है। अगर हम वास्तव में, विशुद्ध रूप से वर्तमान में हों तो हमारे चित्त में किसी भी प्रकार की वासना नहीं रह जायेगी। क्योंकि वासना वर्तमान में हो ही नहीं सकती। वासना या कामना होती है—आनेवाले कल में, आनेवाले क्षण में। वासना या कामना का सम्बन्ध हमेशा भविष्य से है। यदि हम और गहराई में जायँ तो पता लगेगा कि हमारा मन भविष्य इसलिए पैदा करता है कि बिना भविष्य के वासनाओं को फैलायेगा वह कहाँ? इसलिए जो लोग वासनाओं और कामनाओं से मुक्त होना चाहते हैं—उनके लिए केवल एक ही प्रक्रिया है और वह यह कि भविष्य को छोड़ दो और वर्तमान में जियो। वर्तमान से आगे मत बढ़ो। जो क्षण, जो समय हाथ में है उसको ही जी लो। आनेवाले क्षण या समय का विचार ही मत करो। जब वह आ जायेगा, तब उसे भी भोग लेंगे, उसे भी जी लेंगे।

"जो व्यक्ति क्षण-क्षण जीने लगता है—उसके चित्त में वासना का कोई उपाय ही नहीं रह जाता। क्योंकि वासना के लिए भविष्य का विस्तार चाहिए।"

× × ×

"मृत्यु हमें पीड़ा देती है। दुःख देती है, क्योंकि मृत्यु के साथ प्रथम बार हमें पता चलता है—अब कोई भविष्य नहीं है। भविष्य का दरवाजा बन्द कर देती है मृत्यु। बस, वर्तमान ही रह जाता है मृत्यु के समय और उस वर्तमान में रह जाते हैं

केवल टूटे हुए सपने और टूटी हुई वासनाओं के खण्डहर। तमाम अपूर्ण इच्छाओं की राख होती है। तमाम असफलताओं की ढेर होती है। विषाद होता है। सन्ताप होता है।"

× × ×

"हम सब लोग बहुत से जन्म ले चुके हैं। हजारों वर्ष जी चुके हैं। हमारा यह पहला जीवन नहीं है। हर जीवन में हमने यही किया है। फिर समय माँगा है। हमें फिर जन्म मिल गया है। हर बार हमारी कामना और वासना अपूर्ण रह गयी है। हम पुनर्जन्म पा गये हैं और हर बार जब मृत्यु आती है तो हम फिर उतने के उतने ही रह जाते हैं। अधूरे के अधूरे। मृत्यु घबड़ा देती है। क्योंकि भविष्य समाप्त हो जाता है और तब जीवन की व्यर्थता दिखलाई पड़ती है। लेकिन तब कोई प्रयोजन नहीं। तब कोई अर्थ नहीं। तब जीवन लगता है—एक जुआ था जिसमें हम हार गये।

"जुए की एक विशेषता है। जुए में कभी कोई जीतता नहीं। यही उसका छल है और हरएक जीतता हुआ मालूम पड़ता है। यही उसका छल है। हर व्यक्ति जीतने की आशा लेकर जुआ खेलता है और यह सोचता है कि जीत उसकी निश्चित है। लेकिन जुए में कोई कभी जीतता नहीं और जो जीतते हुए मालूम भी होते हैं—वे केवल और बड़ी हारों की तैयारी कर रहे होते हैं।

"जुआ में हारनेवाला व्यक्ति यही सोचता है कि इस बार हार गया—भाग्य ने साथ नहीं दिया—अगली बार जीत तो निश्चित है और वह हारता चला जाता है। कभी-कभी व्यक्ति जीत भी जाता है। मगर वह जीत और बड़ी हार का आयोजन करा देती है। उस जीत से यही लगता है कि और आगे भी जीत हो सकती है। जो जीत जाता है वह यही सोचता है कि एक बार और जीत लूं तो फिर नहीं खेलूंगा। मगर ऐसा होता नहीं। जो एक बार जीत जाता है उसके लिए फिर रुकना असम्भव हो जाता है। क्योंकि जीत का जो स्वाद और जो रस मन को एक बार मिल जाता है उससे जीतने की इच्छा और प्रबल हो उठती है और वही प्रबल इच्छा 'हार' में ले जाती है। जो हारता है—वह सोचता है—अगली बार अवश्य उसकी जीत होगी और अन्ततः जुआ ही चलता रहता है। सभी उसमें हारनेवाले ही सिद्ध होते हैं।

"वास्तव में शुद्धतम छल है जुआ। अन्त में कोई जीतता नहीं। अन्त में हाथ खाली का खाली ही रह जाता है। खेल काफी लम्बा चलता है। हार-जीत भी बहुत होती है। कोई हारता है तो कोई जीतता है। कोई बनता है तो कोई मिटता है। रुपया एक से दूसरे के पास और दूसरे से तीसरे के पास आता-जाता रहता है। बहुत बड़ा लेन-देन होता है। अन्त में किसीकी जीत नहीं होती। केवल हारने-जीतने की इस दौड़ में लगे हुए सभी लोग टूट जाते हैं, मिट जाते हैं, बिखर जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जीवन का प्रतीक है जुआ।

"सारा जीवन जुआ है।

"यह मत सोचिये कि जो जुआ खेल रहे हैं—वही जुआ खेल रहे हैं। जुए का खेल बहुत तरह का है। कोई छोटा दाँव लगाता है तो कोई बड़ा दाँव लगाता है। किसी-की हार-जीत प्रतिपल होती है तो किसीकी हार-जीत का हिसाब इकट्ठा मृत्यु के समय होता है। लेकिन हम-सब जुआ खेल रहे हैं और जब तक व्यक्ति अपनी तरफ नहीं आता—तब तक जुए में ही होता है वह। कहने का मतलब यह कि जो आदमी दूसरे में उत्सुक है वह जुए में ही होता है। दूसरे में उत्सुकता जुआ है। चाहे वह उत्सुकता—प्रेम की हो—धन की हो—यश की हो—पद की हो—चाहे मान-प्रतिष्ठा की हो। इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जब तक हम सब दूसरे पर निर्भर हैं तब तक एक गहरा जुआ खेल रहे हैं। यदि आपको दूसरे भी-अपने में उत्सुक दिखलाई पड़ते हैं तो आप निश्चित समझ लें कि आप दोनों एक गहरे जुए में भागीदार हैं।

"जुआ अकेले नहीं खेला जा सकता। उसमें दूसरे की भी आवश्यकता है। इसलिए जो व्यक्ति ध्यान की एकान्तता को—एकाकीपन को उपलब्ध हो जाता है—वही व्यक्ति जीवन के जुए के बाहर हो जाता है।

"जिस काम में—दूसरे की आवश्यकता हो—समझ लेना चाहिए कि जुआ होगा। जिसमें दूसरा अनिवार्य हो—समझ लेना चाहिए कि वहाँ दाँव है। जिस क्षण आप अकेले होने के लिए तैयार हों दूसरा बिल्कुल ही अर्थपूर्ण न रह जाय—उस दिन समझें आप जुए के बाहर हो रहे हैं।

"ध्यान के अलावा जुए के बाहर होने का कोई दूसरा मार्ग या उपाय नहीं है। इसीलिए तान्त्रिक साधना में ध्यानयोग को प्रमुख स्थान दिया गया है। (ध्यानयोग के विषय में आगे विस्तार से चर्चा की जायेगी।) ध्यान के अतिरिक्त सभी उपाय जुआ खेलने के ही उपाय हैं। यह दूसरी बात है कि कोई एक जुआ पसन्द करता है तो कोई दूसरा। मगर जुआ जुआ ही है। मगर जीवन के अन्त में यदि कोई एक चीज आप जान सकते हैं कि मैंने पा ली है—तो वह आपकी आत्मा है। आत्मा के अलावा आप जो भी कुछ पा लेंगे—मृत्यु आपसे छीन लेगी। आपने जीवन में जो कुछ पाया है—जो कुछ संग्रह किया है—वह सब मृत्यु आपसे छीन लेगी।

"आपने शायद पढ़ा या सुना होगा कि सिकन्दर जब मरा और जब उसकी लाश की अर्थी निकली—तो उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर लटके हुए थे। जानते हैं क्यों? मरते समय सिकन्दर ने स्वयं कहा था कि मरने के बाद उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर लटके रहने चाहिए ताकि लोग देखें कि सिकन्दर महान् भी इस संसार से खाली हाथ जा रहा है। मेरे हाथों में भी कुछ नहीं है। सब कुछ छूट गया उससे। वह दौड़ बेकार गयी। वह जुआ सिद्ध हुआ।

"वह वही सिकन्दर था—जो मरने के दस साल पहले यूनानी फकीर डायोजनीज से मिला था। उस फकीर ने सिकन्दर से पूछा था कि 'कभी तुमने सोचा सिकन्दर कि अगर तुम पूरी दुनिया जीत लोगे तो फिर क्या करोगे ?' जानते हैं शर्माजी ! उस फकीर की यह बात सुनकर सिकन्दर उदास हो गया था और उसने कहा कि इससे मुझे बड़ी चिन्ता होती है—क्योंकि दूसरी तो कोई दुनिया नहीं है। अगर यह मैंने जीत ली तो सच ही फिर मैं क्या करूँगा ? अभी उसने दुनिया जीती नहीं थी। अगर जीत लेगा तो भी वासना उदास होगी। सारी दुनिया जीतने के बाद मैं करूँगा क्या ? और वही सिकन्दर मरते समय बहुत कुछ जीतकर मरा था। उसे बहुत बड़ा जुआड़ी समझना होगा। उसने सब कुछ दाँव पर लगाया था। बहुत सारे ढेर लगा लिये थे जीत के। मगर मरते समय उसका यह कहना कि 'देख लें लोग, मेरे हाथ भी खाली हैं।' विचारणीय है।

"सिकन्दर जैसा सम्राट् भी यहाँ भिखारी की तरह मर जाते हैं। कभी-कभी कोई भिखारी यहाँ सम्राटों की तरह मरता है। बुद्ध के हाथ भरे हुए थे। सिकन्दर के हाथ खाली थे। क्या मामला था। किस चीज से सिकन्दर का हाथ खाली था ? किस चीज से बुद्ध के हाथ भरे हुए थे ? बुद्ध ने अपने-आपको पाने का प्रयास किया था। तो हाथ उनके भरे हुए थे। सिकन्दर ने कुछ और पाने का प्रयास किया था। स्वयं को छोड़कर प्रयास किया था—तो हाथ खाली थे। इससे कोई सम्बन्ध नहीं है कि आप क्या पाने का प्रयास कर रहे हैं ? आपका जीवन एक जुआ है। यदि आप अपने को छोड़कर कुछ भी प्राप्त करने का प्रयास करेंगे, तो अन्त में आपके हाथ खाली ही होंगे। आप संसार से हारे हुए बिदा होंगे।

"जुआड़ी की हम निन्दा करते हैं। उसे पागल समझते हैं। एक बात बड़े आश्चर्य की है। हर व्यक्ति अपने को ठीक और अगले को पागल समझता है। लेकिन जब तक मनुष्य के जीवन में धार्मिक क्रान्ति पैदा नहीं हो सकती—जब तक मनुष्य अपने को पागल समझना शुरू नहीं कर देता और जब कोई व्यक्ति यह समझ लेता है, जान लेता है कि उसका सारा जीवन एक लम्बा पागलपन है—उसी दिन से उसके जीवन में क्रान्ति होनी शुरू हो जाती है। जब तक आप दूसरों पर हँसते हैं—तब तक समझना चाहिए कि आप व्यर्थ हँसते हैं। जिस दिन आपको अपने-आप पर हँसी आने लगे—तो समझिये मार्ग बदल गया जीवन का। आपके जीवन की यात्रा कुछ और हुई।"

बटेश्वर गिरि ने कहा—"तान्त्रिक साधना के जितने भी अंग हैं उनमें 'ध्यान' और 'जप' मुख्य हैं। जब मैंने ध्यान के सम्बन्ध में अपने गुरु से पूछा तो वे बोले—'ध्यान करने के पहले तू दो स्थानों पर हो आ। एक तो जहाँ जुआ होता है वहाँ जाकर बैठ और

देख कि लोग वहाँ क्या कर रहे हैं। तुझे कुछ करना नहीं है। केवल निरीक्षण करना है। दो महीने बाद तू मुझे आकर कहना।'

× × ×

"दो महीने बाद आया और मैंने कहा—'लोग पागल हैं।' तब मेरे गुरु ने कहा—'अब मैं तुझे दूसरी साधना का सूत्र देता हूँ। अब तू तीन महीने मरघट में बैठ और लोगों की लाश को जलते हुए देख।'

"तीन महीने बाद मैं आया और गुरु से कहा कि 'मैं देखकर आया हूँ—सारे जीवन का अन्त मरघट पर हो रहा है।' तब गुरु ने कहा—'अब तू 'ध्यान' की गहरी यात्रा पर जा सकता है।'

"जुआ और मृत्यु को जो समझ ले वह ध्यान और जप की अन्तर्यात्रा पर निकल सकता है।"

× × ×

तान्त्रिक ध्यानयोग

"आपने तान्त्रिक साधना में ध्यान और जप को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। ध्यान तो कई प्रकार का है। तन्त्र में किस ध्यान को महत्त्व दिया गया है?"

बटेश्वर गिरि ने कहा—"सोलह प्रकार का ध्यान है, जिनमें एक है 'निश्चल ध्यानयोग।' गीता में इसी ध्यान को प्रमुखता दी गयी है। तन्त्र में इसी ध्यान को 'गर्भासन ध्यान' कहते हैं।

"मन की दो अवस्थाएँ हैं—एक चंचल मन की अवस्था है और एक स्थिर मन की अवस्था है। चंचल मन यानी अस्थिर मन हमेशा भविष्य में ही होता है। कल्पना में होता है। सपने में होता है, जब कि भविष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व है वर्तमान का। जब हम यह कहते हैं 'इसी क्षण'—इतना कहने में भी वह क्षण वर्तमान का जा चुका होता है। एक 'क्षण' हमारे हाथ में है—अस्तित्व का—लेकिन 'मन' सदा वासना में, भविष्य में होता है। इसलिए अस्थिर मन कहीं होता ही नहीं। जहाँ उसे होना चाहिए—वहाँ होता नहीं और जहाँ न होना चाहिए—वहाँ होता है वह। वर्तमान में होना चाहिए, मगर वर्तमान में अस्थिर मन होता ही नहीं। यह अस्थिर मन ही सारी समस्याओं का कारण है।

"ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करनेवाले व्यक्ति को हम अधार्मिक नहीं कह सकते हैं। अधार्मिक की यह परिभाषा नहीं है। ईश्वर की सत्ता को माननेवाला व्यक्ति ही धार्मिक हो सकता है—यह बात नहीं।

"हमारे देश में बहुत से ऐसे महापुरुष हुए हैं—जो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। फिर भी वे पूर्ण धार्मिक थे पूर्ण आस्तिक थे। यदि भगवान् बुद्ध और महावीर की धार्मिकता और आस्तिकता में किञ्चित् सन्देह होता तो इस धरती पर, इस

संसार में कोई भी व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता था। धार्मिक ग्रन्थों पर विश्वास न करनेवाले को भी हम नास्तिक अथवा अधार्मिक नहीं कह सकते हैं। अधार्मिक और नास्तिक व्यक्ति वह है जिसके पास अस्थिर मन है और जिसे स्थिर मन का कोई अनुभव नहीं है। मन स्थिर होते ही उसका सम्बन्ध तुरन्त परम सत्ता से स्थापित हो जाता है। जिसका स्थिर मन परमसत्ता से जुड़ा है—वही सच्चा धार्मिक व आस्तिक है।

"गीता में इसीको निश्चल ध्यानयोग कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है कि जो निश्चल ध्यानयोग को उपलब्ध होता है वह मेरे में एकीभाव से ठहर जाता है। निश्चल ध्यान का मतलब है—अस्थिर मन को छोड़ दें। स्थिर मन को उपलब्ध हो जायें। ध्यान का मतलब यह नहीं है कि आप माला लेकर बैठ जायें और राम-राम, कृष्ण-कृष्ण या शिव-शिव जपने लगें। माला फेरना बुरा नहीं है। नाम-जप भी करना बुरा नहीं है। माला फेरिये। मगर उसे ध्यान मत समझ लीजिये। ध्यान का मतलब है निश्चल हो जाना। मन का न दौड़ना—न माला में—न जप में—न राम-राम में। अगर मन अस्थिर है—तो इन सबसे कुछ भी न होगा। श्रीकृष्ण कहते हैं—कि जो मुझे निरन्तर भजते हैं वही मेरे एकीभाव में स्थित होते हैं। यहाँ 'निरन्तर' शब्द अत्यन्त मूल्यवान् है। अगर आप राम-राम कहते हैं तो वह भी भजन निरन्तर न होगा। क्योंकि दो राम के बीच जो थोड़ी-सी जगह होगी वह बिना राम के छूट जायेगी। निरन्तर भजन का एक ही अर्थ हो सकता है कि 'शब्द' न हो, भाव हो। क्योंकि भाव में बीच में खाली जगह नहीं होती। भाव के बीच में अन्तराल नहीं होता। शब्द के बीच में अन्तराल होता है। भाव और शब्द में यही भेद है।

"भाव क्या है ? भाव, निश्चल ध्यान के द्वारा एकता की जो प्रतीति हुई है—उसे सतत बनाये रखता है। भाव से एकता की प्रतीति सतत बनी रहती है।

"सतत भाव की दशा का नाम 'भक्ति' है। सतत भाव की दशा का नाम ही भजन है।

"ध्यान एक गहन अनुभूति है। ध्यान के दर्जनों प्रकार हैं और दर्जनों मार्ग से लोग ध्यान को उपलब्ध हो सकते हैं। निश्चल ध्यान को भी दर्जनों मार्ग से उपलब्ध हो सकते हैं। जिसे 'तन्त्र' मन का स्थिर हो जाना कहता है—अनेक लोग उस परम मूल्यवान् क्षण को अनेक मार्ग से चलकर भी उपलब्ध हो गये हैं। मगर हम आपको एक छोटी-सी प्रक्रिया बतलायेंगे, जिसे आप कर सकें। अगर आपको निश्चल मन यानी स्थिर मन की एक हल्की-सी भी झलक मिल जायेगी तो आपका जीवन रूपान्तरित होने लगेगा। आपके भीतर एक नयी चेतना जन्म लेने लगेगी। जीने की एक नयी प्रक्रिया आपके भीतर उत्पन्न हो जायेगी। उसी प्रकार जैसे अन्धे को अचानक नेत्र-ज्योति मिल जाय। जैसे अचानक बहरे को सुनाई देने लग जाय। जैसे मरा हुआ आदमी अचानक

जीवित हो उठे। ठीक उसी प्रकार ध्यान के अनुभव से ऐसी ही व्यापक क्रान्तिकारी घटना आपके भीतर चेतना में घटित हो जायेगी।"

× × ×

"इस विश्व ब्रह्माण्ड में 'मन' केवल मनुष्य के पास ही है। मन के कारण ही उसे मनुष्य की संज्ञा मिली है। मनुष्य के लिए मन एक सीमा तक मित्र है और एक सीमा के बाद हानि पहुँचाने लगता है। एक सीमा तक सहयोगी है। एक सीमा के बाद कारागृह बन जाता है। सच बात तो यह है कि हमारा मन हमारे लिए कारागृह ही है, बन्धन ही है। पिछले सैकड़ों-हजारों जन्मों से हम ऐसे मन का बोझ ढोते चले आ रहे हैं जिसे हमें कभी का तोड़ देना चाहिए था। मगर मनुष्य मन को अपनी सुरक्षा मानकर जीता है। इसलिए यदि कोई आपके शरीर को रोगी या बीमार कह दे तो आपको बुरा न लगेगा। सहानुभूति मालूम पड़ेगी। लेकिन कोई यह कह दे कि आपका मन रुग्ण है, विक्षिप्त है तो वह आपको शत्रु मालूम होगा। आपको उसका कहना बुरा लगेगा। इसका कारण यह है कि शरीर को हम अपने से दूर समझते हैं और मन के साथ हम अपने को एक मानते हैं। मन के साथ हमारा तादात्म्य गहन है।

"ध्यान मन को तोड़ने का नाम है। मन के ठहरने का नाम है। मन के पार जाने का नाम है। माँ के गर्भ में शिशु जिस अवस्था में रहता है, जिस रूप में रहता है, जिस आसन में रहता है उस समय शिशु के पास मन न के बराबर रहता है। उस समय शिशु की चेतना मस्तिष्क में नहीं होती। गर्भ की अवस्था में शिशु की चेतना मस्तिष्क में नहीं—हृदय में होती है। आपको मालूम होना चाहिए कि माँ के गर्भ में शिशु का हृदय नहीं धड़कता। नौ मास तक शिशु बिना हृदय की धड़कन के जीवित रहता है। वास्तव में हृदय की धड़कन से जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवन और गहरी बात है।"

मानवी चेतना के भिन्न-भिन्न केन्द्र

"जब चेतना मन से सम्बन्धित रहती है तो उस अवस्था में चेतना का केन्द्र होता है मस्तिष्क। जब चेतना प्रेम से सम्बन्धित होती है तो चेतना का केन्द्र होता है हृदय और यही कारण है कि प्रेमी अपने हृदय पर हाथ रखता है और गणित का विद्यार्थी सिर पर। चेतना जब भाव से सम्बन्धित होती है तो उसका केन्द्र हृदय होता है। जब विचार से सम्बन्धित होती है तो मस्तिष्क केन्द्र होता है। लेकिन मस्तिष्क का विकास काफी बाद में होता है और हृदय भी नौ मास बाद ही धड़कता है। मगर उसके पहले भी चेतना का अपना एक केन्द्र होता है और वह केन्द्र है नाभि! शिशु माँ से नाभि से सम्बन्धित होता है। शिशु को जीवन का प्रथम अनुभव नाभि पर होता है।

"इसलिए तन्त्रसाधकगण को मन के पार जाना होता है तो वे क्रम से मस्तिष्क और हृदय—इन दोनों की सीमा को पार कर नाभि केन्द्र में अपनी चेतना को स्थिर

करते हैं। यदि आप अपनी चेतना को मस्तिष्क और हृदय से हटाकर नाभि केन्द्र में अनुभव करें तो आपका मन तत्काल स्थिर व एकाग्र हो जायेगा।"

× × ×

निश्चल ध्यान-योग की विधि

निश्चल ध्यान-योग की विधि क्या है? यह पूछने पर बटेश्वर गिरि ने कहा—"इस सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

"जिस प्रकार सूफी सम्प्रदाय के लोग प्रार्थना करते हैं, जिस प्रकार मुसलमान लोग नमाज पढ़ते हैं, वैसे ही घुटने मोड़कर बैठ जायें। दोनों एड़ियाँ मूलाधार के पास हों। पंजा पीछे की ओर मुड़ा हुआ हो। ऐसी ही स्थिति माँ के गर्भ में बालक की होती है। नेत्र बन्द कर लें। शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दें। श्वास को भी शिथिल छोड़ दें। श्वास जितनी धीमी और जितने धीरे-धीरे आये-जाये उतना ही अच्छा है। श्वास बिल्कुल न्यून हो जाय। श्वास को दबाने का प्रयास न करें। रोकें मत। बिल्कुल ढीला छोड़ दें। नेत्र बन्द कर लें। फिर अपनी चेतना को धीरे-धीरे नाभि के पास ले जायें। पहले सिर से उतारें हृदय पर, फिर हृदय से उतारें नाभि पर। पेट के नीचे और ऊपर श्वास का हल्का-हल्का कम्पन होता रहेगा। आप उस समय अपने ध्यान को—नेत्र बन्द करके वहीं ले जायें जहाँ नाभि कम्पित हो रही होती है। शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ते जायें और साथ ही शरीर को धीरे-धीरे सामने की ओर झुकाते भी जायें। अन्त में आपका सिर जाकर जमीन पर लग जायेगा। जब आपका सिर जमीन पर लग जायेगा, आप उस समय उसी स्थिति में आ जायेंगे—जिस स्थिति में शिशु माँ के गर्भ में रहता है। मन को शान्त करने के लिए, मन को एकाग्र करने के लिए, मन को स्थिर करने के लिए इससे उत्तम कोई आसन नहीं है। आसन ऐसा हो जैसा कि गर्भ में शिशु का होता है और आपकी चेतना नाभि पर चली जाय। इसलिए इस निश्चल ध्यान को तन्त्र में 'गर्भासन ध्यान' कहते हैं।

"यह ध्यान कम-से-कम ४० मिनट का होना चाहिए। ५-७ दिनों के बाद आपको अपने भीतर गहरी निश्चलता का बोध होने लगेगा। मन की एकाग्रता और मन की शान्ति का भी अनुभव होने लगेगा। आप एक सरल चित्त और अबोध बालक की तरह सरल चेतना के गहन सागर में प्रवेश कर जायेंगे।

"जब धीरे-धीरे नाभि के पास मन को—चेतना को स्थिर होने का अभ्यास हो जायेगा तो फिर कोई परेशानी न होगी। मन अपने-आप शान्त व एकाग्र होने लग जायेगा। मन गतिमान् है। हृदय भी गतिमान् है। विचार भी अस्थिर है। भाव की भी अपनी दौड़ है। मगर नाभि स्थिर है। उसकी कोई गति नहीं है। मन-हृदय—सब भविष्य में हैं। नाभि वर्तमान में रहती है। नाभि का सम्बन्ध केवल वर्तमान से है। हमारी चेतना जितनी नाभि केन्द्र में घनीभूत होगी उतनी ही हमारी चेतना 'वर्तमान'

में आयेगी और चेतना का वर्तमान में आने का मतलब है—परम सत्ता के साथ अपनी चेतना का तादात्म्य। जैसे बालक नाभि के द्वारा अपनी माँ से सम्बन्ध बनाये रखता है—उसी प्रकार हमारी चेतना भी नाभि-मार्ग से परम सत्ता से जुड़ जाती है।

"इस प्रकार चेतना का परम सत्ता के साथ सम्बन्ध अथवा तादात्म्य अपनी चरम सीमा पर जब पहुँच जाता है—उस समय हमारी चेतना सूक्ष्म शरीर के द्वारा—पार्थिव शरीर से बाहर निकल जाती है और उस अवस्था में हमें इस बात का आश्चर्य होता है कि हम अपने पार्थिव शरीर से अपने को अलग पाते हैं और अपने और अपने पार्थिव शरीर के बीच अपनी नाभि से कोई एक शुभ्र प्रकाश की किरण की डोरी-सी कोई वस्तु हमें दिखलाई देती है, जिसे योगी रजत-रज्जु और वैज्ञानिक 'सिल्वर कार्ड' कहते हैं। योगी और साधकों का कहना है कि हम परम सत्ता के राज्य में तभी प्रवेश कर सकेंगे- जब कि हम शिशु की भाँति बिल्कुल सरल चित्त हो जायेंगे। हम शिशु की उस आत्यन्तिक अवस्था में पहुँच जायें जब शिशु होता ही नहीं। केवल माँ ही होती है और शिशु माँ के सहारे ही जी रहा होता है। न अपनी कोई हृदय की धड़कन होती है, न अपना मस्तिष्क होता है और न तो होता है अपना हृदय ही। शिशु पूरी तरह समर्पित होता है माँ के अस्तित्व में। ठीक ऐसी ही घटना घटती है निश्चल ध्यानयोग की चरम स्थिति में। हम समाप्त हो जाते हैं। परमात्मा या परमेश्वरी जगज्जननी के साथ एकीभाव हो जाता है और फिर हम उसीके साथ जीने लगते हैं।"

स्वयं का अपना एक अनुभव

"सुना है—उच्च कोटि के साधक किसी पात्र को भी उस आत्यन्तिक अवस्था का अनुभव करा सकने में समर्थ होते हैं?"

बटेश्वर गिरि बोले—"हाँ, क्यों नहीं? क्या आप स्वयं अनुभव करना चाहेंगे?"

मेरी स्वीकृति मिलने पर बटेश्वर गिरि ने मेरे 'भ्रूमध्य' पर अपनी एक उँगली का स्पर्श किया और साथ ही कहा कि मैं अपनी चेतना को वहाँ—उसी स्थान पर केन्द्रित करूँ।

वैसा ही किया मैंने। थोड़ी देर बाद मेरे शरीर का ताप धीरे-धीरे बढ़ने लगा। नाभि के निकट जलन-सी होने लगी और फिर मेरी बाह्य चेतना लुप्त हो गयी। मगर वैचारिक बोध बना रहा बराबर। और उसी स्थिति में मैंने अपने स्थूल शरीर को पद्मासन की मुद्रा में बैठे हुए देखा। बड़ा ही विचित्र अनुभव हो रहा था उस समय मुझे। शायद शान्ति के कारण वैसा विचित्र अनुभव हो रहा था उस समय। स्थूल शरीर से बाहर निकलने के बाद मैं जिस शरीर में स्थित था—वह अत्यन्त हल्का, श्वेत वर्ण का और पारदर्शक था। शायद वह मेरा सूक्ष्म शरीर था। जो भी हो—उस शरीर में मुझे बड़ी ही शान्ति और परम आनन्द का अनुभव हो रहा था।

सबसे बड़ी बात तो यह थी—जैसा कि बटेश्वर गिरि ने बतलाया था—स्थूल शरीर की नाभि से—चाँदी की तरह चमकीली—बिल्कुल शुभ्र वर्ण की एक पतली सी डोरी निकलकर मेरे सूक्ष्म शरीर के साथ जुड़ी हुई थी। धीरे-धीरे काफी दूर निकल गया मैं और वह डोरी भी बढ़ती चली गयी। मैं वायुमण्डल में वैसे ही हिलता-डुलता आगे बढ़ रहा था जैसे गैस भरा गुब्बारा। सचमुच शरीर से निकलने के बाद की वह अनुभूति बड़ी ही आनन्ददायिनी और पूर्ण शान्तिमयी थी। मेरा कोई पार्थिव शरीर भी है। मेरा कोई भौतिक जीवन भी है। मेरा कोई परिवार भी है। यह सब कुछ विस्मृत हो गया था उस स्थिति में। फिर न जाने कब और कैसे एक झटका-सा लगा और दूसरे क्षण मैंने अपने-आपको अपने पार्थिव शरीर में पाया।

बटेश्वर गिरि ने भ्रूमध्य से अपनी उँगली हटा ली थी। मुझे चैतन्य देखकर कहा—"कैसा लगा ?"

"बतला नहीं सकता मैं। वास्तव में परम सत्ता से सम्बन्ध स्थापित करने में हमारा स्थूल शरीर ही एकमात्र बाधक है।"

× × ×

जप-यज्ञ और तान्त्रिक जप-साधना

बटेश्वर गिरि ने बतलाया कि "तान्त्रिक साधना की मूल भित्ति एकमात्र जप पर है और जप के मूल में एकमात्र मूल तत्त्व 'ओम्' है। 'ओम्' एक अक्षर है। इसीलिए गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—'गिरामस्म्येकमक्षरम्'। एक अक्षर होने पर भी उसमें तीन ध्वनियाँ हैं—अ उ म। इन तीनों की जो इकट्ठी ध्वनि है—वह 'ओम्' है। ध्वनिशास्त्र के अनुसार वे तीनों मौलिक ध्वनियाँ हैं। शेष सभी प्रकार की ध्वनियाँ इन्हींका विस्तार है। अ, उ, म—तीनों बीज ध्वनियाँ हैं। इसलिए 'महाबीज' है ओम्। इसी महाबीज से शब्द ब्रह्म और अर्थ ब्रह्म की उत्पत्ति हुई है।

"आधुनिक 'भौतिकी' के अनुसार समस्त जीवन का मौलिक आधार—एकमात्र इलेक्ट्रान्स यानी विद्युत्-कण हैं। लेकिन भारतीय प्रज्ञा कहती है कि समस्त अस्तित्व का मौलिक आधार विद्युत्-कण नहीं—बल्कि ध्वनि-कण हैं। ध्वनि मौलिक है। विज्ञान की दृष्टि में विद्युत्-कण हैं। मगर आश्चर्य की बात तो यह है कि ध्वनि भी विद्युत् का ही एक प्रकार है। एक विशेष प्रकार की पड़ी हुई विद्युत् ही ध्वनि बन जाती है। भारतीय प्रज्ञा भी यही कहती है—विद्युत् भी ध्वनि का एक प्रकार है। ध्वनि में पाँचों तत्त्व हैं। विशेष रूप से की गयी ध्वनि से आग पैदा हो सकती है। पानी बरस सकता है। हवा भी बह सकती है। विद्युत् के कण भी पैदा हो सकते हैं।

"पश्चिम के वैज्ञानिकों ने अभी जो ध्वनिशास्त्र पर खोजें की हैं—उनसे भारतीय प्रज्ञा की खोज अति महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। एक विशेष प्रकार की ध्वनि के

आघात से प्रकाश या आग पैदा हो सकती है—इस बात को अब वैज्ञानिकों ने स्वीकार कर लिया है। ध्वनि भी विद्युत् का एक प्रकार है। तिब्बत में एक मठ है। नाम है सियांग मठ। उस मठ में कुछ ऐसे विशेष पत्थर के टुकड़े जगह-जगह पर रखे हुए हैं—जिन पर नगाड़े की ध्वनि का प्रभाव पड़ता है और वे प्रकाश बिखेरने लगते हैं (पढ़ें : योगी और तान्त्रिकों का रहस्यमय देश तिब्बत)।

"यह सत्य है कि ध्वनि का एक प्रकार विद्युत् है और विद्युत् का एक प्रकार ध्वनि है। दोनों का आपस में गहरा वैज्ञानिक सम्बन्ध है। जहाँ कम्पन है वहाँ ध्वनि है और जहाँ ध्वनि है वहाँ विद्युत् अथवा प्रकाश है और यही कारण है—जिसे भारतीय प्रज्ञा ध्वनि कहती है, उसे विज्ञान विद्युत् कहता है। केवल शब्दों का अन्तर है। इसलिए जैसे आज आइन्स्टीन का सूत्र—जो आपके सम्पूर्ण विज्ञान को समाहित कर लेता है—'एनर्जी इज एक्वल टू एम सी स्क्वेयर'। जैसा यह छोटा-सा सूत्र आपके समस्त भौतिक शास्त्र को समाहित कर लेता है—वैसे ही ओम् पूरव के सारे ध्वनिशास्त्र को समाहित कर लेता है। इसके अपने विशेष प्रयोग हैं। एकमात्र ओम् ही परम शून्य में प्रवेश करने का द्वार है। ओम् की जो तीन ध्वनियाँ हैं—उन प्रत्येक ध्वनि से १२-१२ तत्त्व पैदा हुए हैं। इस प्रकार कुल ३६ तत्त्व हैं—जिनसे विश्व की रचना हुई है। विश्वनिर्माण के मूल में ३६ तत्त्व और ३६ तत्त्वों के मूल में वे तीनों ध्वनियाँ हैं।

"ओम् की ध्वनि किसीने पैदा नहीं की है। वे तीनों ध्वनियाँ स्वयं अपने-आप प्रकट हुई हैं। तन्त्र के अनुसार वे परम तत्त्व अथवा परम अस्तित्व की ध्वनि हैं। हमारे शरीर में उन तीनों ध्वनियों का केन्द्र क्रमशः नाभि, हृदय और मस्तिष्क हैं। शरीर के भीतर एक साथ दो स्थानों पर जो एक साथ धड़कन धड़कती है—वह—इन्हीं तीनों ध्वनियों का ही परिणाम है। वे तीनों ध्वनियाँ अपने-अपने केन्द्रों में तभी हमें सुनाई पड़ती हैं—जब हमारे विचार शान्त हो जाते हैं। मन स्थिर हो जाता है। भीतर एक गहरी नीरवता छा जाती है। गहन मौन हो जाता है।"

× × ×

"जैसे भगवान् श्रीकृष्ण ने ओम् के लिए 'गिरामस्म्येकमक्षरम्' कहा है—उसी प्रकार जपयज्ञ के लिए भी कहा है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि·····।' यज्ञ १२ प्रकार के हैं। लेकिन उन १२ प्रकार के यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण यज्ञ एकमात्र जपयज्ञ है। यज्ञ का तात्पर्य है अपने अस्तित्व से—परम अस्तित्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करना। बाहरी दृष्टि से देखने पर यज्ञ एक विशेष प्रकार का गम्भीर कर्मकाण्ड लगता है। वास्तव में यज्ञ अपने-आपमें एक महत्त्वपूर्ण भारतीय विज्ञान है। लेकिन जपयज्ञ की अपनी व्यवस्था है। अपना विज्ञान है। इसलिए उसे भगवान् ने भी महत्त्व दिया है। क्योंकि वह सबसे सूक्ष्म और श्रेष्ठ है।

"'जपयज्ञ' का अर्थ है—शरीर के भीतर के केन्द्रों में ध्वनियों का ऐसा संघात उत्पन्न करना—वह जो परम ध्वनि है संसार की—विश्व की—उससे हमारा सम्बन्ध स्थापित हो जाय। अपने भीतर 'ए सिस्टम आफ पर्टिकुलर साउण्ड' पैदा हो जाय।

"शरीर के तीनों केन्द्रों में अलग-अलग जो 'अ', 'उ' और 'म' की ध्वनि निरन्तर पैदा हो रही है—वैसी ही ध्वनि बराबर सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड के भी तीनों केन्द्रों में पैदा हो रही है। शरीर में पैदा होनेवाली इस ध्वनि को व्यष्टि ध्वनि और ब्रह्माण्ड के केन्द्रों में पैदा होनेवाली ध्वनि को समष्टि ध्वनि कहते हैं। व्यष्टि ध्वनि से समष्टि ध्वनि का तादात्म्य स्थापित करना जपयज्ञ का मूल लक्ष्य है। जपयज्ञ के विषय में हम यह भी कह सकते हैं कि विराट् की ओर अपनी चेतना को आबद्ध करना है और सब तरफ से अपने-आपको और अपनी चेतना को बन्द करना है। ऐसी अवस्था में आप किसी और लोक में—किसी और जगत् में प्रवेश कर जायेंगे।"

× × ×

"ओम् की व्यष्टि ध्वनियों का केन्द्र मस्तिष्क, हृदय और नाभि है। इन तीनों प्रकार की ध्वनियों से तीनों केन्द्रों—वाड़वाग्नि, दावाग्नि और जठराग्नि—में ये तीन प्रकार की अग्नियाँ पैदा होती हैं।

"जपयज्ञ सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है।

"जैसे मन्त्रों के उच्चारण के साथ प्रज्वलित हवनकुण्ड में घी आदि हविष्यान्न द्वारा हवन किया जाता है—उसी प्रकार उन तीनों केन्द्रों में प्रज्वलित तीनों प्रकार की अग्नियों में भी मन्त्र के विशेष रूप द्वारा हवन किया जाता है। इसीको जपयज्ञ कहते हैं और इस जपयज्ञ का हवनकुण्ड तीनों केन्द्र हैं। उन हवनकुण्डों में प्रज्वलित वे तीनों अग्नियाँ हैं। मन्त्र ओम् है और हविष्यान्न हमारा श्वास-प्रश्वास है।"

बटेश्वर गिरि ने इस सिलसिले में आगे बतलाया कि "जपयज्ञ की साधना से सबसे बड़ा लाभ यह है कि हम अपने मूल स्रोत में पहुँच जाते हैं।"

"मूल स्रोत में पहुँचने का तात्पर्य मैंने समझा नहीं ?"

जपयज्ञ द्वारा अपने मूल स्रोत की ओर

"मूल स्रोत का मतलब है अपने मूल में—जहाँ से हम शुरू हुए हैं। भारत हमेशा माता-पिता को सम्मान और आदर देता है, जब कि पश्चिमी देशों में माता-पिता के प्रति वैसा सम्मान व आदर नहीं है। हमारा मूल—हमारे माता-पिता हैं। बेटा बुद्ध हो जाय, राम हो जाय, और कृष्ण हो जाय—मगर वह माता-पिता का पैर अवश्य छूयेगा। क्योंकि मूल के ऊपर जाने का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। पश्चिम में वैसा आदर-सम्मान नहीं है। क्योंकि पश्चिम में मूल को ऊपर मानने की वृत्ति नहीं है।

स्मरण रखें—यदि माता-पिता ऊपर नहीं हैं तो परमात्मा भी ऊपर नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा जगत् का मूल है। मनुष्य वही है जो माता-पिता का सम्मान करता है और करता है आदर। हमने माता-पिता को अपना मूल बतलाया है—मगर इसे और स्पष्ट किया जाय तो माता-पिता की कामवासना है—वही वास्तव में मूल है। लेकिन कामवासना की हम निन्दा करते हैं। उसे छिपाने का प्रयास करते हैं। आपने कभी यह सोचा है कि आप पैदा कैसे हुए हैं? कहाँ से पैदा हुए हैं? कहाँ आपका मूल है? आपने कभी यह सोचा है? सोचने का प्रयास किया है कि आपका जन्म और आपका जीवन—दो व्यक्तियों की गहरी वासना से प्रारम्भ हुआ है? आप जहाँ से आये हैं—उससे बड़े होने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यदि आप बड़े हैं तो—इससे यह प्रमाणित व सिद्ध होता है कि मूल भी बड़ा है फिर।

"कामवासना के स्रोत से यदि भगवान् बुद्ध, राम और कृष्ण जन्म ले सकते हैं, उन्हें जन्म देने की क्षमता यदि कामवासना में है तो उससे यही सिद्ध होता है। अगर आप बुद्ध, राम व कृष्ण नहीं हो जायें तो इसमें कामवासना का दोष नहीं—क्षमता तो उसमें उतनी ही है जिससे बुद्ध जैसे महापुरुष जन्म ले सकें। दोष है मूल में, जो ऊर्जा दी थी—उसका उचित उपयोग नहीं हो पाया और यही कारण है कि आप महापुरुष न बन सके। बुद्ध न बन सके। राम न बन सके। वासना की ऊर्जा चारों तरफ प्रवाहित है। उसके चतुर्दिक् प्रवाह पर हमें विचार नहीं करना है। हमें विचार करना है कि वासना उद्‌गम से सम्बन्धित है। आपको उद्‌गम पर विचार करना आवश्यक है। आपको अपने सम्बन्ध में सोचना चाहिए। शायद आपको अपने उद्‌गम के विषय में ख्याल आ जाय। गर्भ की अवस्था में आप कैसे थे—शायद ही आपने यह सोचा हो। शायद आपको अपनी मृत्यु का ख्याल आया हो मन में। लेकिन अपने जन्म का तो कभी सपने में भी न आया होगा। आपके आगे मृत्यु है—और आपका जन्म पीछे है। आपके 'गहन' में छिपा है आपका जन्म।

"मैंने जिस निश्चल ध्यान की और जिस गर्भासन की चर्चा की है, प्राचीन समय में उसकी पद्धति केवल इसके लिए ही खोजी गयी थी। प्रयोग करके देखें। आश्चर्यचकित हो उठेंगे आप।"

× × ×

"आप ऐसे एकान्त और शान्त स्थान पर बैठें—जहाँ हल्का अँधेरा हो। क्योंकि माँ का गर्भ बिल्कुल एकान्त और शान्त स्थान समझा जाता है। वास्तव में माँ के गर्भ जैसा शान्त, नीरव और एकान्त स्थान विश्व में कहीं नहीं है। जैसी कि गर्भासन की क्रिया बतलायी गयी है वैसी ही क्रिया आप करें। धीरे-धीरे आपका सिर झुकता जाय। अन्त में सिर जमीन का स्पर्श करने लगे। नेत्र बन्द कर लें। आपका सिर सामने की

ओर ऐसे धीरे-धीरे झुके कि आपको स्वयं उसका झुकना न मालूम हो। क्योंकि झुकना अति मूल्यवान् कार्य है। झुकने के अन्त में आपका सिर जमीन का स्पर्श करने लगे। इस कार्य को हम तीन भागों में विभक्त करते हैं। पहली अवस्था झुकने की शुरुआत है। इस अवस्था में आपका ध्यान—आपकी चेतना मस्तिष्क में होनी चाहिए। जब आप झुकते-झुकते बीच में पहुँच जायँ, यानी आधा झुक जायँ—यह दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में आपका ध्यान—आपकी चेतना हृदय में होनी चाहिए। तीसरी अवस्था वह है—जब आपका सिर जमीन का स्पर्श करने लगे। इस तीसरी अवस्था में आपका ध्यान और आपकी चेतना नाभि में होनी चाहिए।

"तो आप जानते हैं? आप ठीक उसी अवस्था में आ जायेंगे—जिस अवस्था में आप अपनी माँ के गर्भ में थे। वैसे ही बालक सिकुड़ा हुआ—अपने घुटने को छाती से लगाये हुए—सिर नीचे झुकाये हुए—पैरों को पीछे की ओर मोड़े हुए—माँ के गर्भ में रहता है पूरे नौ मास। कहने की आवश्यकता नहीं, यह गर्भासन ज्यादा मूल्यवान् है पद्मासन, सिद्धासन आदि से। आपको मालूम होना चाहिए—भारतीय प्रज्ञा की सबसे प्राचीन देन है यह गर्भासन ध्यान, जिसे गीता ने निश्चल ध्यानयोग नाम दिया और हजरत मुहम्मद ने दिया नाम नमाज! नमाज पढ़नेवाला एक मुसलमान बार-बार झुकता है। बार-बार सिर उठाता है। फिर सिर झुकाता है। झुकना 'नमाज' की एक कला है। इसीलिए नमाज पढ़कर मसजिद से निकलनेवाला मुसलमान आपको अति विनम्र दिखलाई देगा। क्योंकि झुकने की कला हमें विनम्र बनाती है।

"मोहम्मद के जमाने में—आपको मालूम होना चाहिए—खूंखार लोगों से भरा था अरब का पूरा रेगिस्तान। उन्हें धार्मिक और विनम्र बनाने के लिए मोहम्मद ने इसी कला को—इसी नमाज को अपनाया था। हिन्दू को विनम्र, सहिष्णु और उदार बनाना कठिन काम नहीं है। हमारे यहाँ प्रकृति बड़ी उदार है। सभी प्राकृतिक वस्तुएँ यहाँ उपलब्ध हैं। जीवन बहुत बड़ा संघर्ष नहीं है यहाँ। लेकिन मोहम्मद ने जहाँ लोगों को झुकना सिखाया वहाँ जीवन बड़ा ही संघर्षमय था। वहाँ जीने का अर्थ था दूसरे को मारना। वहाँ 'नमाज' की कला ने लोगों को बहुत ही विनम्र बना दिया।

"आप प्रयोग करके देखें। आप जब तीसरी अवस्था में पहुँचेंगे तो आप पायेंगे कि आपका श्वास चलना बन्द हो गया है। क्योंकि शिशु गर्भ में श्वास लेता नहीं। आपको अपने श्वास का पता ही नहीं चलेगा उस समय। तब आप समझियेगा कि अब ठीक गर्भासन की अवस्था आ गयी। जिस क्षण आपका श्वास बिल्कुल रुक जायेगा उसी क्षण आपको अपने मूल की भी झलक मिल जायेगी। यदि वह झलक आपको बराबर मिलनी शुरू हो जाय—तो समझिये आपके अस्तित्व से विराट् के अस्तित्व का गहरा सम्बन्ध जुट गया। आपके भीतर एक ऐसा परिवर्तन आ जायेगा जिसके अनुभव को

आप व्यक्त न कर सकेंगे। जानते हैं—उसी अनुभव को योगीगण 'गर्भसमाधि' कहते हैं।

"कहने की आवश्यकता नहीं—जितने प्रकार की समाधियाँ हैं—उनमें 'गर्भसमाधि' सर्वोत्तम समझी जाती है। क्योंकि गर्भसमाधि की अवस्था में हम अपने मूल में, अपने उद्गम में पहुँच जाते हैं।"

× × ×

बटेश्वर गिरि ने कहा—"गर्भ में भी बालक सब कुछ जानता-समझता है। आपने गर्भ में जो कुछ जाना-समझा था—उसकी स्मृति आज भी आपके मस्तिष्क में ज्यों की त्यों बनी हुई है। आप नौ मास गर्भ में थे और उस नौ मास में आपकी माँ के साथ जो भी घटनाएं घटीं, माँ के आसपास जो घटनाएँ घटीं उन सबका ज्ञान और उन सबकी सारी स्मृतियाँ आपके मस्तिष्क के किसी कोने में सोयी पड़ी हैं। सम्मोहन विद्या के द्वारा अथवा योग-तन्त्र की विशेष क्रिया द्वारा उस ज्ञान को, उन तमाम स्मृतियों को जगाया जा सकता है। मगर आपको ज्ञात होना चाहिए कि आपका अस्तित्व उसके पहले भी था। नौ मास पहले भी आप थे। आपका मूल और आपका उद्गम और गहराई में है। तब आप आत्मरूप थे। भले ही कुछ ही क्षणों के लिए रहे हों आत्मरूप में। आपका पिछला शरीर आपसे अलग हो गया था। नये शरीर की प्रतीक्षा थी आपको। उसे पाने में देर थी। थोड़ा समय था। उस समय—उस स्थिति में आप बिल्कुल आत्मरूप थे। आपके पास कोई शरीर नहीं था। शरीर के उस अभाव की भी स्मृति आपमें है इस समय। फिर तो कई जन्मों की स्मृति—के साथ ही—इस बात का भी स्मरण—अतिक्रमणता का—कि हमारा न कोई जन्म है—और न तो है हमारी कोई मृत्यु। अब तक के सारे जन्म और अब तक की सारी मृत्यु—मेरे जीवन की लम्बी यात्रा के भाग केवल ठहराव भर थे। गर्भसमाधि की अवस्था में जैसे ही यह परम गहन स्मृति जाग्रत होती है—वैसे ही—तत्काल उसी पल आप अपने मूल उद्गम को उपलब्ध हो जायेंगे। गर्भासनध्यान के साथ जपयोग का यही लक्ष्य है—जिसे बुद्ध निर्वाण कहते हैं। पतंजलि परम समाधि कहते हैं। तन्त्र कहता है गर्भ-समाधि ! मगर हम इसे 'मोक्ष' नहीं कह सकते। तन्त्र की सामरस्यपूर्ण मुक्ति, परम निर्वाण अथवा मोक्ष इस अवस्था से बहुत आगे है।

"हमारे पास तीन शब्द हैं—नरक, स्वर्ग और मोक्ष। आसुरी सम्पदा को उपलब्ध व्यक्ति नरक और दैवी सम्पदा को उपलब्ध व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करता है। मोक्ष का अर्थ है—जिसने अपने को इन दोनों सम्पदाओं से मुक्त कर लिया है। स्वर्ग और नरक दोनों बन्धन हैं। फर्क यही है कि बुरा आदमी लोहे की जंजीर से और अच्छा आदमी सोने की जंजीर से बंधा है। बँधे दोनों हैं। बन्धन में कोई कमी नहीं है। केवल भारतीय

प्रज्ञा ने एक अनूठे शब्द का प्रयोग किया है और वह अनूठा शब्द है—'मोक्ष' ! संसार के किसी दूसरे धर्म ने—किसी दूसरे सम्प्रदाय ने—और किसी दूसरी जाति ने—मोक्ष की कल्पना नहीं की है। सभी केवल स्वर्ग और नरक से परिचित हैं। मोक्ष की धारणा एकान्तिक रूप से भारतीय है। खैर।"

× × ×

"इस बात को गहराई से स्मरण रख लेना चाहिए कि गर्भसमाधि आपके पुनः गर्भ में होने का अनुभव होगी। मगर वह अनुभव ही सब कुछ नहीं है। वह आपका अन्तिम पड़ाव या अन्तिम लक्ष्य भी नहीं है। आपको मालूम हो कि 'फ्रायड' ने एक अति कीमती बात कही है इस सम्बन्ध में। वास्तव में उसने बड़ा ही कठोर व्यंग्य किया है। उस व्यंग्य को एक प्रकार से आलोचना ही समझा जायेगा। यह बुद्ध का निर्वाण और पतंजलि की समाधि एवं तन्त्र की गर्भसमाधि गर्भ पाने की आकांक्षाएँ ही तो हैं। गर्भ पाने यानी पुनर्जन्म की अभिलाषा।

"फ्रायड ने तो विरोध के भाव से और आलोचना की दृष्टि से ये बातें कही हैं। उसने यहाँ तक कह डाला कि ये सब अवस्थाएँ वास्तव में मनुष्य की रुग्णावस्था हैं। भारतीय योगदर्शन में रुचि रखनेवाले लोगों को फ्रायड की ये बातें बुरी लगेंगी। वे उसे अज्ञानी और मूर्ख समझेंगे। मगर उसने चोट असली जगह की है।

"आप किस चीज को खोज रहे हैं ? यह आपके लिए सोचने-समझने की बात है। हम उसी वस्तु को खोजते हैं और उसी वस्तु को पाना चाहते हैं—जिसे हम जानते और समझते हैं। जिसे हम जानते नहीं, समझते नहीं, जिसे कभी देखा नहीं, उसे कैसे खोजेंगे ? क्यों खोजेंगे ?

"आप कहते हैं—हम आनन्द को खोज रहे हैं। शान्ति को खोज रहे हैं। परमेश्वर को खोज रहे हैं। सत्य को खोज रहे हैं। लेकिन आप इन सब चीजों में से किसीको जाना-समझा और उनका कभी अनुभव किया है ? जब आपने जाना-समझा और अनुभव नहीं किया है तो उनका रस और उसकी वासना कैसे पैदा होगी आपमें ? बिल्कुल अपरिचित को आप कैसे खोज सकते हैं ? कैसे पा सकते हैं ? तन्त्रशास्त्र का कहना है कि आनन्द और शान्ति ये दोनों चीजें अति मूल्यवान् और दुर्लभ हैं। अशरीरी अवस्था में, आत्मरूप अवस्था में हम जब थे—उस समय इन दोनों का क्षणिक अनुभव हमें हुआ था, जब हमारे पास शरीर नहीं था। शरीर की प्रतीक्षा थी—जब हम केवल आत्मरूप थे—उस समय आनन्द का अनुभव हुआ था और अनुभूति हुई थी शान्ति की। वह हमारा प्रथम अनुभव था, प्रथम अनुभूति थी। जो इतना गहन था, जो इतना गम्भीर था कि उसके बाद हमने उससे श्रेष्ठ और उससे उत्तम कुछ भी नहीं जाना। हमें फिर से वही आनन्द पाना है और वही शान्ति फिर से पानी है। **यही है मूल की खोज।**

"गर्भ-समाधि में आपके पुनः गर्भ में होने का अनुभव होगा। आप माँ के गर्भ में कैसे थे ? उसका गहरा अनुभव होगा आपको। मगर उसी अनुभव पर रुकना नहीं है आपको। वह आपकी पहली समाधि होगी। अनुभूति की पहली झलक होगी। उससे आपको और आगे बढ़ना होगा—और आगे—और आगे—आपको बढ़ते जाना होगा और अन्त में वहाँ पहुँच जाना होगा–जहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपका गर्भ हो जायेगा और आप उस ब्रह्माण्ड गर्भ के एक हिस्से हो जायेंगे। ब्रह्माण्ड गर्भ में आपका जो शरीर होगा—वह ब्रह्माण्डीय शरीर होगा। वह आपका अन्तिम शरीर होगा, जिसे 'कास्मिक बाडी' कहते हैं। इसी अवस्था को तन्त्र सामरस्य भाव, बुद्ध परम निर्वाण, पतञ्जलि ब्रह्म-समाधि और भारतीय प्रज्ञा परमावस्था यानी परम समाधि कहती है।"

× × ×

"आपने 'ध्यान' के बाद 'जप' की चर्चा की थी। आपने यह भी कहा था कि ध्यान और जप यही दोनों मुख्य हैं तन्त्र-साधना में। आपका तान्त्रिक जप-साधना से क्या तात्पर्य है ?"

बटेश्वर गिरि ने कहा—"भारतीय संस्कृति में दो अति महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—पहला है आगम और दूसरा है निगम। तन्त्र को आगम और वेद को निगम कहते हैं। गुह्य ज्ञान तन्त्र है और परम ज्ञान हैं वेद। कुल १२ प्रकार के 'योग' हैं। उनमें एक राज-योग भी है। राजयोग जहाँ समाप्त होता है—वहीं से 'तन्त्रयोग' प्रारम्भ होता है। तन्त्र की सबसे सरल बोधगम्य परिभाषा है—वैदिक ज्ञान को 'कर्म' के रूप में संयोजित करना। वैदिक ज्ञान को 'कर्म' का रूप देना और कर्म का रूप देकर उसका जीवन में आचरण करना। जो आचरण करता है—वास्तव में उसीको आचार्य कहते हैं। ज्ञान को कर्म में संयोजित कर उसको आचरण के रूप में अपनानेवाले को आचार्य की संज्ञा दी गयी है।"

तन्त्र के तीन मुख्य पक्ष

"तन्त्र के तीन मुख्य पक्ष हैं—आध्यात्मिक पक्ष, पारलौकिक पक्ष और लौकिक पक्ष।

"आध्यात्मिक पक्ष 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' पर आधारित है। इसके अनुसार मानव-शरीर में वह सब कुछ है जो सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में है। इस संसार में ८४ लाख योनियाँ हैं। इन ८४ लाख योनियों की यात्रा पूरी कर लेने के बाद ही जीव को मानव-योनि की प्राप्ति होती है। सभी योनियों में मानव-योनि सर्वश्रेष्ठ है। इस योनि के ऊपर गुह्ययोनि और देवयोनि है। मानव-शरीर ८४ अंगुल का है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का होता है। प्रत्येक अंगुल में एक लाख योनियों के संस्कार हैं। मानव-शरीर को दो प्रकार से महिमा और गरिमा मिली है।

"प्रथम यह कि विश्व की जो नियन्त्रणकारिणी पराशक्ति है—वैसे वह है तो हर जीव में—लेकिन उसने अपनी सर्वश्रेष्ठ लीलाएँ मानव-शरीर का ही आश्रय लेकर प्रकट की हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर इस सत्य के प्रबल प्रमाण हैं। इन्हीं अवतारी महापुरुषों और युगपुरुषों का आश्रय लेकर हिन्दू-धर्म की सारी साधनाएँ, सारी उपासनाएँ और सारी काव्य साधनाएँ समय-समय पर विकसित हुई हैं।"

× × ×

"दूसरा यह कि मानव-शरीर में ही केवल भौतिकतत्त्व और प्राणतत्त्व के अलावा मनस्तत्त्व, बुद्धितत्त्व, अध्यात्मतत्त्व और आत्मतत्त्व हैं, जब कि अन्य प्राणियों में इन अन्तिम चार तत्त्वों का अभाव है। मानव-शरीर की श्रेष्ठता का यह भी एक कारण है कि वह चाहे तो सीधे परमतत्त्व को यानी मोक्ष को उपलब्ध हो सकता है, जब कि देवगणों को भी परमतत्त्व या मोक्ष-प्राप्ति के लिए मानव-शरीर को ही अपनाना पड़ता है, देव-लोक से मानव-लोक में आने के लिए बाध्य होना पड़ता है क्योंकि देव-योनि केवल भोग-योनि ही है।"

× × ×

"तन्त्र के आध्यात्मिक पक्ष के अनुसार सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड ७ भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग में असंख्य लोक-लोकान्तर और नक्षत्र मण्डल हैं। उनके अनुसार मानव पिण्ड भी सात भागों में विभक्त है—जिन्हें योग की भाषा में 'चक्र' कहते हैं। प्रत्येक चक्र ब्रह्माण्ड के प्रत्येक भाग से अपना सम्बन्ध रखता है। 'तन्त्र' उन सातों चक्रों को शक्ति का केन्द्र कहता है। ब्रह्माण्ड के जिस भाग में—मुख्य रूप से जो शक्ति क्रियाशील अथवा चैतन्य है—वही शक्ति—उस भाग से सम्बन्ध रखनेवाले शरीर में स्थित चक्र अथवा केन्द्र में भी सूक्ष्म रूप से मगर सुप्तावस्था में विद्यमान है।

"इसी प्रकार—मानव-शरीर में जो मेरुदण्ड है—उसमें ३३ अस्थिखण्ड हैं। प्रत्येक अस्थिखण्ड में एक देवता निवास करते हैं। यदि हम यह कहें कि वे ३३ अस्थिखण्ड ३३ कोटि देवताओं के केन्द्र हैं तो साधुतर होगा। वे ३३ देवता हैं—प्रजापति, इन्द्र, अष्ट वसु, द्वादशादित्य और एकादश रुद्र। खैर।"

× × ×

"ऋषि प्रज्ञा—जिसे हम भारतीय प्रज्ञा कहते हैं—यज्ञ कर्म के द्वारा—योग और ज्ञान की ओर अग्रसर हुई हैं। मगर उनकी मूल भित्ति यानी मूल आधार—इन दोनों दिशाओं के बीच में जो प्रवर्तक बिन्दु है—उस पर स्थित उपासना है—जो हमारे शरीर में कूटस्थ और हृदयस्थ है। कहने की आवश्यकता नहीं, उसीके आधार को तन्त्र की उपाधि दी गयी है।

"तन्त्र की आध्यात्मिक दृष्टि में मानव-योनि अथवा मानव-शरीर का अति महत्त्व है। जगद्नियन्त्रणकारिणी शक्ति की विशेष अनुकम्पा और करुणा से ही जीव को मानव-शरीर उपलब्ध होता है।

"जैसा कि बतलाया गया है—ब्रह्माण्ड का लघु संस्करण है मानव पिण्ड। मानव पिण्ड के तीन रूप हैं—और उन्हीं तीनों रूपों को अध्यात्म पक्ष—तन्त्र, यन्त्र और मन्त्र कहता है, जिन्हें अंग्रेजी में मैकेनिज्म, गवर्नमेन्ट और मेनास यानी माइण्ड कहते हैं।

" 'यन्त्र पिण्ड' की बाहरी व्यवस्था, बाहरी आकार-प्रकार व रूप हैं। तन्त्र उसकी आन्तरिक व्यवस्था है। मन्त्र आन्तरिक व्यवस्था को—नियमित रूप से—संचालित करनेवाली वह शक्ति है—जो मानवीय प्रज्ञा का रहस्य बतलाती है और जिसे हम आत्मशक्ति कहते हैं।"

× × ×

"कहने की आवश्यकता नहीं, इन तमाम व्यवस्थाओं को—तन्त्र के आध्यात्मिक पक्ष में—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक व्यवस्था कहते हैं। तन्त्र की आध्यात्मिक दृष्टि में मानव-शरीर मात्र यन्त्र नहीं है। वह भागवतीशक्ति यानी परमात्मशक्ति, जिसे—यन्त्र अथवा मन्त्रशक्ति का रूप दिया गया है—द्वारा परिचालित—एक विशेष 'तन्त्र' है। वास्तव में यही भारतीय अध्यात्म विज्ञान की ध्रुव निष्पत्ति है। तन्त्र के आध्यात्मिक पक्ष—जीवन और जगत् के जिस परावैज्ञानिक सत्य को त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण, श्रीचक्र आदि के रूप में व्यक्त किया है—उसीको वैदिक यज्ञ-भूमि में—अग्नि-वेदियों के रूप में प्रकट किया है। योगशास्त्र ने उसीको पद्मदलों के रूप में समझाने की चेष्टा की है। प्रस्थानभेद से योगतन्त्र अवश्य अलग-अलग मालूम पड़ते हैं—मगर दोनों एक ही अध्यात्म-विज्ञान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।"

मानव-शरीर में मनःशक्ति, प्राणशक्ति और आत्मशक्ति द्वारा संचालित तन्त्रिकाएँ

"मानव-शरीर की जितनी भी महत्ताएँ हैं—उनमें एक महत्ता यह भी है कि जगज्जननी पराशक्ति के त्रिधा रूप—मनःशक्ति, प्राणशक्ति और आत्मशक्ति—मानव-शरीर में अलग-अलग क्रियाशील हैं। मानव-शरीर में तीन प्रकार की तन्त्रिकाएँ हैं—**केन्द्रीय तन्त्रिका, संवेदनाग्राही तन्त्रिका और स्वतन्त्र तन्त्रिका**। इन तीनों तन्त्रिकाओं का संचालन और नियमन क्रम से **मनःशक्ति, प्राणशक्ति** और **आत्मशक्ति** के द्वारा होता है। उन तीनों शक्तियों का केन्द्र मस्तिष्क, हृदय और नाभि है। पहले हम मनःशक्ति द्वारा संचालित मस्तिष्क और ज्ञानतन्तु-व्यूह—यानी केन्द्रीय तन्त्रिका के विषय में चर्चा करेंगे, ताकि आगे के विषयों को समझा जा सके। मानव-शरीर में ज्ञानतन्तु-समूह (केन्द्रीय तन्त्रिका) दो भागों में विभक्त है। पहले भाग का समूह मस्तिष्क और मेरुदण्ड के पोल (खाली स्थान) में फैला है और दूसरे भाग का समूह—छाती, पेट और

पेड़ू में फैला है। शरीर-विज्ञान-शास्त्र पहले भाग के समूह को स्पाइनल सिस्टम और दूसरे भाग के समूह को सिम्पेथेटिक सिस्टम कहता है।

प्रथम ज्ञान-तन्तु का कार्य—"शरीर में इच्छापूर्वक क्रियाओं और भावनाओं का सारा व्यापार प्रथम प्रकार का ज्ञान-तन्तु-समूह करता है।

दूसरे ज्ञान-तन्तु का कार्य—"वृद्धि, पुष्टि, पचन-क्रिया आदि जितनी अनैच्छिक क्रियाएँ हैं, जितने स्वाभाविक व्यापार हैं—वह सब दूसरा ज्ञान-तन्तु-समूह करता है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि की सारी क्रियाएँ और सारा व्यापार मस्तिष्क और मेरुदण्ड के ज्ञान-तन्तु-समूह करते हैं और विचार करने की क्रिया भी इन्हींके द्वारा होती है। वास्तव में मस्तिष्क एक प्रकार से मुख्य तारघर है। मेरुदण्ड में के ज्ञान-तन्तु-समूह को हम सूक्ष्म तार कह सकते हैं।"

मस्तिष्क और उसके तीन भाग

"बुद्धि विचार आदि जैसे मानस व्यापार मुख्य मस्तिष्क में होते हैं। मस्तिष्क के तीन भाग हैं—(१) मुख्य मस्तिष्क, (२) गौण मस्तिष्क, (३) अधोमिश्रित मस्तिष्क। शरीरविज्ञान-शास्त्र इन तीनों को सेरीब्रम, सेरीवेलम और मेंडुला आब्लोन्गटा कहता है।

"खोपड़ी के आगे, मध्य और पीछे का हिस्सा मुख्य मस्तिष्क है। गौण मस्तिष्क में मस्तक की खोपड़ी का नीचे तथा पिछले भाग का समावेश होता है। अधोमिश्रित मस्तिष्क मेरुदण्ड का शिखर है।"

अधोमिश्रित मस्तिष्क का सम्बन्ध सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड से

"मेरुदण्ड के शिखर पर स्थित यह मस्तिष्क शरीर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अति संवेदनशील समझा जाता है। उसका आकार मुर्गी के अण्डे की तरह है, जिसके भीतर विभिन्न वर्णीय एक विशेष प्रकार का द्रव भरा हुआ है। उस अज्ञात और रहस्य-मय द्रव में एक हजार बार—गोलाकार छल्ले के रूप में सूक्ष्मतम ज्ञान-तन्तुओं का समूह तैरता रहता है। ये तन्तु बाल से भी पतले हैं। यदि उनकी लम्बाई नापी जाय तो कम-से-कम एक हजार फुट होगी। उनका एक सिरा तो सुषुम्ना नाड़ी से संयुक्त है और दूसरा सिरा ब्रह्मरन्ध्र से जुड़ा हुआ है। जहाँ हिन्दुओं में शिखा रखने की प्रथा है—उस स्थान पर सूई की नोक के बराबर एक अति सूक्ष्म छिद्र है और उसी छिद्र को योग में 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं। उसी ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा अधोमिश्रित मस्तिष्क में स्थित ज्ञान-तन्तु-समूह का अदृश्य सम्बन्ध सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड से है। विश्व ब्रह्माण्ड में स्थित जितने भी लोक-लोकान्तर और जगत् हैं, उनमें निवास करनेवाले प्राणियों के विचार ब्रह्माण्डीय ऊर्जा यानी 'ईथर' में बराबर विकीर्ण होते रहते हैं। ब्रह्मरन्ध्र के माध्यम से वह ज्ञान-तन्तु-समूह उन विकीर्ण हो रहे विचारों को बराबर पकड़ने का प्रयास करता रहता है। वास्तव में अधोमिश्रित मस्तिष्क 'विश्व ब्रह्माण्ड' का केन्द्र है,

जिसके द्वारा मनुष्य का ब्रह्माण्ड से अगोचर तादात्म्य स्थापित है। शिखा एक प्रकार से रेडियो के एरियल का काम करती है। उसीके द्वारा ब्रह्माण्ड में चारों तरफ फैले हुए विचार पकड़ में आते हैं। शिखा रखने का मुख्य कारण यही है। मगर उन विचारों में से हमारा अधोमिश्रित मस्तिष्क उन्हीं विचारों को स्वीकार करता है—जो उसके अनुकूल और योग्य होते हैं। इस विषय में हम अपने 'महापात्र' शीर्षक शृंखला में विस्तार से विचार करेंगे। खैर!"

× × ×

"मेरुदण्ड ज्ञानतन्तुओं का लम्बा समूह है और वहाँ से शरीर के सभी अवयवों से सम्बन्ध रखनेवाले असंख्य ज्ञानतन्तु सारे शरीर में प्रसारित होते हैं। मेरुदण्ड से निकलकर ज्ञानतन्तु-समूह छाती, पेट और पेड़ू में जाल की तरह फैले हुए हैं और इसी प्रकार मस्तक, गर्दन आदि अन्य अंगों में भी उनके जाल फैले हुए हैं। उसमें ज्ञानतन्तु की ग्रन्थियों का भी समावेश है। वे ग्रन्थियाँ नसों के द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। उन ग्रन्थियों में से असंख्य सूक्ष्मतम तन्तु निकलकर शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों में रक्तवाहिनी नाड़ियों तक पहुँचे हुए हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों में ज्ञानतन्तु परस्पर एकत्र हैं। कहने की आवश्यकता नहीं—उसी एकत्र स्थान को चक्रों की संज्ञा दी गयी है। जैसा कि बतलाया जा चुका है—उन चक्रों अथवा केन्द्रों की संख्या सात है और सातों विभिन्न शक्ति के केन्द्रस्थल हैं।"

× × ×

"दूसरे प्रकार का ज्ञानतन्तु-समूह शरीर में रुधिराभिसार, श्वासक्रिया और पाचन-क्रिया का नियामक है। मस्तिष्क ज्ञानतन्तुओं द्वारा जिस शक्ति को सारे शरीर में वितरित करता है—उसे ज्ञानतन्तु बल Nerve Force यानी प्राणशक्ति कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म और गतिमान् शक्ति है। इसकी शक्ति और गति की तुलना विद्युत्-शक्ति और विद्युत्-गति से की जा सकती है। हमारे शरीर में जो नियन्त्रित तापमान है—वह इसी प्राणशक्ति का ही परिणाम है।

"इसी सूक्ष्म शक्ति के बल पर हृदय की धड़कन का संचालन होता है। फेफड़े के भीतर श्वास-प्रश्वास की भी क्रिया होती है। इसीके द्वारा शरीर के अन्य अवयव भी अपना-अपना काम करते रहते हैं। इतना ही नहीं, मस्तिष्क भी इसीके बल पर अपना काम करता है।"

× × ×

मन का कार्यक्षेत्र नाभि-केन्द्र

"नाभि-केन्द्र में जो ज्ञानतन्तुओं का समूह है—उसे योगतन्त्र में मणिपूरक चक्र कहते हैं, जिसे शरीर-विज्ञान की भाषा में Solar Plexus कहते हैं। वैज्ञानिकों को इस केन्द्र के विषय में बहुत कम ज्ञान है। वे एक ग्रन्थि ही मानते हैं। नाभिस्थित

इसी मणिपूरक चक्र में 'मन' शरीर के आन्तरिक और आभ्यन्तर मुख्य अवयवों का नियमन और संचालन करता है। वैसे 'मन' का मुख्य स्थान अथवा केन्द्र मस्तिष्क ही है। मगर उसका कार्यक्षेत्र नाभिकेन्द्र ही है और यही कारण है कि तन्त्र में इस केन्द्र को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है।"

× × ×

स्वतन्त्र तन्त्रिका तन्त्र

"यह हुआ केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र और संवेदनाग्राही तन्त्रिका तन्त्र की कार्य-प्रणाली की बात, जिनका संचालन और नियमन मन और प्राण की शक्तियों द्वारा होता है। तीसरा है स्वतन्त्र तन्त्रिका तन्त्र।

"यह स्वतन्त्र तन्त्रिका समूह हमारे हृदय, आमाशय, आँतों, जनन-अंगों, वृक्क, मूत्राशय आदि पर अपना नियन्त्रण रखता है। इनसे मस्तिष्क का कोई सम्बन्ध नहीं है। मस्तिष्क का इन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। यह तन्त्रिका स्वचालित है क्योंकि इसका संचालन आत्मशक्ति के द्वारा होता है। आत्मा स्वतन्त्र है—इसलिए इस तन्त्र को भी स्वतन्त्र और स्वचालित तन्त्रिका तन्त्र कहते हैं।

"हमारा सभी अंगों और अवयवों पर अधिकार है। हम सभी अंगों को अपने इच्छानुसार मानसिक आदेश दे सकते हैं। मगर हम चाहकर भी अपने हृदय की धड़कन को घटाने-बढ़ाने या बन्द धड़कन को चालू करने का आदेश मस्तिष्क को नहीं दे सकते। चाह करके भी अपने श्वास-प्रश्वास पर नियन्त्रण नहीं रख सकते। चाह करके भी हम अपनी अँतड़ियों, जनन-अंगों, वृक्क और मूत्राशय पर अपना अधिकार और नियन्त्रण नहीं रख सकते। चाह करके भी रोग-व्याधि को रोक नहीं सकते, क्योंकि मस्तिष्क से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। मन के अधिकार के बाहर हैं ये सब। अगर अधिकार और नियन्त्रण है तो केवल आत्मशक्ति का। मन की आत्मा भी अपने स्थान नाभिकेन्द्र (मणिपूरक चक्र) से इन सबका संचालन करती है।"

स्वतन्त्र तन्त्रिका तन्त्र अति संवेदनशील

"आत्मशक्ति द्वारा संचालित और स्वतन्त्र होने पर भी स्वतन्त्र तन्त्रिका तन्त्र अति संवेदनशील होता है। वह इतना संवेदनशील है कि मस्तिष्क पर पड़नेवाले प्रभाव से वह भी तत्काल प्रभावित हो जाता है। वैसे जब हम बहुत उत्तेजित होते हैं, क्रोधित होते हैं, कोई डरावनी, भयानक चीज देखते हैं या कोई दुःखद समाचार सुनते हैं तो उस समय हमारे हृदय की धड़कन एकाएक बढ़ जाती है। श्वास की गति भी तेज हो जाती है, जिसे हम दिल का 'बैठना' कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मस्तिष्क पर पड़नेवाले उद्दीपन का—चाहे वह अच्छा हो या बुरा—स्वतन्त्र तन्त्रिका तन्त्र पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। खैर!"

"आत्मशक्ति द्वारा संचालित इस स्वतन्त्र तन्त्रिका तन्त्र पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है ?"—यह पूछने पर बटेश्वर गिरि ने कहा—"अवश्य। तान्त्रिक साधना-मन, प्राण और आत्मा में निहित शक्ति की साधना है। आप तो जानते ही हैं कि इन तीनों का केन्द्र क्रमशः मस्तिष्क, हृदय और नाभि हैं। योगी और साधक सबसे पहले प्राणायाम और 'ध्यान' के द्वारा प्राण और मन को अपने अधिकार में करता है। उन पर अपना नियन्त्रण रखता है। फिर समाधि द्वारा अपनी 'आत्मा' को नियन्त्रित करता है। आत्मशक्ति के अधिकार में आते ही श्वास-प्रश्वास, हृदय की धड़कन, भूख, प्यास, इच्छा, विचार आदि सब पर योगी और साधक का नियन्त्रण हो जाता है। स्वतन्त्र तन्त्रिका तन्त्र द्वारा संचालित जितने भी आन्तरिक अंग-प्रत्यंग हैं—वे सब उसके अधिकार में आ जाते हैं। यहाँ तक कि मृत्यु पर भी अधिकार प्राप्त हो जाता है। खैर, यह हुई तान्त्रिक जप-साधना की पृष्ठभूमि। अब हम मन्त्रों, बीजाक्षरों और जप की क्रियाओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

जप-साधना का मुख्य केन्द्र सात चक्र

"प्रसंगवश हम सात चक्रों की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। वास्तव में वे सात चक्र तान्त्रिक साधना की एकमात्र मूल भित्ति है। इन सातों चक्रों का सम्बन्ध ध्यानयोग, मन्त्रयोग, जपयोग और समाधि से किस प्रकार है—इस पर अभी तक विस्तार से प्रकाश डालने की कोशिश किसीने नहीं की।" इस समय बटेश्वर गिरि ने कहा—"तन्त्रविषयक जितनी पुस्तकें उपलब्ध हैं—वे सब पिष्टपेषण मात्र हैं। अब तो बाजारों में तन्त्र-मन्त्र की ऐसी पुस्तकों की बाढ़-सी आ गयी है कि जिनमें वास्तविकता किञ्चित् मात्र नहीं है। सत्यता की तो बात करना ही व्यर्थ है। सच तो यह है कि ऐसी ही पुस्तकें तन्त्र और तान्त्रिक साधनाओं के प्रति जनमानस में भ्रम फैला रही हैं। ऐसे ही आज के तान्त्रिक कहे जानेवाले महापुरुष लोग भी हैं। शव पर बैठकर आचमन करनेवाले ऐसे आडम्बरी और पाखण्डी तान्त्रिकों की आज कमी नहीं है—जो साधना के विषय में कुछ भी न जानते हुए भी अपने-आपको बहुत कुछ समझते हैं। ऐसे महानुभावों द्वारा भी तन्त्र और तान्त्रिक साधनाओं के प्रति लोगों की आस्था और विश्वास समाप्त होता जा रहा है। खैर ! छोड़ो इन बेकार की बातों को। इस समय जाओ। काफी देर हो गयी है। पूजा-पाठ का समय हो रहा है।" यह कहकर बटेश्वर गिरि उठे और अपनी कोठरी के भीतर चले गये और दरवाजा बन्द कर दिया उन्होंने।

× × ×

स्वप्नावस्था में डाकिनी से साक्षात्कार

दूसरे दिन १५ अगस्त था।

भारत का प्रथम स्वतन्त्रता-दिवस।

सबेरे से ही आकाश में काले भूरे बादल छाये हुए थे। हल्की-हल्की बारिश हो रही थी। बारिश के कारण ही बटेश्वर गिरि से मिलने न जा सका मैं। फिर ऐसा काम आ गया कि तीन-चार दिन जाना न हो सका मेरा। और जब गया तो सिर थामकर बैठ गया वहीं। पता चला, मन्दिर के पुजारी ने ही बतलाया मुझे—बटेश्वर गिरि नहीं हैं। दो दिन पहले बिना किसीसे कुछ बतलाये न जाने कहाँ चले गये। उनकी कोठरी खुली पड़ी है। सारा सामान भी अपनी जगह पर है। साथ में शायद कुछ नहीं ले गये। कब और किस समय गये महाशय, यह भी पुजारी को मालूम नहीं था।

यह सुनकर मन को बड़ा ही दुःख हुआ। बड़ी पीड़ा हुई आत्मा को। सबसे बड़ा क्लेश और सबसे बड़ा कष्ट इस बात का था कि जिस ढंग से और जिस क्रम से तन्त्र के गोपनीय और रहस्यमय विषयों को शृङ्खलाबद्ध रूप में गिरि महाशय ने मुझे बतलाया और समझाया था वह अपने-आपमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि विषय अधूरा ही रह गया था। कौन पूरा करेगा उसे ? कौन समझायेगा और कौन बतलायेगा उनकी तरह ? हे गणपति ! हे गजानन ! आप ही मेरी सहायता करें—चिन्तामणि गणेश की विशाल मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर याचना की मैंने। फिर न जाने कब तक अपलक निहारता रहा मैं प्रतिमा की ओर।

× × ×

उस रात ठीक से सो न सका। भोर के समय झपकी लगी और उसी तन्द्रिल अवस्था में मैंने एक युवती को देखा—वह मेरी ओर देखकर मुस्करा रही थी। उसकी वह मुस्कराहट बड़ी रहस्यमयी थी। "कौन हो तुम ?" अचकचाकर पूछा मैंने। "पहचाना नहीं मुझे" मुस्कराते हुए ही वह युवती कहने लगी—"कैसे पहचानोगे—मैं तो एक अमानवीय अशरीरी आत्मा हूँ—अपने सामर्थ्य से नारी का रूप धारण कर प्रकट हुई हूँ तुम्हारे सामने।" अचानक सब कुछ समझ में आ गया मेरे। युवती के रूप में वह वही डाकिनी थी—जिसे मैंने श्मशान में सिद्ध किया था। हठात् मेरे मुँह से निकल गया—

"अरे, तुम ?······तुम कैसे······?"

"तुमने मुझसे वादा किया था न। इसीलिये चली आयी।"

"कैसा वादा ?"

"भूल गये। इतनी जल्दी भूल गये। मुझसे तुमने कहा था कि मैं तुम्हारा सहयोग भौतिक कार्यों की सिद्धि के लिए नहीं, बल्कि अपने बौद्धिक कार्यों में लूँगा। अपनी खोज में लूँगा। अपने शोध व अन्वेषण में लूँगा। बोलो कहा था न ?"

यह सुनकर सब कुछ याद आ गया मुझे। वास्तव में मैं एक प्रकार से भूल ही गया था अपनी दुर्धर्ष सिद्धि को।

डाकिनी बोली—"तुम्हें हताश-निराश देखकर आना ही पड़ा मुझे। तुम मुझे भूल गये थे। मगर मैं कैसे भूल सकती थी तुम्हें। तुमने मुझे जो बाँध रखा है। अब मत भूलना। जब याद करोगे, तब इसी तरह, इसी अवस्था में और इसी नारी रूप में तुम्हारे पास चली आया करूँगी।"

जो विषय अधूरा छूट गया था, जिसका मुझे कष्ट था, उसे जब मैंने बतलाया तो वह बोली—"चिन्ता मत करो। सब ठीक हो जायेगा। इसी काशी में दीर्घ काल से एक महासाधक रहते हैं। उच्च कोटि के महात्मा हैं। कभी-कभी हरिश्चन्द्र घाट के महाश्मशान में विचरण करने के लिए आते हैं। उनसे तुम्हारी भेंट होगी और उन्हीं-की कृपा से तुम्हारा अधूरा विषय पूरा होगा।" इतना कहकर वह गायब हो गयी और उसीके साथ मेरी आँखें भी खुल गयीं। उठकर बैठ गया बिस्तर पर। सबेरा हो चुका था। मन-ही-मन सोचने लगा—कौन हैं वह महात्मा? कब और किस समय विचरण करने आते हैं श्मशान में? कैसे समझूंगा? और कैसे पहचानूंगा मैं उन्हें?

•

वह रहस्यमय अघोरी

वह रहस्यमयी तान्त्रिक साधना-स्थली

दूसरे दिन से श्मशान का चक्कर लगाने लगा मैं। इसे पागलपन ही समझा जायेगा कि जिसे मैंने कभी देखा नहीं—उसकी खोज कर रहा था और वह भी श्मशान में। धीरे-धीरे एक महीना बीत गया।

रोज की तरह उस दिन भी श्मशान की बगलवाली धूलभरी सीढ़ियों पर मौन साधे मैं गहन चिन्तन-मनन में डूबा हुआ था। सांझ गहरा गयी थी। कार्तिक का महीना था। कुहरे की हल्की परतें फैलने लगी थीं गंगा के ऊपर।

एक साथ कई चिताएँ जल रही थीं उस समय श्मशान में जिनकी लाल-पीली लपटों की धूमिल रोशनी में अचानक मैंने एक व्यक्ति को देखा—जो जलती हुई चिताओं और उन चिताओं की गोद में रखी हुई लाशों को—खड़े होकर अपलक घूर रहा था। आयु यही रही होगी साठ-पैंसठ के आसपास। वेशभूषा भिखारियों जैसी थी। सिर के बाल

रूखे-सूखे जटाजूट-से थे। गन्दे शरीर पर मैले-कुचैले कपड़े का एक टुकड़ा लपेटे बिल्कुल पागलों जैसा लग रहा था वह। कभी वह जलती हुई लाशों को ध्यान से देखता तो कभी उन पर झुककर कुछ खोजने की चेष्टा करता और जब वह ऐसी हरकत करता तो कुछ दूर पर खड़ा घाट का डोम—कच्ची शराब के नशे में चिल्लाकर कहता—"अबे; भाग यहाँ से······तै···~ त···बड़ा तंग करत बाटे···चल भाग···मुर्दवा जले···दे।"

शराब में डूबी हुई डोम की आवाज सुनकर वह व्यक्ति एकबारगी चौंक उठता और फिर हो-हो करके अजीब ढंग से हँसने लगता। उसी समय एक और लाश आ गयी घाट पर। राम···राम ' सत्य···है···राम···राम···सत्य···है की आवाज गूंज उठी श्मशान के उस नीरव वातावरण में। इधर-उधर दुबके हुए श्मशान के मरियल कुत्ते आवाज सुनकर समवेत स्वर में भूंकने लगे और उन कुत्तों के भूँकने की आवाज में एक और आवाज़ उभरी····· वह आवाज थी डोम चौधरी की—"कहाँ से आवत हौ मुर्दा ?"

लाश ढोनेवालों में से किसीने जवाब दिया—"अहरौरा से···।"

"अच्छा-अच्छा" डोम चौधरी ने कहा—"आगे मत बढ़······उधर ओ तरफ··· किनारे रख मुर्दा ।"

कुत्ते का भूँकना अब बन्द हो गया था। श्मशान में फिर पहले जैसी खामोशी छा गयी थी। घाट के ऊपर जल रही म्युनिसिपैलिटी की बत्ती की पीली रोशनी में मैंने देखा—उस लाश के साथ आनेवाले लोगों में एक औरत भी थी। औरत अभी जवान थी। उसकी आँखों में आँसू तो नहीं थे—मगर चेहरा जरूर उदास था।······वह धीरे-धीरे चलकर राजा हरिश्चन्द्र और तारामती के मन्दिर के चबूतरे पर बैठ गयी सिर पर हाथ रखकर। कुछ क्षणों के बाद—एक आदमी भी वहाँ पहुँचकर उस औरत के करीब बैठ गया। वह आदमी भी जवान था। उसने एक लुंगी लपेट रखी थी और एक मैली-सी चादर ओढ़ रखी थी। वह उदास औरत कभी अपनी नजरों से कफन में लिपटी हुई लाश की ओर देखती तो कभी सिर घुमाकर अपने बगल में सटकर बैठे हुए उस आदमी के चेहरे को देखने लग जाती। उस औरत की आँखों की गहरी उदासी को देखकर ऐसा लगा—मानो वह लाश उसीके पति की ही हो और बगल में सटकर बैठनेवाला वह जवान आदमी उसके मरे हुए पति का कोई रिश्तेदार या भाई हो।

थोड़ी देर बाद वह पागल जैसा भिखारी आदमी धीरे-धीरे टहलता हुआ—मेरे सामने से गुजरा। पर थोड़ा आगे बढ़कर वापस लौट आया—और फिर मेरी ओर घूर-कर देखते हुए बोला—"देखा! स्साली खुद अपने खसम को मारकर अब यहाँ आयी है अपने यार के साथ।" शायद उस पागल भिखारी का संकेत मंदिर के चबूतरे पर बैठी हुई उस जवान औरत की तरफ था। वह बड़बड़ा रहा था—"औरत जात का भरोसा

नहीं—कब क्या कर बैठे।····· पहले तो फँसाया अपने देवर को और फिर अपने देवतातुल्य आदमी को जहर देकर मार डाला और अब·········अब आयी है यहाँ सती का नाटक करने ।" काफी देर तक बड़बड़ाने के बाद वह पागल मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। फिर बोला—"कुछ खिलायेगा? बोल···स्साले' 'कुछ है तेरे पास···?"

"क्या खायेगा तू बोल ?"—मैंने पूछा।

"रसगुल्ला खिलायेगा ?"

"क्यों नहीं खिलाऊँगा, चल मेरे साथ।"

मगर न वह पागल मेरे साथ चला और न तो आगे ही कुछ बोला। केवल एक बार मेरी ओर देखा और फिर घाट के अँधेरे में गायब हो गया और तभी कहीं टन्-टन् कर नौ का घण्टा बजा। रात गहरा गयी थी और तभी किसीकी दूर से आती हुई आवाज सुनाई दी मुझे। कोई उस स्याह अँधेरे में मेरा नाम लेकर पुकार रहा था। इतनी रात को कौन पुकार रहा था मुझे ? घोर आश्चर्य हुआ। सिर घुमाकर अँधेरे में चारों तरफ देखने की कोशिश की मैंने। मगर कोई नजर नहीं आया। फिर मैं घाट की अँधेरी सँकरी गली में घुस गया और तभी गली के अँधेरे में वही पागल और भिखारी जैसा व्यक्ति मुझे नजर आया। एकबारगी चौंक पड़ा मैं। मुझे देखते ही हो-हो करके हँसने लगा वह पागल। बड़ी ही विचित्र और भयानक हँसी थी वह। उस विलक्षण हँसी की आवाज कानों में पड़ते ही मेरा माथा एकबारगी सनसनाने लगा और एक अजीब-सा नशा भी छाने लगा और मेरी आत्मा सम्मोहित-सी होने लगी दूसरे क्षण। मेरी अवस्था विचित्र-सी हो गयी और उसी विचित्र अवस्था में मैं भी उस पागल के पीछे चलने लगा। चारों ओर गहरा सन्नाटा छाया हुआ था।

वह पागल कई गलियों का चक्कर काटने के बाद एक पुराने जीर्ण-शीर्ण-से मकान के सामने रुका और सिर घुमाकर एक बार मेरी ओर घूरकर देखा। उस समय उसकी जलती हुई आँखों में मुझे एक ऐसी चमक दिखलाई पड़ी जो किसी पहुँचे हुए योगी या साधक की आँखों में देखने को ही मिलती है।

वह विलक्षण और रहस्यमय व्यक्ति पलटकर एक झटके से उस खण्डहरनुमा मकान के भीतर चला गया और उसके पीछे-पीछे मैं भी सम्मोहित-सा घुस गया उसमें।

मकान के भीतर गहरा अँधेरा था। गहरी निस्तब्धता छायी हुई थी। एक सँकरे से लम्बे दालान को पार करने के बाद एक छोटे-से आँगन में पहुँचा मैं उसके साथ। आँगन के सामने एक कोठरी थी और उसी कोठरी में से नीचे तलघर में जाने के लिए छोटी-छोटी सीढ़ियाँ थीं। वह रहस्यमय व्यक्ति जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतरने लगा। उसके साथ मैं भी उतरने लगा। करीब ८-१० सीढ़ियाँ उतरने के बाद मैं एक काफी लम्बे-चौड़े दालान में पहुँचा। दालान की दोनों तरफ की दीवारें सीलन से भरी थीं

और प्लास्टर भी कई जगह उखड़े हुए थे। चीं-चीं की आवाज करते हुए और पंख फड़फड़ाते हुए अँधेरे में न जाने कहाँ कितने चमगादड़ इधर-उधर उड़ रहे थे। कभी-कभी मेरे सिर से भी टकरा जाते थे वे।

दालान के दूसरी ओर हल्का-सा प्रकाश हो रहा था। वहाँ एक अधेड़ आयु की औरत जिसका रंग काला था और शक्ल बदसूरत थी—हाथ में लालटेन लिये खड़ी थी चुपचाप। उस व्यक्ति को देखते ही वह अधेड़ काली कुरूप औरत बिना कुछ बोले आगे-आगे चलने लगी। दालान जहाँ खत्म होता था-वहाँ भी एक आँगन था। मैं उस व्यक्ति के पीछे-पीछे सम्मोहित-सा लालटेन की धुंधली-पीली रोशनी में गिरते-पड़ते किसी प्रकार वहाँ पहुँचा। आँगन भी अँधेरे में डूबा हुआ था। वह बदसूरत औरत जिसके काले जिस्म से बराबर दुर्गन्ध निकल रही थी, शायद रोशनी दिखाने के लिए थी। आँगन काफी लम्बा-चौड़ा था जिसके बीच में पंचमुंडी आसन था और उसके सामने बलि-वेदी थी जिस पर बलि दिये गये किसी पशु का खून सूखकर काला पड़ गया था। समझते देर न लगी मुझे। निश्चय ही किसी उच्च कोटि के रहस्यमय तन्त्र-साधक की गुप्त साधना-स्थली में पहुँच गया था मैं।

हे भगवान्, अब क्या होगा ? अनजाने में कहाँ आकर फँस गया मैं ? कभी किसीसे सुना था कि कौल-सम्प्रदाय और कापालिक-सम्प्रदाय के सिद्ध साधकों का पुराना गढ़ है वाराणसी। मगर वे सिद्ध साधक लोग ऐसे परिवेश में रहते हैं कि न उन्हें पहचाना जा सकता है और न तो समझा-परखा ही जा सकता है। घोर आश्चर्य की बात तो यह है कि वाराणसी के पुराने मकानों में बने तलघरों की ही तरह उनकी साधना-स्थलियाँ भी हैं जहाँ साधारण लोगों का पहुँचना असम्भव तो नहीं—कठिन अवश्य है। मैंने यह भी सुन रखा था कि उन साधना-स्थलियों में रहने-सहने और साधना की सारी सुविधाएँ हैं। वैसे उनमें रहनेवाले साधकों का जीवन भौतिक स्तर का नहीं है। इसीलिए भौतिक आवश्यकताएँ बहुत कम हैं उनकी। जो कुछ हैं भी तो उनकी पूर्ति वे अपने अलौकिक साधनों के बल पर समयानुसार कर लेते हैं। वे अपनी साधना-स्थली से बहुत कम ही बाहर निकला करते हैं। यदि कभी-कदा निकलते भी हैं तो साधारण लोगों की तरह उनकी वेश-भूषा और रंग-ढंग देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि वे मानवेतर शक्तिसम्पन्न महासाधक हैं।

उन रहस्यमय साधकों की आयु कितनी है और कितने समय से वे साधनारत हैं, इसे भी कोई बतला नहीं सकता और यह भी कोई नहीं बतला सकता कि वाराणसी की धरती के नीचे इस प्रकार की भूतलीय साधना-स्थलियाँ कब और किस काल में बनीं। मैंने यह भी सुन रखा था कि ऐसे गुप्त साधना-स्थलों में जाने के लिए कई गुप्त मार्ग हैं। मगर उन मार्गों का पता केवल सम्बन्धित साधकों को ही है।.........तो क्या

उन्हीं गुप्त और रहस्यमयी साधना-स्थलियों में से कोई गुप्त स्थली तो नहीं थी वह और यह खयाल आते ही मैं दोनों हाथों से अपना सिर थामकर वहीं जमीन पर बैठ गया।·········हे भगवान्! अब क्या होगा? किसीने कभी मुझे बतलाया था कि ऐसे स्थानों पर अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिए तथा प्रबल सिद्धि प्राप्त करने की आकांक्षा से साधक लोग समय-समय पर नरबलि भी दिया करते हैं।

निश्चय ही वह पागल-सा व्यक्ति इस गोपनीय स्थान से सम्बन्धित है और मुझे सम्मोहित कर नरबलि के लिए ही यहाँ लाया है—इसमें सन्देह नहीं और यह विचार आते ही भय और आतंक के मिले-जुले भाव से भर गया मेरा मन और सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा मेरा और जब थोड़ी देर बाद सिर उठाया तो देखा—वहाँ न वह पागल था और न तो थी वह काली-कलूटी बदशक्ल औरत ही। केवल लालटेन वहाँ रखी थी जिसकी हल्की-पीली रोशनी वहाँ के रहस्यमय वातावरण में चारों तरफ फैल रही थी और उसी पीली रोशनी में मैंने अपने सामने एक लम्बी-चौड़ी काठी के संन्यासी को खड़ा देखा। निश्चय ही वह कोई भयंकर तान्त्रिक संन्यासी था। उसका कद काफी लम्बा था। कम-से-कम साढ़े छः फुट का अवश्य रहा होगा। शरीर का रंग बिल्कुल काला था और घुटा हुआ सिर हद से ज्यादा बड़ा था। छाती भी काफी चौड़ी थी, जिस पर रुद्राक्ष और स्फटिक के बड़े-बड़े दानों की कई मालाएँ झूल रही थीं। दाढ़ी-मूँछ भी सफाचट थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें गूलर की तरह लाल थीं। चेहरा गम्भीर था। सिर्फ वह लाल रंग की लुंगी पहने हुए था। अचानक उस रहस्यमय तान्त्रिक संन्यासी को सामने देखकर और अधिक भयभीत हो उठा मैं। काफी देर तक अपलक दृष्टि से मेरी ओर देखता रहा वह संन्यासी। फिर बोला—"तुम्हारा यहाँ कैसे आना हुआ? कौन हो तुम?"

लपककर मैंने अपने काँपते हाथों से संन्यासी के पैरों को पकड़ लिया और सूखे गले से कहा—"महाराज! न जाने कैसे एक पागल के चक्कर में पड़कर मैं यहाँ आ गया हूँ। किसी प्रकार आप मुझे यहाँ से निकालें, बड़ी कृपा होगी आपकी।" फिर मैंने अपनी सारी कथा सुना डाली उस संन्यासी को और अन्त में यह भी बतला दिया कि किस प्रयोजन से साधु-संन्यासियों और योगी तान्त्रिकों के चक्कर में पिछले पाँच सालों से इधर-उधर भटक रहा हूँ मैं।

मेरी सारी बातें ध्यान से सुनने के बाद संन्यासी ने अपनी लाल-लाल आँखों से मेरी ओर घूरकर देखा और फिर बोला—"आओ मेरे साथ।" मैं संन्यासी के साथ चलने लगा। वह मुझे लेकर एक कमरे में पहुँचा। कमरा काफी लम्बा-चौड़ा था, मगर सीलन से भरा था। पूर्व दिशा में गंगा की ओर तीन-चार छोटी-छोटी खिड़कियाँ थीं—जिनमें से छनकर रोशनी भीतर आ रही थी। कभी-कभी हवा का स्वच्छ झोंका भी आ जाता था भीतर। वह तलघर गंगा किनारे कहीं था—यह समझते देर न लगी मुझे।

मैंने देखा—उस लम्बे-चौड़े कमरे में महाकाल भैरव की भव्य मूर्ति स्थापित थी। मूर्ति काले पत्थर की करीब पाँच फुट ऊँची थी। बड़ी ही सजीव थी वह मूर्ति। तान्त्रिक साधना में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखनेवाले महाकाल की उस भयानक प्रतिमा का एक पैर पुरुष के शव पर और दूसरा पैर नारी के शव पर था। सृष्टि के मूल तत्त्व प्रकृति-पुरुष के उन दोनों पाषाण शवों के हृदय पर आरूढ वह महाकाल मुझे प्रत्यक्ष में ताण्डव-सा करता हुआ प्रतीत हुआ।

महाकाल की अट्टहास करती हुई उस भयंकर प्रतिमा के एक ओर नरमुण्ड में घी का दीप जल रहा था और उसीके पास एक दूसरे नरमुण्ड में मदिरा रखी थी और प्रतिमा के ठीक सामने मृगचर्म के आसन पर लाल रंग की रेशमी साड़ी पहने एक युवती नेत्र बन्द किये हुए ध्यानस्थ बैठी थी। युवती के सुगठित शरीर का रंग लालिमा लिये गोरा था। उसके गले में रुद्राक्ष की माला थी और ऊँचे-चौड़े ललाट पर लाल सिन्दूर का गोल टीका था और सिर के घने काले बाल खुलकर पीठ पर बिखरे थे। युवती के सुन्दर चेहरे पर दिव्य आभा थी और था अजीब-सा आकर्षण।

मन्दिरनुमा उस कमरे में एक विचित्र-सी सुगन्ध भरी हुई थी और वातावरण में गहरी शान्ति व्याप्त थी। मैं सम्मोहित-सा युवती की ओर अपलक देखने लगा। मेरी उपस्थिति का ज्ञान शायद उस साधिका को नहीं था। पूर्ववत् नेत्र बन्द किये-ध्यानस्थ बैठी थी वह।

हे भगवान् ! कितना अद्भुत, कमनीय और स्वर्गीय सौन्दर्य था उसका। कोई महान् कवि भी कल्पना नहीं कर सकता उस उदग्र यौवन के अपरूप सौन्दर्य की। ऐसा लगा—मानो किसी सिद्धहस्त कलाकार के हाथों से तराशी गयी अजन्ता की गुफा की कोई पाषाण-प्रतिमा सजीव होकर मेरे सामने जोगन के वेश में बैठी हुई हो।

प्रच्छन्न साधक-साधिकाओं के सम्पर्क में

सारे वातावरण और सारी स्थितियों को देखकर समझ गया मैं कि प्रच्छन्न रूप से निवास करनेवाले साधक और साधिकाओं का वह कोई बहुत बड़ा केन्द्र है। मगर बार-बार मैं यही सोच रहा था कि वहाँ मुझे इस प्रकार लाने का क्या प्रयोजन था उस पागल भिखारी का ? और तभी मेरे मस्तिष्क में कुछ कौंध-सा गया। स्वप्न की अवस्था में दिखलाई देनेवाली युवती के रूप में उस हाकिनी के एक-एक शब्द मुझे याद आ गये। फिर घोर आश्चर्य से भर गया मेरा मन। सारी लीला उस हाकिनी की ही थी—यह समझते देर न लगी मुझे।

●

योगसाधिका मंगला

ध्यानस्थ बैठी उस साधिका के नेत्र धीरे-धीरे खुले और सिर उठाकर उसने मेरी ओर देखा। फिर अचानक मुस्करा पड़ी। बड़ी अच्छी लगी मुझे उसकी मुस्कराहट। उस समय मेरे साथ वह काला-कलूटा तान्त्रिक संन्यासी भी था।

मेरी ओर संकेत करके संन्यासी से वह युवती बोली—"इस युवक को गुरुदेव के पास ले जाइये"—फिर उसने सिर घुमाकर मुझसे कहा—"मेरा नाम मंगला है। साधक वामाचरण की शिष्या हूँ मैं।"

साधक वामाचरण का नाम सुनकर मैं चौंक पड़ा। काशी के प्रसिद्ध साधक तैलंग स्वामी के शिष्य थे साधक वामाचरण। कुछ समय पहले मैंने अपने एक मित्र के निवास पर उनका एक बड़ा-सा तैल-चित्र देखा था। बहुत समय पूर्व उस महासाधक की अलौकिक दिव्य साधना के अनिर्वचनीय सुगन्ध से काशी का आध्यात्मिक वातावरण प्लावित था।

मैंने सुन रखा था कि साधक वामाचरण की एक परम शिष्या थी जिसने उनसे 'शक्तिपात' दीक्षा ग्रहण कर तिब्बत की संग्रीला घाटी में स्थित सियांग मठ में रहकर दीर्घकाल तक गम्भीर साधना की थी और साधना के बल पर उस शिष्या ने कई प्रकार की अलौकिक और दिव्य सिद्धियाँ भी प्राप्त की थीं।

सोचने लगा मैं—कहीं यह युवती साधक वामाचरण की वही शिष्या तो नहीं है ? मगर दूसरे क्षण बुद्धि ने हौले से कहा—यह कैसे सम्भव हो सकता है ? काशी में साधक वामाचरण को·········हुए ८० वर्ष के लगभग हो रहा है। यह बीस-बाईस वर्ष की युवती उनकी शिष्या कैसे हो सकती है ? असम्भव है। शायद मेरे मन के भाव को और द्वन्द्वात्मक विचारों को वह साधिका समझ गयी। पहले की तरह मुस्करायी और बोली—"स्वाभाविक है तुम्हारा सन्देह करना। मानव-मन की अपनी एक सीमा है और उस सीमा के आगे वह सोच-विचार करने में असमर्थ होता है। यदि हम भारतीय संस्कृति और साधना के वास्तविक स्वरूप से परिचित होना चाहते हों तो अपने मन को उसकी सीमा से मुक्त करना होगा और श्रद्धा-विश्वास को भी दृढ़ करना होगा। जिस वस्तु के लिए प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है—वह वस्तु सत्य से परे होती है। सत्य के लिए किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। सत्य स्वयं प्रमाणित होता है। मैं साधक वामाचरण की शिष्या हूँ। वही शिष्या जिसको उन्होंने इसी काशी में शक्ति-पात-दीक्षा दी थी—और जिसने चर्मचक्षु से परे संग्रीला घाटी में स्थित सियांग मठ में दीर्घ काल तक गम्भीर साधना की थी।"

मुझसे कुछ बोला न गया। चुपचाप मुंह बाये बेवकूफों की तरह सुनता रहा मैं सब कुछ। मंगला आगे कहने लगी—"दीक्षा के समय मेरी कुल अवस्था पचीस वर्ष थी और इस समय मेरी आयु सौ वर्ष से भी ऊपर है।"

"ऐं, क्या कहा आपने···सौ से भी ऊपर ?" आश्चर्यचकित होकर बोला मैं।

"हाँ, इसमें सन्देह नहीं। योगी और साधकों के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। योग पर आधारित तन्त्र के अन्तर्गत १६ विज्ञान हैं और प्रत्येक विज्ञान की अपनी-अपनी चार-चार विद्याएँ हैं। इस प्रकार कुल ६४ विद्याएँ हैं। प्रत्येक विद्या की अपनी जो शक्ति है उसे योगिनी कहते हैं। तन्त्र में ६४ योगिनी प्रसिद्ध हैं।

"सोलह विज्ञानों में एक विज्ञान है सूर्य-विज्ञान। सूर्य-विज्ञान की जो चार विद्याएँ हैं—उनमें एक विद्या का नाम सावित्री विद्या है। भारत की सर्वोत्कृष्ट और साथ ही अत्यन्त रहस्यमयी विद्या है सावित्री विद्या। इस विद्या में सिद्धिप्राप्त योगीगण किसी भी वस्तु या पदार्थ की सत्ता को इच्छानुसार सूर्य-रश्मियों के सहयोग से अन्य किसी वस्तु या पदार्थ की सत्ता में परिवर्तित कर सकते है। सूर्य का एक नाम सविता भी है। इसीके आधार पर इस परम विद्या को सावित्री विद्या कहते हैं। सविता या सावित्री सूर्य की शक्ति हैं। अब प्रश्न यह है कि सूर्य है क्या ? वास्तव में सूर्य एक परम तेजोधारक लेन्स (Lens) मात्र है। इसी लेन्स से होकर, जिसे हम आत्मज्योति कहते हैं—वह जगत् में उतरती है। सूर्य-विज्ञान के ज्ञाताओं का कहना है कि वह आत्मज्योति वास्तव में परम पदार्थ का प्रथम विकास है। इसीका नाम Sapphire Divine Intelligence है। परमात्मा की अपनी जो रश्मि है—उस रश्मि से उत्पन्न तेज का नाम ही सूर्य है। सूर्य प्रकाश या ताप की प्रभा नहीं है। बल्कि वह फोकस Focas है। वह लेन्स मात्र है, जिसके प्रभाव से मूल ज्योति का, जिसे हम परमात्मा ज्योति कहते हैं—रश्मि समूह स्थूल Material बन जाता है और फिर सौर जगत् में एकत्रित होकर विभिन्न प्रकार की शक्तियों को आविर्भूत करता है। उन्हीं शक्तियों से जगत् में नाना प्रकार के पदार्थ निर्मित होते हैं।

"परमात्मा ज्योति का नाम ही परम ज्योति है। वही शब्दब्रह्ममय मन्त्रज्योति भी है। वही अखण्ड, अविभक्त, प्रणवात्मक वेदस्वरूप है। इसीसे विभक्त होकर वेदत्रय—ऋक्, यजुः, साम का आविर्भाव होता है। इसीलिए कहा गया है—

नत्वा सूर्यं परं धाम ऋग्यजुःसामरूपिणम् ॥"

× × ×

"वास्तव में सूर्य एक ऐसा द्वार है, जो दो जगत् के बीच में खुलता है। सूर्य के सामने कालराज्य है और सूर्य के पीछे दिव्यराज्य है। कालराज्य का मतलब है मृत्युराज्य। इस राज्य की सीमा के अन्तर्गत लौकिक और पारलौकिक न जाने कितने

जगत् हैं। मगर सभी मृत्यु अथवा काल के अधीन हैं। काल सर्वत्र व्याप्त है, इस राज्य में।

"इसी प्रकार सूर्य के पीछे भी एक विशाल राज्य है—जिसे दिव्यराज्य कहते हैं। यहां काल की व्यापकता नहीं है और न तो है मृत्यु। दिव्यराज्य की सीमा में जितने भी जगत् हैं—वे सब ब्रह्मतेजोमय हैं। वही ब्रह्मतेज, जो दिव्यराज्य में सर्वत्र व्याप्त है—परमात्म ज्योति का रूप धारण करता है। उसी परमात्म ज्योति की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम प्रणव के रूप में होती है। आगे चलकर प्रणव ॐकार का रूप धारण करता है। इसे उद्गीथ भी कहते हैं। ॐकार प्रणव का उद्गीथ ही एकमात्र सूर्य है। दूसरे शब्दों में वह नादब्रह्म है। वे बराबर रव करते हैं। इसी कारण सूर्य का दूसरा नाम रवि है।"

× × ×

"दिव्यराज्य को ब्रह्ममण्डल और कालराज्य को सौरमण्डल कहा जाता है। परमात्म ज्योति प्रथम प्रणव का रूप धारण कर तीन मण्डलों का निर्माण करती है। प्रणव उन तीनों मण्डलों का एकमात्र केन्द्रबिन्दु है। वे तीनों मण्डल प्रणव से निकलने-वाली रश्मियों से निर्मित होते हैं। अपनी मूलावस्था में वे रश्मियाँ श्वेतवर्णा होती हैं। लेकिन मण्डलों के निर्माण के समय उनके तीन वर्ण हो जाते हैं—श्वेत, पीत और रक्त। श्वेतवर्णा रश्मियों से सर्वप्रथम मण्डल ऋक्-मण्डल, पीतवर्णा रश्मियों से दूसरा मण्डल यजुःमण्डल और रक्तवर्णा रश्मियों से तीसरा मण्डल साममण्डल का निर्माण होता है। वे तीनों मण्डल वलयाकार हैं और एक के ऊपर एक स्थित हैं। बिल्कुल बीच में एक बिन्दु है--उसी बिन्दु का नाम प्रणव है।

"परमात्म ज्योति प्रणव के रूप में अभिव्यक्त होने के बाद आत्मज्योति में परिवर्तित हो जाती है। इस अवस्था में प्रणव नादब्रह्म का रूप धारण करता है और आत्म-ज्योति में निहित ब्रह्मतत्त्व शब्दब्रह्म का रूप धारण करता है। शब्दब्रह्म को वेद कहा जाता है।

"उन वलयाकार मण्डलों में ब्रह्मतत्त्व तीन भागों में विभक्त होकर ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद पदवाच्य हो जाता है। उन तीनों मण्डलों की अपनी जो सीमा है उसे छन्द कहते हैं। ऋक्मण्डल के छन्द को गायत्री छन्द, यजुःमण्डल के छन्द को बृहती छन्द और साममण्डल के छन्द को अनुष्टुप् छन्द कहते हैं।

"उन तीनों छन्दों से—जब तीनों प्रकार की रश्मियाँ और मण्डल में विकीर्ण होती हैं तो उन तीनों के चार-चार वर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सौरमण्डल में बारह प्रकार की विभिन्न वर्णोंवाली—बारह प्रकार की रश्मियाँ सर्वत्र फैली हुई हैं।

"उन बारह प्रकार की रश्मियों से दो तत्त्व काम करते हैं। पहला है देवतत्त्व और दूसरा है भूततत्त्व। देवतत्त्व का दूसरा नाम शक्तितत्त्व है। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि तीन भागों में विभक्त ब्रह्मतत्त्व ही बारह भागों में पुनः विभक्त होकर बारह प्रकार की उन रश्मियों में देवतत्त्व अथवा शक्तितत्त्व के रूप में प्रकट होता है। वे बारह भाग ब्रह्मतत्त्व के बारह रूप हैं—जिन्हें द्वादश आदित्य के नाम से पुकारा जाता है।"

× × ×

"देवतत्त्व और भूततत्त्व प्रमुख तत्त्व हैं। इन दोनों के आपसी संघर्ष से एक तीसरा तत्त्व उत्पन्न होता है—जिसे प्राणतत्त्व कहते हैं। प्राणतत्त्व भी उन दोनों तत्त्वों से संघर्ष करता है, जिसके परिणामस्वरूप ३६तत्त्व आविर्भूत होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं—वे ३६ तत्त्व देवतत्त्व, भूततत्त्व और प्राणतत्त्व के समान संघर्ष के परिणाम हैं। उन्हीं ३६ तत्त्वों के संयोग-वियोग से यानी आकर्षण-विकर्षण से कालराज्य अथवा सौर-मण्डल के सभी दृश्य-अदृश्य और लौकिक-पारलौकिक जगत् विश्व और लोकों का तथा उनमें निवास करनेवाले विभिन्न प्रकार के जीवों व प्राणियों के दृश्य-अदृश्य शरीरों का निर्माण होता है। यहाँ तक कि सभी प्रकार के जड़-चेतन पदार्थों व वस्तुओं की उत्पत्ति के मूल में भी वे ही ३६ तत्त्व विद्यमान हैं। रश्मि के विकासक्रम को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमुख तीन ही रश्मियाँ हैं। वे ही आगे चलकर अपने-आपको बारह रूपों में विभक्त कर लेती हैं। बारह रूपों में विभक्त उन रश्मियों से द्वादश राशियों के द्वादश राशिमण्डलों का सौरमण्डल में निर्माण हुआ है। प्रत्येक राशि का अपना एक मण्डल है और उस मण्डल के अपने नक्षत्र और तारे हैं। प्रत्येक मण्डल का वही वर्ण है—जिस वर्ण की रश्मि से उनका निर्माण हुआ है। उन राशिमण्डलों से नीचे उतरने के बाद उन रश्मियों के बारह रूपों के ३६ भाग हो जाते हैं। उसके बाद वे रश्मियाँ अनन्त होकर सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं।

"रश्मियों के जिन ३६ भागों की चर्चा की गयी है उन प्रत्येक भाग में एक-एक तत्त्व के परमाणु विद्यमान रहते हैं। आपस में रश्मियों के संघर्ष के कारण तत्त्वों के वे परमाणु भी आपस में आकर्षित और विकर्षित होते रहते हैं और उन्हीं आकर्षण और विकर्षण के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की वस्तुओं और विभिन्न प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। सौरमण्डल के विशाल प्रांगण में वास्तव में रश्मियों का खेल बड़ा अद्भुत है। सावित्री विद्या का मुख्य विषय ये रश्मियाँ ही हैं। जो लोग रश्मियों के वर्णों को पहचानते हैं, जो लोग उन रश्मियों में निहित परमाणुओं के तत्त्वों को समझते हैं और जो लोग उन परमाणुओं के आकर्षण-विकर्षण के रहस्य को भी समझते हैं—वही लोग किसी भी वस्तु या किसी भी पदार्थ को इच्छानुसार किसी अन्य वस्तु या

मातुलीमाया का व्यक्तित्व गम्भीर, आकर्षक और सम्मोहक था। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि वहाँ जो लोग भी थे वे सब बिना हृदय की धड़कन के जीवित थे। मातुलीमाया ने कहा—"तुमने गीता तो पढ़ी ही होगी—गीता में एक स्थान पर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं सबके हृदयों में स्थित आत्मा हूँ'।" मैंने कहा—"हाँ, है तो यह अतिमूल्यवान् वक्तव्य।" मातुलीमाया आगे बोलीं—"इसी वक्तव्य में परमात्मा के अस्तित्व की पूरी बात समझ में आ जाती है। लेकिन हमारे विचार में नहीं आती। विचार में आ भी जाय तो शायद हम सोचते होंगे कि हमारा जो हृदय धड़क रहा है—उस हृदय की बात नहीं है। हो भी नहीं सकती। हम जिसे हृदय समझते हैं—उसीको अब वैज्ञानिक भी हृदय मानने को तैयार नहीं हैं। चिकित्सा-विज्ञान का कहना है कि यह तो फेफड़ा है। उसका कहना ठीक भी है। वह केवल पम्पिंग स्टेशन है, जहाँ से हमारे सारे शरीर में नस-नाड़ियों द्वारा खून पहुँचता है। श्वास-प्रश्वास आता-जाता रहता है और उसीके साथ सारे शरीर में खून भी दौड़ता रहता हैं, हृदय भी धड़कता रहता है और उस धड़कन के साथ खून भी साफ होता रहता है। मगर वह हृदय नहीं है। वह एकमात्र यन्त्र है और यन्त्र के सिवा कुछ भी नहीं है। इसीलिए नकली फेफड़ा भी लग जाता है। मगर हमारे में और हमारे जीवन में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

मातुलीमाया हँसकर बोलीं—"यह नहीं समझ लेना चाहिए कि आपका हृदय निकालकर नकली लगा दिया गया—तो आप किसीसे प्रेम नहीं कर पायेंगे। आप पहले की ही तरह प्रेम करेंगे। कोई फर्क नहीं पड़ेगा। इसलिए कि वह आपका हृदय नहीं है। हृदय तो उस केन्द्र का नाम है—जिससे आपका सम्पूर्ण अस्तित्व धड़कता है। मेरे कहने का मतलब है—आत्मा का नाम हृदय है। योग की एक ऐसी प्रक्रिया है—जिसके द्वारा योगी चाहे तो अपने हृदय की धड़कन को बन्द कर सकता है। हृदय की धड़कन तो बन्द हो जाती है। मगर योगी मरता नहीं। बल्कि उस पर काल यानी आयु का प्रभाव नहीं पड़ता। बिना धड़कन के जीवन का आनन्द ही दूसरा है। मन को और आत्मा को एक विशेष प्रकार की शान्ति का अनुभव होता है। शरीर प्रफुल्ल बना रहता है। धड़कन के अभाव में भी योगी का जीवन पूर्ववत् चलता रहता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हृदय की धड़कन से जीवन का कोई गहरा सम्बन्ध नहीं है और न तो सम्बन्ध है धड़कन का मरने से ही। हम मर जाते हैं, क्योंकि हमें यह पता नहीं कि हृदय की धड़कन को फिर से कैसे धड़काया जाय? लेकिन प्रयास करने पर हृदय की धड़कन को रोका जा सकता है—और रोककर पुनः उसे धड़काया जा सकता है।"

●

ब्रह्मयोगी

मातुलीमाया आगे बोली—"सन् १९३० में एक योगी ने—जिनका नाम 'ब्रह्म-योगी' था—आक्सफोर्ड, रंगून, कैम्ब्रिज, कलकत्ता के विश्वविद्यालयों में अपने हृदय की धड़कन को बन्द करने के प्रयोग का खुला प्रदर्शन किया था। वे १५ से २५ मिनट तक अपने हृदय की धड़कन को बन्द कर देते थे। उन्होंने जब कलकत्ता विश्वविद्यालय में अपना चमत्कारी प्रदर्शन किया तो दस डाक्टरों की एक टीम ने उनकी जाँच की—और अपनी रिपोर्ट लिखी—क्योंकि ब्रह्मयोगी ने कहा था कि जब मेरा हृदय बन्द हो जाय—तब आप सब लिखना कि मैं जीवित हूँ या मर गया और मृत्यु के प्रमाणपत्र पर आप सब हस्ताक्षर कर देना। दस डाक्टरों ने मिलकर उनके 'डेथ सर्टिफिकेट' पर हस्ताक्षर कर दिये। उन्होंने लिखा कि यह आदमी मर गया। इसके शरीर में मरने के सभी लक्षण पूरे हो गये हैं। उस प्रदर्शन में ब्रह्मयोगी पूरे ५० मिनट तक मृत पड़े रहे और फिर वापस लौट आये। हृदय पूर्ववत् धड़कने लगा। साँस फिर चलने लगी। नाड़ी फिर दौड़ने लगी। ब्रह्मयोगी ने मुस्कराते हुए मृत्यु-प्रमाणपत्र को मोड़-कर जेब में रख लिया। सभी डाक्टर हैरान रह गये। हाथ जोड़कर कहने लगे—कृपा कर यह मृत्यु-प्रमाणपत्र वापस कर दें। इसमें हम सब फँस सकते हैं। क्योंकि हम लोगों ने लिख दिया है कि 'आप मर चुके हैं' तो जानते हैं ब्रह्मयोगी ने क्या कहा—उन्होंने कहा—इसका मतलब यह हुआ कि तुम लोग जिसे मृत्यु कहते हो वह वास्तव में मृत्यु नहीं, कुछ और ही है।"

जब मैंने बिना धड़कन के जीवन का अनुभव किया

मैंने कहा—"सुना है कि योगीगण अपने सामर्थ्य-बल से किसीको भी अपनी सिद्धि का अनुभव करा सकते हैं? क्या यह सम्भव है?"

मातुलीमाया बोलीं—"हाँ, यह सम्भव है।"

"तो क्या आप मुझे भी बिना धड़कन के जीवन का अनुभव करा सकेंगी?"

"क्यों नहीं। लेकिन इसके लिए थोड़ा आपको भी प्रयास करना होगा। आप पहले खूब जोर-जोर से श्वास खींचें और बाहर निकालें। फिर उसी क्रिया के समय अपने भ्रूमध्य में मन को एकाग्र करें।"

मैंने वैसा ही सब कुछ किया। भ्रूमध्य पर मन को ले जाते ही चित्त अपने-आप एकाग्र हो गया और उसी समय मातुलीमाया की उँगली को अपनी नाभि में धँसने का अनुभव किया मैंने। थोड़ी देर बाद मुझे लगा—जैसे मेरे हृदय की धड़कन रुक

गयी है और श्वास-प्रश्वास की गति भी। बड़ा ही विचित्र अनुभव था वह। मैं पूर्ण रूप से जीवित था। पूरी तरह होश में था और था पूरी तरह चैतन्य। मगर विश्वास करें, मेरे हृदय की धड़कन बिल्कुल बन्द थी और श्वास-प्रश्वास की गति भी। मेरा सारा शरीर हल्का और प्रफुल्ल हो गया था। मस्तिष्क में भी एक विचित्र-सी शीतलता छा गयी थी। अगर मैं उस अवस्था में सो जाता तो लोग मुझे निश्चय ही मृत समझते।

मातुलीमाया ने कहा—"आप यहाँ जब तक रहेंगे इसी स्थिति में रहेंगे। आप पर देश-काल का प्रभाव नहीं पड़ेगा। इन्द्रियों को भी किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।" मातुलीमाया का कहना बिल्कुल ठीक था। मैं जब तक उस पातालपुरी में था—तब तक न मुझे भूख लगी और न प्यास लगी व न किसी प्रकार की आवश्यकता ही महसूस हुई। लेकिन जब एक दिन रहस्यमय ढंग से बाहर निकला तो आश्चर्य से भर गया मेरा मन। पूरे छः महीने रहा था मैं उस रहस्यमय आश्रम में। मगर उन छः महीनों में न मेरे नाखून बढ़े थे, न बाल बढ़े थे और न तो मेरे कपड़े ही मैले हुए थे। मैं बिल्कुल तरोताजा और प्रफुल्ल था। पर बाहर निकलते ही भूख-प्यास से व्याकुल हो उठा मैं। मेरे नाखून-बाल भी अचानक बड़े-बड़े-से हो गये। कपड़े की तो पूछिये मत। शरीर और कपड़े तो इतने गन्दे हो गये थे कि ग्लानि से भर उठा मेरा मन। छः महीने तक लापता रहने के कारण मेरे घर-परिवार के लोग और इष्ट-मित्र, परिचित-गण, सभी परेशान और व्याकुल थे। किसीने समझा, मैं साधु होकर कहीं चला गया। किसीने सोचा—मैं मर गया कहीं बाहर जाकर। लेकिन जब सभी ने मुझे एकाएक उस स्थिति में देखा तो हैरान रह गये।

सभी लोगों ने पूछा—कहाँ था अब तक मैं? क्या करता था?

मेरी हालत ऐसे कैसे हो गयी?

मैं क्या उत्तर देता। मगर सही बात बतलाता तो भला कौन विश्वास करता मेरी बातों पर? मैं स्वयं बाद में लगातार पागलों की तरह महीनों तक उस खण्डहरनुमा मकान की तलाश में बनारस की गलियों का चक्कर काटता रहा। मगर सफलता नहीं मिली मुझे। खैर!

यह तो बाद की बात है। उस समय मातुलीमाया से आगे जो चर्चा हुई और मुझे जो अलौकिक अनुभव हुए उन्हें मैं आपको बतला देना चाहता हूँ।

× × ×

योगी की दृष्टि में मृत्यु

मातुलीमाया आगे बतलाती हैं—"जिसे हम मृत्यु कहते हैं और डाक्टर जिसे मृत्यु कहते हैं—वह मृत्यु नहीं है। जहाँ तक हम सम्बन्धित हैं—वह मृत्यु है। क्योंकि हम

अपने को बाहर से जानते हैं। फेफड़े से जानते हैं। हृदय से नहीं जानते हैं हम अपने-आपको। हमारा सारा परिचय शरीर से है। आत्मा से नहीं है। हम अपने-आपको शरीर के द्वारा जानते हैं। आत्मा के द्वारा नहीं। लेकिन योगी अपने-आपको शरीर के द्वारा नहीं, बल्कि आत्मा के द्वारा जानता है। जीवन की परिधि शरीर है और आत्मा है केन्द्र जीवन का। माया-मोह में पड़े साधारण मनुष्य के लिए परिधि ही सब कुछ है, क्योंकि केन्द्र का उसे कोई पता नहीं। केन्द्र को वह जानता ही नहीं। परिधि अनित्य है। वह कभी भी समाप्त हो सकती है। मतलब कि शरीर कभी भी नष्ट हो सकता है, मगर केन्द्र नहीं। केन्द्र नित्य है। शाश्वत है। कभी भी वह किसी काल में भी नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा अमर है यानी केन्द्र अमर है। हम जिसे मृत्यु समझते हैं—वह परिधि की समाप्ति है यानी शरीर का विनष्टिकरण। इस समझ का सबसे बड़ा कारण है—केन्द्र के प्रति अज्ञानता।"

एक ओर मृत्यु सत्य है, दूसरी ओर है असत्य

"केन्द्र का पता कैसे चलता है ?"

"योग से। योग का पहला उद्देश्य है—पहला काम है—शरीर और आत्मा के अस्तित्व का बोध—एक ही समय में अथवा एक ही अवस्था में अलग-अलग कराना। साधारणतः लोग जिसे मृत्यु समझते हैं—वह एक मान्यता है। मान्यता के सिवा और कुछ नहीं है। यदि हमें अपने केन्द्र का, अपनी आत्मा का पता चल जाय तो फिर कोई मृत्यु नहीं है।

"सच पूछा जाय तो मृत्यु सबसे बड़ा असत्य है। सबसे बड़ा भ्रम है। मृत्यु से बड़ा संसार में कोई दूसरा असत्य नहीं। यदि हमें अपने केन्द्र का, अपनी आत्मा का पता चल जाय तो फिर कोई मृत्यु नहीं है। मृत्यु से बड़ा कोई संसार में सत्य भी नहीं। मृत्यु गहन सत्य है और गहन असत्य भी। सत्य और असत्य दोनों है वह। जहाँ हम बाहर जीते हैं वह मृत्यु गहन सत्य है। जहाँ हम भीतर जीते हैं—वहाँ मृत्यु असत्य है। जीवन ही एकमात्र सत्य है। मृत्यु बाहर है और जीवन है भीतर। कहने की आवश्यकता नहीं, योग इसी जीवन की चर्चा करता है और इसी जीवन के विषय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'जहाँ-जहाँ जीवन है—वहाँ-वहाँ मैं हूँ।' दूसरी ओर वह यह भी कहते हैं—'सबके हृदय में यानी सबकी आत्मा में मैं हूँ।'

"इसका अर्थ गम्भीर है।" मातुलीमाया बोलीं—"मनुष्य शरीर से अलग-अलग है। प्रत्येक मनुष्य बाहर से अलग-अलग दिखलाई पड़ता है। मगर भीतर से यानी आत्मा से, केन्द्र से सभी मनुष्य एक हैं। आत्मा की—केन्द्र की दृष्टि में कोई भेद नहीं है। हमारी जो भिन्नता है वह शरीर की, वह परिधि की भिन्नता है। आत्मा की

अथवा केन्द्र की भिन्नता नहीं है। जो लोग शरीर की तरह आत्मा को भी अलग-अलग समझते हैं—वे लोग आत्मा को और आत्मतत्त्व को नहीं जानते।"

× × ×

मातुलीमाया बतलाती हैं—"सच्चे अर्थों में जो योगी है—साधक है—वह मृत्यु को जीवन का कभी अन्त नहीं समझेगा। उसके लिए मृत्यु एक गहन विश्राम है। गहन शान्ति है। उसी प्रकार जैसे हम दिनभर के परिश्रम के बाद रात में सो जाते हैं और निद्रा की अवस्था में विश्राम और शान्ति का अनुभव करते हैं। भारतीय मनीषियों का कहना है कि निद्रा भी एक प्रकार की अल्पकालीन अथवा अल्प समय की मृत्यु ही है। हम दिनभर जागते हैं—परिश्रम करते हैं—थक जाते हैं—और रात में गहरी नींद में सो जाते हैं। उस समय सोना हमारे लिए अमृततुल्य होता है। दिनभर की थकान और दिनभर का परिश्रम नींद में समाप्त हो जाता है। सबेरे हम प्रफुल्ल हो जाते हैं। तरोताजा हो जाते हैं। पुनर्जीवित हो उठते हैं और उसके बाद फिर दिनभर की श्रम-यात्रा पर निकल पड़ते हैं।

"अगर हम दिनभर की थकान और परिश्रम के बाद रात्रि में सो न सकें, विश्राम न कर सकें तो जानते हैं पागल हो जायेंगे—विक्षिप्त हो जायेंगे—जीवनी शक्ति ही समाप्त हो जायगी। उत्साह और उमंग ही नहीं रह जायेगा हममें। टूटकर बिखर जायेंगे हम। रोजाना रात में सोना यानी अल्प समय के लिए मरना हमारे लिए आवश्यक है, ताकि अगली सुबह हमें नया जीवन, नयी उमंग, नया उत्साह और नयी स्फूर्ति उपलब्ध हो सके।

"रात में जो जितनी गहराई से सोयेगा या सो सकता है यानी मर सकता है—वह उतनी गहराई से सबेरे जागेगा भी। उतनी ही उसमें स्फूर्ति, उमंग और उत्साह रहेगा और रहेगी उसमें जीवनी शक्ति भी। रात में जिसकी नींद जितनी गहरी होगी—वह उतने ही समीप मृत्यु के पहुँच जायेगा। गहरी नींद का मतलब है—मृत्यु के करीब गहराई से पहुँच जाना। प्रातः उठने पर उसका जीवन उतना ही जीवनी शक्ति के करीब पहुँच जायेगा।

"अगर किसी कारणवश हम रात में ठीक से सो न सके—बेचैन रहे—सपने ही देखते रहे—तो सबेरे हम अधूरे ही रहेंगे—हममें न उमंग रहेगी, न स्फूर्ति रहेगी, न उत्साह रहेगा और न तो रहेगी जीवनी शक्ति ही। सबेरे हम मरे-मरे-से ही उठेंगे। सच बात तो यह है कि जो रात में सोने की यानी मरने की कला नहीं जानता—वह सबेरे जीने की भी कला नहीं जान सकेगा।"

× × ×

"गहरी नींद के लिए सपना सबसे बड़ा बाधक है। इसी प्रकार गहरी मृत्यु के लिए

सबसे बड़ी बाधा है जीवन की स्मृति। अगर मृत्यु के समय जीवन की स्मृति बनी रही तो मृत्यु हमारे लिए परम और गहनी विश्राम कदापि न बन सकेगी।

"सपने देखने का मतलब है कि हम गहरे सोये नहीं हैं। हमारी नींद उथली है। हम सागररूपी नींद की गहराई में उतर नहीं पाये हैं। नींद की अवस्था में हम मृत्यु के करीब नहीं पहुँच सके हैं।"

मातुलीमाया बतलाती हैं—"बस, समझ लीजिये—यही स्थिति मरने के बाद की भी है। अगर मरने के बाद जीवन की तमाम स्मृतियों के जाल में ही उलझे रहें तो अगले जन्म में हम जीवनभर अशान्त, बेचैन, उत्साहहीन, उमंगहीन और आलस्य व अकर्मण्यमय ही रहेंगे। सच बात तो यह है कि मृत्यु के बाद जीवन की स्मृतियों से छुटकारा मिलना वास्तव में अत्यन्त कठिन है। स्मृतियों से मुक्त होने के लिए केवल एक ही उपाय है—और वह है एकमात्र विरक्ति यानी वैराग्य। जीवन व जगत् के प्रति अनासक्त भाव।"

× × ×

"हम मर जाते हैं। सोचते हैं कि मरने के बाद जीवन से छुटकारा मिल जायेगा। हमारा यह सोचना गलत है। हम मर तो जाते हैं—मगर स्मृतियों के सहारे पिछले जीवन में बराबर लिप्त रहते हैं और उसी लिप्तता की अवस्था में हमारा अगला जन्म भी हो जाता है—पिछले जीवन की स्मृतियाँ और हमारे अगले जीवन की तमाम अशान्तियों का कारण बन जाती हैं। वर्तमान जीवन में हमारी तमाम अशान्ति, क्लेश, दुःख, पीड़ा आदि का एकमात्र कारण अदृश्य रूप से हमारे पिछले जीवन की स्मृतियाँ ही हैं।"

× × ×

"मृत्यु रोज घटती है। इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। जब श्वास लेते हैं—तो वह जीवन का होता है। जब हम श्वास को बाहर निकालते हैं तो वह मृत्यु का होता है। हमारा प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ हमारे जीवन-मृत्यु का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है और यही कारण है कि जब हमारा श्वास बाहर निकलता है तब हमारे जीवन की ऊर्जा क्षीण होती है और इसी प्रकार जब हमारा श्वास भीतर जाता है तब हमें जीवन की ऊर्जा प्राप्त होती है—जिससे हमें जीवन में गति मिलती है।

"एक श्वास में जन्म और एक श्वास में मृत्यु। दिन जन्म है और रात है मृत्यु। जीवन के साथ मृत्यु अनिवार्य है। जीवन थकान है और मृत्यु विश्राम है। विराम है। इस संसार में जो कुछ भी है—वह जीवन और मृत्यु के बीच है। निर्माण और नाश के भीतर है।"

हम न किसीके जन्मदाता हैं और न तो हैं किसीके मृत्युदाता

"हमारे द्वारा न किसीको जीवन प्राप्त हुआ है और न तो मृत्यु। लेकिन हम यह मान लेते हैं—समझ लेते हैं कि हमने अपनी संतान को जन्म दिया है। वह हमसे उत्पन्न हुई है। हम अपनी संतान के पिता हैं। वास्तव में यह हमारा बहुत बड़ा भ्रम है। बहुत बड़ा मोह है यह हमारा।

"सच बात तो यह है कि हम केवल एक मार्ग हैं। एक माध्यम हैं। एक द्वार हैं जिससे होकर शिशु इस संसार में आता है। हम पिता बन जाते हैं। मगर हमने कभी यह सोचा है कि हमने पिता बनने के लिए क्या किया है? अगर हम इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो पता चलेगा कि हम केवल एक मार्ग थे। साधक थे। द्वार थे। प्रकृति ने साधन के रूप में—मार्ग के रूप में और द्वार के रूप में हमारा उपयोग किया है शिशु को इस संसार में लाने के लिए।

"हमारे माध्यम से किसीका जीवन इस संसार में आया है। हम किसीके जीवन को लाये नहीं हैं। इस तथ्य को हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिए।"

प्रकृति का प्रबल शक्तिशाली स्वरूप काम-वासना

"वास्तव में यदि देखा जाय तो किसीका जीवन जब इस संसार में आता है हमारें द्वारा तो उस समय हम बहुत ही परवश और विवश होते हैं। इसलिए कि उस अवस्था में काम-वासना इतनी प्रगाढ़ होती है कि हम उस पर काबू पा सकने में अपने-आपको सर्वथा असमर्थ पाते हैं। यही विवशता है।

"सच बात तो यह है कि काम-वासना के समय हम होते कहाँ हैं?"

थोड़ा रुककर हँसते हुए मातुलीमाया आगे बोलीं—"उस समय वहाँ होती है 'प्रकृति', हम नहीं होते। बस, यही एकमात्र कारण है कि जितनी भी धर्मसाधना है—वे यही मानकर चलते हैं कि जब तक मनुष्य काम-वासना के पार न चला जाय तब तक प्रकृति की परवशता नष्ट नहीं होती।

"कहने की आवश्यकता नहीं, तान्त्रिक साधना के जितने भी आधार हैं उनमें एक आधार काम-वासना भी है।" (इस विषय पर आगे विस्तृत चर्चा की जायेगी।)

"काम-वासना प्रकृति का शक्तिशाली स्वरूप है। काम के वशीभूत रहने का मतलब है—प्रकृति के वश में अथवा अधिकार में रहना। काम ही एकमात्र ऐसा बन्धन है—जिसके कारण हम प्रकृति से बँधे रहते हैं। तान्त्रिक साधना का एकमात्र लक्ष्य है—प्रकृति से मुक्त होना। जब तक हम काम-वासना पर विजय प्राप्त नहीं कर लेतें और विजय प्राप्त कर उससे ऊपर उठ नहीं जाते—तब तक प्रकृति से अपने-आपको मुक्त नहीं कर सकते।

"प्रकृति के कारण ही हम एक प्रकार से मूर्च्छित जीवन व्यतीत करते हैं और परवशता अनुभव करते हैं और ऐसी स्थिति में हम मार्ग अथवा द्वार बन जाते हैं शिशु के आगमन का। हम माँ हों या पिता हों—हैं एकमात्र साधन-मार्ग या द्वार। हम स्रष्टा नहीं हैं। मात्र उपकरण हैं। न हम जन्मदाता हैं और न तो मृत्युदाता। प्रकृति के अधीन हैं दोनों बातें। गीता में भगवान् कहते हैं—विनाश भी मैं हूँ। सारे द्वन्द्व के भीतर भी मैं हूँ। जब द्वन्द्व के भीतर एक ही अस्तित्व है—तो द्वन्द्व का अर्थ ही खो जाता है—द्वन्द्व व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।"

विनाश और मृत्यु का देवता शंकर

इसी प्रसंग में मातुलीमाया आगे कहती हैं—"हमारी संस्कृति में मृत्यु, विनाश और प्रलय का देवता शंकर है। लेकिन फिर भी हमारी संस्कृति ने शंकर के व्यक्तित्व को मृत्यु के साथ नहीं जोड़ा। बल्कि शंकर को नृत्य करते हुए नटराज के रूप में चित्रित किया है। एक महान् प्रेमी के रूप में अभिव्यक्त किया है। सती की मृत्यु के पश्चात् शंकर उसके शव को लेकर पूरे बारह वर्ष तक इधर-उधर भटकते रहे। प्राण तो चले गये थे, मगर शंकर का सती के प्रति इतना सघन प्रेम था—इतना सघन लगाव था कि वह सती के शव को छोड़कर नहीं रह पा रहे थे। शव सड़ता गया और सड़-सड़कर, गल-गलकर एक-एक अंग उसका गिरता गया। जहाँ-जहाँ उनका सड़ा-गला अंग गिरा—वहाँ-वहाँ एक-एक तीर्थ निर्मित होता गया। उन्हीं तीर्थों को तन्त्र में शक्तिपीठ कहते हैं।

"मृत्यु और विनाश का देवता जीवन के प्रति इतना मोह और इतनी आसक्ति रखता है?—यह तो आश्चर्य की बात है। इतना ही नहीं, हमारी संस्कृति ने शंकर को नटराज के रूप में चित्रित किया है। यह भी सोचने जैसी बात है। क्योंकि मृत्यु और विनाश के अधिपति शंकर को इस भाषा अथवा इस रूप में चित्रित नहीं करना चाहिए था। संस्कृति को चाहिए था कि उनके व्यक्तित्व को वैराग्य के रूप से जरा रूखा-सूखा और रसहीन निर्मित करना। मगर आश्चर्य है कि शंकर का व्यक्तित्व ऐसा नहीं है। उनका व्यक्तित्व तो रसमय है, आनन्दमय है और पूर्णरूप से राग से भरा हुआ है। कितना बड़ा विरोधाभास है। मगर इस विरोधाभास के भीतर ही भारतीय संस्कृति और साधना की अन्तर्दृष्टि छिपी हुई है। भारतीय संस्कृति इस तथ्य का प्रतिपादन करती है कि सभी विरोधी वस्तुएँ आपस में संयुक्त होकर ही जीवन का निर्माण करती हैं और एक नवीन चेतना को जन्म देती हैं।"

आत्म ऊर्जा के नष्ट होने के दो कारण

"हमारी आत्मा की ऊर्जा—जिसे चेतना कहा जाता है, दो प्रकार से नष्ट होती है। पहले श्वास से और दूसरे काम-वासना में। निश्चय ही हमारा श्वास और हमारी काम-

वासना दोनों हमारी मृत्यु के कारण हैं। अगर ये दो चीजें हमसे अलग हो जायें और हमसे खो जायें तो निश्चय ही मृत्यु का भय हमेशा के लिए दूर हो जायगा। उसका अस्तित्व ही हमारे लिए नष्ट हो जायेगा।

"हम इस बात को मानते हैं कि निश्चय ही हमारी काम-वासना एक नये जीवन को यानी एक नये शिशु को जन्म देती है। मगर हमें इस बात का भी ख्याल रखना चाहिए कि एक नये जीवन को जन्म देने में जो ऊर्जा हमारे जीवन में काम आ सकती है—वह ऊर्जा उस नये जीवन के निर्माण में प्रयुक्त होकर हमारी मृत्यु का कारण बन जाती है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की ऊर्जा एक ओर जैसे नये जीवन का निर्माण करती है—उसी प्रकार दूसरी ओर रिक्त होकर हमारी मृत्यु का भी कारण बनती है। वास्तव में जीवन और मृत्यु एक सन्तुलन है। ऊर्जा नष्ट होकर एक ओर जीवन का निर्माण करती है तो दूसरी ओर मृत्यु का आह्वान करती है। जीवन और मृत्यु हर जगह और हर पल संयुक्त हैं। दोनों एक साथ हैं। जिससे जीवन का आविर्भाव होगा—उसीसे मृत्यु का भी अवतरण होगा और यही कारण है कि भारतीय संस्कृति ने भगवान् शंकर को जहाँ विनाश और मृत्यु का अधिष्ठाता माना—वहीं उनको रसमय, भावमय और जीवन के प्रति मोहासक्त के रूप में भी चित्रित किया।"

शंकर के साथ पार्वती के विवाह का कारण

"मगर शंकर के साथ पार्वती के विवाह के लिए उनके पिता तैयार नहीं थे। कौन करेगा मृत्यु और विनाश के अधिपति के साथ अपनी सुन्दरी कन्या का बिवाह? तैयार न होना स्वाभाविक था। लेकिन पार्वती के अतिरिक्त कौन ऐसा भला होगा—जो मृत्यु और विनाश के देवता के अलावा किसी और को विवाह के लिए चुन सकेगा। कोई दूसरा मार्ग भी तो नहीं था। क्योंकि जन्म और मृत्यु—दोनों संयुक्त हैं और काम-वासना मृत्यु का कारण है। इसीलिए पार्वती के पिता बराबर इन्कार करते रहे कि यह विवाह कदापि न होगा। लेकिन पार्वती अपनी जिद पर थी। शंकर के अलावा उनको कोई दूसरा अच्छा ही नहीं लग रहा था। उनकी रुचि स्वाभाविक थी। क्योंकि जो मृत्यु और विनाश का देवता होगा—उसमें काम का आकर्षण भी अतिप्रबल होगा—जिसमें मृत्यु इतनी सघन है कि उससे सारे विश्व का विनाश सम्भव है। वैसे ही उसमें काम-वासना भी उतनी सघन होगी—और वह सघनता रसतुल्य और अत्यन्त मोहक होगी और एकमात्र यही कारण था पार्वती की उत्सुकता का। वह शंकर को पाने के लिए इसीके फलस्वरूप व्याकुल थी। इस तथ्य के आधार पर भारतीय संस्कृति यह कहना चाहती है कि जीवन और मृत्यु अलग-अलग नहीं, बल्कि संयुक्त है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मगर मृत्यु भविष्य में है और जीवन अभी है। लेकिन जीवन आमन्त्रण है और अन्त में मृत्यु की गोद ही हमारे विश्राम की एकमात्र स्थली होती है।

"कहने का सारांश यह है कि ऊर्जा के नष्ट होने के दो स्रोत हैं—पहला है श्वास-प्रश्वास और दूसरा है काम-वासना। तान्त्रिक साधना के बल पर इन दोनों स्रोतों के बन्द हो जाने पर ऊर्जाएँ पुनः आत्मा में ही समाहित होने लग जाती हैं और फिर अन्त में एक ऐसी अवस्था आती है, जब कि साधक को शरीर और मन से अलग आत्मा का अनुभव होने लग जाता है। इसीके बाद ही की अवस्था है आत्मसाक्षात्कार की।"

× × ×

आत्मा का अनुभव और आत्मा का साक्षात्कार-इन दोनों महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं के बाद जो तीसरी अवस्था है—वह है आत्मज्ञान की अवस्था। मगर ये क्रम से हमें तीनों अवस्थाएँ तभी उपलब्ध हो सकेंगी जब कि हम ध्यान की अन्तिम स्थिति समाधि में प्रवेश कर बिना श्वास-प्रश्वास के जीवन-यापन करने के आदी हो जायेंगे और तन्त्र के गुह्य आयामों में प्रवेश कर विभिन्न गुह्य तान्त्रिक क्रियाओं की सहायता से काम-वासना की ऊर्जा को स्वेच्छा से नियन्त्रित करने लग जायेंगे। ये दोनों चीजें वास्तव में अत्यन्त रहस्यमय और गोपनीय हैं। तान्त्रिक संस्कृति और साधना की मूल भित्ति हैं ये दोनों।

मारणपात्र मेरे दीर्घकालीन शोध, अन्वेषण और अनुभवों का गहन परिणाम है। मारण पात्र के अन्तर्गत अब तक आपने जितना जो कुछ पढ़ा—उससे आपको कितना क्या लाभ हुआ, इसे स्वयं आप ही समझ सकते हैं।

सत्य की खोज मानव-जीवन के गूढ़ रहस्यों की खोज है। वास्तव में जीवन का सत्य अज्ञात और अपरिचित है और जीवन का यह तिमिराच्छन्न अज्ञान अत्यन्त पीड़ादायी है। अज्ञात और अपरिचित जीवन के सत्य की खोज की दिशा में मेरे कदम कब और किस समय उठे, इसे स्वयं मैं नहीं जानता। कौन-सी ऐसी घटना मेरे जीवन में घटी थी—जिसके कारण—मैं एक ऐसे रहस्यमय और तिमिराच्छन्न मार्ग पर चल पड़ा—जिसकी धूल पर—कभी-कदा ही किसीके पदचिह्न अंकित होते हैं। इसे भी नहीं जानता मैं। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि आज जीवन-साधना का पूर्ण अभाव है और इस अभाव में सारी मानवता अथवा सारी मनुष्यता भयंकर पागलपन और भयंकर विनाश के कगार पर खड़ी है। अध्यात्म की ऊँचाइयाँ, दिव्य पुरुषों की वाणियाँ और महापुरुषों की बातें काल्पनिक कथाएँ बनती जा रही हैं। योग और तन्त्र जैसी साधनाओं की उपलब्धियों के दावे मात्र शाब्दिक और भ्रामक बनते जा रहे हैं। भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, बुद्ध, महावीर, क्राइस्ट जैसे अवतारी महापुरुषों का दीर्घकालीन अभाव इस समय लोगों के मन में उन जैसे लोगों के अस्तित्व की सम्भावना तक को सन्दिग्ध बनाये दे रहा है और आज का वैज्ञानिक और साम्यवादी युग धर्म, साधना और संस्कृति को पूर्ण रूप से नष्ट करने की तैयारी में जुटा हुआ है। आधुनिक सभ्यता—जन-जीवन से धर्म और साधना को अलग करने पर तुली हुई है। ऐसे संकट-

काल में—और ऐसी संक्रमणकालीन स्थिति में हमारे देश को राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, जीसस जैसे महादिव्य पुरुषों की आवश्यकता है। अगर हम आनेवाले युग में ऐसे लोगों को पैदा नहीं करते हैं तो समझ रखें कि मानव-जाति एक अत्यन्त दिशाहीन अन्धकार-पूर्ण युग में प्रविष्ट होने को है। इसका कोई भी भविष्य नहीं।

× × ×

जीवन के सत्य का साक्षी एकमात्र तान्त्रिक और योगी है। वह जीवन के सत्य को तर्क के द्वारा नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष जानता-समझता है। उसकी आत्मा से सत्य का तादात्म्य होता है। विश्व के सभी धर्माचार्य अपने-अपने धर्मग्रन्थों को ईश्वर-प्रेरित होने का दावा करते हैं। मगर सभी एक ही बात नहीं कहते। फिर यह कैसे निर्णय हो कि उनमें से कौन वास्तव में ईश्वर-प्रेरित है? सम्भव है—सभी धर्माचार्यों का दावा झूठा हो। तर्क के द्वारा यहाँ निर्णय नहीं हो सकता। सभी तर्क यहाँ थोथे ही सिद्ध होंगे। सारे प्रमाण यहाँ व्यर्थ सिद्ध होंगे। वेदों में अन्य बातों के अलावा मन्त्रों का विपुल भण्डार भी है जिनके आधार पर पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्रों का भी सृजन हुआ है।

यदि वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्रों के विनियोग सिद्धि की कसौटी पर खरे उतरते—तो मानव-जीवन की सारी समस्याओं का निदान होता। फिर कोई समस्या और फिर कोई अभाव रह ही न जाता मानव-जीवन में। तब मन्त्रों पर विश्वास जमता, श्रद्धा पैदा होती। लेकिन ऐसा दिखलायी नहीं पड़ता। ऐसी अवस्था में एक साधक और एक योगी ही एकमात्र प्रमाण हैं। यदि साधक और योगी किसी बात की साक्षी प्रदान करता है तो वह मान्य है। देवगण और पितृगण उस साक्षी की अपेक्षा रखते हैं।

× × ×

कहने की आवश्यकता नहीं। इस समय व्यापक अश्रद्धा का युग है। आश्चर्य और दुःख की बात तो यह है कि भारत जैसे धर्मप्राण और आध्यात्मिक देश में भी यही अवस्था है। मनुष्य का जीवन पहले जैसा सरल नहीं रह गया है। वैज्ञानिक वातावरण और आर्थिक पर्यावरण के कारण हर प्रकार की नयी-नयी समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। सामाजिक जीवन का ऐसा कोई भाग नहीं बचा है जिसमें तरह-तरह के प्रश्नचिह्न न खड़े हों। व्यक्तिगत जीवन और सामूहिक जीवन की आधारभित्ति हिल उठी है। ऐसी स्थिति में यह कहा नहीं जा सकता है कि कुछ स्थायी है और कुछ दृढ़ भी है या नहीं। मनुष्य की जितनी भी मान्यताएं हैं—उनमें कुछ भी विश्वसनीय है—कुछ भी निश्चित है—या फिर सब कुछ परिवर्तनशील ही है? जन्म के पूर्व हमारा अस्तित्व था या नहीं! मृत्यु के बाद हमारा अस्तित्व रहेगा या नहीं? यदि रहेगा—तो कहाँ और कैसा रहेगा? किसी भी प्रकार की साधना और किसी भी प्रकार की उपासना में

वास्तविकता है या केवल अपने-आपको धोखा देना है ? देवताओं का अस्तित्व है भी या नहीं ? मन्त्रों में शक्ति है या नहीं ? कोई ऐसी भी सत्ता है—जो नित्य उपास्य हो ? व्यवहार का आधार क्या होना चाहिए ? इस प्रकार के प्रश्न और इसी प्रकार के दूसरे भी प्रश्न बराबर उठते हैं–मगर उनके सम्यक् उत्तर नहीं मिलते। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्यगण—ऐसे तमाम प्रश्नों के उत्तर में पुस्तकों के रटे-रटाये शब्द अथवा वाक्य दुहरा दिया करते हैं। वे महापुरुष लोग जो भी कुछ कहते हैं—उनमें निश्चय का भाव नहीं होता। निश्चय का स्वर नहीं रहता। उनकी वाणी में वह दृढ़ता नहीं होती जो हमें यह विश्वास दिला सके कि प्रवचन देनेवाले को अथवा उपदेशक को स्वयं अपनी बातों पर अपने शब्दों व वाक्यों पर विश्वास है। प्रवचन और उपदेश सुनने से बस—ऐसा ही लगता है कि प्रवचनकर्त्ता और उपदेशदाता—साक्षात्कृतधर्मा नहीं है। वह मात्र अटकल के बल पर बोल रहा है। ऐसे प्रवचन और ऐसे उपदेश पर भला विश्वास उत्पन्न हो सकता है ? कदापि नहीं।

मगर अश्रद्धा और अविश्वास अच्छी बात नहीं है। मन अथवा चित्त को विश्वसनीय तथ्यों से रिक्त रखना सरल और सहज अवश्य है—परन्तु दीर्घकाल तक उसे शून्य बनाकर रखा नहीं जा सकता। हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि मानव-जीवन में आपत्तियाँ आती हैं, तरह-तरह की विपत्तियाँ भी आती हैं, मनुष्य को तमाम संकटों, कष्टों और तमाम दुःखों का सामना करना पड़ता है। रोग-शोक झेलना पड़ता है। अगर उस समय उसका जीवन स्थायी सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है तो वह बेपतवार की नाव की तरह हो जाता है। उसकी अवस्था उस पतंग की तरह हो जाती है—जिसकी डोर नीचे से कट गयी होती है। ऐसी अवस्था में जो सुख, जो धन, जो वैभव, जो सम्पत्ति और जो अधिकार रुचिकर और आनन्ददायक लगते थे, वही तब नीरस लगने लगते हैं। सच बात तो यह है कि स्थायी लक्ष्य के बिना अथवा स्थायी उद्देश्य के बिना हृदय में बराबर शून्यता का अनुभव होता रहता है। भौतिक विषयों के भोग से वह शून्यता दूर नहीं हो सकती।

यह वही स्थल है—जहाँ एक ऐसे योगी की, एक ऐसे साधक की आवश्यकता पड़ती है—जिसने धर्म के मूल स्रोतों का साक्षात्कार किया हो। जिसने संसार की नाशवान् और क्षणभंगुर वस्तुओं के पीछे स्थायी और अविनाशी तत्त्वों को प्रत्यक्ष देखा हो और उनका अनुभव भी किया हो। भले ही वह पूर्ण योगी न हो—मगर फिर भी उसे सत्य के अथाह सागर में डुबकी लगाने का अवसर अवश्य मिला हो।

ऐसे योगियों और साधकों की वाणी साधु हृदय से निकलती है—और पूरी तरह अनुभव पर आधारित होती है और यही कारण है कि उस वाणी से सत्य की टंकार

निकलती है। उनमें सत्य की झलक मिलती है जिसको सुनकर—स्वतः विश्वास उत्पन्न होता है। हृदय हृदय से बोलता है।

ऐसे योगी, ऐसे साधक व ऐसे मनस्वी पुरुषों को भले ही कष्टों का और विपत्तियों का अपने मार्ग में सामना करना पड़े—मगर उन सबसे वे घबराते नहीं। क्योंकि ऐसे लोग अपने कर्तव्य का वरण करते हैं। सुख-दुःख को नहीं देखते। वास्तव में सच्चे योगी, सच्चे साधक और सच्चे सन्त पुरुषगण न किसी आम्नाय से बोलते हैं—न तो किसी सम्प्रदाय की ओर से कुछ कहते हैं। न ही किसी पक्ष की ओर से अपने मत का प्रचार करते हैं। वे बहुजनसुखाय, बहुजनहिताय—सत्य को सुनाते हैं। उनका चरित्र ही उनका सबसे बड़ा बल होता है।

●

स्वामी दिव्यानन्द परमहंस

भूतल में स्थित उस रहस्यमयी साधना-स्थली में मातुलीमाया के बाद जिस परम साधक से मेरा साक्षात्कार हुआ—वे थे स्वामी दिव्यानन्द परमहंस। साधना की दिव्य आभा से मण्डित मुखमण्डल। स्थिर नेत्र। चौड़ा ललाट—और उस ललाट पर भस्म का त्रिपुण्ड्र। श्वेत घनी केशराशि। शरीर पर गैरिक वस्त्र। पद्मासन की मुद्रा में हमेशा बैठे रहनेवाले उस परम साधक को देखकर एकबारगी मुग्ध हो गया मैं। उनकी आयु कितनी थी—यह वे ही जानें—मगर देखने में वे ८० वर्ष से कम के नहीं लगते थे।

भारत-प्रसिद्ध साधक स्वामी योगानन्द के गुरु मुक्तेश्वर गिरि थे और उनके गुरु थे काशी-निवासी महान् योगी श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय। लाहिड़ी महाशय को जिस परमसिद्ध आकाशचारी महावतार हेड़ियाखान बाबा ने सन् १८६१ में रानीखेत के निकट द्रोणगिरि पर्वत पर क्रियायोग की दीक्षा प्रदान की थी, उन्होंने ही स्वामी दिव्यानन्द परमहंसदेव को भी दीक्षा प्रदान की थी।

× × ×

स्वामी दिव्यानन्द परमहंसदेव का पूर्वनाम हरिकृष्ण गोस्वामी था। उनके पिता रामकृष्ण गोस्वामी पश्चिम बंगाल के जमींदार थे। किसी बात की कमी न थी।

स्वामी दिव्यानन्द परमहंस बतलाते हैं—उन दिनों वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में विज्ञान के विद्यार्थी थे। रात्रि का समय था। वे परीक्षा की तैयारी कर रहे थे।

शायद उस समय भोर के चार बजे थे। सहसा उनका कमरा विचित्र-सी सुगन्ध से एकबारगी भर उठा। दूसरे ही क्षण उनके सामने शुभ्र वर्ण का एक प्रकाश-पुञ्ज प्रकट हुआ। उस अवर्णनीय प्रकाश-पुञ्ज से सुनहरी किरणें फूट रही थीं। धीरे-धीरे वह प्रकाश-पुञ्ज एक मनुष्य के आकार-प्रकार में बदलने लगा और फिर अन्त में उनके सामने एक दिव्य चिन्मय शरीरधारी महापुरुष प्रकट हुए।

उस दिव्य महापुरुष के शरीर का रंग बादामी था और पारदर्शक था। ऐसा लगता था—मानो हाड़-मांस का शरीर न होकर वह काँच का हो। उनके नेत्र बड़े-बड़े थे—और स्थिर थे। पलकें गिर नहीं रही थीं। उनके सिर के बाल पैर तक झूल रहे थे। बालों का रंग भी बादामी था। शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था। केवल कौपीन धारण किये थे हुए वे महापुरुष। मन्द-मन्द मुस्कराते हुए उनकी ओर अपलक निहार रहे थे वे।

स्वामी दिव्यानन्द परमहंस को भी इस बात का आश्चर्य हो रहा था कि कौन हैं यह महापुरुष? और क्यों, किसलिए इतनी रात में वहाँ उपस्थित हुए हैं? कुछ क्षण बाद वे महापुरुष कहने लगे—मैं हिमालय की एक गिरि-कन्दरा में तपोरत हूँ—आकाश-मार्ग से चलकर यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। तुम तीन जन्म पूर्व योगी थे। लेकिन किसी कारणवश तुम योगभ्रष्ट हो गये। अब मैं तुम्हारी साधना को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से तुम्हें दीक्षा प्रदान करना चाहता हूँ। यह सब पढ़ाई-लिखाई बन्द करो। आज से तुम हरिकृष्ण गोस्वामी नहीं, दिव्यानन्द परमहंस हो। तीन जन्म पूर्व तुम्हारा यही नाम था।

× × ×

वे चिन्मय शरीरधारी दिव्य महापुरुष और कोई नहीं, हेड़ियाखान बाबा थे। उनसे ही स्वामी दिव्यानन्द को दीक्षा प्राप्त हुई थी। लेकिन क्रियायोग की नहीं, बल्कि मन्त्रयोग की।

सिद्ध अवतारी महापुरुष हेड़ियाखान बाबा

मेरे सामने पद्मासन की मुद्रा में बैठे स्वामी दिव्यानन्द परमहंस सिद्ध अवतारी महापुरुष हेड़ियाखान बाबा के शिष्य हैं—यह जानकर मैं एकबारगी स्तब्ध रह गया। हेड़ियाखान बाबा के विषय में बहुत कुछ पढ़ा और सुना था मैंने। उस परम महात्मा की आयु कितनी है यह कोई नहीं जानता। लेकिन यह निश्चित है कि बाबा भगवान् श्रीकृष्ण के समय में भी थे और इतना ही नहीं—उन्होंने आदि शंकराचार्य को भी उपदेश दिया था। इससे यही सिद्ध होता है कि बाबा का अस्तित्व देशकाल के परे है। काल की सीमा से मुक्त है उनकी आयु। इतना ही नहीं, वह चिन्मय शरीरधारी दिव्यात्मा हैं। ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के कणों से निर्मित शरीर को योग की भाषा में चिन्मय शरीर कहते हैं अथवा कहते हैं ब्रह्माण्डीय काया। आत्मा का यह छठा शरीर—अन्तिम शरीर है। आत्मा अपने इस अन्तिम शरीर को कब तक धारण किये रहती है—इसे कहा नहीं जा सकता है। मगर निर्वाण की अवस्था प्राप्त होने पर वह शरीर अपने-आप योगात्मा से पृथक् होकर ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के रूप में परिवर्तित होकर विलीन हो जाता है। निर्वाण का अर्थ है—आत्मा की पूर्णरूपेण देहशून्य अवस्था। परामनोवैज्ञानिक चिन्मय शरीर को 'कास्मिक बाडी' और देहशून्य अवस्था को 'बाडीलेस' कहते हैं। ब्रह्माण्डीय ऊर्जा-कणों से बने होने के कारण चिन्मय शरीर की गति विलक्षण होती है। जिस गति से सूर्य की किरणें धरती तक पहुँचती हैं—उसी गति से चिन्मय शरीरधारी योगी कभी किसी भी क्षण कहीं भी इच्छानुसार पहुँच सकता है। योगी के लिए चिन्मय शरीर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। क्योंकि इसके बाद की जो स्थिति है—वह देहशून्यता की स्थिति है और उस स्थिति को प्राप्त हो जाने पर आत्मा के सामने कोई भी शरीर धारण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए हेड़ियाखान बाबा जैसे योगी-गण लौकिक, पारलौकिक और आध्यात्मिक भावना के वशीभूत होकर दीर्घकाल तक चिन्मय शरीर में ही बने रहने का प्रयास करते हैं।

चिन्मय शरीर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पीछे छूटे हुए पाँचों शरीरों—स्थूल शरीर, आकाशीय शरीर, सूक्ष्म शरीर, मनोमय शरीर और आत्म शरीर—में से किसी भी शरीर में परिवर्तित हो सकता है। चिन्मय शरीरधारी योगी अपने इच्छानुसार इनमें से कोई भी शरीर ग्रहण कर–उस शरीर से सम्बन्धित जगत् में प्रवेश कर सकने में समर्थ होता है।

× × ×

चिन्मय शरीरधारी हेड़ियाखान बाबा सबसे पहले सन् १८०० में अपने कुछ विशिष्ट भक्तों के सामने ज्योतिपुञ्ज के रूप में प्रकट हुए थे। जिस स्थान पर ज्योतिपुञ्ज के रूप

में उनका आविर्भाव हुआ था—उस स्थान का नाम है हेड़ियाखान। इसीलिए उस महान् योगी और चिन्मय शरीरधारी—अवतारी महापुरुष को लोग हेड़ियाखान बाबा कहते थे।

हेड़ियाखान बाबा महाप्रभु थे। १२२ वर्षों के भौतिक जीवन की दीर्घ यात्रा के बाद बाबा जैसे प्रकट हुए थे—वैसे ही सन् १९२२ में अपने परम भक्तों के सामने उसी ज्योतिपुञ्ज में हमेशा-हमेशा के लिए विलीन हो गये। वे मानव-योनि की आयु की सीमा पार कर १२२ वर्षों तक पार्थिव शरीर में रहे। वास्तव में वे ऐसी विभूति थे-जिनको देश-काल की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। बाबा का भले ही आज भौतिक अस्तित्व न हो—भले ही उनका भौतिक स्वरूप प्रकृति में विलीन हुआ हो-मगर बाबा कभी भी आवश्यकता पड़ने पर किसी भी स्थान पर प्रकट हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि भौतिक शरीर में ही प्रकट हों। वे किसी भी शरीर में प्रकट हो सकने में समर्थ हैं। प्रायः वे अपने भक्तों को मनोमय शरीर में दर्शन देते हैं और जो उनके प्रति रुचि रखते हैं—उन्हें वे सूक्ष्म शरीर में प्रकट होकर दर्शन दिया करते हैं—स्वप्न में।

विदेशी दम्पति को स्वप्न में दर्शन

बाबा का वास्तव में क्या नाम है—यह कोई नहीं जानता, लेकिन उनके शिष्य और भक्तगण हैड़ियाखण्डी, महामुनीन्द्र हैड़ियाखान, शिवावतार, श्री साम्ब सदाशिव, श्री महावतार बाबा और त्र्यम्बक बाबा के नामों से उन्हें सम्बोधित करते हैं। खैर !

इसी प्रसंग से यहाँ मैं बाबा के कुछ महत्त्वपूर्ण अलौकिक चमत्कारों का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ।

स्वीडन के विख्यात अभिनेता—जर्मनी की प्रसिद्ध युनिवर्सल फिल्म कम्पनी के अधिष्ठाता और परम दार्शनिक नील्स आफ क्रीजैण्डर एक रात रूस के एक होटल में सोये हुए थे। तभी उन्हें किसी दिव्य महापुरुष का स्वप्न में दर्शन-लाभ हुआ। वे महापुरुष कोई सिद्ध महापुरुष प्रतीत होते थे। उनके शरीर पर रेशमी कुर्ता और धोती थी। उन्होंने काफी देर तक नील्स से स्वीडिश भाषा में बातें कीं। उसी समय नील्स साहब की नींद टूट गयी और वे हड़बड़ाकर उठ बैठे बिस्तर पर। उस समय रात के दो बजे थे। उसी रात उनकी पत्नी लेनिनग्राद के एक होटल में ठहरी हुई थीं। नील्स साहब ने तुरन्त अपनी पत्नी को फोन पर सपने की सारी बातें एक साँस में सुना डालीं।

सब कुछ सुनकर उनकी पत्नी स्तब्ध रह गयीं। अचकचाते हुए वह बोलीं—"यह कैसे हो सकता है ?"

"क्या ?" नील्स साहब ने चौंककर पूछा।

उनकी पत्नी ने कहा—"आपकी बात मैं कैसे सच मानूं ? उस दिव्य महापुरुष ने अभी इसी समय मुझे भी सपने में दर्शन दिये। उनका रूप-रंग-चेहरा और चेहरे का

भाव वैसा ही था—जैसा कि आप बतला रहे हैं। मगर उन्होंने तो मुझसे अंग्रेजी में बातें कीं। इतना ही नहीं—उनकी वेश-भूषा भी अंग्रेजी थी। वे कोट, पैण्ट और टाई पहने हुए थे। पैर में भी जूता-मोजा था।" यह सुनते ही नील्स साहब आश्चर्य से उछल पड़े। वे दूसरे ही दिन पत्नी से मिले और उन्होंने कागज पर उस दिव्य महापुरुष का रेखाचित्र बनाकर पत्नी को दिखाते हुए पूछा—"क्या ऐसा था वह व्यक्ति ?"

उनकी पत्नी उस रेखाचित्र को देखकर एकबारगी चीख पड़ी। बोली—"वह भी ऐसे ही थे। उनके अन्तर्धान होते ही मेरी नींद टूट गयी। उस समय भी रात के दो बजे थे।"

अन्त में उनकी पत्नी ने भावविभोर होकर कहा—"उफ् ! कितने अद्‌भुत और दिव्य महात्मा थे वह ?"

यह सुनकर नील्स साहब किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। एक ही रात में—एक ही समय में—दो अलग-अलग स्थानों पर—अलग-अलग वेशभूषा में उस दिव्य पुरुष का दर्शन देना—इतना ही नहीं—अलग-अलग भाषा में बातें करना कितने आश्चर्य की बात थी। काफी देर तक सोचने-विचारने के बाद पति-पत्नी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उन्हें दर्शन देनेवाले निश्चय ही कोई भारतीय सिद्ध योगी महात्मा थे। पति-पत्नी उसी समय महात्मा की खोज में भारत-यात्रा पर निकल पड़े। यह घटना सन् १९२१ की है।

नील्स साहब अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति के दार्शनिक व्यक्ति थे। वे निरामिष भोजन करते थे और झूठ, कपट जैसी पाप-वृत्तियों से सदैव दूर रहते थे। वे शरीर को महत्त्व न देकर आत्मा को महत्त्व देते थे। भारत पहुँचते ही उन्होंने पत्नी के साथ स्वप्न में दर्शन देनेवाले महात्मा की खोज शुरू कर दी।

पति-पत्नी के मन में शान्ति नहीं थी। यह वे जानते थे कि उस परमदिव्य योगी का दर्शन होने पर ही वास्तविक शान्ति उन्हें मिलेगी। वे पाण्डिचेरी स्थित अरविन्दाश्रम में और अरुणाचल स्थित श्री रमणाश्रम में भी कुछ समय रहे। मगर उन दोनों के मन में शान्ति कहाँ ?

अन्त में नील्स साहब पत्नी को साथ लेकर अलमोड़ा पहुँचे और वहाँ पहुँचकर न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर उन्होंने उस दिव्य महापुरुष का—अपनी स्मृतियों के आधार पर पुनः एक रेखाचित्र बनाया और बनाकर स्थानीय लोगों को दिखलाना शुरू किया। जिसने देखा, उसने यही कहा—अरे, यह तो हेड़ियाखान बाबा हैं। पता-ठिकाना पूछने पर लोगों ने बतलाया कि बाबा इधर-उधर पहाड़ों पर घूमते रहते हैं। उनके मिलने का कोई निश्चित स्थान नहीं है। बाबा अपनी इच्छा के अनुसार कभी भी और किसी भी स्थान पर प्रकट हो सकते हैं।

पूरे दो वर्षों तक नील्स साहब अपनी पत्नी को लेकर कसारदेवी के एकान्त, निर्जन स्थान पर पड़े रहे। अन्त में उनकी मनोकामना पूरी हुई। बाबा ने भौतिक शरीर में उन दोनों को दर्शन दिया। पति-पत्नी को उस दिव्यात्मा के दर्शन से असीम शान्ति और परम आनन्द का अनुभव हुआ। २६ अप्रैल १९४६ को नील्स अपनी पत्नी को लेकर वापस अपने देश चले गये।

और जब अंग्रेज कमिश्नर प्रभावित हुआ

सन् १८८० ई० की बात है। एक दिन बाबा एक वटवृक्ष के नीचे पद्मासन की मुद्रा में ध्यानस्थ बैठे हुए थे। उनके सारे शरीर से एक विशेष प्रकार की आभा प्रस्फुटित हो रही थी। मुखमण्डल भी तेजोमय था। उसी समय रेम्जे नामक एक अंग्रेज कमिश्नर उधर से गुजरा। वह कुमाऊँ का दौरा करने निकला था। बाबा को देख-कर मन्त्रमुग्ध-सा खड़ा रह गया वह। बाद में उनके विषय में जब उसे पूरी जानकारी मिली तो वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने बरगद के उस पेड़ के पास की पचीस बीघा जमीन—लगान माफ कर—बाबा के नाम लिख दी। इस समय वह स्थान 'कठघरिया आश्रम' के नाम से जाना जाता है।

बाबा का एक विलक्षण कौतुकमय चमत्कार

अब मैं आपको जो चमत्कारपूर्ण घटना सुनाने जा रहा हूँ—वह सन् १९१३-१४ की है। एक दिन ग्वालियर राज्य के शिक्षामन्त्री और अल्मोड़ा के प्रसिद्ध वकील ज्वालादत्त जोशी किसी काम से काठगोदाम से अल्मोड़ा जा रहे थे। जब उनका ताँगा रानीबाग के करीब पहुँचा—तो उन्होंने देखा कि सेना की इमारत बनाने के काम में बहुत सारे मजदूर लगे थे। उनमें से एक मजदूर की नजर जोशीजी पर पड़ी—तो वह बिना किसी कारण हँसने लगा। एक साधारण मजदूर को अपने ऊपर इस प्रकार हँसता हुआ देखकर जोशीजी को अपनी बेइज्जती महसूस हुई। उन्होंने उस मजदूर को अपने पास बुलाकर डांटते हुए कहा—"तुम मुझे देखकर क्यों हँसे ? अगर तुमने अपनी इस धृष्टता के लिए मुझसे माफी नहीं माँगी तो तुम्हें मैं पुलिस के हवाले कर कड़ी-से-कड़ी सजा दिलवाऊँगा।"

ज्वालादत्त जोशी की बात सुनकर उस मजदूर ने गम्भीर स्वर में जवाब दिया—"मुझे तो तुम्हारा ध्यान ही नहीं था। मैं तो कुछ और ही देख रहा था। बद्रीनाथ के मन्दिर का विशाल घण्टा गिर गया है। दर्जनों कुली मिलकर उसे उठाने के लिए जोर लगा रहे हैं। मगर घण्टा इतना भारी है कि किसी तरह उठ ही नहीं रहा है। यही देखकर मुझे हँसी आ गयी थी।"

जोशीजी ने तुरन्त इस बात का पता लगाया। गढ़वाल के डिप्टी कलक्टर धर्मानन्द

जोशी को तार भेजकर पूछा कि "यहाँ एक हेड़ियाखानी नाम का एक व्यक्ति कहता है कि बद्रीनाथ मन्दिर का विशाल घण्टा गिर पड़ा है। क्या यह सही है?"

तीन घण्टे बाद तार का उत्तर मिला। लिखा था—"भगवान् हेड़ियाखान बाबा अभी तक यहीं विराजमान थे। आपके तार का प्रतिशब्द सत्य है।"

जोशीजी तार पढ़कर स्तब्ध रह गये। उन्होंने रानीबाग जाकर बाबा का दर्शन किया और क्षमा माँगी। ग्वालियर के महाराज सिंधिया ने जब इस घटना को सुना तो वे भी बाबा के दर्शन के लिए लालायित हो उठे। जोशीजी के विशेष आग्रह पर बाबा ग्वालियर के राजदरबार में पहुँचे और राजमहल में दो घण्टे रहे। बाबा के चले जाने के बाद महाराज सिंधिया ने जब महारानी से पूछा कि तुम्हें बाबा की उम्र कितनी लगती है तो महारानी ने उत्तर दिया—"मुझे तो वह एक अबोध बालक के रूप में दिखलाई पड़े थे।"

महारानी का उत्तर सुनकर महाराज को घोर आश्चर्य हुआ। उन्हें बाबा ८० वर्ष के वृद्ध के रूप में दिखलाई दिये थे।

ध्यान की गहरी अवस्था में बाबा का दर्शन सम्भव

स्वामी दिव्यानन्द परमहंसदेव ने बतलाया कि "बाबा के जो भक्त बाबा के स्वरूप का चिन्तन करते हुए ध्यान की गहरी अवस्था में प्रवेश कर सकने में समर्थ हैं, बाबा उन्हें अवश्य अपने मनोमय शरीर द्वारा स्वप्न में दर्शन देते हैं।"

मैंने कहा—"ध्यान की गहरी अवस्था का मतलब है समाधि के द्वार पर पहुँचना। मगर साधारण लोगों के लिए यह बस की बात नहीं है। नील्स और उनकी पत्नी को ध्यान का तो कोई अभ्यास नहीं था—लेकिन फिर भी बाबा का दर्शन उन लोगों को हुआ। इसका क्या रहस्य और क्या कारण है?"

स्वामीजी बोले—"बाबा की इच्छा पर निर्भर है। वे अपनी इच्छा से कभी किसीको दर्शन दे सकते हैं। सम्भव है, नील्स और उनकी पत्नी का कोई पूर्वजन्म का संस्कार रहा हो, जिसके फलस्वरूप बाबा ने उन्हें दर्शन दिया हो। एक बात अवश्य है—वह यह कि सभी प्रकार की स्वच्छता और सात्त्विकता रखते हुए सोने के पूर्व बाबा का चिन्तन और ध्यान करने पर स्वप्नावस्था में वे कृपा करके दर्शन देते हैं। मगर यह एक ही बार में सम्भव नहीं है। बार-बार ऐसा करने पर ही बाबा का अनुग्रह प्राप्त होता है।"

शिष्यों और भक्तों से अगोचर सम्पर्क

स्वामीजी ने बतलाया कि "बाबा के जो शिष्य और जो भक्त हैं—और बाबा ने जिनको स्वप्न में दर्शन देकर कृतार्थ किया है—उनके साथ बाबा हमेशा अपना अगोचर

सम्पर्क बनाये रखते हैं। कभी-कदा अपनी शिष्य और भक्त-मण्डली के बीच अनिर्वचनीय सुगन्ध के रूप में भी प्रकट होकर अपनी उपस्थिति का अनुभव कराते हैं।..... "

स्वामीजी अभी अपनी बात पूरी भी न कर पाये थे कि उनकी छोटी-सी पथरीली कोठरी अनिर्वचनीय गन्ध से एकबारगी भर उठी। ऐसा लगा, मानो बहुत सारे सुगन्धित पुष्प एक स्थान पर एकत्र होकर महक रहे हों।

स्वामीजी बोले–"गुरुदेव की उपस्थिति का यही संकेत है। निश्चय ही वे इस समय यहाँ उपस्थित हैं। यदि तुम चाहो तो बाबा का ध्यान कर सकते हो इस समय। निश्चय ही तुम्हें उनका दर्शन-लाभ होगा। मुझे विश्वास है।"

"ध्यान की पद्धति क्या हो?"—मैंने पूछा।

"बस, थोड़े समय के लिए अपने भ्रू-मध्य में चित्त को केन्द्रित करने की चेष्टा करो।"

मैंने वैसा ही किया। थोड़ी देर बाद मेरा मन स्थिर और चित्त एकाग्र हो गया। मैंने उसी स्थिति में देखा कि मेरे सामने एक दिव्य ज्योतिर्मय महापुरुष स्थिर भाव से खड़े मुस्करा रहे हैं। उस महापुरुष के शरीर का रंग बादामी था और पूरा शरीर पारदर्शी था और बादामी रंग के उस पारदर्शी शरीर से गुलाबी रंग की किरणें फूट रही थीं। सिर के बाल भी बादामी रंग के थे—और पैर तक झूल रहे थे। उनके बड़े-बड़े स्थिर नेत्रों से तेज निकल रहा था। मुख पर असीम शान्ति विराजमान थी और उसके चारों तरफ वलयाकार तेजोमय प्रभामण्डल था। न जाने कब तक स्थिर भाव से–न जाने कब तक अपलक निहारता रहा—उस दिव्य महापुरुष की ओर मैं—पता नहीं। एक विचित्र-सी शान्ति का अनुभव कर रही थी मेरी आत्मा। लगा, जैसे मैं आनन्द के असीम सागर में डूबता चला जा रहा हूँ।

सहसा उस दिव्य पुरुष का वह अपार्थिव अस्तित्व मेरे सामने से लुप्त हो गया और उसीके साथ मेरा ध्यान भी भंग हो गया। मगर यह क्या! जब मेरा ध्यान-भंग हुआ और जब मेरी आँखें खुलीं तो मैंने अपने-आपको लालीघाट की सीढ़ियों पर बैठा हुआ पाया। उस भूतलीय रहस्यमयी साधना-स्थली से मैं निकलकर कैसे घाट पर पहुँच गया—मेरी समझ में नहीं आ रहा था—यह चमत्कार!

●

अवधूत चारुचन्द्र
तथा
आकाशचारी बाबा नीमानन्द परमहंस

वाराणसी के रहस्यमय साधकों और गुप्त योगियों की खोज के सिलसिले में इसके बाद जिन महानुभावों से मेरा साक्षात्कार हुआ—उनमें से ही एक थे चारुचन्द्र अवधूत।

काशी के गणेशमहाल मुहल्ले में कालीजी का एक प्राचीन मन्दिर है। सुना था—कभी वहाँ नर-बलि भी हुआ करती थी। बाहर से तो वह मकान-सा लगता है पर भीतर कालीजी की भव्य प्रतिमा स्थापित है। सन् १९४४ में कालीजी की पूजा-अर्चना के लिए एक बंगाली सज्जन वहाँ पुजारी के रूप में नियुक्त हुए थे। उन्हींका नाम था चारुचन्द्र अवधूत। उस समय उनकी अवस्था ७०-७५ वर्ष से कम नहीं थी। मगर आन्तरिक साधना के दिव्य तेज से उनका मुखमण्डल हमेशा दमकता रहता था।

सुना था, चारुबाबू मनोविज्ञान और शरीरविज्ञान के बहुत बड़े विद्वान् थे और बहुत दिनों तक कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापन-कार्य कर चुके थे। धर्मनिष्ठ बंगाली ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेने पर भी वे महाशय पूर्ण नास्तिक थे। मगर उनके जीवन में एक ऐसी विलक्षण घटना घटी कि सर्वस्व त्यागकर संन्यास ग्रहण कर लिया उन्होंने। बहुत दिनों तक वे हिमालय में रहे—फिर हरिद्वार चले आये। वहीं पर एक महात्मा से परिचय हुआ और चारुबाबू उन्हींके साथ वाराणसी चले आये और माँ काली की सेवा में जुट गये। सचमुच वह घटना अतिविलक्षण थी। गर्मी का मौसम और रात का समय। चारुबाबू अपने मकान की छत पर बैठे—लालटेन की रोशनी में परीक्षा की कापियों की जाँच कर रहे थे। उस समय वहाँ कोई नहीं था। चारों तरफ गहरी नीरवता छायी हुई थी और उस नीरवता को भंग करती हुई—एक गम्भीर आवाज गूंज उठी वातावरण में—"चारु !"

आवाज सुनकर चारुबाबू एकबारगी चौंक पड़े। आँखों पर चढ़े चश्मे को बायें हाथ से ठीक करते हुए उन्होंने सिर उठाकर देखा। एकबारगी स्तब्ध रह गये वह। सामने एक दिव्य पुरुष खड़े उनकी ओर अपलक निहार रहे थे।

मस्तिष्क सनसनाने लगा चारुबाबू का। सारा शरीर भींग उठा पसीने से। कौन है यह व्यक्ति ? इतनी रात को यहाँ कैसे पहुँच गया यह ? अचानक मस्तिष्क में पूर्व-स्मृति कौंध उठी। दूसरे क्षण उनके मुंह से निकल पड़ा—"बाबा ! आप······आप

यहाँ कैसे ?" "हाँ ! चारु ! ···मैं···मैं·· तुमको न जाने कब से खोज रहा था। पूरे दो सौ वर्ष हो गये खोजते हुए। अभी आकाशमार्ग से आश्रम की ओर जा रहा था—तभी तुम पर मेरी दृष्टि पड़ी। प्रसन्न हो उठा मैं।"

वे दिव्य महापुरुष—और कोई नहीं—आकाशचारी बाबा नीमानन्द परमहंसदेव थे। हिमालय स्थित—सिद्ध योगाश्रम की एक दिव्य विभूति। हिमालय और तिब्बत में बहुत से ऐसे मठ और आश्रम हैं—जो चर्मचक्षु से परे अपना अस्तित्व रखते हैं। 'सिद्ध योगाश्रम मठ'—उन्हींमें से एक है, जिसमें निवास करनेवाले मानवेतर शक्ति-सम्पन्न योगी और साधकगण संसार में भूले-भटके और मार्गभ्रष्ट शिष्यों की खोज में बराबर रहते हैं और सम्पर्क सध जाने पर उन्हें पुनः दीक्षा प्रदान करते हैं और पुनः साधना-मार्ग पर चलने का निर्देश देते हैं। चारुबाबू को उनके पिछले जन्म में परमहंस-देव ने दीक्षा प्रदान की थी। मगर साधना-मार्ग में थोड़ी गड़बड़ी हो जाने के कारण—साधना-क्रम भंग हो गया था चारुबाबू का। फिर भी गुरु-कृपा से कई प्रकार की दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त हो गयी थीं उन्हें। खैर !

× × ×

चारुबाबू के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी। लपककर उन्होंने दोनों हाथों से गुरु-चरण को गह लिया। बाबा ने उनके मस्तक का स्पर्श किया और फिर गायब हो गये। दूसरे ही दिन चारुबाबू ने सर्वस्व त्यागकर संन्यास ले लिया और काशी आकर रहने लगे। उन्हें अब अपने पूर्वजन्म की सारी सिद्धियाँ पुनः प्राप्त हो चुकी थीं। वे प्रायः नित्य पूजा-पाठ करने के बाद अपनी कोठरी को भीतर से बन्द कर—अपने पार्थिव शरीर के बाहर निकल जाया करते थे और अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा अपनी इच्छाओं को पूर्ण किया करते थे। यदि उनको रसगुल्ला खाने की इच्छा हुई तो—उस समय रसगुल्ला खा रहे किसी भी व्यक्ति के शरीर में अपनी सिद्धि के बल पर—प्रवेश कर जाया करते थे और पूर्ण रूप से तृप्त होकर बाहर निकल आते थे। इसी प्रकार वे अपनी अन्य इच्छाओं को भी पूर्ण कर लिया करते थे। जब मैंने उनकी इस क्रिया को पकड़ा तो महाशय हँसकर कहने लगे—"एक ही शरीर से और एक ही जन्म में आत्मा की सारी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे की जा सकती है ? शरीर की मर्यादा और प्रकृति के नियम धर्म से बँधे हैं। भला उसे तोड़कर कैसे सारी इच्छाओं, कामनाओं अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है ?"

× × ×

समय के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना ही वास्तविक योग

मैं प्रायः नित्य सायंकाल के समय चारुबाबू से मिलता था। एक दिन मैंने पूछा—"आपकी दृष्टि में योग क्या है ?"

चारुबाबू बोले—"सामान्य अवस्था में दो वस्तुओं का तादात्म्य ही योग है। समय के साथ तादात्म्य स्थापित करना ही वास्तविक योग है।"

"समय से आपका क्या तात्पर्य है ?"

"गीता में भगवान् ने कहा है—'कालः कलयतामहम्' बड़ा महत्त्वपूर्ण वाक्य है यह भगवान् का। समय के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। पहला यह कि मनुष्य को एक क्षण से अधिक नहीं मिलता। कभी भी नहीं मिलता। मनुष्य के हाथ में एक ही क्षण होता है। बस! जब एक क्षण निकल जाता है तब दूसरा मिलता है और जब दूसरा निकल जाता है तब तीसरा क्षण मिलता है। एक-एक व्यक्ति को—एक-एक क्षण से अधिक नहीं मिलता। कोई इसमें धोखा भी नहीं दे सकता। कोई कितना भी बड़ा महायोगी हो और कितना ही बड़ा ज्ञानी हो—कितना ही बड़ा धनी हो और कितना ही बड़ा वैज्ञानिक हो—वह समय को डिसीव नहीं कर सकता कि उससे दो क्षण एक साथ ले ले। बस, एक ही क्षण हाथ में आता है। एक ही क्षण व्यक्ति को मिलता है। नपा-तुला और पूरा जीवन !

"भगवान् कहते हैं—मैं समय हूँ गिनती करनेवालों में। तन्त्र-योग की दृष्टि में एक-एक व्यक्ति के क्षण गिने हुए हैं। कोई भी व्यक्ति अपने गिने हुए क्षण से ज्यादा नहीं जी सकता। तन्त्र-योग के अनुसार जीवन की सीमा पिछले जीवन के कर्मों से नियत होती है। मैंने अपने पिछले जन्म में जो किया है—वह मेरे इस जीवन के समय को तय करेगा। उसीके आधार पर वर्तमान जीवन की निश्चित होती है सीमा। मेरा, आपका और सभी का जीवन निश्चित है। वास्तव में जीवन-सीमा का मुख्य आधार 'वासना' है। इसलिए ऐसा भी होता है जैसे भगवान् बुद्ध को ज्ञान की उपलब्धि हुई, जिसके फलस्वरूप वे उस स्थिति में पहुँच गये कि उसके बाद जीने का कोई भी कारण, कोई भी वासना नहीं थी। तथागत को फिर जीने का क्या कारण ? कोई वासना भी नहीं रही। सारी वासना समाप्त हो चुकी थी। लेकिन उनको पूरे चालीस वर्ष तक जीवित रहना पड़ा था। एक बार बुद्ध के एक शिष्य ने पूछा कि 'अब आप क्यों जी रहे हैं ? आप तो ज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं। अब न आपको कुछ पाना है और न तो कुछ करना ही है। फिर·· ······ ?' बुद्ध ने उत्तर में कहा—'पिछले जन्म में जो आयु प्राप्त की है उसे पूरा करना पड़ेगा। वह चालीस साल मुझे जीना पड़ेगा। पूर्णत्व प्राप्त करने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। क्योंकि समय एक क्षण न कम करता है और न तो एक क्षण अधिक। वह मुझे पूरा करना पड़ेगा। पूरा चालीस साल।' "

चारुबाबू बोले—"वह जीना वैसा ही है—जैसे आपने साइकिल पर पैडिल मारा।

फिर आपने पैडिल रोक दिये। मगर साइकिल थोड़ी दूर आगे चली जायेगी। पैडिल रोकने से साइकिल तुरन्त नहीं रुक जायेगी। थोड़ा आगे बढ़कर रुकेगी।

"तथागत कहते हैं कि मैंने जो कुछ अर्जित किया है वह अपने स्थान पर है। मगर चालीस साल की गति अभी काम करेगी। मेरे शरीर का यन्त्र चालीस साल तक चलता रहेगा। उसमें न एक क्षण कम किया जा सकता है और न तो अधिक ही। हर आदमी के जन्म का और मृत्यु का क्षण निश्चित है।"

× × ×

"हम खोये हुए क्षण को दुबारा पाना चाहें तो पा भी नहीं सकते। असम्भव है।

"भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'अहमेवाक्षयः कालो'''' ' यानी 'मैं अक्षय काल हूं।' अपने अस्तित्व में सभी कुछ क्षणिक है और सभी कुछ क्षीण हो जाता है। सभी कुछ परिवर्तित होता है। कुछ भी शाश्वत नहीं मालूम पड़ता। सिवाय परिवर्तन को छोड़कर सब कुछ परिवर्तित होता है—मगर परिवर्तन परिवर्तित नहीं होता। जो भी है—वह दूसरे क्षण-वह वही नहीं रह जाता है।"

"कृपया इसे जरा ठीक से समझाइये।"

"जैसे एक नदी में दुबारा उतरना असम्भव है। कोई कैसे उतर सकता है एक ही नदी में दो बार? जब आप दुबारा उतरेंगे तो नदी बह चुकी होती है। जब आपका पैर पानी के ऊपर की सतह को छूता है—तब तक नीचे का पानी बह चुका होता है और जब आपका पैर एक कदम पानी के भीतर जाता है—तब तक ऊपर का पानी बह चुका होता है। नदी बह रही है। बहने का नाम नदी है। प्रवाह सतत है। जीवन की नदी भी वैसी ही सतत है। वैसा ही उसमें प्रवाह है।

"हर जगह परिवर्तन हो रहा है। हर वस्तु में परिवर्तन हो रहा है। प्रत्येक वस्तु एक घटना है—वस्तु नहीं। कोई भी वस्तु, वस्तु नहीं है—घटना है। इसे ठीक से समझना होगा। घटना का अर्थ है प्रक्रिया। इस जगत् में प्रक्रियाएँ हैं, वस्तुएँ नहीं। घटनाएँ हैं, वस्तुएँ नहीं। सब कुछ हो रहा है। प्रवाह है। इस प्रवाह में अगर कोई एक चीज अक्षय है—तो वह समय है। काल है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अगर इस परिवर्तन के बीच में कोई चीज स्थिर है—तो वह परिवर्तन है। यह उल्टा मालूम पड़ेगा। लेकिन जीवन के गहरे सत्य सभी उल्टे होते हैं। ऐसा हम कहें तो समझ में आ जायेगा। इस संसार में, इस जगत् में यदि कोई चीज नहीं मरती तो वह मृत्यु है। बाकी सब चीजें मरती हैं और इस जगत् में एक ही चीज अक्षय है—जो क्षीण नहीं होती—वह एकमात्र समय है। सब बदलता रहता है।

"लेकिन ध्यान रहे—बदलने की प्रक्रिया समय में घटती है। समय न हो—बदलाहट नहीं हो सकती। आप अपने घर से यहाँ मेरे पास आते हैं—तो ४० मिनट

का समय लगता है। अगर ४० मिनट का समय न हो तो आप यहाँ तक नहीं पहुँच सकते। ४० मिनट चाहिये तब आप यहाँ पहुँच सकते हैं। समझ लें कि समय समाप्त हो गया—तो आप फिर यहाँ से हिल भी न सकेंगे। क्योंकि हिलने के लिए भी समय चाहिये। फिर आप श्वास भी न ले सकेंगे। क्योंकि श्वास लेने के लिए भी समय की आवश्यकता है। इस संसार में जो कुछ भी हो रहा है—उन सबके लिए समय अनिवार्य है। सब चीजें समय के भीतर हो रही हैं। सभी के होने में समय छिपा हुआ है। अस्तित्व समय के साथ एक है।

"सब चीजें बदल रही हैं। बदलाहट समय के भीतर हो रही है। केवल मात्र समय नहीं बदलता। क्योंकि समय किसके भीतर बदलेगा। समय को बदलने के लिए फिर एक और समय चाहिये और उस समय को बदलने के लिए फिर तीसरे समय की आवश्यकता पड़ेगी। फिर उसे भी बदलने के लिए चौथे की। इस प्रकार समय को खींचते चले जायँ तो भी हमें एक समय को मानना पड़ेगा, जो नहीं बदलता है।

"इस तथ्य को इस प्रकार समझा जा सकता है। आप यहाँ जमीन पर बैठे हैं। आपके बैठने के लिए जमीन चाहिये। जगह चाहिये। बिना जगह के—स्थान के आप बैठ नहीं सकते। आपके होने के लिए आकाश चाहिये यानी स्थान, स्पेस। तब यहाँ एक प्रश्न उठता है—जो दार्शनिक पूछते रहे हैं कि 'आकाश' को होने के लिए कोई महाकाश चाहिये। मगर फिर उसका भी अन्त न होगा। फिर उस महाकाश के लिए और महाकाश चाहिये। तन्त्र-विज्ञान का कहना है कि आकाश सब चीजों के लिए चाहिये—सिर्फ आकाश को छोड़कर। आकाश के लिए कोई स्थान की जरूरत नहीं। आकाश स्वयं स्थान है। ठीक वैसे ही सब परिवर्तन के लिए समय आवश्यक है। केवल समय के लिए—परिवर्तन के लिए समय आवश्यक नहीं है। मतलब यह कि जैसे स्थान आकाश है—वैसे ही परिवर्तन समय है और समय के लिए कोई और चीज की आवश्यकता नहीं है।"

चारुबाबू आगे कहने लगे—"महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने समय और आकाश—दोनों को जोड़कर एक नयी धारणा निर्मित की—जो आधुनिक फिजिक्स की धारणा है—उस महान् वैज्ञानिक ने एक नया प्रस्ताव रखा—मगर वह प्रस्ताव भारत के लिए नया नहीं—पुराना है—वह प्रस्ताव पश्चिम में बहुत कीमती सिद्ध हुआ। कहने की आवश्यकता नही—आधुनिक विज्ञान—उसी प्रस्ताव के आसपास निर्मित हुआ।

"उस प्रस्ताव के अनुसार—समय और आकाश भी दो नहीं हैं। एक ही वस्तु हैं। तो आइन्स्टीन ने कहा कि समय भी आकाश का एक आयाम है। यह थोड़ी कठिन गणित की धारणा है।

"आइन्स्टीन ने कहा कि आकाश के तीन आयाम हैं—कोई भी चीज हो—तो—उसकी लम्बाई होगी, चौड़ाई होगी और गहराई होगी। ये तीन आयाम 'आकाश' के हैं। चौथा आयाम 'समय' है। किसी भी चीज के होने के लिए एक चौथी दिशा भी है—परिवर्तन। लम्बाई चाहिए, चौड़ाई चाहिए, गहराई चाहिए। अगर वह चीज है—तो एक परिवर्तन की प्रक्रिया चाहिए और वह चौथा आयाम है 'टाइम' यानी समय। वह आकाश का चौथा आयाम है और उस चौथे आयाम के लिए आइन्स्टीन ने एक शब्द निर्मित किया 'स्पेसियो टाइम', एक ही अस्तित्व समय और आकाश का। क्योंकि किसी भी चीज के लिए परिवर्तन आवश्यक है।

"अस्तित्वमात्र परिवर्तन का प्रवाह है। संसार में जितनी चीजें हैं—पदार्थ हैं—सब चुक जाते हैं। अगर हम इस विराट् अस्तित्व में खोजने चलें तो सभी चीजें बनती रहती हैं—बिखरती रहती हैं—सिर्फ एक समय बनने में भी मौजूद रहता है और बिखरने में भी मौजूद रहता है। जन्म में भी मौजूद रहता है और मृत्यु में भी मौजूद रहता है।

"कहने का मतलब यह कि केवल मात्र एक 'समय' ही अक्षय रूप से मौजूद रहता है। उसकी मौजूदगी सदा है और इसीलिए भगवान् कहते हैं कि 'मैं अक्षय काल हूँ।' महावीर ने तो आत्मा का नाम ही रख दिया समय। महावीर ने कहा—आत्मा माने समय। अस्तित्व यानी समय और यही कारण है कि जैन-सम्प्रदाय—'ध्यान' को 'सामायिक' कहता है। सामायिक का अर्थ है— समय में प्रवेश कर जाना। मतलब, आत्मा में डूब जाना। वह जो अनन्त समय है—उसके साथ एकाकार हो जाना।

"यह सामायिक शब्द ध्यान से भी ज्यादा मूल्यवान् है। क्योंकि जो व्यक्ति उस शाश्वत समय में एक हो गया—वह परमात्मा से एक हो गया—यही 'योग' है। एक योगी को छोड़कर सभी लोग समय से अपने को भिन्न समझते हैं। साधारण लोग समय से अपने-आपको अलग समझते हैं। हम सब ऐसा समझते हैं कि समय कोई चीज है, जिससे हम गुजर रहे हैं। या समय ही कोई चीज है, जो हमारे पास से गुजर रही है। हमारी जो धारणा है—वह यही है।

"एक आदमी बैठकर कहता है कि समय काट रहा हूँ या मेरा समय किसी प्रकार कट रहा है। उसे पता नहीं कि वह समय को नहीं काट रहा है, अपने को काट रहा है। ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा शस्त्र नहीं—जो समय को काट सके। समय आपको काट सकता है। आप समय को नहीं काट सकते। आप तो समय का स्पर्श तक नहीं कर सकते। काटना दूर की बात है। समय का तो आपको अनुभव भी नहीं होता है। आप केवल अपने को काट सकते हैं, समय तो अक्षय है। कटेगा भी नहीं। आपके काटे

क्या कटेगा वह। अब तक किसीके काटे नहीं कटा है। सब काटनेवाले विलीन हो जाते हैं—सब काटनेवाले आते हैं और चले जाते हैं और समय की शाश्वतता अपनी जगह बनी रहती है। इस जगत् में हम किसी चीज को अक्षय मानें—वह चीज है—समय। बाकी सब चीजें क्षय हो जाती हैं। हमारे उपनिषदों में दो शब्द हैं—अक्षर और क्षर। जिसका कभी क्षय न हो वह 'अक्षर' है और जिसका नाश हो वह 'क्षर' है। समय में सभी चीजें क्षय हो जाती हैं। सिर्फ समय को छोड़कर। समय पर मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं है। समय की मृत्यु नहीं होती। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने समय को और मृत्यु को एक मान लिया और यही कारण है कि मृत्यु को हम 'काल' कहते हैं और समय को भी 'काल' कहते हैं।

"इसका अर्थ यह हुआ कि अगर समय मृत्यु से अलग होता तो समय की भी मृत्यु होती। समय मृत्यु के साथ एक है। इसलिए मृत्यु की क्या मृत्यु होगी? मृत्यु कैसे मरेगी? इसलिए हमने मृत्यु को भी 'काल' नाम दे दिया। हमने समय को भी काल कहा और मृत्यु को भी काल कहा।

"इनके पीछे कारण है। मृत्यु भी एक परम शाश्वतता है। अगर हम ध्यान से देखें तो मृत्यु केवल एक शब्द है। समय के द्वारा हम काट दिये जाते हैं। जब हम पूरे काट दिये जाते हैं तो उस घटना को हम 'मृत्यु' कहते हैं। और तो मृत्यु नहीं है।

"जैसे नदी की धारा बहती रहती है—और जमीन कटती रहती है। ऐसे ही हमारा अस्तित्व समय की धारा में कटता जाता है और फिर एक दिन हम पाते हैं कि हमारा अस्तित्व—कण-कण कर काल के प्रवाह में बह गया। जिस दिन हम पूरे बह जाते हैं—उस दिन हम कहते हैं 'मृत्यु' हो गयी। लेकिन समय है कि हमें प्रतिपल बहाये ले जा रहा है। काल के प्रवाह में हम प्रतिपल बह रहे हैं। हम रुक नहीं सकते। रुकने का कोई उपाय नहीं है। यह होने का ढंग है और इसीको नियति कहते हैं।

"हमें काल के प्रवाह में बराबर बहते ही रहना होगा। अगर हम इस बहने से लड़ेंगे—अथवा काल के प्रवाह के विपरीत जाने का प्रयास करेंगे तो टूट जायेंगे। शीघ्र नष्ट हो जायेंगे। थक जायेंगे। वैसे ही जिस प्रकार नदी की तीव्र धारा के विपरीत कोई बहने की कोशिश करता हो—वह और जल्दी थक जायेगा और धारा भी उसे जल्दी ही बहा ले जायेगी। मतलब यह कि समय के प्रवाह में हमें बहना चाहिए। उसके प्रवाह के विपरीत नहीं जाना चाहिए। जब भी हम जाने का प्रयास करेंगे, थक जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे और टूट जायेंगे। प्रवाह में बहने का मतलब है—समय के साथ एकता साध लेना। जो समय के साथ एकता साध लेता है—वह परमात्मा के साथ एकता साध लेता है। समय के साथ तादात्म्य स्थापित करने का अर्थ है परमात्मा के

साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना। इसीका नाम योग है। समय के साथ एकता साधने का मतलब है—परिवर्तन को स्वीकार करने की क्षमता—जो भी हो जाय—उससे राजी हो जाने का गुण। समझ गये न ?"—चारुबाबू थोड़ा रुककर बोले—"जो भी घटित हो—उसके साथ पूरा आत्मैक्य। कहीं कोई विरोध न हो। समय जो भी ले आये उसके साथ पूरा तालमेल। बीमारी आ जाय—तो बीमारी। बुढ़ापा आ जाय तो बुढ़ापा। मृत्यु आने लगे तो मृत्यु। भीतर और बाहर कहीं किसी प्रकार का विरोध नहीं। अच्छी-बुरी जो भी घटना घटे उसके साथ पूरा आत्मैक्य का भाव। नभी आप समय को जान जायेंगे और समझ जायेंगे कि 'समय' क्या है। सच्चा योगी समय के साथ रहता है और यही कारण है कि काल का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता और उसकी प्राणशक्ति, विचारशक्ति, मनशक्ति और आत्मशक्ति कभी क्षीण नहीं होती।

"मगर हम सब लोग समय से बराबर लड़ रहे हैं। हम सब समय से हटने की कोशिश कर रहे हैं। जीवन की धारा में बराबर उल्टे बहने का प्रयास कर रहे हैं। इससे हमारे भीतर अहंकार का निर्माण होता है और कुछ नहीं। हमारे भीतर अहंकार के पैदा होने का कारण एकमात्र यही है कि हम काल के प्रवाह में उल्टे बहने की कोशिश करते रहते हैं और जीवनभर समय के साथ एक होने का जो गहन अनुभव है—उससे वंचित रह जाते हैं। हमारे तमाम दुःखों, कष्टों, पीड़ाओं, व्यथाओं और तमाम अभावों का एकमात्र कारण यही है कि हम काल के प्रवाह के विपरीत हैं।

"अगर सच्चा योगी बनना है तो काल के प्रवाह में बहें—समय की धारा में बहें। किसी प्रकार की बाधा न डालें। उस प्रवाह के और उस धारा के साथ एकाकार हो जायँ और जीवन जो भी ले आये उसे परम आनन्द से स्वीकार कर लें। उसमें रंच-मात्र भी नकार न हो। किञ्चित् अस्वीकार की भावना न हो। माता-पिता मर जायँ। पुत्र मर जाय। पत्नी मर जाय। उसे परम आनन्द के साथ स्वीकार कर लें। रोग आ जाय। दरिद्रता आ जाय। उसे भी परम आनन्द के साथ अपना लें। मान-अपमान को भी उसी परम आनन्द के भाव से स्वीकार कर लें। बस, हमें एकमात्र यही करना चाहिए कि जीवन की धारा—काल की धारा जहाँ जिस स्थिति में ले जाय—उस स्थिति के साथ हम एकाकार हो जायँ। जीवन के प्रति शिकायत न हो। समय के प्रति किसी बात का उलाहना न हो। सच्चे योगी वे ही हैं—जिनको न शरीर के प्रति शिकायत है—न जीवन के प्रति शिकायत है—और न तो संसार के प्रति ही शिकायत है। साधारण लोगों को—सर्वत्र शिकायत ही शिकायत है। हमें अपने प्रति, अपने जीवन के प्रति और संसार के प्रति पूरी शिकायत है। हम मन्दिर में भी जाते हैं—तो शिकायत ही लेकर जाते हैं। हमारी प्रार्थनाएँ भी एक प्रकार से शिकायत से ही भरी हुई रहती हैं। देवता के सामने हमारी की जानेवाली स्तुति या प्रार्थनाएँ यही बतलाती हैं कि

'भगवान् ! तुझसे ज्यादा तो हम समझते हैं। तू जो कर रहा है—वह गलत है। हम जो चाहते हैं—वह कर। वास्तव में हमारी पूजा-अर्चना, प्रार्थनाएँ और हमारे मन्दिर शिकायतों के घर हैं।

"वास्तविक पूजा-अर्चना, प्रार्थनाएँ और वास्तविक मन्दिर वही हैं—जिनमें शिकायतें न हों। जीवन ने जो दिया है—जीवन ने जो किया है—जीवन जैसा है—उसमें परम हर्ष हो—उसके स्वीकार में परम उत्सव हो। तभी हम समय की धारा में और काल के प्रवाह में सच्चे अर्थों में बह सकेंगे। तभी हम काल के साथ और समय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकेंगे, एकाकार हो सकेंगे और तभी मुझे अक्षय काल का और उसके अक्षय स्वरूप का बोध होगा।"

इटरनल टाइम यानी अक्षय काल

"इटरनल टाइम यानी अक्षय काल का मतलब है चतुर्थ आयाम, जिसमें परिवर्तन की प्रक्रियाएँ घटित होती हैं। अभी आप जिस समय को जानते हैं—वह घड़ी का समय है। उसका अक्षय काल से कोई सम्बन्ध नहीं है। घड़ी का समय आपके द्वारा निर्मित समय है। वह समय नहीं है। हमने पृथ्वी को चौबीस भागों में विभक्त कर दिन-रात को चौबीस घण्टों में बाँट लिया है। हमने घण्टे को साठ मिनटों में बाँट लिया है। हमने मिनट को भी साठ सेकण्डों में बाँट लिया है। यह हमारी व्यवस्था है। प्रकृति की व्यवस्था नहीं। इससे हमने कामचलाऊ समय का निर्माण किया है। यदि हम इसीको समय समझ लें—तो यह हमारी भारी भूल है। वास्तविक समय का तो हमें तब पता चलेगा—जिस दिन हम 'तथाता' को उपलब्ध हो जायेंगे और उसी दिन हमें काल के उस स्वरूप का भी अनुभव होगा—जिसे भगवान् ने अक्षय कहा है।"

× × ×

कालीबाड़ी के मन्दिर में स्थापित काली की प्रतिमा की ओर अपलक निहारते हुए चारुबाबू बतलाते हैं—"शक्ति के तीन रूप हैं। उसका जो तीसरा रूप है—वह गति है। धारा की अथवा प्रवाह की अपनी गति है। काल की धारा की भी अपनी गति है और उस गति-शक्ति को तन्त्र ने महाकाली के रूप में चित्रित किया है। समय की धारा में निहित गति-शक्ति महाकाली।

"काल और काली—यानी समय और उसकी धारा। विश्व-ब्रह्माण्ड के मूल में हैं दोनों। कालान्तर में इन दोनों को शिव और शक्ति की संज्ञा मिली। तन्त्र की यावत् साधनाएँ इन्हीं दोनों को लेकर हैं। मानव-शरीर में दोनों की स्थिति मूलाधार चक्र और सहस्रार चक्र में है। काली कुण्डलिनी में मूलाधार में सुषुप्त अवस्था में है। दोनों दो होते हुए भी एक हैं—जैसे फूल से उसके गन्ध को अलग नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार काल और काली का भी चिन्तन अलग-अलग नहीं किया जा सकता। असम्भव है।"

"समय के साथ तादात्म्य स्थापित करने का, एकाकार होने का मतलब है—महाकाली के साथ एकाकार होना। मगर कैसे ?" चारुबाबू बतलाते हैं—"चौबीस घण्टे बहकर देखें। तैरें मत। साधक आदमी तैरता नहीं। तैरते हैं संसारी लोग। साधकगण बहते हैं। 'बहते हैं' भी कहना शायद ठीक नहीं। क्योंकि 'बहते हैं' इसमें भी ऐसा लगता है कि कुछ करते हैं। नहीं। साधकगण धारा के साथ एक हो जाते हैं। धारा जहाँ ले जाती है—वहीं चले जाते हैं। वे सूखे पत्ते की भाँति हो जाते हैं। आपने किसी सूखे पत्ते को देखा है ?"

चारुबाबू कहते हैं—स्वर विगलित हो उठता है उनका—"वर्षों तक मैंने ध्यान किया। वर्षों तक मैंने पूजा की, प्रार्थना की—वर्षों तक मैंने 'माँ' को खोजा—मगर उसका मुझे पता न मिला। फिर एक दिन हताश-उदास बैठा था। पतझड़ के दिन थे। सूखे पत्ते वृक्षों से गिरकर इधर-उधर उड़ रहे थे और तब मैंने उस मौन शान्त दोपहरी में देखा सूखे पत्ते को और उसी दिन मुझे राज मिल गया। हवा सूखे पत्ते को बायें ले जाये—सूखा पत्ता बायें चला जाता। दायें ले जाय तो—दायें चला जाता। ऊपर ले जाये तो आकाश में उठ जाता। जमीन पर पटक दे तो नीचे विश्राम करने लगता। सूखे पत्ते की अपनी कोई इच्छा, अपनी कोई मर्जी ही न थी। उसकी अपनी कोई आकांक्षा या अभिलाषा भी न थी। सूखे पत्ते के हृदय में कोई भाव ही न था कि मैं कहाँ जाऊँ ? हवा जहाँ ले जाय—वह वहीं जाने के लिए तैयार था। उसने अपना अस्तित्व ही खो दिया था।"

अवरुद्ध कण्ठ को साफ कर चारुबाबू आगे बतलाते हैं—"हमारी वासनाएँ ही हमारा अस्तित्व हैं। हमारी आकांक्षाओं का जोड़ ही हमारा 'तथाकथित' होना है। सूखा पत्ता हवा के साथ एक हो गया था। हवा आकाश में उठाती—तो सिंहासन पर विराजमान होकर आनन्दित होता। हवा नीचे गिरा देती तो धूल में विश्राम करता। समझ लो, बस उसी दिन से मैं भी सूखा पत्ता हो गया और जिस दिन से मैं सूखा पत्ता हो गया हूँ—उस दिन से मैंने दुःख नहीं जाना। अशान्ति नहीं जानी। उस दिन से मुझे सत्य को खोजना नहीं पड़ा। सत्य तो मौजूद था—बस, वह मेरे अनुभव में आ गया। काल की अक्षयता अनुभव में आ जाय तो ही उस महाशक्ति का गहनतम रूप स्मरण में आना शुरू होता है। अक्षयता का अनुभव जैसे-जैसे गहरा होता जाता है—वैसे ही वैसे कर्तापन का भाव भी नष्ट होता जाता है। वह महाशक्ति स्वयं कर्ता हो जाती हैं। साधक को यह समझ में आ जाता है कि मैं कर्ता नहीं। कर्ता तो परमेश्वर अथवा परमेश्वरी हैं।

"सच तो यह है कि हम किसी भी कर्म के कर्ता नहीं हैं। अपने जन्म और अपनी मृत्यु के भी नहीं। आश्चर्य की बात है कि हम यह कभी सोचने का प्रयास ही नहीं करते कि न जन्म हमारे हाथ में है, न मृत्यु ही। आपने कभी सोचा ? जन्म एक घटना

है, जिसके सम्बन्ध में आप कुछ भी नहीं कर सकते। करेंगे भी कैसे? क्योंकि जन्म के बाद ही आप हो सकते हैं। जन्म लेने के पहले कोई आपसे पूछता भी नहीं कि आप जन्म लेना चाहते हैं। जन्म के पहले आपका चुनाव भी नहीं हो सकता। होगा भी कैसे? जब जन्म ही नहीं हुआ तो आपका चुनाव क्या है? जन्म आपको मिलता है। वह एक दान है। एक महत्त्वपूर्ण भेंट है। अस्तित्व आपको जन्म देता है। जन्म आपके हाथ की बात नहीं है। जन्म के सम्बन्ध में आप कुछ भी नहीं कर सकते। आपके निर्णय की कोई संगति ही नहीं। आप जब भी हैं—जन्म के बाद हैं। जन्म के पहले आप नहीं हैं। निश्चित ही जन्म आपका नहीं हो सकता।

"इसी प्रकार मृत्यु भी आपकी नहीं है। जैसे जन्म आपके हाथ से घटित नहीं होता—वैसे ही मृत्यु भी आपके हाथ से घटित नहीं होती। जन्म और मृत्यु दोनों में उस महाशक्ति का अथवा उस विराट् का ही हाथ है। जो आपको जन्म देता है—और जो आपको पालता है—वही आपको मृत्यु में भी खींच लेता है। इसलिए संसार के सभी धर्मों ने अगर आत्महत्या का विरोध किया है—तो उसका कारण है। आत्महत्या को बड़ा-से-बड़ा पाप कहा है तो उसका कारण है। जन्म तो आप ले नहीं सकते। लेकिन आत्महत्या आप कर सकते हैं और जो काम परमात्मा को ही करना चाहिए—उसे जब आप करते हैं—तब महापाप घटित होता है। जन्म आप तो ले ही नहीं सकते, उसका कोई उपाय भी नहीं है। लेकिन मृत्यु आप चुन सकते हैं। लेकिन जब आप जन्म चुन नहीं सकते तो आपको मृत्यु चुनने का कोई हक नहीं रह जाता।"

× × ×

जीवन में हिंसा और हत्या अगर बुरी कही गयी है तो उसका कुल कारण इतना ही है कि आप अपने को जन्म नहीं दे सकते तो आप अपनी हत्या भी करने के हकदार नहीं। आत्महत्या का यदि सारे धर्मों ने विरोध किया है तो कुल कारण इतना ही है कि जब आप अपने जन्म के मालिक नहीं तो आप अपनी मृत्यु के मालिक कैसे हो सकते हैं। वह मालकियत छीनना परमात्मा के विरुद्ध बहुत बड़ा पाप है।

आप जानते हैं—पश्चिम में एक विचारक था। नाम था आल्बेयर कामू। उसने एक पुस्तक लिखी है, जिसकी शुरुआत उसने इस वाक्य से की है कि 'मनुष्य के समक्ष आत्महत्या ही सबसे बड़ी दार्शनिक समस्या है—द ओनली मेटाफिजिकल प्राब्लम बिफार मैन इज सुसाइड।' आधुनिक युग के श्रेष्ठतम विचारक ऐसा मानते हैं कि एक ही तो स्वतन्त्रता है आदमी को कि वह आत्महत्या कर ले। और तो कोई स्वतन्त्रता नहीं मालूम पड़ती। इसलिए वे कहते हैं कि 'आत्महत्या का हक होना चाहिए। हम तो और कुछ कर नहीं सकते। जीवन पा नहीं सकते। जन्म पा नहीं सकते। एक काम ही हम कर सकते हैं—आत्महत्या का। वही तो हमारी स्वतन्त्रता है। उसका हक होना चाहिए। कोई आदमी आत्महत्या करना चाहे—तो उसे हक होना चाहिए।

उनकी बात तर्कसंगत तो है—मगर वह जीवन के विराट् तर्क से मेल नहीं खाती। क्योंकि जिस चीज का हम आरम्भ नहीं कर सकते, उसका अन्त भी हमें उसीके हाथों छोड़ देना चाहिए, जिसने आरम्भ किया है। यही उचित है।

× × ×

जन्म और मृत्यु—दोनों पर हमारा अधिकार नहीं है। दोनों विराट् के हाथ में हैं। हम न किसीको जन्म दे सकते हैं और न तो हम किसीको मार ही सकते हैं। हम स्वयं भी न जन्म ले सकते हैं और न तो मर ही सकते हैं। अगर इनके विपरीत हम सोचते हैं—तो वह हमारा भ्रम है। कोई व्यक्ति आत्महत्या कर रहा है—वह भी भ्रान्ति में है कि 'मैं अपने को मार रहा हूँ।' सच तो यह है कि कोई अपने को मार नहीं सकता, जब तक कि मौत ही मारने को न आ गयी हो, जब परमेश्वर का ही हाथ न आ गया हो। आपके मन में अपनी हत्या करने का विचार आता है—वह विचार भी आपका नहीं होता। मरने का विचार भी उसी स्रोत से आता है—जिस स्रोत से जन्म आता है। केवल आपको भ्रान्ति हो सकती है और वह भ्रान्ति आपको लम्बे चक्कर में डाल सकती है।

× × ×

वास्तव में इस संसार में—भ्रान्तियों के अलावा हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है। सत्य हमारे हाथ में नहीं है। हम सत्य के हाथ में हैं। हमारे हाथ में केवल भ्रान्तियों का भण्डार हो सकता है। झूठ हो सकता है। एक व्यक्ति सोचता है कि अपने को मार सकता हूँ या मार रहा हूँ। उसका सोचना भ्रान्ति है। विचारपूर्वक यदि देखा जाय तो मनुष्य का सारा जीवन भ्रान्तिमय है। जीवनभर मनुष्य 'करने' का भ्रम पाले रहता है। हम यह कर रहे हैं, हम वह कर रहे हैं। जिन्दगीभर मनुष्य बस यही सोचता रहता है। हम यहाँ तक सोचते हैं कि साँस भी हम ही ले रहे हैं। जी भी हम रहे हैं। नहीं। यह भारी भ्रान्ति है हमारी। हम साँस भी नहीं ले रहे हैं। हम जी भी नहीं रहे हैं। अगर हम ही साँस लेते होते तो मौत तो कभी आ ही नहीं सकती। मौत दरवाजे पर आ जाती—हम कहते—अभी हम साँस लेना बन्द नहीं करते—हम लेते ही रहेंगे। लेकिन एक दिन हमारी साँस बाहर जायेगी—और वापस नहीं लौटेगी। हम भीतर न ले सकेंगे उसे। जीवन हमसे नहीं चल रहा है। वह गहराई से चल रहा है। जहाँ से हमारा जीवन चल रहा है—वही परमात्मा है—वही परमेश्वरी है। जहाँ से मौत आती है—वही परमात्मा है—वही भगवती है। हम तो केवल बीच की कड़ी हैं। हम केवल निमित्तमात्र हैं। जब हम समय के साथ एकाकार होते हैं तो यह बात समझ में आती है कि हम केवल निमित्तमात्र हैं। कर्ता कोई और है।

●

साधक चैतन्य ब्रह्मचारी

एक रहस्यमय विलक्षण साधक से भेंट

चारुबाबू के बाद मैं जिस महापुरुष के सम्पर्क में आया वह थे चैतन्य ब्रह्मचारी। काशी के दण्डीघाट के बगल में स्थित राधाकृष्ण के आश्रम में रहते थे ब्रह्मचारीजी। बड़ा ही सुन्दर, शान्त और मनोरम था वह आश्रम। सामने गंगा की ओर काफी लम्बा खुला बरामदा था—जिसके नीचे तुलसी, दौना और विभिन्न प्रकार के फूलों की क्यारियाँ थीं। पारिजात, नीबू और बेल के भी पेड़ थे वहाँ। पीछे की ओर छोटी-छोटी कोठरियाँ बनी थीं, जिनमें से एक कोठरी में कीमती काले पत्थर की बनी राधा और कृष्ण की मूर्ति स्थापित थी। ब्रह्मचारीजी के अलावा उनके कुछ शिष्य और भक्त भी आश्रम में रहते थे। सन् १९४८ की बाढ़ में—ध्वस्त होकर वह मनोरम आश्रम अब खण्डहर में बदल चुका है। उसमें जो राधाकृष्ण की दुर्लभ प्राचीन मूर्ति थी—वह भी गायब हो चुकी है। लेकिन ब्रह्मचारीजी की स्मृति अब भी वहाँ उस खण्डहर में सुरक्षित है। खैर।

ब्रह्मचारीजी वेदान्त-दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही, उसके अलावा योग और तन्त्र में भी उनकी गहरी गति थी। सुना था, कई प्रकार की दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त थीं उन्हें। अस्सी वर्ष की अवस्था में भी पूर्ण स्वस्थ और नीरोग थे महाशय। दूध और फल ही एकमात्र भोजन था उनका। खर्च भी काफी लम्बा था। ५-६ गायें, १०-१५ विद्यार्थियों का नित्य दोनों समय भोजन और उनका स्वयं का खर्च। मगर उनके पास रुपया-पैसा कहाँ से आता था, पता नहीं। हर समय उनका लाल रंग के कपड़े का बटुआ भरा ही रहता था रुपये-पैसे से। किसीका कहना था कि ब्रह्मचारीजी सोना बनाते हैं। तो किसीका कहना था कि उन्होंने यक्षिणी सिद्ध कर रखी है। वही समय-समय पर उनको रुपया-पैसा देती रहती है। सच क्या था यह वही जानें।

ब्रह्मचारीजी मुझे बहुत मानते थे। प्रायः मुझसे वे तन्त्र-साधना पर ही बातें किया करते थे। उन दिनों वे तन्त्र-शास्त्र पर कोई महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिख रहे थे। पुस्तक की पाण्डुलिपि देखी थी मैंने। सचमुच बड़ी ही अनुभवपूर्ण पुस्तक थी वह। पुस्तक का नाम था योगिनी-सिद्धि। काश, उस समय पुस्तक प्रकाशित हो गयी होती तो सचमुच विद्वानों के क्षेत्र में भारी तहलका मच गया होता। लेकिन इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि एक दिन अकस्मात् ब्रह्मचारीजी की हृदय-गति बन्द हो गयी और उन्होंने हमेशा-हमेशा के लिए आँखें बन्द कर लीं। उनकी मृत्यु ने मुझे अत्यन्त शोकविह्वल कर दिया था। मुझे सबसे ज्यादा दुःख था उनकी पुस्तक पूरी न होने का। खैर।

आखिर शव को जल-प्रवाह के लिए ले जाया गया। शवयात्रा में मैं भी था सम्मिलित। यथाविधि केदारेश्वर मन्दिर के सामने गंगा में ब्रह्मचारीजी को जल-समाधि दे दी गयी।

इसके ठीक दो साल बाद।

एक युवक मिला मुझे। कार्तिक का महीना था। साँझ का समय। मैं दण्डीघाट की सीढ़ियों पर बैठा ब्रह्मचारीजी की स्मृतियों में डूबा हुआ था। उसी समय वह युवक मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। पचीस साल से अधिक आयु नहीं थी उस युवक की। संन्यासी था वह। बड़ा ही आकर्षक और सुदर्शन व्यक्तित्व था उस युवा संन्यासी का।

मुझे देखकर पहले वह मुस्कराया—फिर बोला—"पहचानते हो मुझे?"

एकबारगी सकपका गया मैं। धीरे से बोला—"नहीं। मैं तो पहली बार आपको देख रहा हूँ।"

युवा संन्यासी ने गम्भीर स्वर में कहा—"मैं चैतन्य ब्रह्मचारी हूँ।"

"क्या कहा आपने? यह कैसे सम्भव है?" मैंने कहा—"ब्रह्मचारीजी को शरीर-त्याग किये पूरे दो वर्ष हो गये। मैंने स्वयं अपनी आँखों से उनकी जल-समाधि देखी है।......और फिर आप युवक हैं। अविश्वसनीय है आपकी बात।" यह सुनकर वह युवा संन्यासी एक बार हँसा और फिर कहने लगा—"बेटा, सम्भव है। सब कुछ सम्भव है। असम्भव कुछ नहीं है। मैं वही ब्रह्मचारी हूँ जिसके पास तू नित्य वेदान्त पढ़ने आया करता था। यह शरीर तो युवा है—मगर इसके भीतर स्थित आत्मा ब्रह्मचारी का है। सच बात तो यह है कि यह संसार शरीर को महत्त्व देता है—आत्मा को नहीं।"

सचमुच वह युवा सुदर्शन संन्यासी और कोई नहीं, चैतन्य ब्रह्मचारी ही थे। उन्होंने अपने मरणोपरान्त की जो कथा सुनायी—निश्चय ही वह अत्यन्त रहस्यमयी और अविश्वसनीय थी।

चैतन्य ब्रह्मचारी की मृतात्मा अपने प्रबल कामना-वेग के फलस्वरूप अपनी उसी अधूरी पुस्तक को पूरा करने के लिए—एक ऐसे ब्राह्मण-युवक के मृत शरीर में प्रवेश कर गयी थी—जिसकी उसी समय किसी आकस्मिक बीमारी के कारण मृत्यु हुई थी। उस युवा ब्राह्मण के मृत शरीर में प्रवेश कर ब्रह्मचारीजी पुनर्जीवित हो उठे थे और संन्यास ग्रहण कर लिया था। उसके बाद अपनी अधूरी पुस्तक 'योगिनी-सिद्धि' के लेखन-कार्य में जुट गये थे।

चैतन्य ब्रह्मचारी को अपने पिछले आश्रम से कुछ लेना-देना नहीं था। अगर वे वास्तविकता को किसीके सामने प्रकट भी करते तो मेरी तरह कोई उस पर विश्वास

ही न करता। वे दो-तीन दिन पूर्व हरिद्वार से चलकर काशी आये थे—और अस्सी-घाट के एक मठ में ठहरे हुए थे। वह मठ एक तान्त्रिक का था जिसका नाम था कपालगिरि। कपालगिरि युवा साधक थे। भगवती चतुर्भुजा दुर्गा के भक्त थे। प्रायः वे मौन साधे रहते थे। किसीसे ज्यादा बोलते-चालते नहीं थे। खैर।

मेरे आग्रह पर युवा संन्यासी के शरीर में स्थित चैतन्य ब्रह्मचारी ने बतलाया कि "मृत्यु के समय मुझे लगा, जैसे मैं गहरी नींद में सोने जा रहा हूँ। मगर मुझे बेचैनी अवश्य हो रही थी उस अवस्था में। मृत्यु के बाद काफी देर तक मुझे इस बात का पता ही नहीं चला कि मैं मर गया हूँ। मुझे यह देखकर घोर आश्चर्य हो रहा था कि मेरे शरीर के साथ मेरे शिष्य और मेरे भक्त क्या कर रहे हैं। सोचने लगा, अवश्य कोई घटना घटी है मेरे साथ। लेकिन जब मेरे शरीर को गंगा में प्रवाहित किया जाने लगा—तब मुझे इस बात का ज्ञान हुआ कि मैं तो मर चुका हूँ। अब मेरा संसार से और अपने लोगों से किसी प्रकार का नाता-रिश्ता और सम्बन्ध नहीं रह गया है। मुझे यह समझकर काफी घबराहट हुई और मैं उदास हो गया। अपने को एकाकी और अनाथ समझने लगा। मगर ऐसी मानसिकता अधिक समय तक मेरी नहीं रही। एकाएक घोर विरक्ति भर गयी मुझमें और विरक्ति का भाव जागृत होते ही मेरे सामने से पार्थिव जगत् का अस्तित्व धीरे-धीरे लुप्त हो गया और फिर मैंने अपने-आपको एक ऐसे लोक और एक ऐसे वातावरण में पाया—जिसे सूक्ष्मलोक कहा जाता है। एक लोक से दूसरे लोक में सन्तरण करने का अनुभव मेरे लिए वैसा ही था—जैसे झोपड़ी से किसी महल में प्रवेश करना।"

एक अतिरहस्यमय पारलौकिक विवरण

थोड़ा रुककर कुछ सोचने के बाद ब्रह्मचारीजी बतलाते हैं कि "मृत्यु के बाद साधारण कोटि के लोगों की आत्मा वासनालोक को उपलब्ध होती है। मगर सात्त्विक वृत्ति की आत्माओं को उपलब्ध होनेवाला सूक्ष्मलोक इतना मोहक, इतना आकर्षक और इतना आनन्दमय है कि उसमें प्रवेश करने के बाद हम यह सोचने लग जाते हैं कि व्यर्थ ही इतने दिनों तक हम मृत्यु से डरते रहे और भयभीत होते रहे।

"मैंने जब सूक्ष्मलोक में प्रवेश किया तो मुझे ऐसा लगा, मानों मैं ऐसे वातावरण में पहुँच गया हूँ—जहाँ परम शान्ति है, परम आनन्द है और है परम सुख। सच बात तो यह है कि हमारा पार्थिव शरीर ही सबसे बड़ी बाधा और सबसे बड़ी रुकावट है। जानते हैं—जैसे ही शरीर छूटता है—जैसे ही मृत्यु घटित होती है—तत्काल हमारा सूक्ष्मशरीर—पहले से कई गुना अधिक गतिमान् और सक्रिय हो उठता है। एक विशेष प्रकार की शक्ति का संचार हो जाता है उसमें, जिसके फलस्वरूप वह निर्बाध गति से कहीं भी आ-जा सकता है। हजारों मील की यात्रा कुछ ही क्षणों में कर लेता है वह।

एक बात और बतलाऊँ तुमको।''—ब्रह्मचारीजी बोले—''जिनको हम मरा हुआ समझते हैं—वे लोग वास्तव में-कहीं जन्म लेने के पहले तक-अपने सगे-सम्बन्धियों के निकट ही बने रहते हैं और उन्हें स्वप्न के माध्यम से अपनी स्थितियों से अवगत कराते रहते हैं। मैं स्वयं तुम्हारे पास कई बार आया और अपने विषय में बतलाना चाहा—अपना सन्देश देना चाहा-मगर न जाने क्यों ऐसा सम्भव न हो सका। बार-बार मेरे और तुम्हारे बीच एक रहस्यमय धुन्ध आ जाती थी। एक बार जब तुम्हारे निकट पहुँचा-तो यह देखकर मुझे घोर आश्चर्य हुआ कि तुम्हारे बगल में एक ऐसी स्त्री खड़ी थी-जो निश्चय ही किसी और लोक की थी। उस समय तुम सो रहे थे। रात का शायद दूसरा प्रहर था।''

''कैसी थी वह स्त्री ?''—यह पूछने पर ब्रह्मचारीजी ने बतलाया कि ''उस स्त्री का कद काफी लम्बा था। शरीर का रंग लाल था। बाल घने थे और जमीन तक लटक रहे थे। उसके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था। वह पूर्ण नग्ना थी। उसके बेडौल से स्तन काफी नीचे तक झूल रहे थे। उसकी आँखें गोल और बड़ी-बड़ी थीं, जिनमें आक्रोश का भाव था। कौन थी वह, समझ में नहीं आया मेरे। मैं थोड़ी देर तक रुका रहा फिर वापस लौट गया।''

वह रहस्यमयी स्त्री कौन थी—यह ब्रह्मचारीजी को समझ में नहीं आया। मगर मैं समझ गया। वह रहस्यमयी स्त्री और कोई नहीं, वही डाकिनी थी जो कभी मोना के शरीर में निवास करती थी और जिसे मैंने वचनबद्ध किया था। मैं जानता था कि वह अदृश्य रूप से बराबर मेरे साथ रहती है। न जाने क्या सोचकर मैंने ये सारी बातें ब्रह्मचारीजी को नहीं बतलायीं। लेकिन वहाँ बैठे कपालगिरि इस रहस्य से शायद परिचित हो गये। एक बार सिर घुमाकर मुस्कराते हुए गहरी नजरों से मेरी ओर देखा था उन्होंने। बड़ी ही रहस्यमयी दृष्टि थी उनकी।

× × ×

ब्रह्मचारीजी आगे बतलाने लगे—''मेरे परिचित लोग-जो मेरे जीवनकाल में मर चुके थे—वहाँ मुझे प्रसन्न मुद्रा में मिले। वहाँ मुझे एक ऐसे भी परिचित मिले—जो कभी मेरे साथ अपने गाँव से काशी विद्याध्ययन के लिए आये थे। उनका नाम था पण्डित रामेश्वरदत्त। उनकी अकालमृत्यु सर्प काटने से हुई थी, जिसके फलस्वरूप-मरणोपरान्त उन्हें कुछ समय तक नागलोक में रहना पड़ा था।

''पण्डित रामेश्वरदत्त ने कहा—सूक्ष्म जगत् के अन्तर्गत जितने भी लोक-लोकान्तर हैं—उनमें नागलोक अत्यन्त सुन्दर और रमणीक है। वहाँ की प्राकृतिक सुषमा मन को मोह लेती है। चारों ओर पान-सुपाड़ी, नागकेशर, नागगन्धा, नागचम्पा आदि वृक्षों के घने जंगल हैं जिनके सुगन्धों से वहाँ का वायुमण्डल हमेशा गन्धमय रहता है।

नागकन्याओं का कामोत्तेजक अपरूप सौन्दर्य मन को मुग्ध कर लेता है। जैसे गन्धर्वलोक का वाद्य, यक्षलोक का संगीत और किन्नरलोक का गायन प्रसिद्ध है; उसी प्रकार नागलोक का नृत्य प्रसिद्ध है। नागकन्याओं के सुमधुर नृत्य से वहाँ का वातावरण हमेशा गूँजता रहता है।

"पृथ्वी पर भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है—जिसकी कला, संस्कृति, संगीत, साहित्य आदि के उन्नयन में अन्य लोक-लोकान्तरों का बराबर सहयोग रहा है। कभी किसी काल में वह सहयोग प्रत्यक्ष रूप से मिला करता था। मगर अब वह मिलता है अदृश्य रूप से। उदाहरण के रूप में पान और सुपाड़ी को ही लीजिये–ये नागलोक की देन हैं। इसी प्रकार यहाँ के वृक्षों में नागकेशर, नागगन्धा और नागचम्पा के वृक्ष भी वहीं से आये हैं। इनके अपने गुण भी हैं और गन्ध भी। नागकेशर सन्तानदायक, महत्त्वपूर्ण औषधि है। नागगन्धा की जड़ी जहाँ रहती है—वहाँ सर्प का भय नहीं रहता। उसके द्वारा यथाविधि उपचार करने पर सर्प-विष से मृत व्यक्ति भी जीवित हो सकता है। इनकी तरह और जो एक महत्त्वपूर्ण वस्तु हमारे देश को नागलोक से प्राप्त हुई—वह है नृत्यकला। इसी प्रकार वाद्य, संगीत और गायन-कला भी गन्धर्वलोक, यक्षलोक तथा किन्नरलोक की देन है। तन्त्र की चौंसठ विद्याओं में एक विद्या है–'नागमोहिनी विद्या'। सर्प जाति से सम्बन्धित यह महत्त्वपूर्ण विद्या वास्तव में नागलोक से ही प्राप्त हुई है।

"पं० रामेश्वरदत्त का कहना था कि वहाँ उनको बड़े-बड़े तपस्वी, साधक, योगी और बड़े-बड़े ज्ञानी सर्प के रूप में निवास करते हुए मिले। जो लोग तप, साधना, योग और ज्ञान के द्वारा मानव-योनि से हमेशा के लिए मुक्त हो जाते हैं—वे अनुकूल लोकों में प्रवेश पाने की प्रतीक्षा में—नागलोक में इसी प्रकार निवास करते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी लोग होते हैं—जो सर्प-योनि को स्वीकार तो कर लेते हैं—मगर नागलोक में रहने के बजाय संसार में ही रहना उचित समझते हैं। उनकी आयु की कोई सीमा नहीं। निजलोक में सन्तरण करने की प्रतीक्षा में उन्हें हजारों वर्ष तक सर्प-योनि में ही रहना पड़ सकता है। ऐसे लोग कभी-कभी अपनी किसी आध्यात्मिक इच्छा की पूर्ति के लिए मानवरूप भी धारण कर लिया करते हैं।"

"क्या आपकी दृष्टि में सर्पशरीरधारी इस प्रकार के कोई महात्मा काशी में भी हैं?"—मैंने प्रश्न किया।

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"अवश्य। जब मैं पूर्वशरीर में था तो उस समय मेरा साक्षात्कार एक ऐसे ही योगी से हुआ था—जो लगभग तीन सौ वर्षों से—काशी में रह रहे थे। अब भी वह महापुरुष बंगालीटोला स्थित ताराबाडी में निवास करते हैं। कभी-कदा मानवरूप में रात्रि के समय गंगातट पर विचरण भी किया करते हैं।"

× × ×

थोड़ा रुककर ब्रह्मचारीजी आगे बतलाने लगे कि "पं० रामेश्वरदत्त के द्वारा मुझे जो कुछ देखने-सुनने को मिला, वह वास्तव में अपने-आपमें अति महत्त्वपूर्ण था। उन सबका विवरण हमारे धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र अवश्य मिलता है। मगर वह सब अधूरा ही है। पं० रामेश्वरदत्त मुझे एक बार एक ऐसे स्थान पर ले गये जो अत्यन्त रमणीक और मोहक था। वहाँ के वातावरण में चारों ओर गहरी शान्ति व्याप्त थी और कुहरे जैसी धुन्ध छायी हुई थी और उस धुन्ध से चाँदनी जैसा स्निग्ध प्रकाश फूट रहा था। मैंने देखा कि वहाँ बहुत सारे लोग ध्यान की मुद्रा में बैठे हुए थे। पं० रामेश्वरदत्त ने बतलाया कि यह स्थान सूक्ष्मलोक की सीमा है। यहाँ से वैश्वानर जगत् प्रारम्भ होता है। यहाँ आनेवाले लोगों के पिछले कई जन्मों की स्मृतियाँ एक साथ जागृत हो जाती हैं। उनको इस बात का घोर पश्चात्ताप होता है कि इतना जन्म, इतना जीवन और इतना बहुमूल्य समय व्यर्थ चला गया। आत्मोन्नति के लिए परमेश्वर की ओर से इतने अवसर मिले—उनसे लाभ उठाया न गया। मोह-माया के जाल में ही फँसा रहा बार-बार।"

× × ×

"सूक्ष्मलोक कहाँ हैं?"—मेरे इस प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मचारीजी ने बतलाया कि "एक तो सूक्ष्मलोक—स्थूल जगत् की परिधि में ही है और दूसरा है—पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के बाहर अन्तरिक्ष में। पहला सूक्ष्मलोक स्थूल जगत् के साथ उसी प्रकार घुला-मिला है—जैसे दूध में पानी। यदि यह कहा जाय कि वह सूक्ष्मलोक हम सबके आसपास ही चारों तरफ फैला हुआ है तो अतिशयोक्ति न होगी और जो लोग मर गये हैं—वे लोग भी हमारे आसपास उपस्थित हैं। सच बात तो यह है कि हमारे मृत बन्धु और स्वजन कुछ समय के लिए हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और हम सब लोग व्यर्थ में उनके लिए रोते-कलपते और विलाप करते हैं। हम लोगों का क्रन्दन देखकर वास्तव में मृत लोगों को आश्चर्य होता है कि कौन-सी-ऐसी बड़ी घटना घट गयी कि ये लोग रो-धो रहे हैं। सच बात तो यह है कि मरने के बाद भी मनुष्य को इस बात का अनुभव नहीं हो पाता कि वह मर चुका है। इसका कारण अतिशय महत्त्व का है। वह यह कि परामनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक वस्तु के तीन रूप होते हैं—स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप और कारणरूप। इसी प्रकार हमारी इस धरती के भी तीन रूप हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। कारणरूप को ही चिन्मय कहते हैं। मगर धरती का जो सूक्ष्मरूप है—वही पहले प्रकार का सूक्ष्मलोक है। उसको—पृथ्वी के पहले रूप जैसा ही होने के कारण—मनुष्य को इस बात का शीघ्र अनुभव नहीं हो पाता कि वह मर गया है और अब उसका स्थूल जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं। वह अपने-आपको जीवित ही समझता है। अपने स्थान पर उसका यह समझना ठीक भी है और एक-

मात्र यही कारण है कि वह जीवित अवस्था की तरह ही देखता, सुनता, समझता और अनुभव करता है। वह अपने पलंग, बिस्तर और अपने मृत शरीर को भी देखता है—और अपने शरीर के निकट अपने सगे-सम्बन्धियों को देखकर इस बात का आश्चर्य करता है कि लोग उसके लिए इतने परेशान क्यों हैं? क्यों रो रहे हैं? क्यों विलाप कर रहे हैं?

"सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि वह अपने सगे-सम्बन्धियों और अपने इष्ट-मित्रों को सारी बातें सुनता और समझता है। मगर उनको वह अपना कोई सन्देश देना चाहे तो नहीं दे सकता। हालाँकि इसके लिए वह काफी प्रयास करता है—मगर सफल नहीं हो पाता। निश्चय ही इसके पीछे कोई प्राकृतिक रहस्य है। मुझे स्वयं इस बात का आश्चर्य हुआ था। मुझे तब अपनी मृत्यु का अनुभव हुआ—जब मैंने अपने शरीर की अन्तिम क्रिया देखी। मृत शरीर जलाया जाय या प्रवाहित किया जाय—अपने शरीर की उस अन्तिम गति को देखकर सभी प्रकार की आत्माओं को असीम कष्ट का अनुभव होता है। काफी समय तक उसका मोह बना रहता है और बना रहता है आकर्षण अपने मृत शरीर के प्रति। खैर।

"मृत व्यक्ति धीरे-धीरे समझता है—जिससे उसे इस बात का आभास होता है कि कुछ असामान्य घटना घटी है। तब वह पाता है कि कोई भी भौतिक या पार्थिव वस्तु उसके लिए बाधक नहीं है और वह बिना किसी रुकावट अथवा बिना किसी बाधा के उनके आर-पार जा सकता है और देख भी सकता है। वह इसके साथ ही इस बात का भी अनुभव करता है कि वह पहले से अधिक हल्का और गतिमान् हो गया है। इतना ही नहीं, वह यह भी अनुभव करता है कि वह बिना किसी साधन के इच्छा-नुसार कहीं भी जा सकता है और कहीं भी विचरण कर सकता है। उसकी गति की कोई इयत्ता नहीं है और यह वही क्षण है—जब कि मृत व्यक्ति का सारा भौतिक आकर्षण समाप्त हो जाता है और इस प्रकार भौतिक आकर्षण के समाप्त होते ही वह अपने-आपमें गहरी रिक्तता का अनुभव करने लग जाता है। अगर वह उच्च आत्मा है तो इस अवस्था में उसका सन्तरण तुरन्त पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की सीमा के पार—दूसरे प्रकार के सूक्ष्मलोक में हो जाता है—जो अन्तरिक्ष में स्थित है।"

× × ×

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"जब मैं यह समझ गया कि मेरी मृत्यु हो गयी है और भौतिक शरीर और भौतिक संसार से अब मेरा कोई नाता-रिश्ता नहीं है—तो मैंने अपने-आपमें पहली बार गहरी रिक्तता का अनुभव किया। घोर विरक्ति से भर उठा मैं। सोचा—अब क्या करूँ? उसी समय कैलास-मानसरोवर की यात्रा की इच्छा मुझमें जागृत हुई। उस समय मुझे घोर आश्चर्य हुआ जब मैं तत्काल कैलास-मानसरोवर

बिना किसी बाधा के पहुँच गया। वहाँ से मैं सम्पूर्ण हिमालय को बड़ी आसानी से देख रहा था और उसी समय मेरे सामने से धरती की पार्थिव सत्ता एकबारगी लुप्त हो गयी और अपने-आपको मैं एक नये वातावरण में अनुभव करने लगा। निश्चय ही वह अन्तरिक्ष में स्थित सूक्ष्मलोक का वातावरण था।"

× × ×

"उस परम शान्तिमय और परम आनन्दमय लोक में प्रवेश करने पर सबसे पहले मुझे जो अनुभव हुआ—वह यह कि न कहीं स्वर्ग है और न तो कहीं है नरक। स्वर्ग और नरक दोनों पौराणिक कल्पना है मगर वह है अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण। मनुष्य सद्-मार्ग पर चले इसके लिए स्वर्ग का प्रलोभन है। वह कुमार्ग पर न चले इसके लिए नरक का भय है। सच तो यह है कि मरणोपरान्त हमारे भाव, हमारे विचार और हमारे संस्कार ही अपने मित्र और अपने शत्रु हैं। उन तीनों के मिश्रण से जिन वृत्तियों का जन्म होता है—उन्हीं वृत्तियों के अनुसार हम अपने लिए अच्छा या बुरा वातावरण तैयार कर लेते हैं। अगर हमारी वृत्तियों ने बुरे वातावरण की सृष्टि की है तो वह हमारे लिए नरक ही सिद्ध होगा। अगर हमारी वृत्तियों ने अच्छे वातावरण की सृष्टि की है तो निस्सन्देह वह हमारे लिए स्वर्ग होगा। कुछ शक्ति अथवा कोई स्वर्ग-नरक जैसी संस्था मरणोपरान्त हमें सुख-दुःख नहीं देती। हमारा किया हुआ—हमारा सोचा-समझा हुआ और हमारा कहा हुआ ही वहाँ हमारे सामने आता है।"

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"आध्यात्मिक दृष्टि से पहले प्रकार का सूक्ष्मलोक निम्न स्तर का है और दूसरे प्रकार का सूक्ष्मलोक है उच्चस्तर का। इस वर्गीकरण के अनुसार असद्वृत्तियोंवाले लोग निम्नस्तर के सूक्ष्मलोक में रहते हैं, जब कि सद्वृत्तियोंवाले लोग रहते हैं उच्चस्तर के सूक्ष्मलोक में।

"उच्चस्तर के सूक्ष्मलोक में इस धरती की ही तरह मनुष्य की विद्या, बुद्धि, विचार और अवधारणाएँ होती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वहाँ पहुँचने पर सोचने-समझने, विचार करने और लिखने-पढ़ने की शक्ति अथवा क्षमता धरती से कहीं अधिक बढ़ जाती है। वहाँ की शिक्षण-व्यवस्था सर्वोच्च स्तर की है। जिन लोगों के हाथों में वह व्यवस्था है—वे उच्चकोटि के विचारक, चिन्तक और उच्चकोटि के ज्ञानी हैं। उनके ज्ञान का भण्डार असीम है।

"जो लोग अपने ज्ञान और अपनी विद्या अथवा अपनी कला को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं—उन्हें वहाँ उस व्यवस्था के अन्तर्गत अपने ज्ञान को, अपनी विद्या को और अपनी कला को पूर्ण करने का अवसर मिलता है।

"उच्चस्तर के सूक्ष्मलोक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि धरती के बजाय वहाँ बड़ी सरलता और बड़ी सहायता से अध्ययन और चिन्तन-मनन किया जा सकता है।

जिस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए धरती पर दस वर्ष का समय लगता है—वहाँ समझ लें, दस मिनट में उसे प्राप्त किया जा सकता है। खैर। जो योग्य पात्र हैं—उन्हें वहाँ विशेष रूप से शिक्षा दी जाती है। यही कारण है कि कुछ लोग जन्म से ही भिन्न-भिन्न संस्कार और भिन्न-भिन्न विषयों में अभिरुचियाँ लेकर इस संसार में अवतरित होते हैं। कोई जन्म लेने के थोड़े ही दिनों बाद साधु बन जाता है। कोई कवि हो जाता है। कोई साहित्यिक हो जाता है। कोई गणितज्ञ तो कोई वैज्ञानिक बन जाता है। इसके पीछे सूक्ष्मलोक के शिक्षा-संस्कार ही होते हैं—जो पूर्वजन्म की अभिरुचियों के आधार पर निर्मित होते हैं। जिसे हम प्रतिभा कहते हैं और जिसे कहते हैं 'प्रज्ञा'—वास्तव में वह यही चीज है।"

× × ×

ब्रह्मचारीजी ने बतलाया कि "मुझे भी एक ऐसी ही शिक्षा-संस्था में जाने का अवसर मिला, जहाँ मुझे अनेक ऐसे दिव्य शरीरधारी महापुरुष मिले—जो ज्ञान-विज्ञान में सर्वश्रेष्ठ थे और जिनके द्वारा विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। उन सभी के मुखमण्डल तेजोमय थे। नेत्र में ज्योति थी और दिव्य आभा से उनके शरीर दप्-दप् कर रहे थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वहाँ उस स्थान पर उच्च भावों और उच्च विचारों का ही प्रवाह था। कोई किसीसे बातें नहीं कर रहा था। कोई किसीसे बोल भी नहीं रहा था। कहने का मतलब यह कि वैखरी वाणी का वहाँ कोई प्रयोग नहीं था। सभी एक-दूसरे के भावों और विचारों से अपने-आप अवगत हो जाते थे। सभी प्रकार की शिक्षा भी इसी पद्धति से दी जाती थी वहाँ।

"मैंने देखा—एक स्थान पर खूब प्रकाश हो रहा था। वहाँ एक दिव्य पुरुष बैठे हुए थे। उनका सारा शरीर प्रकाशमय और पारदर्शक था। पता चला कि वे ही सभी प्रकार की शिक्षाओं की व्यवस्था करते हैं। इतना ही नहीं, ज्ञान के प्रति भ्रम का निवारण कर—उसके वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश भी डालते हैं।

"मैंने उस दिव्य पुरुष के निकट उन लोगों को भी देखा जो कभी किसी समय संसार में ज्ञान, विज्ञान और अध्यात्म के उच्च शिखर पर थे। वे लोग वहाँ अपनी अधूरी शिक्षा पूरी करने आये हुए थे। उनमें कई योगी और तन्त्रसाधक भी थे, जिनकी साधना अपूर्ण थी। मुझे उन्हीं लोगों के निकट बैठने का आदेश मिला। काफी प्रतीक्षा के बाद उस दिव्य पुरुष से मेरा साक्षात्कार हुआ। वे मधुर स्वर में बोले—'आप काशी के निवासी रहे हैं और वहाँ रहकर आपने साधना भी की है—इसलिए आप मेरे लिए सम्माननीय हैं। आपको अपनी अधूरी पुस्तक पूर्ण करनी चाहिए।' फिर मेरी पुस्तक के कुछ गूढ़ विषयों से सम्बन्धित कुछ ऐसे भी रहस्यमय तथ्य बतलाये—जिसका ज्ञान अब तक बड़े-बड़े तन्त्रसाधकों को भी नहीं था। योगिनी विद्या से सम्बन्धित उन रहस्यमय तथ्यों को सुनकर अपनी पुस्तक को पूर्ण करने के लिए आकुल हो उठा मैं।

"मैंने धीरे होकर कहा—मेरी पुस्तक भला अब कैसे पूर्ण होगी। मेरा शरीर छूट चुका है और संसार से अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में कैसे क्या होगा। मेरी बात सुनकर वे दिव्य महापुरुष कुछ क्षण तक मौन साधे रहे। फिर बोले—'एक ब्राह्मण युवक की मृत्यु निकट है। उसकी आयु तो अधिक है—मगर पिछले जन्म में एक भयंकर अपराध करने के कारण उसकी अकालमृत्यु होनेवाली है। आप उसीके मृत शरीर में प्रवेश कर अपनी अधूरी पुस्तक पूरी कर सकते हैं। उस ब्राह्मण-युवक की मृत देह आपको गंगा में प्रवाहित मिलेगी। आपको मैं यह बतला देना चाहता हूँ—उस युवक ने पिछले जन्म में एक निरपराध व्यक्ति की हत्या की थी। उसीके फलस्वरूप इस जन्म में उसकी अकालमृत्यु होने जा रही है। उसकी मृत्यु का कारण हैजा रोग होगा। उसकी शेष चालीस वर्ष की आयु आप भोगकर पूर्ण कर लें।'

" 'ठीक है! जैसी आपकी आज्ञा'—मैंने सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए कहा और उसीके साथ देखा कि मेरे सामने गंगा बह रही हैं और मैं उनके तट पर अपार्थिव शरीर में खड़ा हूँ। आश्चर्य और कौतूहल से भर उठा मैं। उस समय तट पर बहुत भीड़ थी। स्त्री-पुरुष स्नान कर रहे थे। शायद कोई पर्व था। किनारे-किनारे आगे बढ़ने लगा मैं। अपार्थिव अस्तित्व के कारण मैं सभी लोगों को देख रहा था—मगर मुझे कोई नहीं। इसलिए उस समय बड़ा ही आनन्द आ रहा था मुझे। काफी दूर जाने पर मुझे एक युवक का शव बहता हुआ दिखलाई दिया। मैं तत्काल अपनी अन्तर्प्रेरणा से समझ गया कि यह वही युवक है—जिसके मृत शरीर में मुझे प्रवेश करना है। उसके बाद मैं कैसे और किस प्रकार उस मृत काया में प्रवेश कर गया—स्वयं मुझे नहीं मालूम। अब शरीर तो उस ब्राह्मण-युवक का था और उसके भीतर आत्मा मेरी थी।"

"फिर क्या हुआ?"

"होगा क्या? वहाँ से चलकर मैं सीधे हरिद्वार पहुँचा और स्वामी हरिहरानन्द से संन्यास-दीक्षा ली और फिर काशी चला आया।"

वह युवा संन्यासी जो कुछ कह रहा है—वह सब सच है—इस सम्बन्ध में मुझे कुछ सन्देह था। मैं अन्धविश्वासी नहीं हूँ। हमेशा से मेरी श्रद्धा और मेरे विश्वास का आधार तर्कयुक्त प्रमाण रहा है।

मैंने पूछा—"आपको मृत शरीर में प्रवेश की अनुमति देकर पुस्तक पूरी करने के लिए उस महापुरुष ने क्यों कहा? इसका कारण क्या था? यह मेरी समझ में नहीं आया।"

ब्रह्मचारीजी बोले—"इसका कारण यह है कि जन्म लेने पर व्यक्ति के पास पूर्व-जन्म की स्मृतियाँ नहीं रहतीं। तमाम स्मृतियों का मूलभूत संस्कार रहता है केवल मात्र और स्मृतियों के उसी संस्कार को लेकर व्यक्ति जन्म लेता है। अगर प्रकृति के

नियमानुसार मैं जन्म लेता तो पुस्तक लिखने का संस्कार अवश्य रहता मुझमें—पर पुस्तक के विषयों की स्मृतियों का अभाव रहता। ऐसी स्थिति में पुस्तक पूरी करने की सम्भावना नहीं थी और पुस्तक पूरी करना आवश्यक था। इसीलिए उस दिव्य पुरुष ने मुझे परकाया-प्रवेश की आज्ञा दी।

"इस प्रकार आत्मा के—किसी मृत शरीर में प्रवेश करने पर—जीवनकाल में एकत्र किये गये ज्ञान, अनुभव, विद्याएँ तथा सारी अवधारणाएँ पूर्ववत् विद्यमान रहती हैं आत्मा में। जैसे प्रातःकाल नींद से जागने पर व्यक्ति पिछले दिन के अधूरे कार्य को पूरा करने में जुट जाता है—उसी प्रकार परकाया-प्रवेश करने के बाद—साधकगण भी—अपने पिछले जीवन के अधूरे महत्त्वपूर्ण कार्यों को पूर्ण करने में संलग्न हो जाते हैं।"

× × ×

ब्रह्मचारीजी काशी में सन् १९५० से १९६० तक रहे और दस वर्ष की अवधि में अपने अपूर्ण ग्रन्थ को पूर्ण किया उन्होंने। शंका-समाधान के लिए मैंने उनकी हस्त-लिपि की काफी सूक्ष्मता से जाँच की। पुस्तक पहले जहाँ तक लिखी जा चुकी थी—उसकी लिखावट और बाद की लिखावट में कोई अन्तर नहीं था। पहले की और बाद की दोनों लिखावटें एक-सी थीं।

सन् १९६१ में ब्रह्मचारीजी कैलास-मानसरोवर की यात्रा पर चले गये। उस समय उनकी आयु तीस वर्ष के लगभग थी। यात्रा पर जाते समय अपनी वह हस्तलिखित पुस्तक मुझे यह कहकर दे गये कि वापस लौटने पर उसे वह ले लेंगे।

ब्रह्मचारीजी को गये आज २७ वर्ष हो रहे हैं। मगर उनका कहीं कोई पता नहीं। ४० वर्ष की पूरी आयु भोगने के लिए महाशय कहीं जीवित हैं भी या नहीं—यह भी नहीं बतलाया जा सकता। उनकी हस्तलिखित पुस्तक अभी भी मेरे पास सुरक्षित है। मगर उसको लेकर कैसे-कैसे अलौकिक अनुभव मुझे हुए और मेरे जीवन में कैसी-कैसी आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय घटनाएँ घटीं, इसे मैं आपको बाद में बतलाऊँगा। पहले आप एक ऐसे महात्मा का वृत्तान्त सुनें—जिन्होंने पूरे दो सौ वर्ष के अन्तराल में एक-दो बार नहीं—बल्कि सोलह बार परकाया-प्रवेश किया था। यह सुनने में लगता तो है अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक। मगर है पूर्ण सत्य घटनाओं पर आधारित। खैर। चारुबाबू और ब्रह्मचारीजी के परकाया-प्रवेश की कथा ने इस दिशा में मुझे गहराई से सोचने-समझने के लिए बाध्य अवश्य किया था। लेकिन उतना प्रभावित नहीं किया था, जितना कि परकाया-प्रवेश-सिद्ध हिमालय के उस महान् योगी ने प्रभावित कर चमत्कृत किया था। पहले ही मैं इस बात का संकेत कर चुका हूँ कि मैं शुरू से ही खोजी प्रवृत्ति का आदमी हूँ। मेरी अपनी भावना है। अपने विचार हैं और हैं

अपने सिद्धान्त। मैं उसीके अनुसार योग और तन्त्र के गम्भीर विषयों पर खोज और शोध करता हूँ और मुझे सफलता भी मिलती है।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि हिमालय के उस महान् योगी के सम्पर्क में आने की भी अपनी एक कथा है और वह भी 'परकाया-प्रवेश' से सम्बन्धित। चारुबाबू और ब्रह्मचारीजी से मिलने के पूर्व सन् १९४६ ई० में—कल्याण के सम्पादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार के निवास पर एक अंग्रेज सज्जन मुझे मिले थे। वे अपनी कुछ आध्यात्मिक जिज्ञासाओं के समाधान के लिए वहाँ आये थे। नाम था फैरेल साहब। लम्बा कद, गठीला शरीर, गोरा रंग, बड़ी-बड़ी नीली आँखों में तेज—ऐसा था फैरेल साहब का प्रभावशाली व्यक्तित्व। सन् १९३७ में वे एक उच्च सैनिक अधिकारी के रूप में ब्रिटेन से भारत आये थे। वे भारतीय कमाण्ड के प्रधान सेनापति भी रहे थे। अपने पद पर कार्यरत होते हुए भी उन्होंने भारतीय योगविद्या तथा तान्त्रिक साधना का गहन अध्ययन तो किया ही था—इसके अलावा उनकी चमत्कारपूर्ण सिद्धियों की अनुभूति भी प्राप्त की थी। सन् १९४८ ई० में ब्रिटेन वापस लौटकर उन्होंने योग-तन्त्र से सम्बन्धित रहस्यमयी घटनाओं को लिपिबद्ध कर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था।

फैरेल साहब ने एक बार स्वयं अपनी आँखों से परकाया-प्रवेश की घटना देखी थी। उस अलौकिक घटना का विवरण आप उन्हींके मुख से सुनिये। बाद में उनका यह आश्चर्यजनक विवरण सम्भवतः कल्याण के किसी महत्त्वपूर्ण विशेषांक में भी प्रकाशित हुआ था।

"सन् १९३७ में आसाम और बर्मा की सीमा पर एक फौजी कैम्प में मैं किसी महत्त्वपूर्ण योजना पर विचार कर रहा था। मेरा कैम्प एक नदी के किनारे था। एक दिन मैं कुछ अफसरों के साथ बैठा हुआ था कि तभी मुझे नदी के स्वच्छ और शान्त जल में कोई वस्तु बहती हुई दिखलाई दी। मैंने उत्सुकतावश दूरबीन से देखा तो आश्चर्य-चकित रह गया। एक नवयुवक की लाश बह रही थी और एक दुर्बल और वृद्ध व्यक्ति—जो देखने में साधु लग रहा था—उस लाश को खींचकर नदी के बाहर निकालने का प्रयास कर रहा था। काफी मेहनत के बाद उस वृद्ध साधु ने उस लाश को पानी से बाहर निकालकर एक वृक्ष के पीछे ले गया। मैं और मेरे साथी प्रत्येक क्षण उत्सुक होकर वह आश्चर्यजनक दृश्य देख रहे थे। कुछ ही क्षणों के बाद हम सब लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा—जब हम लोगों ने वृक्ष के पास एक युवक को चलते देखा।

"हमने अपने सैनिकों को उस युवक को पकड़कर लाने का आदेश दिया। वे उसे पकड़कर ले आये।

"मैंने उस युवक से पूछा—'सच-सच बतलाओ। तुम कौन हो ? मैंने खूब अच्छी तरह से देखा है कि तुम नदी में बहे जा रहे थे तथा एक साधु तुम्हारी लाश को नदी से निकालकर वृक्ष के पीछे ले गया था और अब तुम जिन्दा हो। इसका क्या रहस्य है ?'

"उस युवक ने कहा कि वह स्वयं वही बूढ़ा साधु है। मगर शरीर मृत युवक का है। उसने बतलाया कि वह योग-साधना से शरीर-परिवर्तन की विधि में निपुण है। क्योंकि उसका शरीर अत्यन्त वृद्ध, कृशकाय व रोगी हो गया था। इसलिए उसने इस मृत युवक के सुन्दर शरीर में प्रवेश कर लिया है। यह शरीर बलिष्ठ है। कम-से-कम ५०-६० वर्ष तक मैं इस शरीर में रहूँगा।

"उसने बतलाया कि उसका जीर्ण-शीर्ण वृद्ध शरीर उसी वृक्ष के पास पड़ा हुआ है।

"मैंने सैनिकों को उस वृद्ध के निर्जीव शरीर को लाने का आदेश दिया। जब वे साधु का निर्जीव शरीर लेकर आये तो हम सब आश्चर्यचकित देखते रह गये। परकाया-प्रवेश की शक्ति पर अविश्वास करने का अब प्रश्न ही नहीं उठता था। वह योगी वहाँ से कुछ देर बाद चला गया। इस घटना ने मुझे भारतीय योगियों, सिद्धों व तान्त्रिकों पर दृढ़ आस्था रखने को मजबूर कर दिया।"

योगी शूलपाणिचार्या

फैरेल साहब स्वदेश लौटने के पूर्व जब एक बार काशी आये तो उन्होंने मुझे कैण्ट स्थित अपने बँगले में बुलाकर एक योगी के विषय में बतलाया था। वह योगी तान्त्रिक भी था। नाम था शूलपाणिचार्या। शूलपाणिचार्या कर्नाटक का निवासी था। उसका कद नाटा, शरीर गठीला और रंग काला था। उसकी सबसे बड़ी सिद्धि थी—किसीके मृत शरीर में किसी भी आत्मा को बुलाकर उससे प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना। एक प्रकार से यह सिद्धि भी 'परकाया-प्रवेश' के ही अन्तर्गत समझी जाती है। मैंने जब पूछा कि क्या वह अपनी इस सिद्धि का चमत्कार दिखा सकता है—तो उसने कहा कि क्यों नहीं। मगर इसके लिए अमावास्या की रात्रि में एक शव चाहिए।

मैंने कहा—शव का इन्तजाम हो जायेगा। तुम चिन्ता मत करो और जो कुछ भी कहोगे उसकी भी व्यवस्था हो जायेगी। एक सप्ताह बाद अमावास्या आ गयी। उसके आदेशानुसार मैंने सारी व्यवस्था कर दी। उन दिनों हरिश्चन्द्र घाट के चौधरी थे काशी डोम। उन्होंने एक शव का इन्तजाम कर दिया। वे मेरे क्रिया-कलापों से परिचित थे। इसलिए ज्यादा पूछताछ उन्होंने मुझसे नहीं की। वह शव किसी अच्छे कुल की युवती का था। आयु रही होगी बीस-बाईस वर्ष के लगभग। चेचक से मृत हुई थी वह युवती।

एकान्त कमरा-शान्त वातावरण—अमावास्या की काली अँधेरी रात—चारों ओर सायँ-सायँ कर रहा था। शूलपाणिचार्या ने न जाने कौन-सा मन्त्र बुदबुदाते हुए शव को नग्न कर नहलाया और फिर लाल चादर जमीन पर बिछाकर उस पर लिटा दिया। फिर उसने शव के सिरहाने काली उड़द के ऊपर घी का बड़ा-सा एक दीप जलाया।

शूलपाणिचार्या की सारी गतिविधि बड़े ध्यान से देख रहा था मैं। उसने दीप जलाने के बाद शव को माला पहनायी और लाल सिन्दूर का टीका लगाया। फिर उसके करीब बैठकर जोर-जोर से कोई अटपटा-सा मन्त्र जपने लगा। साथ-साथ शव पर फूंक भी मारने लगा। मुझे घोर आश्चर्य उस समय हुआ, जब कि मैंने देखा कि युवती का निस्पन्द शव धीरे-धीरे अपनी जगह हिलने लगा। थोड़ी ही देर बाद वह उठकर जीवित व्यक्ति की तरह बैठ गया पद्मासन की मुद्रा में।

शूलपाणिचार्या ने तुरन्त हँड़िया में भरकर उसे शराब पीने को दी। दोनों हाथों से हँड़िया पकड़कर अपने मुँह से लगा लिया शव ने और धीरे-धीरे पीने लगा वह शराब। भय से सिहर उठा मैं एकबारगी उस अविश्वसनीय दृश्य को देखकर। अचानक निस्तब्ध वातावरण को चीरता हुआ एक कर्कश स्वर गूंज उठा कमरे में—क्या पूछना चाहते हो ? पूछो···जल्दी करो। वह स्वर काफी भयानक था। रोम-रोम काँप उठा मेरा। निश्चय ही युवती के शव में कोई भयंकर आत्मा प्रवेश कर गयी थी। उस समय जोर-जोर से शव काँप रहा था।

शूलपाणिचार्या के यह पूछने पर कि तुम कौन हो और कहाँ के रहनेवाले हो—तो प्रविष्ट आत्मा ने बतलाया कि उसका नाम महेन्द्र भट्ट है। उज्जैन का निवासी है। फिर थोड़ा रुककर अपना परिचय देते हुए उसने कहा—पिछले दो सौ वर्षों से ब्रह्मपिशाच-योनि में भटक रहा है वह। उसकी आत्मा को शान्ति नहीं है। वह ज्योतिष और आयुर्वेद का कभी प्रसिद्ध पण्डित था। लेकिन उससे ईर्ष्या रखनेवाले एक प्रतिद्वन्द्वी ने उसे धोखे से मार डाला और तब से वह उस नारकीय योनि में है। कहने की आवश्यकता नहीं—शूलपाणिचार्या ने अपनी ओर से और मेरी ओर से भी कई प्रश्न किये, जिनका उत्तर उस ब्रह्मपिशाच ने विस्तार से दिया, जो बाद में अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ।

शूलपाणिचार्या मेरे यहाँ करीब एक मास रहा। वह केवल आधा सेर दूध पीता था और कुछ फल खाता था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उस विलक्षण साधक को मैंने कभी सोते नहीं देखा—न दिन में, न रात में ही।

उसने बतलाया कि वह विद्या उसने अपने एक गुरु से प्राप्त की थी। वे अब इस संसार में नहीं हैं। कभी-कभी उनकी आत्मा भी इसी प्रकार उससे सम्पर्क स्थापित करती है।

जिस क्रिया के द्वारा और जिस मन्त्र की सिद्धि के बल पर शूलपाणिचार्या शव में आत्मा का आवाहन किया करता था उसे मुझे भी बतलाया उसने। भविष्य जानने के चक्कर में दो-तीन बार प्रयोग किया मैंने। मगर एक बार जब शव में डाकू मानसिंह की आत्मा ने प्रविष्ट होकर उत्पात मचाया—तभी से मैंने वह तामसिक प्रयोग बन्द कर दिया। खैर। योग और तन्त्र के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रणयन से—इस दिशा में मुझे जो उपलब्धि हुई, उससे यह ज्ञात हुआ कि 'परकाया-प्रवेश' का अपना विशिष्ट विज्ञान है और जब मैंने उसके विज्ञान की गहराई में प्रवेश करना चाहा तो आश्चर्यचकित रह गया। योग से सम्बन्धित कुछ ऐसे भी रहस्यमय तथ्य प्रकट हुए—जिसकी कभी कल्पना नहीं की थी मैंने।

× × ×

योग की उच्चतम सिद्धि—परकाया-प्रवेश

परकाया-प्रवेश की सिद्धि का सम्बन्ध एकमात्र 'शरीर-विज्ञान' से है। जो शरीर की आन्तरिक रचनाओं और उनसे सम्बन्धित विज्ञान को समझेगा—वही इस परम सिद्धि को भी जान सकेगा।

मानव-शरीर दो भागों में विभक्त है। कण्ठ-नलिका के ऊपर का हिस्सा पहला भाग और उसके नीचे का हिस्सा दूसरा भाग है। पहले भाग में सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और मस्तिष्क के तीनों महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इसलिए पहले भाग को योग में ज्ञानक्षेत्र कहा जाता है। इसी प्रकार दूसरे भाग में सभी कर्मेन्द्रियाँ हैं। इसलिए वह भाग योग की दृष्टि में कर्मक्षेत्र है। जिसे हम मृत्यु कहते हैं—वह दो बार घटती है। जब वह पहली बार घटती है—तो शरीर के दूसरे भाग की मृत्यु होती है और जब दूसरी बार घटती है—तो शरीर के पहले भाग की मृत्यु होती है। असली मृत्यु पहले भाग की मृत्यु है। शरीर-विज्ञान के अनुसार दोनों मृत्यु के बीच कम-से-कम दो घण्टे का अन्तराल होता है। इसी अन्तराल में अपनी कामनाओं, वासनाओं, इच्छाओं और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की आत्माएँ मृत शरीर में प्रवेश किया करती हैं।

मृत शरीर में विभिन्न प्रकार की आत्माओं का प्रवेश

दूसरी मृत्यु घटित होने के पूर्व कभी-कभी अवसर मिलने पर मृतात्माएँ स्वयं अपने ही शरीर में प्रवेश कर जाती हैं। ऐसी बहुत-सी घटनाएँ आपने पढ़ी और सुनी होंगी कि अमुक व्यक्ति मरने के कुछ देर बाद पुनर्जीवित हो उठा।

ऐसा भी होता है कि उसके स्थान पर—मृत शरीर में वे आत्माएँ भी प्रवेश कर जाती हैं—जिन्हें शरीर और संसार के प्रति गहरा मोह और गहरी आसक्ति है। उनके प्रवेश करते ही मृत शरीर जीवित हो उठता है और शरीर-तन्त्र अपना काम करने लग

जाता है। इस प्रकार के मेरे पास कई उदाहरण हैं—जिनके अनुसार शरीर किसीका है और आत्मा किसी और की है।

कभी तो ऐसा भी होता है कि प्रेतात्माएँ अवसर पाकर किसीके मृत शरीर में प्रविष्ट हो जाया करती हैं। मगर वे ठहर नहीं पातीं—इसलिए कि उनमें वह आत्मिक ऊर्जा नहीं होती जिनके द्वारा शरीर-तन्त्र संचालित होता है, जिसके परिणामस्वरूप वे कुछ देर बाद बाहर निकल आती हैं।

× × ×

आपको ज्ञात होना चाहिए कि पृथ्वी के वायुमण्डल में वैसे तो विभिन्न प्रकार की आत्माएँ भटकती रहती हैं—मगर उनमें दो प्रकार की आत्माएँ अत्यधिक शक्तिशालिनी और दुर्धर्ष होती हैं। पहले प्रकार की आत्माएँ वे हैं—जो मानवीय तो हैं—मगर उन्हें मानव-शरीर प्राप्त करने का अवसर किसी कारणवश नहीं मिल पा रहा है। ब्रह्मराक्षस, ब्रह्मपिशाच आदि आत्माएँ इसी कोटि की होती हैं।

दूसरे प्रकार की आत्माएँ वे हैं—जो भौतिक जगत् के प्रति आकर्षित होकर अन्य लोक-लोकान्तरों से आयी हुई होती हैं।

इन दोनों प्रकार की आत्माओं को शूलपाणिचार्या जैसे तन्त्र-साधक लोग मन्त्र-बल से अपने अधिकार में कर किसी भी मृत शरीर में आवाहन तो करते ही हैं। लेकिन कभी-कदा अवसर मिलने पर वे दोनों प्रकार की आत्माएँ अपनी अदम्य लालसा, कामना, वासना आदि की पूर्ति के लिए स्वयं किसीके मृत अथवा जीवित शरीर में प्रवेश कर जाती हैं। वे इतने रहस्यमय ढंग से प्रवेश किया करती हैं कि साधारण लोगों के लिए समझना मुश्किल है।

मेरे मुहल्ले में एक बंगाली परिवार रहता था। परिवार में एक युवक भी था—जो रेल्वे में किसी अच्छे पद पर कार्यरत था। किसी रेल्वे-दुर्घटना में उसकी मृत्यु हो गई। मगर मृत्यु के कुछ क्षणों बाद—वह पुनर्जीवित हो उठा। परिवार के लोगों ने समझा कि उसको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ है। पर ऐसी बात नहीं थी। उस युवक के शरीर में पहले प्रकार की एक आत्मा प्रविष्ट हो गई थी और उस शरीर में पूरे दस वर्ष तक रही और कोई भी इस रहस्य को न जान सका और न तो समझ ही सका। बाद में उस युवक की असामान्य मति-गति और अविश्वसनीय क्रिया-कलापों को देखकर मैंने जब इसकी छानबीन की तो पता चला कि वह युवक कभी का मर चुका है और उसके शरीर में एक ब्रह्मप्रेत की आत्मा प्रविष्ट है।

इसी पुस्तक में मृत मोना की काया में प्रविष्ट हाकिनी की कथा आप पढ़ ही चुके हैं। उसी प्रकार अन्य लोक की हाकिनी-डाकिनी जैसी अमानवीय आत्माएँ भी अपनी किसी कामना की पूर्ति के लिए किसीके मृत शरीर में प्रविष्ट हो जाया करती हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दोनों प्रकार की ये आत्माएँ जीवित व्यक्ति के शरीर में भी कुछ समय तक के लिए प्रविष्ट हो जाया करती हैं। इसी प्रकार प्रेतयोनि को प्राप्त निकृष्ट आत्माएँ भी अपनी वासना अथवा कामना की पूर्ति के लिए किसी स्त्री या पुरुष के शरीर में प्रविष्ट होकर उपद्रव किया करती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, इन्हीं सबको ब्रह्मबाधा, पिशाचबाधा, प्रेतबाधा आदि की संज्ञा तन्त्र में दी गयी है।

× × ×

उपर्युक्त प्रकार की आत्माओं के अतिरिक्त पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रबुद्ध और बौद्धिक स्तर की मानवीय आत्माएँ भी शरीर पाने की लालसा में इधर-उधर भटकती रहती हैं। ऐसी आत्माएँ अपने किसी बौद्धिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी ऐसे जीवित व्यक्ति का सहयोग लेती हैं—जो उनके संस्कार के अनुकूल हो। ऐसी आत्माएँ मृत शरीर के बजाय जीवित व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करना अधिक पसन्द करती हैं। इसका उदाहरण भी है मेरे पास।

डिकेंस अपने समय के इंग्लैण्ड के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार माने गये हैं। उन्होंने नाटककार और हास्य-व्यंग्य-लेखक के रूप में भी काफी प्रसिद्धि पायी है।

८ जून सन् १८७० के दिन डिकेंस भोजन करने बैठे थे। अचानक वे गिरे और तत्काल इस संसार से बिदा हो गये। उस समय उनकी आयु ५८ वर्ष की थी। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे 'दि मिस्ट्री ऑफ एडविन ड्रूड' नामक रहस्यमय उपन्यास लिखने में लगे थे। मगर मृत्यु ने उसे पूरा न होने दिया। उपन्यास के पूरा न होने के कारण प्रकाशक घबरा गया। बिवश होकर उसने अन्य कथाकारों से सम्पर्क कर उनसे अधूरे उपन्यास को पूरा करने का अनुबन्ध किया। पर फिर भी उपन्यास पूरा न हो सका। फिर भी वह रहस्यमय और रोचक उपन्यास पूरा हुआ। उस अधूरे ग्रन्थ को फिर रहस्यमय ढंग से ही पूरा किया गया था। उसकी रहस्यमयता की परख भी कई आलोचकों ने की थी। यहाँ तक कि सर आर्थर कानन डायल ने लिखा था—'निश्चय ही वह अमेरिकी लेखक जेम्स शैली, भाषा और घटनाओं की योजना में प्रसिद्ध उपन्यासकार चार्ल्स डिकेंस का ही प्रतिरूप है।'

जेम्स ही वह अनोखा अमेरिकी था—जिसने रहस्यमय ढंग से उस अधूरे उपन्यास की रहस्यमयी गुत्थियों को सुलझाया और पूरा किया था। यह कार्य डिकेंस की आत्मा ने उसके माध्यम से कराया था। डिकेंस के मित्रों और निकट के लोगों ने इस बात की पुष्टि की थी कि मरने से पूर्व उनके मन में यह अभिलाषा थी कि उनका उपन्यास पूरा हो। वे उस उपन्यास को पूरा करने के लिए बेचैन रहे थे। निश्चय ही मरते समय भी उनके मन में यही इच्छा बनी रही होगी। इसीलिए मृत्यु के बाद डिकेंस की आत्मा ऐसे माध्यम की खोज में लग गयी होगी—जिसके द्वारा वह उस उपन्यास को

पूरा करा सकती। अपना माध्यम भी डिकेंस की आत्मा ने ऐसा चुना था—जिसने कभी कलम न उठाई थी। उसने कभी कहीं लिखने-पढ़ने की शिक्षा भी प्राप्त नहीं की थी। फिर भी वह उस उपन्यास को पूरा कर सका, जिसे लिखने में अन्य लेखक असमर्थ रहे थे। यही नहीं, उसने उस अनोखे, रहस्यमय उपन्यास के रहस्य की पहेली भी सुलझा दी थी। न वह साहित्यिक रुचि का व्यक्ति था और न उसमें लेखन की प्रतिभा या क्षमता ही थी। हर रात वह दस पन्ने कम-से-कम लिख डालता। सुबह उसकी आँखें चढ़ी-चढ़ी रहतीं। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि उसने कभी उस अधूरे उपन्यास को पढ़ा भी नहीं था। खैर।

× × ×

बुद्धिजीवी और प्रबुद्ध आत्माओं की तरह कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर अशरीरी योगात्माएँ भी किसी जीवित व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर–अथवा उसे माध्यम बनाकर अपने किसी आध्यात्मिक लक्ष्य को पूरा कर लिया करती हैं। उदाहरण के रूप में ऐसा ही एक वृत्तान्त प्रस्तुत है।

लगभग १०-१५ वर्ष पूर्व वाराणसी के शिवालाघाट मुहल्ले में एक मैथिल ब्राह्मण रहते थे। नाम था शिवचरण झा। झाजी व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसके अलावा वे ज्योतिषी भी थे। वे उस समय ज्योतिष विषय पर ही पुस्तक लिख रहे थे। उनको एक पुत्र था। नाम था, रामचरण झा। आयु १५-१६ साल थी। बंगालीटोला स्कूल में कक्षा सात में पढ़ता था वह। एक दिन उसने अपने पिता से कहा—"आप 'योग' विषय पर पुस्तक लिखें।"

झाजी बोले—"योग का मुझे कोई ज्ञान नहीं है। कैसे लिखी जायेगी मुझसे पुस्तक ?"

रामचरण झा ने उत्तर दिया—"मैं लिखवाऊँगा आपको पुस्तक। आप रोज रात्रि ११ बजे कागज-कलम लेकर बैठ जाया करिये मेरे सामने। मैं बोलता जाऊँगा, आप लिखते जायेंगे।"

उस समय रामचरण झा का मुंह लाल था। आँखों में एक अलौकिक तेज था और स्वर भी बदला हुआ था। झाजी अनुभवी थे। समझते देर न लगी उन्हें। इस बात का उन्होंने अनुभव किया कि उनके पुत्र पर किसी दिव्य आत्मा का प्रभाव है। उन्होंने वैसा ही किया—जैसा कि उनसे कहा गया था। नित्य रात्रि में नियत समय पर बैठ जाते कलम-कागज लेकर। रामचरण के शरीर में प्रविष्ट वह दिव्य आत्मा बोलती जाती धाराप्रवाह और उसी गति से झाजी लिखते भी जाते। ग्रन्थ पूरा होने में पूरे एक मास का समय लगा। उसका नाम रखा गया 'योग-दीपिका'। बाद में वह प्रकाशित भी हुई और वह भी वाराणसी से।

बाद में सारा रहस्य अनावृत हुआ। ६०-७० वर्ष पूर्व हरिद्वार में एक योगी रहते थे। नाम था केवलानन्द। वे योगशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही, इसके अलावा उन्होंने योग की उच्च अवस्था भी प्राप्त कर ली थी। योग पर एक पुस्तक लिखने की उनकी प्रबल इच्छा थी, जिसे वे जीवनकाल में पूरी न कर सके। मगर मरने के बाद— उनकी अतृप्त आत्मा ने रामचरण झा को माध्यम बनाकर पूरी कर ली थी।

× × ×

इस प्रकार विभिन्न स्तर और विभिन्न संस्कार की आत्माओं का जीवित अथवा मृत काया में प्रवेश कर अपनी कामनाओं, वासनाओं, अभिलाषाओं और उद्देश्यों की पूर्ति करना परकाया-प्रवेश ही है। अन्वेषण-काल में मुझे एक ऐसे महात्मा मिले—जो सैकड़ों-हजारों मील पर स्थित अपने भक्तों और शिष्यों से मानसिक सम्बन्ध स्थापित कर विचारों का आदान-प्रदान करते थे। बिना बतलाये—किसीके भावों, विचारों और इच्छाओं को तत्काल समझ जाते थे। इतना ही नहीं, सामने बैठा व्यक्ति क्या सोच रहा है और क्या कहना चाहता है—यह भी जान लिया करते थे। ये सब चमत्कार भी परकाया-प्रवेश की ही परिभाषा में आयेगा।

परकाया-प्रवेश की दृष्टि में आत्माओं के मुख्यतः तीन स्तर हैं—निम्न स्तर, बौद्धिक स्तर और आध्यात्मिक स्तर। इन तीनों स्तरों की आत्माएँ क्रमशः वासना शरीर, सूक्ष्म शरीर और मनोमय शरीर द्वारा परकाया-प्रवेश करती हैं।

वासना शरीर और सूक्ष्म शरीर से अधिक महत्त्वपूर्ण मनोमय शरीर है। जैसे वासनाओं की वृद्धि से वासना शरीर और प्राणों के संयम से सूक्ष्म शरीर का विकास होता है—उसी प्रकार ध्यान और चित्त की एकाग्रता से मनोमय शरीर का विकास होता है। एकमात्र यही शरीर आत्मा का वाहक है। इसी शरीर के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध भौतिक जगत् से दृश्य और अदृश्य रूप में बना रहता है।

समाधि में 'मन' पूर्ण रूप से विकसित होकर स्वच्छ और निर्मल हो जाता है और उसमें विपुल शक्ति का आविर्भाव भी हो जाता है। इस अवस्था में योगी समय और स्थान के बिना बाधा के सुदूर किसी व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। बिना बतलाये किसीके बिचारों को जान-समझ सकता है। बिना कहे, बिना बतलाये और बिना समझाये—किसी भी व्यक्ति में अपने भावों और बिचारों को प्रविष्ट भी करा सकता है। इतना ही नहीं, अपना संस्कार भी डाल सकता है। ऐसे कार्य उसके लिए साधारण होते हैं। इस कोटि के योगीगण अपने स्थूल शरीर के बाहर निकलकर लम्बी यात्रा भी करते हैं। इच्छानुसार कहीं भ्रमण भी करते हैं। अपने किसी आध्यात्मिक कार्य को सम्पादित करने के लिए अपने मनोमय शरीर द्वारा किसीके भी—जीवित अथवा मृत शरीर में प्रवेश भी करते हैं।

अष्टांगयोग की जितनी भी सिद्धियाँ हैं—उन सबका सम्बन्ध मनोमय शरीर से ही समझना चाहिए। योग-तन्त्र की जितनी भी साधनाएँ हैं उनमें कुण्डलिनी साधना सर्वोपरि और सबसे महत्त्वपूर्ण है। मनोमय शरीर में रहकर जीवन-यापन करनेवाला व्यक्ति ही कुण्डलिनी को जागृत कर सकता है और उसकी शक्ति की सहायता से अपनी आध्यात्मिक उन्नति भी कर सकता है।

× × ×

पार्थिव शरीर और मनोमय शरीर के बीच में वासना शरीर और सूक्ष्म शरीर है। मनोमय शरीर की उन्नति और उसके विकास के मार्ग में ये दोनों शरीर बाधक हैं और इन दोनों बाधाओं को दूर करने के लिए एकमात्र ध्यानयोग ही उत्तम साधन है। इससे दोनों शरीर शिथिल और निष्क्रिय हो जाते हैं। मगर उच्चकोटि के तान्त्रिक लोग इससे भी एक कदम आगे होते हैं। वे बाधकरूप दोनों शरीरों को शिथिल अथवा निष्क्रिय करने के पक्ष में नहीं होते। वे मनोमय शरीर से काम लेने के लिए मदिरा को शोधित कर उसका सेवन किया करते हैं। मनोमय शरीर बड़ा ही नाजुक होता है। इसलिए वह मदिरा से तुरन्त प्रभावित हो जाता है जिसके फलस्वरूप तुरन्त वह सक्रिय भी हो जाता है। सिद्ध तान्त्रिक लोग विशेष तान्त्रिक क्रिया के बल पर और संशोधित मदिरा के माध्यम से जब चाहे तब मनोमय शरीर से सम्पर्क साध सकते हैं। सम्पर्क की स्थिति में उनके मनोमय शरीर में आध्यात्मिक स्तर की आत्माएँ प्रविष्ट हो जाती हैं, जिनकी सहायता से वे अनेक प्रकार के अलौकिक कार्य कर सकने में समर्थ हो जाते हैं। इसे भी परकाया-प्रवेश ही कहा जायेगा।

× × ×

अभी कुछ दिन पूर्व अरुणाचल से एक ऐसे साधक मेरे पास आये थे—जो अपने तीनों शरीरों से इच्छानुसार काम लिया करते थे। बड़े ही चमत्कारी पुरुष थे महाशय। जब वे अपने वासना शरीर—जिसे भाव शरीर भी कहते हैं—से सम्पर्क साधते थे तो उसमें प्रेतात्माएँ प्रविष्ट हो जाती थीं, जिनकी सहायता से महाशय तरह-तरह का चमत्कार दिखाते थे। इसी प्रकार जब वे अपने सूक्ष्म शरीर से सम्पर्क स्थापित करते थे तब उसमें सूक्ष्म आत्माएँ प्रवेश कर जाती थीं, जिनके फलस्वरूप वे महाशय ऐसे अलौकिक कार्य करते थे—जिन पर सहज ही कोई विश्वास नहीं कर सकता। अपनी विशेष—योग-तान्त्रिक क्रियाओं के बल पर इसी प्रकार वे मनोमय शरीर में भी सम्बन्धित आत्माओं को प्रविष्ट करा लिया करते थे, जिससे वे असम्भव-से-असम्भव कार्य कर सकने में समर्थ हो जाते थे।

आत्मशरीर से कैसे सम्पर्क सधे और उसको कैसे क्रियान्वित किया जा सके—

यह समझने के लिए वे महाशय इतनी दूर से मेरे पास आये थे। बतलाने की आवश्यकता नहीं—यह सब भी 'परकाया-प्रवेश' की ही परिभाषा के अन्तर्गत है।"

× × ×

मैंने ऊपर तीन स्तर की आत्माओं की चर्चा की है। आपको मालूम होना चाहिए कि उनके अलावा आत्मा के दो स्तर और हैं—आत्मिक स्तर और चिन्मय स्तर। इन दोनों स्तरों की आत्माएँ दिव्य लोकों से सम्बन्धित होती हैं। वे किसीके न जीवित शरीर में प्रवेश करती हैं और न तो मृत शरीर में ही। उनका मुख्य कार्य है मानव-जाति को धर्म, संस्कृति और विभिन्न मार्ग की आध्यात्मिक साधना की दिशा में मार्ग-दर्शन करना। इस दृष्टि से आवश्यकता पड़ने पर यथासमय वे धर्मपारायण, सात्त्विक और आध्यात्मिक वृत्ति के व्यक्ति से अपना आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। वह आन्तरिक आत्मिक सम्बन्ध पूर्ण रूप से अव्यक्त होता है। जब कभी प्रकृति के नियमों में किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न हो जाती है—तो वे आत्माएँ स्वयं मानव-शरीर धारण कर संसार में प्रकट होती हैं। ऐसे ही लोगों को हम अवतारी पुरुष, दिव्य पुरुष अथवा महापुरुष की संज्ञा देते हैं।

× × ×

परकाया-प्रवेश से सम्बन्धित उपर्युक्त तथ्यपूर्ण विवरणों और उद्धरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि हाड़-मांस-मज्जा आदि से निर्मित मानव-शरीर कितना महत्त्वपूर्ण, कितना मूल्यवान् और कितना महिमामय है। बड़े-बड़े महात्माओं, योगियों, दिव्यपुरुषों और बड़े-बड़े साधकों की आत्माएँ भी मानव-शरीर को प्राप्त करने के लिए लालायित रहती हैं बराबर और जब उनकी यह लालसा शीघ्र पूरी होती नहीं दीखती तो वे मृत अथवा जीवित शरीर में ही प्रवेश कर अपने लक्ष्य को साकार कर लिया करती हैं।

परकाया-प्रवेश के सन्दर्भ में इतना जान लेना आवश्यक है कि योगियों और साधकों की मति-गति हमारी और आपकी मति-गति से काफी भिन्न होती है। हम लोग जिस वस्तु को साध्य रूप में अपनाते हैं—उसे वे साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। पूर्ण वैराग्य और पूर्ण निर्लिप्त भाव के बिना कोई सच्चा योगी नहीं हो सकता। योगी और साधक के लिए पार्थिव शरीर भी साधन है—साध्य नहीं। उसके लिए संसार एक विशाल रंग-मंच के सिवाय और कुछ नहीं है। उसकी दृष्टि में 'आत्मा' ही सब कुछ है। शरीर को वह महत्त्व देता है—तो केवल साधन के ही रूप में। शरीर के अशक्त हो जाने, कमजोर हो जाने अथवा अतिवृद्ध होने पर यदि वह दूसरे का मृत शरीर स्वीकार भी करता है—अपनी आत्मोन्नति के लिए करता है—संसार का अनुभव प्राप्त करने के लिए करता है—आध्यात्मिक कल्याण के लिए करता है—या फिर करता है अपनी अधूरी साधना को पूर्ण करने के लिए। सम्भव है, इनके अतिरिक्त भी उनका और

कोई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अथवा लक्ष्य होता हो परकाया-प्रवेश का। अब मैं आपको जिस योगी की कथा सुनाने जा रहा हूँ उसका परकाया-प्रवेश करने का एकमात्र लक्ष्य था विस्तृत रूप से सांसारिक ज्ञान प्राप्त करना।

विभिन्न शरीरों में रहकर पूरे दो सौ वर्ष की आयुवाले उस परम योगी के द्वारा बार-बार परकाया-प्रवेश करने की कथा जितनी विलक्षण और कौतूहलपूर्ण है उतनी ही है चमत्कारपूर्ण और अविश्वसनीय भी। सबसे अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि वह महान् योगी माता के गर्भ से उत्पन्न शरीर को बराबर सुरक्षित भी रखे रहा पूरे दो सौ वर्षों तक।

योग की जितनी भी उच्चतम सिद्धियाँ हैं—परकाया-प्रवेश उन्हींमें से एक है। विशेषकर यह दिव्य सिद्धि योग के द्वारा ही सम्भव है। मगर तन्त्र की उच्चतम साधना द्वारा भी साधक इच्छानुसार किसीके जीवित अथवा मृत शरीर में प्रवेश कर सकता है।

जब मैंने पूछा कि परकाया-प्रवेश का उद्देश्य क्या था ? तो उस महान् योगी ने गम्भीर स्वर में बतलाया—"संसार के विभिन्न रूपों का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना।"

योग-तान्त्रिक दृष्टि में हमारा देश भारत महायोनि पीठ है। वह त्रिकोणमय है। उसके ऊपरी दोनों कोणों पर महासरस्वती पीठ (कश्मीर) और महालक्ष्मी पीठ (कामरूप) हैं और नीचे के कोण पर महाकाली पीठ (कन्याकुमारी) है। मध्य में बिन्दुरूप शिव (महाकालेश्वर, उज्जैन) स्थित है। इस महायोनि पीठ के ऊपर हिमालय की गोद में ६० मील का क्षेत्र बिल्कुल शून्यमय है। योगी और तान्त्रिकों की भाषा में ६० मील का वह हिम-क्षेत्र 'महाश्मशान' के नाम से प्रसिद्ध है। गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि ने इसी महाश्मशान में साधना की थी। वह क्षेत्र बिल्कुल शून्यमय है। आदि शंकराचार्य के कारण कापालिकों ने भी अपनी साधना के लिए इसी स्थान को चुना था। गोरखनाथ की प्रसिद्ध अखण्ड धूनी इसी क्षेत्र में है। धूनी से निकलनेवाली धूमशिखा आज भी कभी-कदा किसी भाग्यवान् को आकाश का स्पर्श करती हुई दिखलाई पड़ जाती है। उस हिममय प्रदेश के हिम-शिखरों से टकराती हुई 'अलख निरंजन' की आवाज तो आज भी लोगों को कभी-कभी सुनाई पड़ जाती है। इसी क्षेत्र में कैलास, मानसरोवर, रूपकुण्ड और गौरीकुण्ड हैं और चर्मचक्षु से परे कुछ ऐसे योगाश्रम, सिद्धाश्रम और मठ भी हैं—जिनमें उच्च अवस्थाप्राप्त सैकड़ों वर्ष की आयुवाले सिद्धों और योगियों की मण्डलियाँ निवास करती हैं। उन्हींमें वह महायोगी भी थे और उनका नाम था सत्यानन्द परमहंस।

योगी सत्यानन्द परमहंस

योगी सत्यानन्द परमहंस उन दिनों काशी आये हुए थे और एक मठ में ठहरे हुए थे। एक दिन फैरेल साहब का आदेश मिला कि मैं उनसे बँगले पर शीघ्र मिलूँ और जब मैं बँगले पर पहुँचा तो उस समय वे एक साधु जैसे व्यक्ति से बातें कर रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने उस साधु की ओर संकेत करते हुए कहा—"इन महाशय के मठ में हिमालय-निवासी एक महात्मा आये हुए हैं—सुनते हैं कि वे दो सौ वर्ष की आयु के हैं और परकाया-प्रवेश की सिद्धि उन्हें प्राप्त है। क्या आप उनसे मिलना पसन्द करेंगे?"

"क्यों नहीं।" मैंने कहा—"क्या आप भी साथ चलेंगे?"

फैरेल साहब ने स्वीकारोक्ति से अपना सिर हिलाकर कहा—"हाँ।"

जब मैं फैरेल साहब के साथ मठ में पहुँचा तो उस समय साँझ की स्याह कालिमा चारों तरफ फैल चुकी थी। वह मठ काफी पुराना था। भीतर साँय-साँय कर रहा था। एक विचित्र-सी शान्ति छायी हुई थी। बायीं ओर एक छोटा-सा कमरा था। उसी कमरे में वे महात्मा बैठे हुए थे। कमरे के कोने में लालटेन जल रही थी, जिसकी पीली रोशनी उस छोटे-से कमरे में फैल रही थी और उसी पीली रोशनी में मैंने उन महापुरुष को देखा।

देखने में तो वे साठ-पैंसठ वर्ष से अधिक के नहीं लगते थे—मगर जैसा कि फैरेल साहब का कहना था—उनकी आयु दो सौ वर्ष से भी अधिक थी। महात्मा के चेहरे पर अलौकिक तेज था और थी नेत्रों में प्रखर ज्योति। शरीर का रंग काफी गोरा था। दाढ़ी-मूँछ तो नहीं थी—पर सिर की लम्बी-लम्बी जटाएँ जमीन पर बिखरी हुई थीं। उनके शरीर से एक अनिर्वचनीय-सी सुगन्ध निकलकर कमरे के वातावरण में फैल रही थी। महात्मा ध्यानस्थ बैठे हुए थे मृगचर्म के आसन पर। थोड़ी देर बाद उन्होंने धीरे-धीरे अपने बन्द नेत्रों को खोलकर एक बार चारों तरफ देखा। फिर थोड़ा मुस्कराये। अबोध शिशु जैसी थी वह मुस्कराहट। फिर हम लोगों के आग्रह पर उन्होंने जो अविश्वसनीय और रोमाञ्चक कथा सुनायी वह उन्हींके शब्दों और भावों में इस प्रकार है—

परकाया-प्रवेश की अविश्वसनीय किन्तु रोमाञ्चकारी अद्भुत कथा

"पंचभूत तत्त्वों पर विजय और अधिकार प्राप्त करने पर दो सौ क्या—दो हजार वर्षों तक भी पार्थिव शरीर को रखा जा सकता है। आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की अवधि का नाम आयु है। मेरे इस दो सौ वर्ष के जीवन में रोमाञ्च, कौतूहल और रहस्यों का एक ऐसा इतिहास छिपा हुआ है—जिसका अनुभव शायद आज तक कोई

भी एक साथ न कर सका होगा। समझ में नहीं आता कि कहाँ से शुरू करूँ? और पहले क्या कहूँ? अनगिनत कहानियाँ हैं और हैं अनगिनत घटनाएँ। यह शरीर कितना कीमती है और कितना महत्त्वपूर्ण है और इसका कितना उपयोग है—यह मनुष्य तब समझता है—जब शरीर उसके हाथ से निकल जाता है। प्रत्येक जीवन चाहे वह पचास वर्ष का हो या सौ वर्ष का, अपने-आपमें वह एक इतिहास होता है और होती है एक कथा। मैंने दो सौ वर्षों के दीर्घ अन्तराल में इस प्रकार की सोलह कथाएँ एकत्र की हैं।

"जिस शरीर को तुम सब यहाँ अपने सामने पद्मासन की मुद्रा में बैठा हुआ देख रहे हो—यह माता-पिता का दिया हुआ शरीर है। मतलब कि इसी शरीर को लेकर मैंने दो सौ वर्ष पूर्व जन्म लिया था। प्रकृति की ओर से मुझे इस शरीर से जो जीवन भोगने के लिए मिला था उसीसे मैं अपनी कथा शुरू कर रहा हूँ।

"उस समय हमारे देश पर ब्रिटिश शासन का श्रीगणेश हुआ था। जमाना काफी खराब था। मानवता नाम की कोई चीज नहीं रह गयी थी। मैं सरकारी कर्मचारी था। अच्छा पद और अच्छा वेतन था। परिवार में मैं था और मेरी पत्नी कमला थी। अभी हम दोनों के विवाह के दो ही वर्ष व्यतीत हुए थे। मैं सब तरह से सुखी और सम्पन्न था। कोई अभाव नहीं था मुझे। शायद मेरा पूरा जीवन इसी प्रकार व्यतीत हो जाता—मगर नियति तो कुछ और ही थी। एक दिन जरा-सी बीमारी ने मेरी पत्नी को मुझसे हमेशा-हमेशा के लिए छीन लिया। यों देखने में नहीं लगता था कि वह मर गयी है, बल्कि ऐसा जान पड़ता था—मानो वह गहरी नींद में सो रही हो। मृत्यु उसमें कोई परिवर्तन न ला सकी थी। ओठों पर वही मन्द मुस्कान थी। वही अधखुली स्वप्निल आँखें—जिनमें मेरे लिए प्यार छलकता था। ओठों का अमृत, चेहरे की कान्ति ·····कुछ भी कम नहीं हुआ था। लेकिन मेरी सारी खुशी, सारा उत्साह और सारी उमंग छिन गयी थी। सारी लालसा और सारी कामना एकबारगी खत्म हो गयी थी। आत्मविश्वास का महल ढह गया था और संसार में जो सौन्दर्य का आकर्षण था—वह भी खत्म हो चुका था। मैंने नौकरी छोड़ दी।

"उस समय मेरी आयु सिर्फ तीस वर्ष की थी। शान्ति पाने के लिए मैं हरिद्वार चला गया और फिर वहाँ से ऋषिकेश। जब मैं वहाँ गुफाओं और पर्वत-शिखरों पर भटक रहा था—तभी मेरी भेंट एक साधु से हुई। उनके चेहरे पर अद्भुत सौम्यता थी, शान्ति थी और था तेज। मगर वे एक मुर्दे का मांस नोच-नोचकर खा रहे थे। भय-मिश्रित कौतूहल के कारण मैं उनके पीछे-पीछे हो लिया। उन्होंने भी मुझे पीछे-पीछे आते हुए देखा पर कुछ बोले नहीं। आखिर मैंने अपनी पीड़ा सुनायी। वे चुपचाप निर्विकार सुनते रहे। उनके चेहरे पर न कोई भाव आया और न गया। उनकी मुद्रा

पहले की ही तरह शान्त और निर्विकार रही। मुझे आशा थी कि वे कुछ कहेंगे। शान्ति के दो शब्द या फिर ब्रह्मज्ञान का रहस्य—जिसे सुनकर अपनी पीड़ा को भूल सकता मैं। परन्तु उनकी चुप्पी से भी मुझे कोई निराशा या झुंझलाहट नहीं हुई। उनके व्यक्तित्व में चुम्बक जैसा आकर्षण था, जो मुझे कुछ सोचने-समझने नहीं दे रहा था।

"धीरे-धीरे एक वर्ष का समय व्यतीत हो गया। किन्तु इस दीर्घकाल में वे मुझसे एक बार भी नहीं बोले थे। अचानक एक दिन सबेरे उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा—'आज मैं जा रहा हूँ।'

'जी ! कहाँ ?'

"उन्होंने दूर बर्फ से ढँकी चोटियों की ओर इशारा कर दिया।

"मैं चुपचाप उस ओर देखता रहा। बर्फीली चोटियाँ सूरज की सुनहली किरणों से सोने जैसी जगमगा रही थीं। फिर भी वहाँ जैसे रहस्य की गहरी धुन्ध छायी हुई थी।

"मैं बोला—'मैं भी चलूँगा ?'

'नहीं ! तू वहाँ नहीं जा सकता।'

"मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। फिर न जाने क्या हुआ—झुककर उनके चरण पकड़ लिये। बारह महीने के सम्पर्क ने मुझे जो मानसिक शान्ति दी थी—वह मुझे कहीं नहीं मिली थी।

"वे चुपचाप खड़े गहरी नजरों से मेरी ओर देखते रहे। एकाएक मैं कह उठा—'अब मैं लौटकर अपने पिछले संसार में नहीं जाना चाहता। अब वह है भी नहीं। लेकिन कामना, वासना और भोग-विलास, भोग-लालसा के पीछे भागते हुए संसार को मैंने देखा है—उसे ही और विशाल एवं व्यापक रूप में देखना चाहता हूँ।'

'यह तो परकाया-प्रवेश की सिद्धि से ही सम्भव है'—उन्होंने फुसफुसाकर कहा—'अच्छा आ, चल मेरे साथ।'

"मैं उनके साथ हिमालय की ओर चल पड़ा। दो मास की अतिकष्टदायिनी हिम-यात्रा के बाद एक ऐसे आश्रम में पहुँचा—जिसका पार्थिव अस्तित्व तो था मगर वह साधारण लोगों के चर्मचक्षु से परे था। उस महात्मा के निर्देशन में—उसी आश्रम में रहकर पूरे पचीस वर्ष तक योग-साधना की।

"फिर मेरे गुरुदेव की समाधि का समय आ गया। समाधि ग्रहण करने के पूर्व उन्होंने मुझे अपने निकट बुलाया। उस समय मेरी आँखों में आँसू थे। एक दिव्य ज्योतिर्मय महापुरुष से मेरा हमेशा-हमेशा के लिए सम्बन्ध टूट रहा था। मन विगलित और कण्ठ अवरुद्ध था मेरा। गुरुदेव गम्भीर स्वर में बोले—'मैं अपनी इच्छा-शक्ति से तुझे

एक अपूर्व सिद्धि प्रदान कर रहा हूँ। इसके बल पर जब तेरी इच्छा हो—अपने पार्थिव शरीर को छोड़कर विशुद्ध आत्मा बन जाना। जब तक तेरी इच्छा हो—किसीके भी मृत शरीर में वास करना। तुझे जीवन का विराट् रूप देखने को मिलेगा।'

"गुरुदेव ने समाधि ले ली। फिर मेरा मन आश्रम में नहीं लगा। मैं आश्रम से निकलकर गोमुख पहुँचा। वहाँ आश्रम के ही एक महात्मा रहते थे। उनकी अपनी एक गुफा थी। परकाया-प्रवेश की मुझे विलक्षण सिद्धि मिल ही गयी थी। मैंने उसी गुफा में पद्मासन की मुद्रा में बैठकर उस सिद्धि की सहायता से अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर दिया। अब मेरे सामने ही मेरा पार्थिव शरीर पद्मासन की मुद्रा में बैठा था। मैंने अपनी ओर देखा। मैं स्थिर नहीं था। हवा के कम्पन के साथ मेरा अस्तित्व भी अधर में झूल रहा था। चारों तरफ घोर निस्तब्धता थी। एक विलक्षण अनुभूति से मैं अपने-आपको निर्विकार अनुभव कर रहा था। चारों तरफ का मोहक वातावरण देखकर मुझे लगा कि जैसे मैं किसी ऐसे संसार में हूँ—जहाँ अपार तुष्टि और गहन शान्ति है। एक मोह के वशीभूत मैं कुछ देर अपने शरीर के चारों ओर चक्कर काटता रहा—फिर अचानक ही—जैसे मैंने उस मोह पर विजय प्राप्त कर ली—और अपने पार्थिव शरीर को महात्मा की देख रेख में—उसी गुफा में छोड़कर हरिद्वार की ओर चल पड़ा। इच्छा करते ही पहुँच गया मैं हरिद्वार। मेरे सामने पूरा शहर था। पत्थर और लोहे-सीमेन्ट से बनी इमारतों के आर-पार भी मैं इस प्रकार देख सकता था—जैसे वे पारदर्शी हों, काँच के बने हों।

"मनुष्य कितने भ्रम में जीवन व्यतीत करता है—अपने भ्रमपूर्ण विश्वास के कारण वह हर समय कितना छला जाता है—इसका उदाहरण मुझे तुरन्त मिल गया।

"एक मठ में भजन-कीर्तन हो रहा था। महन्तजी निर्विकार भाव से एक ऊँचे तख्त पर मखमल के आसन पर बैठे हुए थे। आयु रही होगी ४५-५० के लगभग। शरीर पर रेशमी भगवा वस्त्र था। मस्तक पर त्रिपुण्ड्र लगा था। एक ओर उनके भक्त-गण बैठे कीर्तन कर रहे थे। दूसरी ओर बैठी हुई महिलाएँ कीर्तन के लय पर सिर हिला रही थीं। सभी भक्तिभाव में विभोर थे। सहसा महन्तजी आसन से उठकर भीतर के कमरे में चले गये। थोड़ी देर बाद एक प्रौढ़ महिला भी अपने बगल में बैठी युवती के साथ उठी और दूसरे रास्ते से महन्तजी के कमरे में पहुँच गयी। वह प्रौढ़ा और महन्तजी शायद सधे-बधे थे। युवती काफी सुन्दर और आकर्षक थी। आयु रही होगी १७-१८ वर्ष। शायद हाल में ही उसकी शादी हुई थी। प्रौढ़ा ने उसे कमरे के भीतर ढकेलकर बाहर से दरवाजा बन्द कर दिया।

"मैंने कमरे में झाँककर देखा। अब महन्तजी का असली रूप मेरे सामने था।

वे उस युवती को अपने अंक में समेटे हुए विषय-भोग और मदिरा-पान में लिप्त थे। वह युवती छटपटा रही थी। महन्तजी का पैर पकड़कर गिड़गिड़ा रही थी। मगर···

"मुझसे आगे देखा नहीं गया। मैं वहाँ से चल पड़ा। थोड़ी ही दूर पर एक मकान में एक युवती अपने पति को बड़े प्रेम से भोजन करा रही थी। पति भी पुलकित होकर भोजन कर रहा था। मैं सोचने लगा—पति-पत्नी का कितना नैसर्गिक प्रेम है यह! मगर मेरा सोचना गलत था। पति जैसे ही भोजन करके मकान के बाहर निकला—दूसरे रास्ते से एक छैल-छबीला युवक भीतर घुस आया। उसे देखते ही वह युवती उसके गले से लिपट गयी। वह युवक उसका प्रेमी था।

"मेरा मन खिन्न हो गया। फिर आगे बढ़ा तो एक सेठजी को होटल के एक कमरे में एक षोडशी के साथ जबर्दस्ती मुँह काला करते देखा। सेठजी शराब के नशे में धुत थे और बार-बार कह रहे थे—'मैंने तेरे लिये तेरे बाप को पाँच सौ रुपया नगद दिया है। पूरा चुकता हो जायेगा तभी तुझे छोड़ूँगा प्यारी। चल·· आ···मेरे पास···' लड़की गरीब घर की लग रही थी। उसकी हालत दयनीय थी। नोच-खसोट से साड़ी-ब्लाउज कई जगह से फट गये थे। आखिर थककर वह लुढ़क पड़ी। फिर सेठ उसके साथ मनमानी करने लगा। मेरी इच्छा हुई कि उस युवती की सहायता करूँ। अपना हाथ बढ़ाया भी। मगर उनके और मेरे बीच अचानक जैसे एक ठोस पारदर्शक दीवार आकर खड़ी हो गयी। मैं चाह करके भी उस बेसहारा युवती की कोई सहायता न कर सका।

"पता नहीं—कितने समय तक इसी प्रकार विभिन्न सांसारिक खेलों को आत्म-रूप में स्थित होकर देखता रहा मैं। कहीं क्रोध था, कहीं घृणा थी, कहीं द्वेष था और कहीं थी वासना। धर्म के नाम पर, साधना के नाम पर वासना का नग्न रूप देखकर मेरा मन खिन्न हो गया और उचट गया।

"मैं सहारनपुर से दिल्ली चला गया। वहाँ देखा—कुछ दूर पर एक अर्थी जा रही थी। खूब सजी हुई थी अर्थी। अर्थी के आगे बाजे बज रहे थे। लाश किसी वृद्ध सेठ की थी। न जाने क्यों मेरे मन में आया कि मृत शरीर को छू लूँ और मैंने आश्चर्य से देखा कि मैं उस मृत शरीर को बिना किसी रुकावट के छू सकता हूँ। तब याद आया कि गुरुदेव ने कहा था कि मैं मृत शरीर में प्रवेश कर सकता हूँ और यह याद आते ही मुझे इच्छा हुई कि मैं जीवित हो उठूँ और परकाया-प्रवेश की सिद्धि की सहायता से मैं दूसरे क्षण सेठजी के मृत शरीर में पैठ गया।

"वह मेरा प्रथम परकाया-प्रवेश था।

"शरीर में प्रवेश करते ही मेरी भौतिक चेतना वापस लौट आयी। इस बात का मुझे पहली बार अनुभव हुआ कि पृथक् होने पर आत्मा अपने-आपमें असीम शक्ति का

और व्यापक सत्ता का अनुभव करती है और जब वह शरीर की सीमा में बँध जाती है तो उसकी शक्ति और सत्ता संकुचित हो उठती है।

"मैं अभी तक अपने-आपमें जो व्यापकता का अनुभव कर रहा था—शरीर में पैठते ही उसके अनुसार अपनी शक्ति की और अपनी सत्ता की सीमा का अनुभव करने लगा।

"सेठजी का शरीर बँधा था। उसमें प्रवेश करते ही मुझे उसके बन्धन का अनुभव हुआ। मैंने जोर से बोलना चाहा मगर शरीर की कमजोरी के कारण ऐसा नहीं कर सका। फिर भी मुझे जीवित देखकर भीड़ में खलबली मच गयी। कुछ लोगों को प्रसन्नता हुई और कुछ लोगों के मुंह लटक गये। क्यों? इसका रहस्य बाद में खुला।

"सेठजी का नाम था नरोत्तमदास। वह करोड़पति सेठ थे। काफी लम्बा-चौड़ा कारोबार था। साठ वर्ष की उम्र में उन्होंने तीसरी शादी की थी। पत्नी का नाम था शोभा। सेठजी की पहली पत्नी से एक लड़का था पुरुषोत्तमदास। शोभा और पुरुषोत्तमदास—दोनों हमउम्र थे। अतः दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हो गये। बाद में वही आकर्षण प्रेम और शारीरिक सम्बन्ध में बदल गया।

"सेठ नरोत्तमदास शोभा को हर प्रकार से प्रसन्न रखते थे। पर वे उसके तन की प्यास बुझा सकने में असमर्थ थे। जब शोभा को पहली बार पुरुषोत्तमदास से पुरुष-सुख मिला तो वह निहाल हो उठी। फिर तो रोज दोनों वासना का खेल खेलने लगे। पुरुषोत्तमदास को बचपन से ही बुरी आदतें पड़ गयी थीं। वह शराब पीता था, जुआ खेलता था और उसकी रातें वेश्याओं की गोद में बीतती थीं। रुपये-पैसे की कमी उसे बराबर बनी रहती थी। शोभा काफी चालाक औरत थी। वह पुरुषोत्तमदास की इस कमी को पूरा करने लगी। पुरुषोत्तमदास जितने रुपये माँगता—वह झट से निकालकर उसे दे देती। इसके बदले पुरुषोत्तमदास भी शोभा को अधिक-से-अधिक प्रसन्न रखने लगा। अब तो शोभा उसके साथ बैठकर बेझिझक शराब भी पीने लगी थी। पूरी-की-पूरी रात वे दोनों शराब के नशे में चूर एक-दूसरे से लिपटे पड़े रहते थे। ऐसी ही स्थिति में एक दिन सेठजी की नजर उन दोनों पर पड़ गयी। उनको अपनी आँखों पर सहसा विश्वास ही नहीं हुआ। लेकिन सत्य तो सत्य ही था। वे आपे से बाहर हो गये और दोनों को उसी समय उठाकर डाँटने-फटकारने लगे। मगर उन दोनों पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। उसके दूसरे ही दिन सेठजी अपने बिस्तर पर मरे पाये गये। कहते हैं कि उनका हार्टफेल हो गया था। जब लोग सेठजी की लाश के चारों तरफ खड़े होकर शोक मना रहे थे उस समय पुरुषोत्तमदास शराब का जाम ढाल रहा था और शोभा उसके गले में बाँहें डाले उसके गर्म होंठों को चूमती हुई कह रही थी—कितनी आसानी से काँटा निकल गया।···स्साला, बुड्ढा।"

× × ×

कुछ क्षण मौन रहने के बाद स्वामी सत्यानन्दजी ने फिर कहना शुरू किया—

"दूसरे के शरीर में प्रवेश करके मैं जीवित तो हो गया था मगर अब मेरे सामने कठिनाई यह थी कि मै वहाँ किसीको पहचानता नहीं था। मुझे घेरे हुए कई लोग खड़े थे वहाँ। सेठ नरोत्तमदास का किससे क्या सम्बन्ध था—यह तुरन्त समझ पाना मेरे लिए कठिन था। अब मुझे जरा चतुराई से काम लेना था। एक मोटा-सा आदमी—जो मेरे करीब बैठा था, मैंने उससे धीरे से कहा—'मुझे सहारा दो। मेरा सिर दर्द कर रहा है। मुझे आराम की जरूरत है।'

"वह आदमी शायद सेठजी का सेक्रेटरी था—मुझे उसने तुरन्त सेठजी के सजे-धजे कमरे में पहुँचा दिया। आँखें बन्द कर बिस्तर पर मैं पड़ रहा। तभी मुझे देखने के लिए कमरे में शोभा आयी। गजब की सुन्दर थी वह। मेरी आँखें चौंधिया गयीं।

"उसने आँखों में छलक आये आँसू को पोंछते हुए कहा—'मुझे छोड़कर कहाँ चले गये थे तुम ?' फिर मेरे सीने पर अपना सिर रखकर वह फफक-फफककर रोने लगी।

'उफ् !'

'क्या हुआ ?'—शोभा बोली।

'सीने में दर्द हो रहा है।'

'क्यों ? मालिश कर दूँ ?'

'नहीं, मालिश-वालिश करने की जरूरत नहीं है। अपने-आप ठीक हो जायेगा।'

'क्या तुमने मुझे अभी भी माफ नहीं किया ?'

'माफ करने के लिए ही तो मैं मरकर फिर वापस लौट आया।'

"इतना कहकर मैंने गहरी नजरों से शोभा की ओर देखा। वह सहम गयी। शायद मेरी आँखों की भाषा पढ़ ली थी उसने। करीब दस साल मैं सेठ नरोत्तमदास के शरीर में रहा। इस अवधि में मैंने संसार के सारे सुखों को भोगा। कोई ऐसा सुख नहीं था—जिसे मैंने प्राप्त न किया हो। मगर मैंने इस बात का भी अनुभव किया कि जर्जर और अशक्त शरीर हमेशा आत्मा की आवाज को पूरी तरह प्रकट नहीं कर पाता था। जो जिन्दगी स्वस्थ शरीर में सुन्दर और आकर्षक दीखती थी—वही उस वृद्ध शरीर के कारण कुरूप और धुंधली दिखाई दे रही थी। अक्सर मुझे लगता कि बूढ़ा, सड़ा हुआ शरीर मेरी आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेगा और मैं हार जाऊँगा। उस समय मेरी इच्छा होती थी कि इस शरीर को छोड़कर पुनः विशुद्ध आत्मा बन जाऊँ। लेकिन सुख का लालच-लोभ मुझे बार-बार इस विचार को हटा देता। मैं सोचता : क्या हुआ ? यदि मैं कान से कम सुन पाता हूँ। आँखों से कम देख पाता हूँ। शरीर में कमजोरी का अनुभव करता हूँ। पर इससे क्या ? इन्द्रियों के सुख का तो अनुभव कर ही सकता हूँ मैं। लेकिन एक दिन विरक्ति और उस वृद्ध काया के प्रति घृणा की

भावना अत्यधिक प्रबल हो उठी और अपनी सिद्धि की सहायता से तुरन्त उसी समय सेठ नरोत्तमदास की जीर्ण-शीर्ण काया का त्याग कर दिया। मगर उसे छोड़ने के पहले मैंने सारी चल-अचल सम्पत्ति का एक ट्रस्ट बनाकर उसकी सारी जिम्मेदारी सरकार को दे दी।"

× × ×

"शरीर के बाहर आते ही मैंने स्वतन्त्रता का अनुभव किया। केवल एक क्षण के लिए शरीर के बन्धन के प्रति आकर्षण हुआ। लेकिन तुरन्त ही मैंने उस आकर्षण पर विजय प्राप्त कर ली और एक बार फिर कमल के पत्ते की तरह निर्लिप्त होकर मैं संसार की भोग-लालसाओं की भाग-दौड़ को देखता हुआ और उसकी निरर्थकता समझता हुआ विचरण करने लगा।"

× × ×

योगी सत्यानन्द पलभर चुप होकर कुछ सोचते रहे। फिर कहने लगे—"मैं आप लोगों को अपने सभी अनुभवों को सुनाना नहीं चाहता। मेरे पास इतना समय भी नहीं है। इतना ही कह सकता हूँ कि अपने इस लम्बे जीवन के दौरान मैं प्रायः इच्छानुसार चोला बदल लिया करता था। जो चोला लेता था उसकी कथा विचित्र होती थी। हर चोला का अपना अलग-अलग इतिहास होता था।

"उन दिनों स्वतन्त्रता-संग्राम छिड़ा हुआ था। एक बार मैं यूँ ही घूम रहा था। अचानक मेरी नजर एक सुन्दर युवक पर पड़ी। औंधे मुँह वह सड़क पर गिरा था। शायद मर गया था वह। उसका सारा शरीर खून से भीगा हुआ था। सीने में कई गोलियाँ लगी थीं। पास ही खड़े उसके साथी 'हरहर महादेव' का नारा लगा रहे थे। कुछ लोग लाश से लिपटकर रोती हुई उसकी माँ को हटाने की कोशिश कर रहे थे। एक माँ का करुण क्रन्दन मुझसे देखा नहीं गया। सो तुरन्त ही मैं उस युवक के शरीर में पैठकर जीवित हो उठा। उस युवक का नाम बलवन्त था। वह क्रान्तिकारी था। देश की आजादी के लिए अपना बलिदान दिया था। उसका शरीर पूर्ण स्वस्थ था। उसकी आत्मा मेरी आत्मा से महान् थी। क्योंकि जब तक मैं उसके शरीर में रहा मुझे उस शरीररूपी आवरण की महानता की निरन्तर अनुभूति होती रही। वह अनुभव कुछ ऐसा ही था—जैसा झोपड़ी में रहनेवाला गरीब किसान ऊँचे आलीशान महल में जाने पर करता है।

"कुछ दिनों बाद मेरी आत्मा फिर स्वतन्त्र होने के लिए व्याकुल हो उठी। आपको सुनने में यह बात आश्चर्यजनक मालूम होती होगी कि किस तरह बार-बार मैं मानव-शरीर को इतनी जल्दी त्याग दिया करता था। क्या सांसारिक सुख-भोग की लालसा और माया-मोह मुझे मानव-शरीर से अलग होते समय ललचाते नहीं थे?

"सचमुच शरीर का एक जबर्दस्त आकर्षण था। पर विशुद्ध आत्मा बने रहने में जिस सार्वभौमिक शून्यता का, एकान्त का और शान्ति का अनुभव होता था—वह सांसारिक परेशानियों की तुलना में कहीं ज्यादा मोहक था। संसार में मनुष्य शान्ति और आनन्द पाने के लिए जितना संघर्ष करता है क्या उस संघर्ष के बावजूद उसे वे दोनों चीजें सच्चे अर्थों मिल पाती हैं? नहीं, कभी नहीं। जीवन एक मृगमरीचिका है। यहाँ सब कुछ खोना है। गँवाना है। पाना कुछ भी नहीं है। विशुद्ध आत्मा बन जाने पर मैं अपने-आपको इस संसार में अनुभव करते हुए भी जिस वातावरण में रहता था—उसमें असीम शान्ति और असीम आनन्द था, जिसकी अनुभूति इस संसार और इस शरीर में रहते हुए मनुष्य कभी भी नहीं कर सकता। उस वातावरण में अद्‌भुत शून्यता छायी रहती है। विचित्र-सी शान्ति बिखरी रहती है। कभी-कदा केवल शंख की ध्वनि और भगवान् के कीर्तन स्वर भर सुनाई पड़ जाते हैं बस!

"जब मैं विशुद्ध आत्मा के रूप में रहता तो मनुष्यों की सांसारिक लीला तटस्थ और निर्विकार भाव से देखा करता। लेकिन फिर पता नहीं किस प्रेरणा से किसी मृत शरीर में प्रवेश करके एक साधारण प्राणी बन जाता था। मुझे ठीक-ठीक याद नहीं कि मैं जितनी बार मृत शरीरों में प्रविष्ट हुआ—वे कौन-कौन लोग थे। जीवन और मृत्यु का वह लम्बा अन्तहीन चक्र था और मैं उनकी भावनाओं से निर्लिप्त सिर्फ एक कौतूहल की सृष्टि करता हुआ क्रमहीन आवागमन की जंजीर में जकड़ा हुआ था। मुझे अपने द्वारा त्यागे गये शरीर का मोह कभी नहीं हुआ। शरीर छोड़ने के बाद उसकी क्या गति होती थी—यह भी जानने की कभी उत्कण्ठा नहीं हुई। शरीर का ग्रहण और फिर उसका त्याग मेरे लिए वैसा ही था जैसे एक मकान और एक मुहल्ला छोड़कर दूसरे मकान और दूसरे मुहल्ले में चले जाना। जब मैं किसीके शरीर में प्रवेश करता तब उस शरीर की पहले की संज्ञा मुझे दी जाती।"

मैंने पूछा—"जब आप नया शरीर स्वीकार करते थे तो उस समय आपको पीछे छोड़े गये शरीर का इतिहास स्मरण रहता था?"

कुछ सोचते हुए स्वामी सत्यानन्द ने कहा—"प्रत्येक शरीर का अपना-अपना भौतिक इतिहास होता था। जब मैं एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता था—उस समय छोड़े गये शरीर के इतिहास की सारी स्मृति विलुप्त हो जाती थी और धारण किये गये शरीर का जो इतिहास होता था—उसे मेरी आत्मा स्वीकार कर लेती थी। मगर जब मैं अपने वास्तविक शरीर में होता—तो उस समय पीछे छोड़े गये सारे शरीरों का इतिहास—एक-एक कर मेरे मानस-पटल पर उभर आता था, जैसा कि इस समय है। इस समय मेरी स्मृति में पीछे छोड़े गये समस्त शरीरों का इतिहास सजीव है।"

"देहशून्य की अवस्था में आपकी आत्मा कहाँ रहती थी?" प्रश्न किया मैंने।

"आत्मलोक में"—स्वामीजी ने कहा—"इस विश्व ब्रह्माण्ड में 'आत्मलोक' कहाँ है—यह तो मैं बतला नहीं सकता—मगर वह है—अत्यन्त नीरव, शान्त और तमाम वृत्तियों से शून्य। न वहाँ किसी प्रकार का विचार है, न इच्छा है और न तो हैं वहाँ किसी प्रकार की वृत्तियाँ ही। केवल वहाँ भावना का सतत प्रवाह है और भावना के उस सतत प्रवाह में केवल 'हूँ' का बोध बराबर होता रहता है। 'मैं' का नहीं। 'मैं' का अस्तित्व कहाँ खो जाता है, यह बतलाया नहीं जा सकता।

"हाँ! एक बात और बतला दूँ मैं आपको। जब मैं विशुद्ध आत्मा बनकर आत्मलोक में रहता था—उस समय मुझे समय का कोई ज्ञान नहीं होता था। लगता था, जैसे समय वहाँ है ही नहीं। हर समय उषाकालीन जैसा हल्का सफेद प्रकाश फैला रहता था और जब मैं संसार में आता तो मुझे तुम लोगों की तरह समय के ज्ञान का अनुभव होने लगता था। इसी प्रकार न जाने कितने वर्ष व्यतीत हो गये।

"एक दिन अचानक काशी के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। उस समय मैं संन्यासी के शरीर में था और एक मठ में निवास करता था। एक रात मुझे ऐसा लगा—मानों कोई मुझे करुण स्वर में पुकार रहा है। तीसरे दिन काशी पहुँच गया मैं। साँझ का समय था। धीरे-धीरे टहलता हुआ मैं मणिकर्णिका श्मशानघाट की ओर चला गया। वहाँ दर्जनों चिताएँ जल रही थीं। उन पर घी-तेल-चन्दन-धूप वगैरह डाला जा रहा था। एक ओर मरनेवालों के सगे-सम्बन्धी बैठे पिण्डदान कर रहे थे और उन लोगों को चारों तरफ से घेरे हुए पण्डे लोग खड़े थे।

"सहसा मैंने देखा—एक बूढ़ा आदमी कफन में लिपटी हुई एक लाश बाँहों में उठाये अकेला चला आ रहा है। कोई उसका साथ देनेवाला नहीं। मैंने पास जाकर कहा—'बाबा, तुम थक गये होगे। लाओ, लाश मुझे दे दो।' बूढ़े की आँखों में आँसू बह रहे थे। बेटे की लाश को मेरे हाथों में देते हुए उसने कहा—'जरा सँभालकर लेना। मेरा इकलौता बेटा है।'

"उसके लिए अभी तक वह 'है' था। 'था' नहीं हुआ था। लाश मुझे थमाकर वह पीछे की ओर मुड़ा। कुछ ही दूर पर एक नवयुवती खड़ी थी। बूढ़े ने बतलाया, 'वह मेरी पुत्र-वधू है। इस लड़के की पत्नी।' इतना कहकर बूढ़ा रोने लगा। जब जी हल्का हुआ तो कहने लगा—'बाबाजी! पिछले महीने ही मेरे बेटे की शादी हुई थी। शादी के दो दिन बाद ही यह बीमार पड़ गया। फिर इसकी लाश ही उठी खाट से। दवा-दारू में सारी जमा-पूँजी खत्म हो गयी। बहू के जेवर तक बिक गये महाराज! आखिर मुझे और बहू को बेसहारा छोड़कर चला गया मेरा लाल।'

"मैंने नजर घुमाकर देखा—बहू की ओर। घूँघट काढ़े जड़वत् खड़ी थी वह।

बेचारी के पैरों के महावर और हाथों की मेंहदी भी अभी नहीं छूटी थी। धीरे-धीरे वह भी सिसककर रो रही थी।

"मेरा मन करुणा से भर गया। अतः आँखें दूसरी तरफ घुमा लीं मैंने। तभी एक काला आदमी—जो शायद डोम था—चिल्लाता हुआ पास आया 'रुको, रुको, तुम लोग इधर कैसे आये ?······यहाँ बड़े-बड़े राजाओं और पुण्यात्माओं के क्रिया-करम होते हैं।' पास खड़ा दूसरा डोम चिल्लाकर बोला—'उधर उस तरफ ले चलो मुर्दे को और क्रिया-करम के लिए जल्दी दो सौ रुपये निकालो। जल्दी करो। धन्धे का टाइम है।'

"दो सौ रुपये ? सुनते ही बूढ़ा एकबारगी सकपका गया जैसे उसे लकवा मार गया हो। उसके पास उस समय तो दो रुपये भी नहीं थे। सारी रकम और सारी जमा-पूँजी तो खत्म हो गयी बेटे के इलाज में।

"थोड़ी देर बाद जब उसे होश आया तो वह पास ही सामने खड़ी बहू के पास गया। रुआँसे स्वर में बोला—'बहू, ये लोग बिना रुपये लिये श्मशान में क्रिया-करम भी न करने देंगे।··· ···अब क्या होगा ?···बहू ···'

"बहू मौन साधे चुप खड़ी रही, कुछ बोली नहीं। फिर कुछ क्षण बाद उसका एक हाथ आँचल के बाहर निकला। मैंने देखा—गोरे रंग की उसकी पतली-पतली उँगलियों के बीच मंगलसूत्र लटक रहा था।

'बाबूजी !' हौले से युवती बोली—'इसे ले लीजिये और देकर उनका क्रिया-करम करिये।'

'बहू ! यह तो मंगलसूत्र है'—कहकर बूढ़ा फूट-फूटकर रोने लगा।

'बाबूजी ! अब कहाँ रह गया यह मंगलसूत्र ? जब वे ही नहीं रहे तो उनके मंगलसूत्र को रखकर क्या करूँगी ?'

"बड़ा ही दर्दनाक दृश्य था। सहसा उसी समय पुरवा हवा का एक झोंका आया और युवती का घूँघट हट गया। उसका चाँद-सा चेहरा देखकर एकबारगी चौंक पड़ा मैं। घोर आश्चर्य हुआ मुझे। उस युवती का चेहरा मेरी पत्नी कमला से बिल्कुल मिलता-जुलता प्रतीत होता था। कहीं कोई वैषम्य नहीं था। वैसी ही बड़ी-बड़ी कजरारी आँखें—वैसी ही नुकीली लम्बी नाक और वैसे ही गुलाबी होंठ। बिल्कुल वैसा ही रूप-रंग। व्याकुल हो उठा मेरा मन। समझते देर न लगी मुझे। निश्चय ही मेरी पत्नी कमला की आत्मा ने उस युवती के रूप में जन्म लिया था। शायद उसीकी विह्वलता-भरी करुण पुकार थी—जो मुझे काशी खींच ले आयी थी। दीर्घ अन्तराल के बाद बिछुड़ी हुई दो आत्माओं का मिलन हुआ था—और वह भी इस रूप में और इस परिस्थिति में। मगर वह विधवा युवती भला क्यों और कैसे विश्वास करेगी कि दो सौ वर्ष पूर्व वह जिसकी प्रियतमा थी—वह आज एक संन्यासी के शरीर में उसके सामने खड़ा है। मैं

उलझन में पड़ गया। पर अब मैं किसी भी कीमत पर कमला की आत्मा को छोड़ने को तैयार न था।

"दो सौ वर्ष पहले की सारी अशान्ति एक साथ भड़क उठी थी मेरे भीतर एका-एक। उस युवती के रूप में सामने खड़ी कमला को आलिंगनबद्ध कर लेने के लिए व्याकुल हो उठा मेरा मन। मैं तुरंत वहाँ से हट गया और गंगा के उस पार जाकर रेती में लेट गया—फिर अपनी सिद्धि की सहायता से संन्यासी का शरीर छोड़कर—तत्काल उस मृत युवक की काया में प्रवेश कर गया। कमला को पाने के लिए यही एकमात्र रास्ता था मेरे सामने। मगर युवक के शरीर में प्रवेश करते ही पहली बार मुझे एक अजीब-सी घुटन का अनुभव हुआ। शायद इसलिए कि उसे मरे काफी समय हो गया था और रोगग्रस्त शरीर की नस-नाड़ियाँ एक-एक कर सूख चुकी थीं।

"जीवित होते ही मैं हाथ-पैर पटककर जोर-जोर से चिल्लाने लगा—मुझे खोलो, खोलो मुझे······ मैं मरा नहीं हूँ। मेरी आवाज सुनकर चारों तरफ खलबली मच गयी। कुछ लोग डरकर भागने भी लगे। शायद किसीकी नजर गंगा पर पड़े साधु के मृत शरीर पर भी पड़ गयी। वह वहीं से चिल्लाया—'अरे, वह साधु कैसे मर गया? थोड़ी देर पहले तो यहीं पर खड़ा इस बुड्ढे से बातें कर रहा था?' दूसरे ने कहा—'कहीं वह साधु ही मरकर इस छोकरे की लाश में तो नहीं घुस गया···?'

यह कैसे हो सकता है?

"अभी हो-हल्ला हो ही रहा था कि किसीने एक डाक्टर बुलाकर मेरी जाँच-पड़ताल करानी शुरू कर दी। तब तक मैं स्वयं कफन हटाकर उठकर बैठ गया था। डाक्टर ने मेरे सीने को टटोला, फिर नाड़ी देखी और आखिर में मुझे जीवित घोषित कर दिया।

"फिर मैं चिल्लाया—'कमला!···'

'कमला नहीं, मनोरमा है बेटा तेरी औरत का नाम! यह भी भूल गये क्या?' वह बूढ़ा व्यक्ति मेरे करीब आकर खड़ा हुआ।

"मैं अपने-आप बुदबुदाया—इससे क्या हुआ? शरीर भले ही मनोरमा का हो, आत्मा तो मेरी कमला की ही है उसमें। मेरे पुकारते ही मनोरमा ने लपककर मेरे गले में अपनी कोमल बाँहें डाल दीं और मेरे कन्धे पर सिर रखकर रोने लगी। मैंने उसकी काली अलकों पर हाथ फेरते हुए उसे धीरे से उठाया और हौले से कहा—'मंगलसूत्र कहाँ है? उसे पहन लो। उस मंगलसूत्र ने ही तुम्हें फिर सुहागिन बना दिया है मनोरमा।'

"मगर मनोरमा मेरी रहस्यपूर्ण बातों को समझ न सकी। उसने सिर्फ आश्चर्य से मेरी ओर देखा। जैसे उसे विश्वास ही न हो रहा हो कि मैं जीवित हो उठा हूँ। फिर धीरे-धीरे सब कुछ मालूम हो गया मुझे। मैंने जिस मृत युवक के शरीर में प्रवेश किया था—उसका नाम मुरारीलाल था। उसकी एक छोटी-सी परचून की दुकान थी। उसीकी

आमदनी से घर-गृहस्थी का सारा खर्च चलता था। घर की हालत अत्यन्त दयनीय थी। चारों ओर अभाव-ही-अभाव था। कभी-कभी दोनों समय का खाना भी नहीं मिल पाता था हफ्तों तक।

"मृत मुरारीलाल के शरीर में रहते हुए मुझे चार साल से ऊपर हो गये थे। स्वस्थ आत्मा और मनोरमा की सेवा पाकर मेरा शरीर शीघ्र ही निरोग हो गया था। मनोरमा मुझे रोज सबेरे प्रेम से भोजन कराकर दुकान भेज देती और स्वयं घर-गृहस्थी के झंझटों में लग जाती। पहले मेरी इच्छा हुई कि मैं मनोरमा को सब कुछ बतला दूँ। यह स्पष्ट कर दूँ कि मैं उसका पति नहीं, बल्कि वर्तमान उसके पति के शरीर में दो सौ वर्ष पहले के उसके पति की आत्मा हूँ। परन्तु कुछ अपनी कमजोरी और कुछ उसका कमला जैसा असाधारण सौन्दर्य और प्रेम मुझे चुप रहने को विवश कर देता। सोचता हूँ, जीवन के प्रति इतना प्रबल मोह मुझे पहले कभी नहीं हुआ था। मनोरमा में मैं कमला की मोहक छवि देखता था। उसके प्रेम को कमला का प्रेम समझता था। गरीबी और अभावों से जूझती हुई जिन्दगी में हम दोनों एक-दूसरे के सहारा थे। हमारे दिन शान्ति से बीत रहे थे। जीवन में न विरक्ति थी, न उपेक्षा। मैं करीब-करीब यह भूल गया था कि मैं एक विशुद्ध आत्मा हूँ। शरीर को मेरे जीवन का साध्य नहीं बनना है और यह भी भूल गया था कि मरीचिका के बन्धन को तोड़ सकूँ। कहने का मतलब यह कि जिसके लिए मैंने गुरुदेव से सिद्धि का फल माँगा था—वही भूल गया मैं। मुझे सिर्फ अपना संसार—अपनी पत्नी—एक घर और एक छोटी-सी दुकान मात्र की याद रह गयी थी। यदि मेरे लिए कोई सुख था तो वह पत्नी के सान्निध्य में था। एक दिन जब दुकान बन्द कर हारा-थका घर आया तो मनोरमा ने मेरे बालों को सहलाते हुए हौले-से कहा—

'सुनते हो ?'

'क्या ?'

'तुम पिता बननेवाले हो।'

'पिता ! मैंने हँसकर मनोरमा की ओर देखा। लेकिन उस समाचार ने मेरे मन में हलचल मचा दी थी। यह किसका पुत्र है ? क्या मुरारीलाल का—जिसका यह शरीर है। उस समय इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला मुझे। परन्तु बाद में— जब मैं मुरारीलाल का शरीर छोड़कर अन्यत्र भटक रहा था—तब मुझे इसका उत्तर मिल गया।

"वह लड़का मेरी ही आत्मा का अंश था। मैं जहाँ कहीं भी गया—मुझे उसकी याद बराबर आती रही। दूर रहकर भी वह जैसे हर समय—हर क्षण मेरे साथ रहा। मुझे बराबर यह महसूस होता रहा कि जैसे मैं अपना ही अंश काशी में छोड़ आया हूँ।

"विशुद्ध आत्मा बने रहने तथा किसीके शरीर में रहने—इन दोनों अवस्थाओं में

अदृश्य रूप से मेरा सम्बन्ध बराबर अपने इस निज शरीर से बना रहता था। दो सौ वर्ष की लम्बी यात्रा में मैंने सिर्फ चार-पाँच बार गुफा में पड़े अपने निज शरीर में प्रवेश किया था। जब मैंने मुरारीलाल का शरीर छोड़ा उस समय मुझे फिर अपना यह शरीर अपनी ओर आकर्षित करने लगा। मैं बिना कहीं रुके गुफा में चला गया। देखा—मेरा अपना पार्थिव शरीर निश्चेष्ट पड़ा है गुफा के भीतर। मुझे अपने शरीर के प्रति जबर्दस्त मोह हुआ। ऐसा मोह मुझे किसी दूसरे का शरीर ग्रहण करते या परित्याग करते समय कभी नहीं हुआ था। मैंने अनुभव किया कि माता-पिता द्वारा निर्मित पार्थिव शरीर के प्रति आत्मा को जो मोह-माया होती है—वही वास्तविक होती है। दूसरे का शरीर कितना भी स्वस्थ व सुन्दर हो—किराये के मकान के ही समान होता है।

"अपने निज शरीर में—जिसे आप लोग सामने देख रहे हैं—प्रवेश कर जीवित हो उठा। अठारह साल हो गये—तब से मैं इसी शरीर में हूँ।"

इतना कहने के बाद स्वामी सत्यानन्द मौन साध गये। रात काफी गुजर चुकी थी। वातावरण में गहरी नीरवता छायी हुई थी। मैंने एक बार स्वामीजी की ओर देखा। वे किसी गहरे विचार में डूबे हुए थे। जब उनकी विचार-तन्द्रा टूटी तो मैंने पूछा—"आपने मुरारीलाल का शरीर क्यों छोड़ा, यह तो आपने बतलाया नहीं।"

यह सुनकर स्वामीजी पहले तो हँसे, फिर गम्भीर स्वर में बोले—"मनोरमा ने मेरे दबे हुए संस्कार को एकबारगी जगा दिया एक दिन। उसी समय मुरारीलाल का शरीर छोड़ने का फैसला कर लिया मैंने। दरअसल बात यह हुई कि उस रोज दुकान से आकर लेटा हुआ था कि अचानक मनोरमा ने 'मर जाने' का ताना दिया मुझे। बात कुछ भी नहीं थी। मगर फिर भी उसका व्यंग्य छू गया मुझे। मेरे मन की स्वतन्त्रता की उद्दाम कामना—जो काफी लम्बे अर्से से दबी-दबी सुलग रही थी—एकाएक भभक उठी। उस दिन जन्माष्टमी का पर्व था। आधी रात का समय था। आकाश में काले भूरे बादल छाये हुए थे। घनघोर वर्षा हो रही थी। मेरे बगल में मनोरमा अपने लड़के को सीने से लगाये खाट पर गहरी नींद में सो रही थी। अचानक मेरी आत्मा निर्लिप्त हो उठी। मैंने मनोरमा को एक बार भरनज़र देखा—और अपनी सिद्धि के बल पर मुरारीलाल का शरीर छोड़ दिया। शरीर छोड़ने के बाद न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहा मैं। दो-तीन बार मन में मनोरमा के प्रति मोह जागृत हुआ। जब नहीं रहा गया तो उसे देखने के लिए गया भी। पर तब तक मुरारीलाल की लाश को लोग जला चुके थे। मनोरमा पागलों की तरह विलाप कर रही थी। कुछ देर तक उसे देखता रहा। फिर वहाँ से हट गया।

"मेरे मन में, मेरी आत्मा में शान्ति नहीं है। कभी-कभी सोचता हूँ कि मेरी आत्मा का अंश लेकर पैदा होनेवाला मेरा पुत्र इस समय युवक हो गया होगा। निश्चय ही वह

गरीबी और अभाव में ही पलकर बड़ा हुआ होगा। मनोरमा को उसे पालने-पोसने में कितने कष्ट उठाने पड़े होंगे। उसके भीतर बैठी कमला की आत्मा भी मुझे कम व्याकुल नहीं करती। मनोरमा का मोह और कमला की आत्मा का आकर्षण—दोनों मिलकर मुझे अशान्त किये रहते हैं बराबर।"

फिर थोड़ा रुककर लम्बी साँस लेते हुए स्वामीजी ने कहा—"जीवन और मृत्यु के चक्र में कब से आत्मा फँसी है—यह बतला पाना कठिन है। एक बार संसार के वातावरण में प्रवेश कर आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में फँस गयी तो फिर उसका निकल पाना असम्भव ही है।

"दो सौ वर्षों की अपनी लम्बी जीवन-यात्रा में मैंने इस बात का अनुभव किया कि 'आत्मा' के कई वर्ग हैं—उच्च, मध्यम और निम्न। कालचक्र में घूमती हुई जब एक ही वर्ग की दो आत्माएँ—संयोगवश मिल जाती हैं तो किसी कारणवश अलग हो जाने पर वे दोनों फिर एक-दूसरे से मिलने के लिए व्याकुल रहती हैं इसमें सन्देह नहीं। कौन-सी आत्मा—किस आत्मा के लिए व्याकुल रहती है—यह नहीं बतलाया जा सकता। वास्तव में आत्मा की यही आन्तरिक व्याकुलता मन की अशान्ति है, जिसे लेकर मनुष्य बार-बार जन्म लेता है और यह मानी हुई बात है कि दो बिछुड़ी हुई आत्माएँ कभी न कभी मिलती अवश्य हैं। यदि उन दोनों को अपने पूर्व वियोग का ज्ञान है तो वे एकाकार होकर इस संसार से—आवागमन से और कालचक्र से हमेशा-हमेशा के लिए मुक्त हो जाती हैं। काश! मनोरमा के शरीर में बसी कमला की आत्मा को भी मेरी तरह पूर्व वियोग का ज्ञान हो गया होता तो…… ।"

स्वामी सत्यानन्द इतना कहकर फिर चुप हो गये और निर्विकार भाव से शून्य में ताकने लगे।

"क्या आप आत्मखण्ड के इस रहस्य को थोड़ा विस्तार से समझाने की कृपा करेंगे?"

स्वामीजी ने कहा—"जिसे वेदों में मूल परमतत्व कहते हैं—वह दो रूपों में विभक्त है—पहला रूप है परमात्मा और दूसरा रूप है—आत्मा। इसी प्रकार आत्मा भी दो खण्डों में विभक्त है। पहला खण्ड पुरुषतत्त्वप्रधान और दूसरा खण्ड स्त्रीतत्त्व-प्रधान है। प्रकृति के नियम के अनुसार—काल के प्रवाह में पड़कर—वे दोनों खण्ड—एक-दूसरे से अलग हो गये होते हैं। दोनों खण्डों का यह वियोग कब और कैसे हुआ है—यह कोई नहीं जानता। मगर यह निश्चित है कि दोनों वियोगी खण्ड एक-दूसरे से मिलने के लिए हमेशा व्याकुल रहते हैं।

"दोनों की वह व्याकुलता आत्मिक स्तर की होती है। मानसिक अथवा शारीरिक स्तर की नहीं। आत्मा का वह आदि वियोग है। लेकिन काल के प्रवाह में कौन खण्ड कहाँ है—यह एक-दूसरे को पता नहीं होता और न तो इसी बात का पता होता है कि

किस खण्ड ने कहाँ शरीर धारण कर संसार में जन्म लिया है। अपने उसी अनादि वियोग को संयोग में बदलने की प्रबल कामना लेकर—प्रकृति के नियम के अनुसार—समय-समय पर संसार में बार-बार जन्म लेते रहते हैं और फँसते रहते हैं जन्म और मृत्यु के चक्र में वे। यह आवागमन अति विकट है और उससे मुक्ति न कोई धर्म दिला सकता है, न कोई सम्प्रदाय दिला सकता है—और न तो किसी प्रकार की साधना या उपासना ही दिला सकती है।

"सच्चे अर्थों में मुक्ति तभी मिलती है"—स्वामीजी ने कहा—"जब आत्मा के दोनों खण्ड—काल के प्रवाह में बहते-बहते अकस्मात् एक-दूसरे से मिल जाते हैं। इसी-को आत्मा की पूर्णावस्था कहते हैं।

"हम सबकी आत्मा अपने-आपमें अपूर्ण है—खण्डित है—और अपने-आपमें टूटी हुई है। हमारी सारी अशान्ति का मूल कारण बस यही है। वह 'अशान्ति' अज्ञात है। उसका कारण क्या है—यह हम नहीं जानते। यह 'न' जानना ही 'जीवभाव' है। माया है। जब जीवभाव का अन्धकार दूर होता है—तभी हम यह समझ पाते हैं कि उस आत्मिक अशान्ति का कारण क्या है ? इस संसार में कौन किसकी आत्मा का खण्ड है ? यह कोई नहीं जानता। हमारी आत्मा के खण्ड ने कहाँ किस रूप में जन्म लिया है और जन्म लेकर कहाँ भटक रहा है—यह हम नहीं जानते। आप भी नहीं जानते कि आपकी आत्मा के खण्ड ने कहाँ जन्म लिया है ? यह अत्यन्त रहस्य की बात है। सामाजिक और धार्मिक धरातल पर स्त्री और पुरुष मिलते तो अवश्य हैं, मगर दोनों में भला यह कौन जानता है कि कौन किस आत्मा का खण्ड है। स्त्री की आत्मा का खण्ड कहीं और होता है—और पुरुष की आत्मा का खण्ड कहीं और होता है। एक स्त्री एक पुरुष से प्रेम करती है, विवाह भी करती है। पर उस पुरुष की आत्मा का खण्ड किसी और ही स्त्री का होता है। इसी प्रकार एक पुरुष भी किसी स्त्री से प्रेम करता है अथवा विवाह करता है। पर उस स्त्री का भी आत्मखण्ड किसी अन्य पुरुष का होता है, जिसके फलस्वरूप स्त्री-पुरुष का वह मिलन, वह प्रेम और वह संयोग शरीर के तल तक ही सीमित रह जाता है। आत्मा के तल पर नहीं पहुँच पाता। वे दोनों एक-दूसरे को जानतेभर हैं। समझते नहीं। जानना अलग है और समझना दूसरी बात है।

"आकर्षण तीन प्रकार का होता है—शरीर का आकर्षण, मन का आकर्षण और आत्मा का आकर्षण। पहले आकर्षण से वासना जन्म लेती है। दूसरे आकर्षण से श्रद्धा जन्म लेती है और तीसरे आकर्षण से जन्म लेता है प्रेम।

"यदि उपर्युक्त दृष्टि से देखा जाय तो आज के युग में ९९ प्रतिशत स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शरीर के तल पर है जिसका मुख्य कारण है एकमात्र आत्मखण्ड का वियोग।

पुरुष किसी और स्त्री का पति है और स्त्री किसी और की पत्नी है। मगर उनका मिलन हो जाता है जिसका आधार होता है शरीर का तल अथवा एकमात्र वासना। शरीर के तल पर होनेवाले मिलन अथवा सम्बन्ध सिवाय 'काम' और भौतिक कामनाओं के अलावा और कोई सृष्टि नहीं करते। सच पूछा जाय तो पति-पत्नी के बीच अथवा प्रेमी-प्रेमिका के बीच–सारी अज्ञानता, सारा मानसिक द्वन्द्व, सारे मतभेद, सारे विचार-भेद और सभी प्रकार के झगड़ों का मूल कारण मात्र यही है। जिसे वास्तव में 'प्रेम' कहा जाता है—वह परमेश्वर का स्वरूप है। आत्मा की वस्तु है। आत्मा के तल पर मिलन होने पर ही उसका आविर्भाव होता है। स्त्री और पुरुष में एक-दूसरे के प्रति वह शाश्वत प्रेम तभी उत्पन्न होता है—जब कि न जाने कब के बिछुड़े हुए उनके आत्म-खण्ड एक-दूसरे से मिलते हैं।"

स्वामीजी आगे बतलाते हैं—"सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से होनेवाला पति-पत्नी का सम्बन्ध—सच पूछा जाय तो वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। वह सम्बन्ध तो एक नियम और एक व्यवस्था के अन्तर्गत है। उसका आत्मा से अथवा अध्यात्म से किसी प्रकार का नाता-रिश्ता नहीं। जन्म और मृत्यु की दीर्घकालीन यात्रा के बीच प्रत्येक पुरुष न जाने कितनी बार किसीका पति बना होगा? प्रत्येक स्त्री न जाने कितनी बार किसीकी पत्नी बनी होगी—बतलाया नहीं जा सकता। जिसे हम पत्नी के रूप में स्वीकार करते हैं—वह स्त्री न जाने कितने लोगों की पत्नी बनी होगी अग्नि, ब्राह्मण की साक्षी देकर। इसी प्रकार हम भी न जाने कितनी स्त्रियों के पति बने होंगे सामाजिक व धार्मिक वचनों से बद्ध होकर, यह भी बतलाया नहीं जा सकता।

"आज का मनुष्य जिस प्रेम से परिचित है अथवा जिसे वह प्रेम समझता है—वह 'वासना' के सिवाय और कुछ नहीं है। वह वासनाजन्य प्रेम है और वासनाजन्य प्रेम कभी भी सच्चे अर्थों में शाश्वत प्रेम नहीं हो सकता। पर मनुष्य वासना के भीतर ही सच्चे प्रेम को खोजता है। यह उसकी भारी भूल है।

"प्रेम आत्मा का स्वाभाविक गुण है। जब उसका आविर्भाव होता है तो उस समय सारे क्लेश, सारे दुःख, सारे सन्ताप, सारी पीड़ाएँ और सारी व्यथाएँ हमेशा-हमेशा के लिए तिरोहित हो जाती हैं। सारा जीवन प्रेममय हो जाता है। सारा संसार प्रेम के अथाह सागर में डूबा हुआ दिखलाई पड़ने लग जाता है। इसीको भवमुक्ति कहते हैं। यानी हमेशा के लिए आवागमन से मुक्ति। जन्म-मरण से मुक्ति।"

"क्या सृष्टि के इतिहास में कभी कोई आत्म-खण्ड मिलकर इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं?"—मैंने पूछा।

"हाँ! क्यों नहीं?" स्वामीजी बोले—"राधा-कृष्ण, लैला-मजनू, शीरीं-फरहाद आदि इसके ऐतिहासिक उदाहरण हैं। राधा-कृष्ण तो इसके एक परम आदर्श हैं।"

थोड़ा रुककर स्वामीजी ने आगे कहा—"काल के प्रवाह में फँसे आत्मा के दोनों खण्डों के मिलन का नाम ही सच्चे अर्थों में 'योग' है और उस योग को प्राप्त करने का जो उपाय या प्रयास है—वही तन्त्र है।"

रात गहरा गयी थी और उसीके साथ मठ की निस्तब्धता भी गहरी हो उठी थी। पद्मासन की मुद्रा में बैठे स्वामी सत्यानन्द मौन साधे निर्विकार भाव से बाहर शून्य में ताकने लगे थे।

फैरेल साहब ने कुछ बोलना उचित नहीं समझा। उन्होंने एक बार स्वामीजी के भावशून्य चेहरे की ओर देखा—और फिर बाहर निकल आये। निश्चय ही वे काफी प्रभावित हुए थे स्वामीजी से। स्वदेश लौटने पर 'भारत के चमत्कारी पुरुष' शीर्षक पुस्तक लिखी तो उसमें स्वामीजी का विस्तार से उल्लेख किया उन्होंने। खैर।

× × ×

धीरे-धीरे पाँच साल का लम्बा अर्सा गुजर गया। एक प्रकार से स्वामीजी को और उनकी स्मृति-कथा को भूल ही गया था मैं। इस बात की कभी सपने में भी कल्पना नहीं की थी कि वाराणसी में एक बार फिर उनसे भेंट हो जायगी मेरी।

नित्य की भाँति उस दिन भी साँझ के समय गंगा किनारे चेतसिंह पैलेस की बुर्जी पर चुपचाप बैठा था मैं! उसी समय किसीके पदचाप से तन्द्रा भंग हो गयी मेरी। सिर घुमाकर पीछे देखा। गोरे रंग के और आकर्षक व्यक्तित्व के एक प्रौढ़ सज्जन खड़े मुस्करा रहे थे वहाँ। सिल्क का कुर्ता और कीमती धोती पहने हुए थे महाशय। उँगलियों में हीरे, मानिक और पुखराज की अँगूठियाँ थीं और चेहरे पर लक्ष्मी का तेज दमक रहा था। कोई धनी सज्जन हैं—यह समझने में कठिनाई नहीं हुई मुझे। मेरी ओर देखते हुए—उनके मुस्कराने के ढंग से ऐसा लगा—जैसे वे मुझे जानते हैं। मुझसे परिचित हैं।

अचानक उन्होंने हँसकर पूछा—"आपने मुझे पहचाना नहीं?"

"जी······जी नहीं।"

"मैं स्वामी सत्यानन्द हूँ।"

"ऐं, क्या कहा? आप···आप ··सत्यानन्द हैं?"—फिर विस्मय से ताकता ही रह गया मैं।

"जी हाँ। वैसे आपका विस्मित और आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि जिस शरीर में आपने मुझे पाँच वर्ष पहले भजनमठ में देखा था—उसे मैं हिमालय की अपनी गुफा में छोड़ आया हूँ और जिस शरीर में आप मुझे देख रहे हैं—यह कलकत्ते के एक करोड़पति सेठ की काया है।"

सहसा चन्दन की भीनी-भीनी सुगन्ध से भर गया वातावरण। करोड़पति सेठ के रूप में स्वामी सत्यानन्द को देखकर मुझे घोर आश्चर्य हो रहा था।

'परकाया-प्रवेश' की उनकी कथा उन्हींके मुख से सुनी अवश्य थी—फिर भी उसे एकदम सहज ही मेरा मन स्वीकार नहीं कर सका था।

स्वामी सत्यानन्द मुस्कराते हुए मेरे पास बैठ गये और कहने लगे—"चार-पाँच महीने पहले मैंने हरिद्वार में एक पण्डितजी का शरीर ग्रहण किया था और उसी शरीर से मनोरमा और उसके बेटे को देखने के लिए बनारस आया था। माँ-बेटे की हालत काफी दयनीय थी। मनोरमा की जर्जर काया और भिखारिनों जैसी वेश-भूषा और उसके बेटे कश्यप की शोचनीय स्थिति देखकर मेरा मन करुणा से भर उठा। घोर दरिद्रता के कारण मनोरमा अपने बेटे को पढ़ा-लिखा भी न सकी। मनोरमा चार-पाँच घर चूल्हा-बर्तन करती थी। कश्यप अखबार बेचता था। दोनों की उसी आय से किसी प्रकार गृहस्थी का खर्च चलता था। मैं सोचने लगा कि माँ-बेटे की सहायता कैसे करूँ? बुद्धि काम नहीं कर रही थी। मैं पण्डितजी की काया त्यागकर फिर विशुद्ध आत्मा बन गया। एक दिन यों ही शहर में भटक रहा था। अचानक मेरी नजर एक चमचमाती हुई मोटरकार पर पड़ी। मोटरकार से एक मोटा-सा मारवाड़ी सेठ उतर रहा था और उसी समय उसका 'हार्ट फेल' हो गया। मैं वहाँ था। तुरन्त सेठ की काया में प्रवेश कर गया मैं। फिर मैंने आपका भी पता लगाया। अभी-अभी आपके घर से ही आ रहा हूँ। एक सज्जन ने बतलाया कि आप यहाँ हैं। खैर। सेठजी के कोई औलाद नहीं है। शरीर तो आप उसका देख ही रहे हैं। मेरा विचार है कि कश्यप को गोद ले लूं मैं। दत्तक पुत्र के रूप में वह सेठ की अपार सम्पत्ति का मालिक हो जायेगा—और साथ ही मेरा भी कर्तव्य पूरा हो जायेगा। दरिद्रता के दुःख को मैंने खूब महसूस किया है और मैं यह नहीं चाहता कि उस पीड़ा को और उस दुःख को मेरी आत्मा का अंश भी सहे। यदि यह काम हो गया तो सचमुच मेरी आत्मा को परम शान्ति मिलेगी। 'मृत्यु' शरीर की नहीं, आत्मा की भी होती है। अब मैं महसूस करने लगा हूँ कि एक समय ऐसा भी आता है जब 'आत्मा' किसी भी शरीर में रहने से इन्कार कर देती है। अब मेरा ऐसा ही समय आ गया है। मैं समझ रहा हूँ—मेरी आत्मा अब किसी भी शरीर के बन्धन को स्वीकार नहीं करेगी।"

× × ×

स्वामी सत्यानन्द के कहे अनुसार मैं दूसरे ही दिन कश्यप से मिला। उस समय वह गोदौलिया चौराहे पर खड़ा झोला लटकाये 'संसार' और 'आज' अखबार बेच रहा था चिल्ला-चिल्लाकर। जब मैंने उसे बतलाया कि कलकत्ते के एक करोड़पति सेठ उसको गोद लेना चाहते हैं तो वह भौचक्का-सा मेरी ओर देखने लगा।

सेठजी दूसरे ही दिन मनोरमा और कश्यप के साथ मुझे भी लेकर कलकत्ता रवाना

हो गये और एक सप्ताह के भीतर ही सारी कानूनी कारवाई कर उन्होंने कश्यप को गोद ले लिया।

महीनेभर बाद सुना कि सेठजी का हार्ट फेल हो गया। आज काफी लम्बा अर्सा गुजर गया। मनोरमा तो संसार में नहीं है। मगर कश्यप एक उद्योगपति के रूप में कलकत्ते में अपने परिवार के साथ आज भी है।

●

योगी श्रद्धानन्द

रहस्यमय कालीमठ

सन् १९५०-५१ ई०। उन दिनों योग-तन्त्र के विषयों से सम्बन्धित प्राचीन एवं अर्वाचीन पुस्तकों और पाण्डुलिपियों की खोज के सिलसिले में इधर-उधर भटकता हुआ कलकत्ता में ठहरा हुआ था। उसी समय मेरी भेंट हुई तुषारकान्ति घोष से। घोष महाशय कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थे। मगर उनके बड़े भाई समर-कान्ति घोष खुफिया-विभाग में उच्च पद पर थे। एक दिन समरबाबू ने चाय पीते समय बतलाया कि भारत-बर्मा की सीमा पर एक मठ है। नाम है--कालीमठ। बड़ा ही रहस्यमय मठ है वह। करीब ढाई-तीन सौ वर्षों से उसमें योग-तन्त्र की रहस्यमयी साधनाएं गुप्त रूप से होती चली आ रही हैं। काली की एक अतिप्राचीन मूर्ति भी है शायद उस मठ में। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों और पाण्डुलिपियों का दुर्लभ संग्रह भी है वहाँ।

पुस्तकों और पाण्डुलिपियों का नाम सुनकर मेरे मुंह में पानी भर आया और भर आया कौतूहल एवं जिज्ञासा के भाव से मन भी। सोचा, शायद अब मेरे संकल्प के साकार होने का समय आ गया है। समरबाबू से चटपट पूछ बैठा—"आप कैसे जानते हैं उस मठ के बारे में? कैसे पता लगा आपको उन सब बातों का?"

मेरी ओर एक बार देखकर हँसे समरबाबू, फिर बोले—"आप तो जानते हैं कि बंगाल पुलिस के खुफिया-विभाग में मैं एक उच्च पदाधिकारी हूँ।"

"हाँ-हाँ, यह तो मैं जानता हूँ। मगर......"

"उस मठ में खून हो गया है।"

"खून ?……"

"हाँ। कत्ल का मामला है। मगर है काफी रहस्यमय। उसकी छानबीन करने का भार मुझे सौंपा गया है।"

जिस मठ में सैकड़ों साल से योगी साधकों का निवास है और योग-तान्त्रिक साधनाएँ होती आ रही हैं—उस मठ में खून। समझ में नहीं आयी बात मुझे।

मैंने कहना चाहा, मगर उसके पहले समरबाबू बोल पड़े—

"कल मैं जा रहा हूँ, जाँच के सिलसिले में, क्या आप भी चलेंगे?"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं। मैं तो यही चाहता था।"—उत्तर दिया मैंने।

दूसरे दिन समरबाबू के साथ रवाना हो गया मैं। हम दोनों के अलावा पुलिस के दो-तीन वरिष्ठ अधिकारी भी थे साथ में।

अब यहीं से शुरू होती है एक रहस्यमय मठ की एक रहस्यमयी कथा।

आगे जीप जाने का रास्ता नहीं था। पहाड़ी के किनारे दस-बीस घर थे। कुछ मकान कच्चे थे और कुछ ईंटों के बने पक्के। कुछ झोपड़ियाँ भी थीं। जीप हेड मैन की निगरानी में छोड़कर हम सब लोग पहाड़ी पर चढ़ने लगे। काफी ऊँचाई पर पहुँचकर समरबाबू ने कहा—"नीचे चार-पाँच मील तक जंगल फैला है। जंगल के बीच में एक नदी बहती है, नाम है दूधा। उसका पानी दूध की तरह उजला है। इसीसे नदी का नाम दूधा पड़ गया है। दूधा के किनारे ही है वह रहस्यमय कालीमठ।"

मैंने दूर-दूर तक देखा—प्रकृति ने अपने को हरे वसन में लपेट रखा था—जिसमें सफेद और लाल फूलों के बूटे कढ़े थे। कहीं-कहीं ऊँची टेकरियाँ छाती की उभार की तरह दीख पड़ती थीं। उस सम्पूर्ण हरीतिमा के आलोड़ित अंचल में दूधा का दूध-सा पानी कहीं नजर नहीं आया। प्रकृति की उस अनुपम शोभा को निरखते-निरखते हम सब लोग पहाड़ी के नीचे दूसरी ओर उतरने लगे। रास्ते में समरबाबू ने बतलाया कि मठ में किसी युवती का कत्ल हुआ है। इसके पहले भी कई खून हो चुके हैं। समरबाबू आगे बोले—"मठ में काली की एक पुरानी प्रतिमा है। सिद्ध संन्यासियों और अघोरों का वह अड्डा रहता आया है। जब अंग्रेजों का राज्य था और बर्मा भारत में था, उस समय सिद्धि के लिए काली के सामने प्रायः हर अमावस्या की रात्रि में नरबलि होती थी, लेकिन पिछले १९-२० वर्ष से इस तरह की कोई घटना वहाँ नहीं हुई थी। कल फिर किसी युवती की हत्या हुई है।"

यह सब सुनकर एकबारगी दंग रह गया मैं। भारत की एक अतिप्राचीन साधना के ऊपर से रहस्य का आवरण हटता हुआ नजर आया मुझे। जिज्ञासा और घनीभूत हो उठी। आकांक्षा भी प्रबल हो उठी मेरी।

घने जंगलों को पार कर जब हम लोग मठ में पहुँचे उस समय दोपहर हो गयी थी। दिन का एक बज रहा था। सब-इन्स्पेक्टर नारायण और उनके सहयोगी सिपाहियों ने भोजन कर लिया था। नारायण अभी उठे थे। एक २५-२६ साल के युवा संन्यासी से बातें कर रहे थे वे। हम लोगों के पहुँचने पर वातावरण में एक चेष्टापूर्ण सतर्कता छा गयी।

समरबाबू ने पूछा—"लाश कहाँ है ?"

नारायण ने जवाब दिया—"काली के मन्दिर में।"

जब उन्होंने मन्दिर में चलने की इच्छा प्रकट की तो उस युवा संन्यासी ने अत्यन्त विनीत होकर प्रांजल भाषा में कहा—"खेद है कि आपकी इच्छा हम अविलम्ब पूरी नहीं कर सकते हैं। माँ के गह्वर का पट बन्द है। गुरुजी नदी की ओर गये हैं। जब तक वह नहीं लौटते तब तक तो प्रतीक्षा करनी ही होगी।"

उस युवा संन्यासी की भाषा और विनम्रता बतलाती थी कि संन्यासी सुशिक्षित और सुसंस्कृत है।

समरबाबू ने प्रश्नसूचक दृष्टि से संन्यासी की ओर देखा तथा पूछा—"आप ?"

संन्यासी योगानन्द

युवा संन्यासी बोला—"मेरा नाम योगानन्द है। यहाँ गुरु की दीक्षा में हूँ और माँ की सेवा में।"

"आपके गुरुजी कितनी देर में आयेंगे ?"

"शीघ्र ही आ जाना चाहिए।"

"नदी की ओर क्या करने गये हैं ?"

"स्नान करने गये हैं। तीनों समय स्नान करते हैं—प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या को।"

"यहाँ आप दो ही आदमी रहते हैं ?"

"नहीं, दो आदमी और रहते हैं। एक दासी है और एक ब्राह्मण है, जो रसोई बनाता है। ··"

"आपको पता है यह युवती कौन है ?"

"जिसने आत्महत्या की है ?" योगानन्द ने पूछा।

समरबाबू सचेष्ट हो गये। बोले—"इसे आप आत्महत्या समझते हैं।" फिर उनकी दृष्टि योगानन्द की आकृति पर जम गयी।

योगानन्द ने एक बार गहरी नजर से मेरी ओर देखा फिर बोला—"मैं समझता हूँ कि यह क्या है ? आप स्वयं देखेंगे, अपनी आँखों से।" फिर योगानन्द ने पूछा—"आप लोगों के लिए भोजन का प्रबन्ध किया जाये ? फल होंगे, केले इत्यादि।"

हम लोग भूख महसूस कर रहे थे, इसलिए चुप रह गये। समरबाबू पुलिस की सतर्क दृष्टि से योगानन्द को समझने-परखने की चेष्टा कर रहे थे, मगर मैं अपनी गहरी खोज-दृष्टि से उसे देख रहा था।

२४-२५ साल का युवक था—योगानन्द। दाढ़ी-मूंछ और सिर के बाल मुड़े थे। देहयष्टि मांसल न होते हुए भी पुष्ट, गठित और स्वस्थ थी। काषाय वस्त्र में वह अत्यन्त ही भव्य मालूम पड़ता था। आँखों में तेज था, लेकिन भीतर की उदासी और खिन्नता भी उनमें झलकती थी। मठ के विशाल आँगन में ही एक छोटी-सी मेज के सामने कुर्सियाँ लगाकर सब इन्स्पेक्टर ने उसे एक छोटे दफ्तर का रूप दे दिया था। मैंने देखा—"फर्नीचर सभी सुन्दर और कीमती थे। हमारे सामने जिन प्लेटों में फल खाये गये, वे भी सुरुचि के परिचायक थे।

जिस समय हम लोग फल खा रहे थे, उसी समय मठ के मुख्य द्वार से एक भव्य संन्यासी ने प्रवेश किया। ५०-५५ की आयु। ऊँची-चौड़ी काठी। चेहरे की तराश रोमनों जैसी। अंग-अंग में शक्ति भरी लगती थी। आकृति पर गहरी उदासी और करुणा फैल रही थी। जैसे कि सम्पूर्ण जगत् की करुणा उन्होंने अपने भीतर समेट रखी हो। यही थे गुरुजी श्रद्धानन्द।

गुरुजी ने आकर अपना कल्याणकारी हाथ ऊपर उठाया और जल का अभिषेक कर आशीर्वाद दिया—"सर्वे भवन्तु सुखिनः" और बिना किसीसे बोले भीतर चले गये। आधे घण्टे के भीतर अपने भीगे वस्त्रों को बदलकर बाहर आये।

समरबाबू ने कहा—"हम लाश देखना चाहते हैं।"

गुरुजी आगे-आगे चले। एक लम्बा दालान था जो अन्धकार में डूबा था—पार कर काली गह्वर के सामने पहुँचे। फिर गह्वर के पट से उन्होंने अपने गले का रुद्राक्ष छुवाया। फिर चौखट को कपाल से स्पर्श किया और पट खोला।

क्या वह नरबलि थी ?

प्रतिमा के ठीक सामने लाश पड़ी थी—एक सुन्दर युवती की निष्प्राण काया। दश-भुजा क्रुद्ध काली की बायीं ओर की एक भुजा में युवती का सिर था, केशों के बल लटकता हुआ। दायीं ओर की सबसे नीचेवाली भुजा में खड्ग था। खड्ग पर का रक्त सूखकर काला पड़ गया था। सुवासित धूम गह्वर में चारों ओर फैल रहा था। सारा दृश्य ऐसा था कि लगता था कि काली ने युवती के किसी अक्षम्य अपराध का दण्ड अपने हाथों से दिया है।

अपने जीवन की उस अवस्था तक मैं तन्त्र के सभी संप्रदायों से सम्बन्धित साधना-मार्गों का गहरा अध्ययन कर चुका था। उनका गहन चिन्तन-मनन भी कर लिया था,

मगर उस समय मैं तन्त्र-साधना के जिस रहस्यमय सत्य को प्रत्यक्ष देख रहा था, उसने मेरी अन्तरात्मा को एकबारगी हतप्रभ कर दिया था।

क्या वह नरबलि थी ?

नहीं, नरबलि का रूप वह नहीं था। वह कुछ और ही था। लेकिन क्या था ? यह समझ में नहीं आ रहा था मेरे। माँ काली की भुजा में लटकते हुए युवती के मुण्ड को अपलक देख रहा था मैं। उसकी कजरारी आँखें थोड़ी-सी खुली थीं। नीचे का होंठ लटका था। मस्तक पर सिन्दूर का लाल गोल टीका लगा था।

मैं खड़ा-खड़ा सोच रहा था—काली के हाथों में कटा सिर कैसे पहुँच गया, बन्द पत्थर की मुट्ठी में बाल कैसे आर-पार हो गये और फिर नट-बोल्ट से कसे हुए खड्ग में खून कैसे लगा ? प्रतिमा की मुट्ठी से खड्ग को खोलना और फिर बलि देकर उसे यथा-स्थान फिट करना, मुझे जँचा नहीं।

एकाएक करुणा से विचलित अन्तरतम को फोड़कर आनेवाला एक स्वर सुनाई पड़ा—"माँ, क्या तुम्हारी यही इच्छा थी ?"

स्वर ने मुझे चौंका दिया।

देखा, गुरुजी प्रतिमा के नवमुण्डी आसन पर सिर डाले बिलख रहे हैं। भीतर से रुलाई फूटकर आ रही है और उनकी देहयष्टि को हिला रही है। गह्वर के प्रवेशद्वार के पट से सटकर योगानन्द खड़ा था। उसकी आँखें भी लाल थीं और आँसुओं से भरी। गह्वर के सम्पूर्ण वातावरण में रहस्य का धुआँ-सा भरा था। समरबाबू ने प्रश्नसूचक दृष्टि से मेरी ओर देखा। ऐसे अवसर पर पुलिस की जो दक्षता होनी चाहिए, वह भूल गये थे समरबाबू।

सहसा वहाँ के वातावरण के सम्मोहन से मैंने अपने को मुक्त किया। पूछा—"समर-बाबू, क्या है यह सब ?"

समरबाबू मुस्कराये—"देख नहीं रहे हैं ? खून हुआ है।" इसके बाद वे अपने काम में मशगूल हो गये।

रक्त से भीगे पैरों के दाग गह्वर की दायीं दीवार की ओर बढ़ते चले गये थे। दीवार के निकट जाकर पैर के दाग समाप्त हो गये थे। ऐसा लगता था कि दाग दीवार भेदकर पार चला गया है। खून सब सूख चुका था। काली के हाथ में केश-गुच्छ से लटका सिर था। निष्प्राण आकृति काली पड़ गयी थी, लेकिन लगता था कि युवती कमनीय सौंदर्यमयी थी।

नारायण ने काली के हाथ में दबे उस केश-गुच्छ को एक सिपाही की सहायता से छुड़वाया। फिर उन्होंने उस वृद्ध संन्यासी की ओर मुड़कर कहा—"ये काली के हाथ का खड्ग ले जाऊँगा।"

श्रद्धानन्द ने अपना सिर ऊपर उठाया। अन्तस्थ दृष्टि से नारायण की ओर देखा। कहा—"ले जाइये" और चुपचाप उठकर मन्दिर के द्वार के बाहर चले गये।

फिर युवती की लाश हटाकर बड़े ट्रंक में रखी गयी। इस कार्य में योगानन्द ने यत्नपूर्वक सहायता दी। न जाने क्यों मैं योगानन्द के व्यक्तित्व की ओर आकर्षित हो गया था। गौरवर्ण, क्षौर किया मुण्ड और दाढ़ी-मूँछ। स्वस्थ शरीर। कषाय रेशमी चादर और धोती। नगे पाँव। इस व्यक्तित्व के भीतर न जाने क्या था, जो मुझे अपनी ओर खींच रहा था।

ट्रंक बन्द करके चाभी सौंपते समय मैंने देखा कि योगानन्द की आँखें सहज नहीं हैं। वहाँ कुछ पिघलकर बह आने के लिए विकल है, लेकिन योगानन्द ने कुछ भी प्रकट होने नहीं दिया।

समरबाबू ने कहा—"मैं इस सम्बन्ध में आपसे कुछ पूछना चाहूँगा।"

नारायण ने मन्दिर का पट बन्द किया। ताला लगाया। उसे सील किया और चाभी अपने जेब के हवाले की और हम लोग योगानन्द के पीछे चल पड़े।

कालीमठ का रहस्यमय वातावरण, एक नवयुवती का खण्डित मुण्ड शव, श्रद्धानन्द का अन्तर फोड़कर आनेवाला स्वर और योगानन्द का गम्भीर, असाधारण एवं रहस्यमय व्यक्तित्व मेरे मन को मथे डाल रहा था। योगानन्द एक-एक पैर उठाता हुआ आगे बढ़ रहा था और उसके पीछे हम सब लोग सिर लटकाये चले जा रहे थे।

× × ×

योगानन्द का मन्त्रपूत अध्ययन-कक्ष

मन्दिर का प्रांगण बहुत लम्बा-चौड़ा था। काले और लाल पत्थरों की बनी चहारदीवारी जहाँ-तहाँ से टूटी हुई थी। प्रधान मन्दिर से लगे दोनों ओर कई बड़े-बड़े साधनागृह बने हुए थे। लेकिन अब उनमें कोई साधना नहीं करता था। काल के थपेड़ों ने उनकी दीवारों को गिराकर उन्हें खण्डहर बना दिया था। मन्दिर के प्रांगण में प्रवेश करने के लिए प्रधान मन्दिर के ठीक सामने ही एक विशाल द्वार था। सम्भव है कि कभी वह द्वार बन्द भी किया जाता रहा हो, लेकिन आज उसमें लगे कपाटों का अवशेष भी नहीं था। द्वार के एक ओर प्रांगण में ही ईंटों को जोड़कर एक कमरा बनाया गया था। कमरे के द्वार पर लाल साटन पर रेशम से काम किया पर्दा लटक रहा था। योगानन्द ने कहा—"जूते बाहर ही उतार दीजिये।"

हम लोगों को लेकर वह कमरे में प्रविष्ट हुआ। कमरे के भीतर पहुँचकर हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे किसी राजपरिवार के आधुनिकतासम्पन्न कमरे में जा पहुँचे हों। कमरे में चौड़ी-चौड़ी आठ खिड़कियाँ थीं, जिनसे दूधा की ओर से शीतल हवा आ रही थी और भरपूर प्रकाश आ रहा था। उन खिड़कियों के बाहर अनन्त प्रकृति

अपनी हरीतिमा में मुस्करा रही थी। खिड़कियों पर लाल साटन के उसी तरह काम किये पर्दे थे। कमरा अपेक्षाकृत बड़ा था, फर्श पर कीमती कालीन बिछा था, एक ओर दो खिड़कियों के बीच शेल्फ बने थे। उनमें हजारों की संख्या में किताबें लगी थीं चमड़े की जिल्दों में मढ़ी—जिन पर सुनहरे रोमन अक्षरों में उनके नाम अंकित थे। किताबों पर प्लास्टिक का पारदर्शक पर्दा पड़ा था। कोच, सोफे साफ, सुन्दर और कीमती थे। एक ओर पढ़ने-लिखने का बड़ा-सा टेबल था। कोच के निकट हिज मास्टर्स वायस का एक सेट रखा था। एक बात कहना मैं भूल गया। कमरे में प्रवेश करते समय मुझे ऐसा लगा था कि एक प्रकार की शीतल तथा भीनी सुगन्ध से भरा हल्का-हल्का-सा कुछ मेरे मन, प्राणों में समाया जा रहा है। उससे अंग-अंग में पुलक भर गयी और मन की हालत ऐसी हो गयी कि जैसे हमने शराब पी ली हो। यह सहसा क्या हो गया, इसी भाव से आन्दोलित होकर नारायण ने मेरी ओर, मैंने नारायण की ओर एक साथ ही देखा। पुलिस की सतर्क नजर में ही नारायण ने मुझसे पूछा—"हमारे साथ धोखा तो नहीं किया जा रहा है?"

तभी योगानन्द ने कहा—"बैठिये।" और उसने मन्दिर के परिचारक को बुलाकर चाय लाने के लिए कहा।

हमारे मन के तल से कौतूहल और जिज्ञासा उठ-उठकर ऊपर आती रही। इस कमरे में क्या कोई योगी रहता है? योगी का साधना गृह क्या ऐसा ही होता है?-हल्के हरे रंग से पालिश की हुई दीवारें, जिनके ऊपर-नीचे खिड़कियों और दरवाजों को घेरकर सुनहरी धारियाँ और फूल अंकित थे। खिड़कियों के बीच में खिड़कियों के बराबर ही नामी-गरामी चित्रकारों के चित्र थे। पुस्तकों के शेल्फ के ऊपर योगी श्रद्धानन्द का बड़ा-सा फोटोग्राफ था, जिसके गिर्द ताजे मोतियों की मालाएँ पड़ी थीं। पलंग और सोफों के बीच न टूटनेवाले शीशे का एक छोटा-सा टेबुल था, जिस पर रखे गुलदस्ते में गुलाब की ताजी कलियाँ खिलने को थीं।

"क्या यह योगानन्द योगी है, साधक है?"

शायद इसी विस्मय को योगानन्द ने हमारी आँखों में देखकर कहा—"इन सारी वस्तुओं को देखकर आपको विस्मय हो रहा है? क्या करूँ? मैं बाबा की तरह नहीं रह सकता। वह नंगी जमीन पर सोते हैं, एक समय भोजन करते हैं, केवल फल खाते हैं। आत्मा की साधना के लिए शरीर को पहले साधना पड़ता है, लेकिन आज इस बीसवीं सदी में मैं भी उसी ढंग से रहूँ, यह मेरा मन स्वीकार नहीं करता। बाबा कहते हैं—'साधक को इसमें भटकना नहीं चाहिए। चीजें हमारी सुविधा के लिए हैं। हम उनके लिए नहीं हैं।' इसी भाव का नाम गीता के अनुसार अनासक्तभाव है।"

मैं योगानन्द की पुस्तकों के शेल्फ की ओर देख रहा था। वहाँ योग-तन्त्र, ज्योतिष,

दर्शन और वेदान्त की देशी-विदेशी भाषाओं की पुस्तकें थीं। मैस्मरिज्म की किताबों से लेकर भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र की किताबें भी थीं।

चाय आ गयी। अनब्रेकेबुल ग्लास की ट्रे। ट्रे के नीचे तिरंगी प्राकृतिक छवि। परिचारक ने लाकर ट्रे बीचवाले टेबुल पर रख दी। एक हल्की कुर्सी लेकर योगानन्द ट्रे के सामने बैठ गये। चार प्यालों में चाय तैयार की और उन्हें मेरी ओर बढ़ा दिया। नारायण ने शंका की दृष्टि से मेरी ओर देखा, कहीं धोखा तो नहीं है?

मैं क्या करता? आँखों ही आँखों में कहा—"ईश्वर जाने।" फिर आँखों ने ही पूछा—"चाय पीओगे?" और आँखों ने ही जवाब दिया—"कैसे पी जाये?"

योगानन्द ने कहा—"लीजिये।"

उसकी आँखें उठीं। क्षणभर मुझे और क्षणभर नारायण को देखकर फिर झुक गयीं। योगानन्द ने एक प्याले में और चाय तैयार की। कहा—"मैं चाय नहीं पीता, लेकिन इस समय तो पीनी ही पड़ेगी। यह चाय ही है और कुछ नहीं, यह विश्वास तो अतिथियों को दिलाना पड़ेगा।" और उसने अपना प्याला उठाकर ओठों से लगाया।

हम लोगों की नजरें झुक गयीं।

चाय के बीच योगानन्द ने कहा—"मैं यहाँ भारतीय योगविद्या के सम्बन्ध में रिसर्च कर रहा हूँ। यह काम कठिन है। रिसर्च करनेवाले को पहले साधक बनना पड़ता है। साधना का मार्ग ज्ञान का मार्ग नहीं है, विश्वास का मार्ग है। भारतीय योगविद्या पहले एक हजार वर्षों तक ठुकरायी जाती रही है। पश्चिम के आये विज्ञान ने विश्वास को छिन्न-भिन्न कर दिया है। सब कुछ 'एसकैटर्ड' है। ऐसे में से ही इस विद्या को निकालकर पाना है।" फिर अन्त में योगानन्द ने मेरा परिचय पूछा। वह मुझे अभी तक पुलिस का कोई अफसर ही समझ रहे थे और जब मैंने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं भी योग का अध्ययन कर रहा हूँ तो वह काफी प्रसन्न हुए।

मैंने यों ही पूछा, "योग में आपको विश्वास है?"

"है।"

"यह विश्वास कैसे पैदा हुआ?"

"साधना से।" योगानन्द ने कहा—"सिद्धियों के और प्रयोगों के अपने चमत्कार हैं। प्रयोग में मन्त्रबल है और सिद्धि में आत्मबल तथा मनोबल है। पहले मैं मन्त्र को अस्वीकार करता था। अब अस्वीकार नहीं करता। यह कमरा मन्त्रपूत है। बाबा ने इसे मन्त्रपूत किया है। इस कमरे में प्रवेश करते ही मनुष्य की प्राणशक्ति बढ़ जाती है। गुलदस्ते में यह फूल देख रहे हैं न? लगता है कि कुछ क्षण पहले तोड़कर गुलदस्ते में लगाये गये हैं। लेकिन ये इस कमरे में हैं इसलिए इतने ताजा हैं। कमरे से बाहर होकर मुरझा जायेंगे।" और योगानन्द ने वह गुलदस्ता लाकर मेरे हाथ में दे दिया

तथा कहा—"आप इस गुलदस्ते को बाहर ले जाकर देखें।" मैं उसे बाहर ले गया। सचमुच गुलदस्ते के सभी फूल, जो अब तक खिले और ताजे थे, एकाएक मुरझाकर बिखर गये जमीन पर। यह देखकर सभी को आश्चर्य हुआ, मगर कोई कुछ बोला नहीं।

योग की परिभाषा

"आपकी दृष्टि में योग की क्या परिभाषा है ?" विषय को बदलते हुए पूछा।

"संसार के प्रति तटस्थता, उपेक्षा, वीतरागता और अनासक्ति—मेरी दृष्टि में यही योग की परिभाषा है।"

थोड़ा रुककर योगानन्द ने आगे कहा—"मृत्यु पर चिन्तन, शरीर की वस्तुस्थिति पर मनन, शरीर के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन और शरीर के आन्तरिक तत्त्वों को जानने का प्रयास यह भी योग का विषय है—योग के इन विषयों का ज्ञान एकमात्र ध्यानयोग द्वारा ही संभव है। योग के जितने भी साधन-मार्ग हैं उनमें—ध्यानयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मुख्य है। ध्यानयोग को सभी सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है। ध्यानयोग ही एक ऐसा मार्ग है जिसके माध्यम से हम इन्द्रियों की समस्त सीमाओं को पार कर अपने आन्तरिक जीवन के अतिरिक्त अन्तर्जगत् में प्रवेश करते हैं और सीधा चेतन तत्त्व से सम्पर्क स्थापित करते हैं।"

"आत्मोन्नति और चेतना के विकास के लिए आपकी दृष्टि में कौन-से महत्त्वपूर्ण मार्ग हैं ?"—मैंने पूछा।

तपश्चर्या की परिभाषा

मेरा प्रश्न सुनकर खिड़की के बाहर शून्य में देखते हुए योगानन्द कहने लगे-"आपने गीता तो अवश्य पढ़ी होगी। भगवान् श्रीकृष्ण को हम योगेश्वर कहते हैं। योगेश्वर का तात्पर्य है, योग की समस्त सिद्धियों का स्वामी। भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है कि मुख्य रूप से तीन वस्तुएँ हैं—पहली वस्तु है शरीर। दूसरी वस्तु है मन। तीसरी वस्तु है आत्मा। इन तीनों वस्तुओं के समन्वय का नाम मानव है और है मानव-जीवन। वे तीनों वस्तुएँ एक-दूसरे पर आश्रित हैं। शरीर अकेला कुछ नहीं कर सकता और आत्मा भी बिना शरीर और मन के चैतन्य और क्रियाशील नहीं हो सकता। मन शरीर की माँग करता है। इसी प्रकार आत्मा मन की आवश्यकता अनुभव करती है। इस मूल तथ्य के आधार पर गीता में भगवान् ने दो प्रकार की साधनाओं का उल्लेख किया है। पहली है—योग। दूसरी है—सांख्य। दूसरे शब्दों में हम इन दोनों को कर्मयोग और ज्ञानयोग भी कह सकते हैं। पहली साधना शरीर को मन से तोड़ने की साधना है। शरीर का अस्तित्व स्वतन्त्र हो और मन का भी अस्तित्व स्वतन्त्र हो। दोनों का आपसी सम्बन्ध आन्तरिक रूप से भंग हो। यह योग का विषय है। इसी

विषय का नाम तपश्चर्या है। मतलब यह कि योग तपश्चर्या मात्र है। तपश्चर्या का अर्थ है—शरीर से मन को अलग करना। लेकिन तपश्चर्या यानी योग का मार्ग बहुत लम्बा है। उसकी यात्रा बहुत लम्बी है और साथ-साथ अत्यन्त कठिन भी है। इसके अतिरिक्त उसका परिणाम भी संदिग्ध है। कब और किस अवस्था में उसका परिणाम प्रत्यक्ष होगा यह कहना असम्भव है।

"दूसरी साधना है—सांख्य यानी ज्ञानयोग की जिसका उद्देश्य है मन को चेतना यानी आत्मा से अलग करना। मन और आत्मा के सम्बन्ध को तोड़ने की जो प्रक्रिया है, उसीको हम वेदान्त कहते हैं और कहते हैं ज्ञान। ज्ञान वह वस्तु है जिसके द्वारा हम अपने मन को अपनी चेतना से अलग करते हैं। मनरहित चेतना ही विशुद्ध आत्मा है। आत्मा को शुद्ध-विशुद्ध करना और जीवभाव से उसे मुक्त करना ज्ञानयोग का महत्त्वपूर्ण विषय है। अगर नाम ठीक देने हों तो नाम ऐसे दे सकते हैं—शरीर से मन को तोड़ो, इसका नाम है योग और मन को आत्मा से तोड़ो, इसका नाम है सांख्य। बस, ये दो ही निष्ठाएँ हैं—योगनिष्ठा और सांख्यनिष्ठा। सांख्य का अर्थ है, मात्र ज्ञान पर्याप्त है और कुछ करना नहीं है। अपने-आपको संसार से और शरीर से निर्लिप्त समझना और अपने-आपको पूर्ण मुक्त समझना सांख्य है, यानी ज्ञान।

"और योग का अर्थ है, बहुत कुछ करना पड़ेगा तभी कुछ सम्भव हो सकेगा। यह सूत्र सांख्य का है और यह सूत्र ज्ञान का है। अपनी आत्मा में ही समस्त वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, ऐसा जान लेने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत परमब्रह्म व्यक्ति बन जाता है। कुछ और करना नहीं है।"

साधना का तात्पर्य

"साधना से आपका क्या तात्पर्य है ?"—मैंने पुनः प्रश्न किया।

मेरा प्रश्न सुनकर कुछ देर तक योगानन्द मौन साधे रहे। फिर गम्भीर स्वर में कहने लगे—"आप तो जानते ही हैं कि संसार द्वन्द्वात्मक है। द्वैत पर स्थित है। अगर द्वन्द्व न हो तो काल में गति न हो। द्वैत के कारण काल का प्रवाह है। यह साधकों के लिए गहराई से सोचने की बात है कि जिसे हम साधना कहते हैं वह द्वैत अथवा द्वन्द्व से परे है। उसका सम्बन्ध न अच्छाई से है और न बुराई से है। न पाप से है न पुण्य से है। न स्वर्ग से है न नरक से है। साधना के सम्बन्ध में हमारे मन में भ्रान्ति होती है कि वह भलाई अथवा अच्छाई को बढ़ाने के लिए है, नहीं। यह मात्र भ्रम है। साधना का कोई भी सम्बन्ध भलाई अथवा अच्छाई को बढ़ाने से नहीं है। न साधना का कोई सम्बन्ध बुराई को कम करने से है। साधना का सम्बन्ध तो दोनों का अतिक्रमण, दोनों के पार हो जाने से है। साधना हमें अच्छाई-बुराई, दुःख-सुख और पाप-पुण्य से अलग कर देना चाहती है। उनसे ऊपर उठा देना चाहती है। सच तो यह है

कि साधना न तो अँधेरे को मिटाना चाहती है और न तो प्रकाश को बढ़ाना ही चाहती है। साधना तो साधक को दोनों का साक्षी बनाना चाहती है। हम दुःख के भी साक्षी रहें और सुख के भी। हम पाप के भी साक्षी रहें और पुण्य के भी। हम बुराई के भी साक्षी रहें और अच्छाई के भी। हम तटस्थ द्रष्टा और साक्षी मात्र रहें और अपने जीवन के भी साक्षी और अपनी मृत्यु के भी साक्षी रहें।"

थोड़ा रुककर कुछ सोचते हुए योगानन्द ने आगे कहा—"इस संसार में तीन दशाएँ हैं—एक बुरे मन की दशा है। एक अच्छे मन की दशा है और एक दोनों के पार अमन की यानी 'नो माइण्ड' की दशा है। साधना का प्रयोजन है कि अच्छे-बुरे दोनों से आप मुक्त हो जायँ और जब तक दोनों से मुक्त न होंगे तब तक मुक्ति की कोई गुंजाइश नहीं। अगर आप अच्छे को पकड़ लेंगे तो अच्छे से बँध जायेंगे।

"बुरे को छोड़ेंगे। बुरे से लड़ेंगे तो बुरे के जो विपरीत है उससे बँध जायेंगे। चुनाव है—कुएँ से बचेंगे तो खाई में गिर जायेंगे। लेकिन अगर दोनों को चुनें और दोनों को न अपनायें तो वही परम साधक की खोज है कि कैसे वह घड़ी आ जाय जब मैं कुछ ही न चुनूँ! अकेला ही बचूँ। मेरे ऊपर कुछ भी आरोपित न हो। न मैं बुरे को अपनाऊँ और न भले को ही। मेरे लिए सब समाप्त हो जाय। मैं वही बचूँ जो निपट अपने स्वभाव में हूँ।

"स्वभाव की यह जो सहज दशा है, जो सहज अवस्था है इसे न तो आप अच्छा कह सकते हैं न तो बुरा। यह दोनों के पार है। यह दोनों से भिन्न है। यह दोनों के अतीत है। लेकिन साधारणतः हम साधना से यही सोचते हैं, अच्छा होने का प्रयास। उसके कारण हैं। उस भ्रान्ति के पीछे बहुत बड़ा लम्बा इतिहास है।

"समाज की आकांक्षा हमको-आपको अच्छा बनाने को है। क्योंकि समाज तमाम बुराइयों से पीड़ित होता है। समाज बुरे से परेशान होता है। इसलिए समाज अच्छा बनने का प्रयास करता रहता है। समाज आपको और हमको साधना में नहीं ले जाना चाहता। उसे साधना से कोई सम्बन्ध नहीं। समाज तो केवल इतना ही चाहता है कि आप तमाम बुराइयों के बन्धन से मुक्त हों और अच्छाइयों के बन्धन में बँधें। यदि देखा जाय तो दोनों ही बन्धन हैं। अच्छाई भी बन्धन है। बुराई भी बन्धन है। समाज तो यह भी नहीं चाहता है कि आप परम स्वतन्त्र हों। क्योंकि परम स्वतन्त्र व्यक्ति तो समाज का शत्रु जैसा मालूम पड़ेगा। समाज यही चाहता है कि रहें तो आप परतन्त्र ही, पर समाज जैसा चाहता है उस ढंग से परतन्त्र हों। समाज बराबर यही चाहता है कि आप बराबर अच्छे बने रहें, ताकि समाज को कोई उच्छृंखलता, कोई अनुशासन-हीनता, आपके द्वारा कोई उपद्रव, बगावत अथवा विद्रोह न झेलना पड़े।

"समाज आपको धार्मिक भी नहीं बनाना चाहता। वह आपको ज्यादा-से-ज्यादा नैतिक बनाना चाहता है। आपको मालूम होना चाहिए कि नीति और धर्म दो अलग-अलग चीजें हैं। एक नास्तिक व्यक्ति भी नैतिक हो सकता है। जिन्हें हम नास्तिक कहते हैं वह उनसे ज्यादा नैतिक होता है। ईश्वर के अस्तित्व के होने की कोई आवश्यकता नहीं है—आपके अच्छे होने के लिए। न मोक्ष की आवश्यकता है। सच तो यह है कि आपके अच्छे होने के लिए केवल एक विवेक की आवश्यकता है। तो नास्तिक भी अच्छा हो सकता, नैतिक भी हो सकता है। यह हुई सामाजिक नीति की बात। रही धर्म की बात। धर्म कुछ अलग ही है। धर्म से नीति का कोई मतलब नहीं।

"मुझे इतने से प्रयोजन नहीं है कि आप चोरी नहीं करते, पाप नहीं करते। झूठ नहीं बोलते अथवा किसी प्रकार का कुकर्म नहीं करते, बड़ी अच्छी बात है। लेकिन चोरी न करने,झूठ न बोलने और किसी भी प्रकार का पाप अथवा कुकर्म न करने से कोई मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो सकता। जब चोरी करनेवाले को कुछ नहीं मिलता। झूठ बोलनेवाले को कुछ नहीं मिलता और किसी प्रकार का कुकर्म करनेवाले को कुछ नहीं प्राप्त होता तो इन सबसे बचनेवाले को क्या मिल जायेगा? जब धन एकत्र करनेवाले को कुछ नहीं मिलता तो धन छोड़कर क्या मिल जायेगा? अगर धन, सम्पत्ति आदि इकट्ठा करने से कुछ नहीं मिलता होता तो शायद धन-वैभव छोड़ने से भी कुछ मिल जाता। जब कामभोग में डूब-डूबकर कुछ नहीं मिलता तो उनको छोड़ने से क्या मिल जायेगा? वह सब कचरा है। उसको छोड़ के, उसका त्याग करके मोक्ष नहीं मिल जानेवाला है। इस मूलभूत तथ्य को समझना थोड़ा कठिन है। एक बात ध्यान रखने योग्य है। वह यह कि जिस वस्तु अथवा जिस चीज से लाभ हो सकता है उससे हानि होना भी निश्चित है। इसी प्रकार जिससे हानि हो सकती है उससे लाभ की भी सम्भावना बन सकती है। अगर जिस वस्तु अथवा चीज से कोई लाभ ही न होता हो उससे कोई हानि भी नहीं हो सकती। अगर धन को एकत्र करने से तथा सम्पत्ति का संग्रह करने से कोई भी लाभ नहीं होता तो हानि भी नहीं हो सकती। सच्चे अर्थों में धार्मिक वह व्यक्ति है जो अच्छे अर्थों में विवेकशील है, वह धन-सम्पत्ति के इकट्ठा करने को मूढ़ता समझता-मानता है–बुराई नहीं। वह बाल-बुद्धि है। इसी प्रकार सच्चे अर्थों में धार्मिक और विवेकशील व्यक्ति काम-वासना में डूबे हुए व्यक्ति को, काम-वासना और भोग-विलास में भी लिप्त व्यक्ति को पापी नहीं कहता, केवल अज्ञानी कहता है। उसे पता नहीं कि वह क्या कर रहा है। धर्म की कोई इच्छा नहीं कि आप जिन-जिन चीजों को समाज बुरा कहता है उन्हें छोड़ देंगे तो आप मुक्त हो जायेंगे। वास्तविकता तो यह है कि बुराई को छोड़ने और अच्छाई को अपनाने से न मुक्ति मिल सकती है न मोक्ष। सज्जन पुरुषों का अभाव नहीं है। सज्जन लोग हमारे बीच हैं। फिर भी मोक्ष

उनसे उतना ही दूर है जितना दुर्जन से। उस दूरी में कोई अन्तर नहीं पड़ता। मोक्ष की दूरी में तो तभी कमी होनी शुरू हो जाती है जब आप न दुर्जन रह जाते हैं और न सज्जन ही। न पापी रह जाते हैं और न पुण्यात्मा और न साधु रह जाते हैं और न असाधु। क्योंकि इन दोनों का द्वन्द्व है और जब तक द्वन्द्व नहीं टूटता और जब तक द्वन्द्व से परे नहीं चले जाते हैं हम तब तक योग की जो सर्वोच्च अवस्था परमहंस-अवस्था है, प्राप्त नहीं हो सकती।"

इतना कहकर योगानन्द किन्हीं विचारों में डूब गये। योगानन्द सचमुच अपने विषयों की तमाम गहराइयों से परिचित लगे। कुछ देर बाद पूर्ववत् गम्भीर स्वर में उन्होंने कहना शुरू किया—"आप यह जानना चाहेंगे कि साधना का प्रयोजन क्या है?" "हाँ! यही मैं जानना चाहता था।"—मैंने कहा। मेरा प्रश्न सुनकर योगानन्द हल्के से मुस्कराये और फिर बोले—"साधना का प्रयोजन है परमहंस-अवस्था की उपलब्धि।" "परमहंस का तात्पर्य क्या है?"—मैंने पुनः प्रश्न किया। "परमहंस का मतलब है द्वन्द्व से निवृत्त हो जाना। द्वन्द्व से अपने-आपको मुक्त कर देना। लेकिन हमें भय लगता है। क्योंकि कोई व्यक्ति अगर बुराई-भलाई दोनों छोड़ दे—जैसे ही हम यह सोचते हैं तो हमें भय लगता है कि आदमी बुरा हो जायेगा। यह बड़ी गहरी बात है। यदि हम आपसे कहें कि आप अच्छाई-बुराई-भलाई आदि छोड़ दें तो आप जानते हैं, आपके मन में तत्काल बुरा कार्य करने का विचार उत्पन्न हो जायेगा। भलाई को छोड़ना बिल्कुल सरल है। उसको तो कभी पकड़ा ही नहीं इसलिए उसके त्याग का कोई प्रश्न ही नहीं है। आपको यदि इस बात का पता चले कि दोनों बेकार हैं, तो आप तुरन्त बुरे मार्ग पर चलने लग जायेंगे। इस स्वयं की मनोदशा के कारण धर्म की यह जो परम आत्यंतिक धारणा है—दोनों के पार हो जाना उससे हमें भय लगता है। लेकिन अगर आप समझेंगे साधना का अर्थ·····।"

साधना का मूलभूत अर्थ

"साधना का मूलभूत अर्थ है, शनैः-शनैः और धीरे-धीरे बाह्य जगत् की तरफ से अपने को मोड़कर अपने भीतर यानी अन्तर जगत् में प्रवेश करना। अच्छाई भी बाहर है, बुराई भी। मगर आप चोरी करते हैं। अगर आप झूठ बोलते हैं तो ऐसी स्थिति में भी आपके अलावा किसी और का होना आवश्यक है।"

"क्यों?"

"इसलिए अकेले आप न तो झूठ बोल सकते हैं न चोरी कर सकते हैं। इसके लिए दूसरे का होना आवश्यक है, तभी आप चोरी कर सकते हैं और तभी आप झूठ बोल सकते हैं। यदि इस संसार में आप अकेले रह जायें और सब कुछ नष्ट हो जाये तो आप चोरी कर सकियेगा फिर? झूठ बोल सकियेगा फिर? किसकी चोरी करियेगा?

किससे झूठ बोलियेगा ? तब चोरी और झूठ का अर्थ ही क्या होगा ? यदि आप एकाकी हैं तो चोरी नहीं कर सकते। यदि आप अकेले हैं तो दान कर सकेंगे ? दान भी कर नहीं सकते। दान के लिए भी दूसरे की आवश्यकता है।

"तो चोरी हो या दान, पाप हो या पुण्य, नीति हो या अनीति, यह सब बाहर की बातें हैं, बाहर की घटनाएँ हैं। सारा संसार नष्ट हो जाय, यदि आप केवल अकेले बचें तो ऐसी अवस्था में एक काम अवश्य कर सकते हैं और वह काम है, ध्यान। आप अकेले में बिना किसीकी सहायता के और बिना किसीके सहयोग के ध्यान कर सकते हैं। ध्यान का सम्बन्ध अन्य किसीसे नहीं है। उसका सम्बन्ध केवल आपसे है। ध्यान आपके एकाकी जीवन की आन्तरिक घटना है। बाहर की किसी वस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ध्यान आन्तरजगत् का प्रवेशद्वार है। ध्यान के द्वारा हम धीरे-धीरे अपने भीतर प्रवेश करते हैं।

"पाप हो या पुण्य। अच्छाई हो या बुराई। नीति हो या अनीति। सभी बाहर भटकाते हैं। अच्छाई भी बाहर है। बुराई भी बाहर है। समाज में अच्छाई भी है, बुराई भी है। उन दोनों का आन्तर जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है।"

धीरे-धीरे साँझ की स्याह कालिमा धरती पर बिखरने लगी थी। वातावरण धीरे-धीरे आध्यात्मिक होता जा रहा था। ऐसा लगता था, मानों हम किसी ऐसे अदृश्य जगत् में प्रवेश करते जा रहे हैं, जहाँ शून्य के सिवा कुछ नहीं है। योगानन्द भी मानों सब कुछ भूलकर अपने-आपमें लीन हो गये थे। थोड़ा रुककर वे आगे कहने लगे—"शर्माजी, यदि हम यह कहें कि साधना का एकमात्र अर्थ है, ध्यान तो साधुतर होगा और ध्यान का अर्थ है, अन्तरमुखता। मोटी-मोटा साधना का यही मौलिक अर्थ है। उसे मैं जानूँ जो अपनी निजता में है। इसका दूसरे से सम्बन्धित होने का कोई मतलब नहीं। साधना का सम्बन्ध किसी चीज से नहीं है। किसी भी बाहरी वस्तु से नहीं है। साधना का एकमात्र सम्बन्ध है स्वयं से, मैं उसे जान लूँ 'जो मैं हूँ', उसे चोरी करके, झूठ बोल करके कोई नहीं जान पाता और न चोरी छोड़ के और न सत्य बोल के उसे जान पाता है। न कोई पाप करके जान पाता है और न पुण्य करके। चोर भी भटकते हैं। बेईमान भी भटकते हैं। पापी भी भटकते हैं। इसी प्रकार ईमानदार भी भटकते हैं। पुण्यात्मा भी भटकते हैं और सज्जन भी भटकते हैं। न तो बुरा करके उसे कोई कभी जाना है और न तो भला करके ही कोई समझ पाया है। उसे जानने-समझनेवाले को तो सभी 'करना' छोड़ देना पड़ता है—बुरा भी, भला भी। पाप भी, पुण्य भी। उसे तो भीतर की प्रक्रिया में आकण्ठ डूब जाना पड़ता है। उसे तो बाह्य जगत् से अपने नेत्र बन्द कर देने पड़ते हैं। उसके लिए काम-वासना भी व्यर्थ है। उसके लिए ब्रह्मचर्य की भी कोई कीमत नहीं है। वह भी इसके लिए दो कौड़ी का है। इसलिए कि काम-वासना और

ब्रह्मचर्य दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मनुष्य को ब्रह्मचर्य मूल्यवान् दिखाई पड़ता है। क्योंकि काम-वासना में उसको रस है, आसक्ति है। जिस दिन आपके भीतर काम-वासना का रस समाप्त हो जायेगा, तो समझिये उस दिन आपके लिए ब्रह्मचर्य भी दो कौड़ी का हो जायेगा। उसका कोई मूल्य नहीं होगा। अभी तो हम कामों का चुनाव करते हैं। यह काम बुरा है, वह काम अच्छा है। कर्म पर ही हमारा जोर है। वह जो करने के पीछे छिपा हुआ हमारा स्वभाव है, उस पर हमारा कोई जोर नहीं है। उसे जान लें। जो बुरा भी करता है और भला भी करता है, उसे जान लें। जो दोनों के पीछे छिपा है, उसे जान लें। जो कर्म करके भी अकर्ता है, उसे जान लें। जो सबका द्रष्टा है। उससे आपके कर्म का कोई लेना-देना नहीं है, यही साधना का उद्देश्य है, यही साधना का प्रयोजन है।"

पूरे एक घण्टे तक लगातार बोलने के बाद योगानन्द चुप हो गये और फिर सिर पीछे कर आँखें बन्द कर लीं। साँझ की स्याह कालिमा धीरे-धीरे रात्रि की प्रगाढ़ता में बदल गयी थी। मठ के प्रांगण में रात्रि की स्याह कालिमा फैल चुकी थी। योगानन्द एकाएक उठे और विनम्र स्वर में बोले—"अच्छा, अब मुझे आज्ञा दीजिये। माँ की सन्ध्या आरती का समय हो गया है।"

योगानन्द चले गये और मैं उन्हें जाते हुए देखता रहा और सोचता रहा, कितने ऊँचे विचार हैं, तर्क हैं और है कितनी ऊँची धारणा योगानन्द की। सचमुच योगी हैं योगानन्द और हैं सचमुच खोजकर्ता। मन ही मन नत हो गया मैं उनकी विद्वत्ता और योग्यता के सामने।

× × ×

ज्योत्स्ना कौन थी ?

पुलिस अपनी दृष्टि से पूछ-ताछ और छान-बीन कर रही थी, जब कि मैं अपनी दृष्टि से तमाम घटनाओं पर चिन्तन, मनन कर रहा था। योगानन्द विद्वान् था, साधक था और विचारक भी था। उसके हाथ से ऐसा अपराध कदापि नहीं हो सकता था।

दूसरे दिन समरबाबू ने बिल्कुल सबेरे योगानन्द को बुलाया और पूछा—"यह युवती कौन थी ? आप जानते हैं ?"

इस प्रश्न से योगानन्द थोड़ा हतप्रभ हुआ। उसने दोनों हाथों की हथेलियों को रगड़ा, फिर उन्हें अपने मुँह पर फेरा। फिर वह सिर पकड़कर बैठा रहा। कई क्षणों तक वह कुछ नहीं बोला।

समरबाबू ने अपना प्रश्न फिर दुहराया—"उस युवती को आप जानते हैं ?"

योगानन्द ने सिर से हाथ हटाकर कहा—"सच पूछिये, तो कोई किसीको नहीं

जानता। लेकिन यह कहकर मैं उबर नहीं सकता। उसका नाम था—ज्योत्स्ना। मेरा उसका परिचय बनारस में हुआ था।"

नाम थोड़ा परिचित-सा लगा मुझे और जब बनारस का नाम लिया योगानन्द ने तो एकबारगी चौंक पड़ा मैं। मगर उस समय पुलिस पूछताछ कर रही थी, इसलिए बीच में मुझसे कुछ बोला न गया। मौन रहा।

"मैं भी विश्वविद्यालय में था और वह भी थी। एक बालविधवा की एकमात्र पुत्री थी—ज्योत्स्ना। उस विधवा का नाम है—दयामयी।"

दयामयी नाम सुनकर गहरा झटका लगा मुझे। इस नाम से भी परिचित था मैं।

योगानन्द आगे कहता गया—"राम जाने दयामयी नाम है भी या नहीं। लेकिन वह दयामयी है, शायद इसीसे लोग उसे दयामयी कहते हैं। बनारस में उसके कई मकान हैं, जिनका काफी किराया आता है। इसके अलावा उसका एक योगाश्रम भी है, जिसमें ८ से १६ वर्ष के बालक-बालिकाओं को योगाभ्यास कराया जाता है और अनाथ, अनाश्रित बच्चों को वहाँ आश्रय भी दिया जाता है।" थोड़ा रुककर योगानन्द आगे बोले—"ज्योत्स्ना दो दिन पहले यहाँ आयी थी। साँझ होने के पहले मैंने उसे पहाड़ी तक पहुँचा दिया था। उससे मैंने कह दिया था कि अब वह कभी यहाँ न आये। प्रातः जब मैंने नित्य की भाँति मन्दिर खोला तो उसे वहाँ पड़ी देखा।"

"ज्योत्स्ना यहाँ क्यों आयी थी?"

"मेरे पास आयी थी।"

"क्यों?"

योगानन्द चुप हो गये।

"क्या वह आपसे प्रेम करती थी?"

योगानन्द थोड़ा अस्थिर हुए—"प्रेम?...... क्या आप समझते हैं कि योगियों के जीवन में प्रेम का, औरत के प्रेम का कोई महत्त्व हो सकता है? योगी केवल साधना को जानता है। साधक और साधना के बीच तीसरी कोई चीज नहीं आती। तुम्हारे प्रति स्नेह और अपनत्व अवश्य है, मगर प्रेम नहीं है मेरे हृदय में। योगी के हृदय में केवल अपनी साधना के प्रति प्रेम होता है। यही सब मैंने ज्योत्स्ना से कहा था। सुनकर ज्योत्स्ना की आँखों में आँसू आ गये थे।" उसने कहा था—"आपके हृदय में मेरे प्रति प्रेम नहीं है, न हो—मगर मेरे हृदय में आपके प्रति अगाध प्रेम तो है। मैं उसी प्रेम के सहारे अपना जीवन व्यतीत कर लूंगी।" इतना कहकर उसने मेरी ओर देखा था। लेकिन मैं उसकी भावुकता को क्या कर सकता था।"

समरबाबू ने पूछा—"फिर क्या हुआ?"

सिर नीचा कर योगानन्द ने जवाब दिया—"माँ के मन्दिर में ज्योत्स्ना की लाश पड़ी थी।"

योगानन्द का रहस्यमय व्यक्तित्व

"आप यहाँ कब से हैं?" समरबाबू ने पूछा।

"नहीं जानता कि कब से हूँ। जब से होश हुआ, बाबा के साथ हूँ। इन्हींके चरणों में हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत की शिक्षा पायी। चौदह साल की आयु में मैंने मैट्रिक की परीक्षा दी। फिर कालेज में गया। भौतिक विज्ञान में एम० एस-सी० किया। योग में आचार्य किया और फिर किया दर्शनशास्त्र में एम० ए०। अब भारतीय प्राच्य विद्या और योग में रिसर्च कर रहा हूँ। वह योग महाविद्या है। विज्ञान से बहुत ऊंची।"

"आपके पिता का नाम?"

"पिता का नाम नहीं जानता।"

"माँ?"

"माँ की जरा-सी याद है। एक दिन वह मुझे लेकर बाबा के पास आयी थी और यहीं छोड़कर चली गयी थी। तब से उसे फिर नहीं देखा।"

"आपका क्या ख्याल है—यह आत्महत्या है?"

"शायद।"

"फिर काली के हाथ में सिर कैसे पहुँचा?"

इसका उत्तर योगानन्द ने कुछ नहीं दिया।

नारायण ने लाश कलकत्ता भिजवा दी और सब-इन्स्पेक्टर राव से चुपचाप यह कह दिया कि वह कैमरामैन और किसी एक और होशियार अफसर को भेजने का प्रबन्ध शीघ्र करा लें।

लाश को लेकर राव उसी दिन कलकत्ता चले गये। अब वहाँ केवल रह गये समरबाबू, नारायण और तीन-चार सिपाही और उन सबके अलावा मैं।

श्रद्धानन्द से कुछ पता नहीं चला। उन्होंने यही बतलाया—"दो-तीन दिन पहले उस लड़की को मैंने यहाँ देखा था। परिचारक उसे मेरे पास ले आया था। मैंने उसे योगानन्द से मिला दिया। बाद में पता चला कि उस लड़की ने आत्म-हत्या कर ली है। तब मैंने पुलिस को खबर दे दी।"

आत्महत्या या नरबलि

समरबाबू ने कड़ककर पूछा—"आप सभी लोग जोर देकर कहते हैं कि यह आत्म-हत्या है। मगर यह आत्महत्या कैसे है?"

श्रद्धानन्द हल्के से मुस्कराकर रह गये। कुछ बोले नहीं।

समरबाबू ने पूछा—"आप यहाँ कब से हैं ?"

"याद नहीं ।"

"आप जानते हैं कि इस मठ में अक्सर नरबलि हुई है ?"

"सुना है ।"

"अब नरबलि नहीं होती ?"

"मैं जब से हूँ तब से नहीं हुई ।"

"क्यों ?"

"साधना में जब साधक को अधिक प्राणों की आवश्यकता पड़ती है, तभी बलि दी जाती है ।"

"क्या ज्योत्स्ना की इस हत्या को नरबलि नहीं माना जा सकता ?"

श्रद्धानन्द ने गहरी नजरों से समरबाबू की आँखों में देखा—"माना जा सकता है ।" और श्रद्धानन्द ने अपने दोनों हाथ इस भाव से समरबाबू की ओर बढ़ा दिये कि मुझे अपराधी समझते हो तो इन हाथों में हथकड़ी डाल दो ।

समरबाबू ने कठोर भाव से कहा—"जरूरत होगी तो यह भी हो जायेगा ।"

श्रद्धानन्द ने अपने दोनों हाथ नीचे कर दिये । फिर कई क्षणों तक रुके रहने के बाद वह अपने हाथों को पीछे की ओर अपनी कमर में बाँधकर वहीं सामने टहलने लगे ।

समरबाबू ने पूछा—"योगानन्द को आप कितने दिनों से जानते हैं ?"

उसी तरह भूमि की ओर देखते हुए श्रद्धानन्द ने कहा—"जब वह चार साल का था, तभी से ।"

"योगानन्द कौन हैं ?"

"एक औरत का बेटा ।"

"वह औरत कौन है ?"

"योगानन्द की माँ ।"

"योगानन्द को यहाँ क्यों रख गयी ?"

"माँ, काली के चरणों में छोड़ गयी थी ।"

"तब से योगानन्द यहीं हैं ?"

"नहीं, बीच में छह साल तक वह काशी में रहा है ।"

समरबाबू आगे कोई प्रश्न न कर सके ।

इन्स्पेक्टर नारायण और दो कान्स्टेबिलों को वहीं छोड़कर समरबाबू के साथ साँझ होने के पहले हम वहाँ से चलने को तैयार हो गये । श्रद्धानन्द ने आकर कहा—"माँ का गह्वर क्या बन्द रहेगा ? सन्ध्या का दीप, आरती, पूजन······"

समरबाबू ने असमर्थता प्रकट की ।

कई क्षणों तक चुप रहने के बाद श्रद्धानन्द ने दीर्घ साँस लेकर कहा—"माँ के हृदय-मन्दिर के द्वार अनेक हैं। जाने दीजिये।"

श्रद्धानन्द हम लोगों को बहुत दूर तक पहुँचाने आये। एक स्थान पर उन्होंने समरबाबू का हाथ थाम लिया। अत्यन्त कातर भाव से कहा—"डी० आई० जी० साहब ! योगानन्द को बचा लीजिये।"

चकित भाव से हमने श्रद्धानन्द को देखा।

वह कहते गये—"योगानन्द को देखा नहीं। ज्योत्स्ना की आत्महत्या से उसे बहुत चोट लगी है। वह भीतर से बिखर चुका है। वह अपने-आपको तोड़ डालेगा—आज या कल। ज्योत्स्ना को वह बहुत चाहता था। मैंने कहा था—साधक को, योगी को, अन्वेषक को बन्धन का मोह नहीं होना चाहिए, नहीं तो वह भटक जायेगा।"

समरबाबू ने कहा—"कल मैं फिर आऊँगा।"

और हम चले आये।

श्रद्धानन्द ने डूबते हुए सूर्य की ओर श्रद्धा से हाथ जोड़े। फिर वापस लौट गये। उनकी गति ऐसी थी जैसे कोई उन्हें खींचे जा रहा हो। जाने की इच्छा न रहते भी वह चले जा रहे थे।

पहाड़ी मेस के उस हेडमैन ने हमारे आराम करने की सारी व्यवस्था कर दी। जल्दी ही रात का भोजन समाप्त कर हम एक झोपड़ी में आराम करने के लिए आ गये। समरबाबू इस इन्तजार में थे कि क्राइम ब्रांच का कोई अधिकारी आ जाये तो आगे काम शुरू किया जाय। खाट पर आ लेटने के बाद समरबाबू ने पूछा—"शर्माजी ! इस मामले का कोई सूत्र आपके हाथ लगा ?"

मैं अभी तक ठीक से कुछ समझ न सका था। चुप रह गया। समरबाबू ही बोले—"सबों के बीच यह श्रद्धानन्द ही है। ज्योत्स्ना और योगानन्द एक-दूसरे से प्रेम करते थे। दोनों के वैवाहिक मिलन में यह श्रद्धानन्द ही बाधक था। इसीके दबाव से ज्योत्स्ना के विवाह के प्रस्ताव को योगानन्द ने अस्वीकार कर दिया। फ्रस्टेटेड लव। लेकिन विचित्र बात है, जिस ढंग से ज्योत्स्ना कटी है उसे आत्महत्या कभी नहीं कहा जा सकता है।······क्या ख्याल है आपका शर्माजी ?"

मेरा कोई ख्याल नहीं था, क्या उत्तर देता ?

समरबाबू ने कहा—"यह भी हो सकता है कि ज्योत्स्ना को श्रद्धानन्द ने योगानन्द के मार्ग से स्वयं ही हटा दिया हो ? क्या इन दोनों योगियों को गिरफ्तार कर लेना चाहिए था ?··· शर्माजी, सो गये क्या ?"

"नहीं, जाग रहा हूँ। आपको एक बात बतलाना चाहता हूँ समरबाबू ! सुनना चाहेंगे आप ?"

"क्या, कौन-सी बात ? अवश्य सुनाइये।"

"मैं ज्योत्स्ना को और उसकी माँ दयामयी को जानता हूँ।" समरबाबू मेरी बात सुनकर उछलकर बिस्तर पर उठ बैठे और चौंककर बोले—"ऐं! आप जानते हैं दोनों को ?"

"जी, हाँ! खूब अच्छी तरह जानता हूँ।"

"अच्छा।"

दयामयी की आन्तरिक कथा

"बहुत पहले की बात है"—मैंने सुनाना शुरू किया—"शायद जनवरी-फरवरी का महीना था। साँझ का समय था। काशी का हरिश्चन्द्र घाट का श्मशान सबेरे से सुनसान पड़ा था। उस दिन कोई शव नहीं आया दाह-संस्कार के लिए वहाँ। डोम चौधरी लोग श्मशान के एक ओर गोल बनाकर बैठे हुए थे। सभी के चेहरे पर उदासी थी। शव न आने के कारण सभी खीज रहे थे।

"तभी 'बोल हरी, हरी······बोल।' की ध्वनि सुनाई पड़ी।

"डोम चौधरीगण प्रसन्न हो उठे। उदासी के स्थान पर हर्ष का भाव मुखरित हो उठा। शव आया था न इसीलिए। सभी एक साथ उधर दौड़े जिधर से शव आ रहा था, खाट पर लदकर।

"श्मशान के मरियल कुत्ते जो एक कोने में अब तक दुबके हुए थे—भौंकने लगे थे।

"लाश किसी बंगाली युवक की थी। कालरा से मृत्यु हुई थी उसकी। मगर चेहरे पर मृत्यु की छाया नहीं पड़ी थी। ऐसा लगता था, मानो सोया है गहरी नींद में। थोड़ा-सा छूने पर जाग जायगा।

"लाश के साथ आनेवाले चार-पाँच सज्जनों के अलावा एक किशोरी युवती भी थी। आयु यही रही होगी पन्द्रह-सोलह के लगभग। गोद में वह दो-तीन मास की एक लड़की लिये हुए थी। लड़की बार-बार कुलबुलाकर माँ के आँचल के बाहर मुंह निकाल लेती थी।

"युवती की माँग में सिन्दूर था और कलाइयों में लाल चूड़ियाँ और शंख का वलय था। वह उस मृतक की पत्नी थी। उसकी आँखें सूजी हुई थीं। चेहरा उदास और उतरा हुआ था। निश्चय ही पूरे दिन हिलक-हिलककर रोती रही होगी वह।

"लाश जमीन पर उतारकर पानी में रख दी गयी थी। अब चिता की तैयारियाँ करनी थीं। एक बूढ़ा बंगाली धीरे-धीरे चलकर युवती के करीब आया और बोला—'बहू! पैसा लायी हो न ? चिता की लकड़ी के लिए और घी, चन्दन, माला के लिए चाहिए। डोम चौधरी को भी इक्यावन रुपये चाहिए।'

"वृद्ध की बात सुनकर युवती सिसकने लगी। फिर बोली—'बाबा, रुपया कहाँ है मेरे पास। सब कुछ खत्म हो गया दवा-इलाज में। बीस-पचीस रुपये जो बचे थे, उसका खाट और कफन खरीदा गया था।'

" 'तब कैसे क्या होगा, बहू। बाजेवाले को भी देना होगा'—वृद्ध दोनों हाथों को मलते हुए बोला।

"युवती कुछ क्षण मौन रही—फिर गले से सोने की एक हल्की चेन उतारकर वृद्ध को देते हुए बोली—'बाबा! अब बस यही रह गया है। इसीको बेचकर दाह-संस्कार कर डालिये।'

"चेन को हाथ में लेकर वृद्ध उदास नजरों से उसे कुछ क्षण तक देखता रहा, फिर एक ओर चला गया। वातावरण बहुत मर्मस्पर्शी हो उठा था। चिता की तैयारी पूरी हो गयी थी। लाश नहलाकर रख दी गयी चिता पर, आग दी गयी। पत्नी ने ही पति को अग्नि-दान किया। कितनी विचित्र माया थी। धू-धू कर जल उठी चिता। जब तक लाश पूरी तरह जलकर राख नहीं हो गयी—तब तक युवती आँखों में आँसू लिये अपलक निहारती रही उसे। चिता जलकर राख हो गयी। जो लोग साथ आये थे, वे भी चले गये। श्मशान फिर वीरान हो गया। मगर युवती बच्ची को गोद में लिये पत्थर के चबूतरे पर बैठी रही। वह नहीं गयी वापस।

"रात धीरे-धीरे गलती जा रही थी। चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। एक अबूझ-सी खिन्नता व्याप्त हो गयी थी वातावरण में।

"आप जानते हैं वह युवती कौन थी, कौन थी वह बच्ची ?"

"नहीं।" समरबाबू ने गला साफ कर जवाब दिया।

"वह युवती और कोई नहीं, दयामयी थी।

"अब आगे सुनिये। थोड़ी देर बाद खड़ाऊँ पर चढ़कर एक व्यक्ति आता हुआ दिखलाई दिया। वह संन्यासी था। तान्त्रिक संन्यासी। लम्बा-चौड़ा शरीर, स्वस्थ और आकर्षक। युवती के सामने आकर खड़ा हो गया वह। फिर आहिस्ते-आहिस्ते गम्भीर स्वर में बोला—'माँ, तू यहाँ क्यों बैठी हो ? क्या बात है ?'

"युवती ने सिर उठाकर देखा, मगर उससे कुछ बोला न गया।

" 'ओह ! समझ गया मैं'—संन्यासी आगे बोला—'चल उठ माँ, मेरे साथ चल। मेरा अपना आश्रम है। वहीं रहना। तुझे कोई तकलीफ न होगी।'

"युवती अनाथ थी। बस एक पति था, उसने भी साथ छोड़ दिया था।

तन्त्र-साधक ताराचन्द अवधूत

"आप जानते हैं वह संन्यासी कौन था ? वह था अपने समय का बहुत बड़ा तान्त्रिक योगी। नाम था—ताराचन्द अवधूत। बस, उसी दिन से अवधूत महाशय के आश्रम

में रहने लगी दयामयी। उसने भी विधिवत् तन्त्र की दीक्षा ली और तन्त्र-योग के कठिन साधना-मार्ग पर चल पड़ी। मगर ज्योत्स्ना को उसने इन सबसे अलग रखा। उसे पढ़ाना चाहती थी वह। एम० ए० तक पढ़ाया भी दयामयी ने उसको। ताराचन्द अवधूत के समाधि लेने के बाद दयामयी का आश्रम पर अधिकार तो हुआ ही, इसके अलावा गुरु की चल-अचल सम्पत्ति भी मिली उसे।"

"आपको ये सारी बातें कैसे मालूम हुईं ?"

"मैं ताराचन्द अवधूत से परिचित हूँ। वे मेरे तान्त्रिक गुरु थे। मैं उनके आश्रम में बराबर जाता था। वहीं दयामयी से मेरी भेंट हुई। उस समय ज्योत्स्ना दस साल की थी। गुरु के महाप्रयाण के बाद दयामयी ने मुझे मठ और आश्रम का कार्यभार सँभालने के लिए कहा था। मगर मैं टाल गया था।"

"क्या अभी भी दयामयी काशी में है ?"

"बतला नहीं सकता। क्योंकि पिछले बारह-तेरह साल से उधर गया ही नहीं।"

"क्यों ?"

"इसका उत्तर मेरे पास नहीं है"—विषण्ण स्वर में बोला मैं।

समरबाबू आगे कुछ पूछते कि तभी दूर से जीप की आवाज आती हुई कानों में पड़ी।

वह क्राइम ब्रान्च का खुफिया अफसर था राजबहादुर। राज ने आते ही उतावली मचा दी—"स्पाट पर अभी चलो।" रात के दस बज रहे थे। जंगली पहाड़ी राह थी। हेडमैन ने कहा—"इधर बड़े जानवर नहीं रहते। कभी-कभी जंगली सूअर या तेंदुए जरूर दीख जाते हैं। बस।"

समरबाबू सोच रहे थे कि उन्हें दोनों योगियों को गिरफ्तार कर लेना चाहिए था। लेकिन मन की बातें खोलकर वे राज के सामने मूर्ख नहीं बनना चाहते थे।

अन्त में यही निश्चय हुआ कि कालीमठ तक चला ही जाय।

खण्डहर का रहस्यमय वातावरण

गढ़ी के प्रवेशद्वार पर जब हम सब लोग पहुँचे तो लगा कि कोई दीवारों की ओट से हटकर मन्दिर के खण्डहरवाले हिस्से की ओर चला गया। राज के एक हाथ में रिवाल्वर था और दूसरे हाथ में टार्च। टार्च की तीव्र रोशनी उसने खण्डहर की ओर फेंकी। कोई दीखा नहीं।

हम लोग खण्डहर की ओर बढ़ गये। खण्डहर की चट्टान के इधर-उधर हम सब सूक्ष्म दृष्टि से देख रहे थे। कहीं कोई नहीं था। तभी समरबाबू ने राज का ध्यान आकर्षित किया—"यह देखो क्या है ?"

भैंसे के मुँह से निकलती खून की बूँदें

समरबाबू के टार्च की रोशनी वहाँ पड़ रही थी—जहाँ वे कुछ दिखाना चाहते थे। हमारे कन्धों की ऊँचाई पर नाली बनी थी। नाली के अगले सिरे पर भैंसे का मुँह बना था—पत्थर का। भैंसे के खुले मुँह से बूँद-बूँद कर खून चू रहा था। जहाँ खून गिर रहा था, वहाँ से पत्थर की एक नाली दूर झाड़ियों से होती हुई चली गयी थी। नाली में पानी भरा था और खून के रंग से मैला लाल हो रहा था।

"क्या यह खून ही है ?"

निराकरण के लिए राज ने भैंसे के मुँह से गिर रहे उस द्रव को अपनी हथेली पर ले लिया और टार्च की रोशनी में गौर से देखा।

"खून है—ताजा खून"—राज ने कहा।

वह रहस्यमयी श्वेतवस्त्रधारिणी

तभी देखा कि बगल की दीवार से एक श्वेतवस्त्रधारिणी नारी-मूर्ति निकली। दीवार से ही वह निकली थी। उधर कोई दरवाजा नहीं था। समरबाबू ने राज का ध्यान उधर आकृष्ट किया। एक साथ ही दोनों ने अपने टार्च की रोशनी उधर डाली। कुछ नहीं था। राज ने कहा—"मैंने साफ देखा था। कोई औरत थी।" राज के टार्च की रोशनी नीचे चट्टान पर पड़ी। वहाँ आदमी के पाँवों के निशान थे। खून से भीगे पाँवों के निशान।

समरबाबू ने गौर से देखकर कहा—"ये औरत के पाँव के निशान हैं।"

दूर-दूर तक टार्च की रोशनी फेंकी गयी। वह औरत नहीं दीखी।

राज ने खीजकर कहा—"आखिर हवा तो थी नहीं। कहाँ चली जायेगी ? यहीं कहीं होगी।"

टार्च बुझाकर हम सब लोग वहीं खड़े रहे—विमूढ़ से। समझते देर न लगी मुझे। "योग" का चमत्कार था सब।

मैंने देखा—बगल की झाड़ी से निकलकर वह औरत जा रही थी। मेरे साथ सभी ने देखा। राज ने भी देखा। वह झपटकर उसकी ओर बढ़ा। मैं और समरबाबू भी दौड़े। राज ने उस औरत का आँचल पकड़ लिया। लेकिन क्या वह उस औरत को पकड़ सका ? नहीं, उसके हाथ में आँचल का एक छोर था और समूची साड़ी हवा में लहरा रही थी। हमने सुना, कोई कह रहा था—"छाया के पीछे दौड़ने से क्या लाभ ?"

श्रद्धानन्द का यौगिक चमत्कार

कानों के पास यह आवाज सुनाई पड़ी थी। हमने चौंककर देखा, कोई नहीं था। यह आवाज स्पष्टतः श्रद्धानन्द की थी। टार्च की रोशनी दूर तक नहीं जा सकती थी।

घनी झाड़ियाँ थीं। मेरे मन में बराबर यह प्रश्न उठ रहा था—"क्या हम लोग सभी छाया के पीछे दौड़ रहे थे ? कई क्षण रुककर हम लौट पड़े, जहाँ हमने पहली बार उस नारी की छाया को देखा था। वहीं दीवार के पास से खून में सने पाँवों के दाग शुरू होते थे। बड़ी उलझन थी। हमें पता लगाना था कि नाली में खून कहाँ से आ रहा था। हम मन्दिर के भीतर की ओर चले। प्रांगण में प्रवेश-द्वार पर एक बृहदाकार मानव खड़ा था। बारह फुट ऊँची-चौड़ी काठी का मानव।

हम ठिठककर खड़े हो गये। वह मानव-मूर्ति धीरे-धीरे छोटी हुई। फिर कषाय वस्त्र प्रकट हुआ। अँधेरे में भी हमने पहचाना—योगी श्रद्धानन्द थे। बोले—"मैं जानता था, तुम लोग अभी ही आओगे। तुम लोगों की ही प्रतीक्षा कर रहा था। जिधर गये थे, उधर न जाना चाहिए। उधर खण्डहरों में प्रेत रहते हैं। प्रेतों में विश्वास न भी हो तो, क्या ? मनुष्य की जान लेने के लिए जहरीले कीड़े भी तो हो सकते हैं।" कहकर श्रद्धानन्द ने समरबाबू के हाथ से टार्च ले लिया।

खण्डहर के एक ओर दूर झाड़ियों के पास उन्होंने रोशनी फेंकी। हमने देखा—चट्टान के पास दो काले नाग खेल रहे थे। हमारे रोंगटे खड़े हो गये।

कुछ क्षणों के बाद विस्मित, स्तम्भित खड़े हम लोगों को श्रद्धानन्द ने जगाया—"तुम लोग बहुत विलम्ब से पहुँचे।" लगा कि योगी का कण्ठ भरा है। उनका स्वर दूर खण्डहर के भीतर से आता लगा—गूँजता हुआ, मन्द।

"योगानन्द चला गया। उसे अब तुम लोग नहीं पा सकते।"

राज ने गर्व से कहा—"भागकर जायेगा कहाँ ? उसे पाने के लिए पुलिस जमीन-आसमान एक कर देगी।"

श्रद्धानन्द हल्के से हँसे। उस हँसी में करुणा थी, व्यथा थी। बोले—"आदमी बहुत ही निःसहाय है इन्स्पेक्टर। ईश्वर की सृष्टि में वह इतना क्षुद्र है कि उसे अपनी क्षुद्रता का भान भी नहीं होता।"

शायद राज ने योगी के शब्दों का व्यंग्यार्थ नहीं समझा।

दीर्घ निःश्वास छोड़कर योगी ने कहा—"आओ।"

हम लोग काली मन्दिर के द्वार पर आये। चन्दन की लकड़ी के बने किवाड़ों की साँस से भीतर का प्रकाश आ रहा था।

योगी ने कहा—"खोलो।"

जैसे हम लोग अपनी इच्छा के स्वामी न थे। योगी के आदेश के अनुगत थे। मैसमेरिज्म की बात सुनी है न। 'मैसमेराइज्ड' थे हम जैसे।

ताले पर सील ठीक थी। सील तोड़ी गयी। द्वार खुला और हम लोग भीतर का दृश्य देखकर स्तम्भित रह गये। एक ओर बड़ा चौमुखी दीपक जल रहा था। गह्वर के

हवन-कुण्ड से धूम निकलकर सम्पूर्ण गह्वर को रहस्यपूर्ण बना रहा था। काली के चरणों में योगानन्द लेटा पड़ा था।

हम लोग चुपचाप, उस लेटे योगानन्द को देखते रहे। क्या वह मूर्च्छित पड़ा था?

राज ने पुकारा—"योगानन्द !···योगानन्द।···" योगी ने भर्राये कण्ठ से कहा—"इन्स्पेक्टर, योगानन्द अब नहीं है" और उन्होंने योगानन्द का सिर हाथों में उठा लिया।

जैसे विद्युत् का स्पर्शाघात लगा हो। कलेजा सन्न रह गया। प्राण डूबते-से लगे। योगानन्द का सिर कटा था। काली के हाथ में रक्तरंजित खड्ग था।

पुलिस की सारी सतर्कता और प्रज्ञा लुप्त हो चुकी थी। इस घटना ने मन-प्राण को एकदम सुन्न बना दिया था। कुछ सोच सकें और सोचकर किसी निर्णय पर आ सकें, इस स्थिति में हम नहीं थे। लग रहा था कि चारों ओर अद्भुत चमत्कार है और उस चमत्कार से हम सिर्फ चमत्कृत, विस्मृत होने के लिए हैं।

गर्भगृह में योगानन्द का शव

योगी ने योगानन्द का सिर फिर ज्यों का त्यों रख दिया। लग रहा था कि योगानन्द जैसे काली के चरणों में दण्डवत के लिए लेटा हो। काली की उस भयंकर आकृति की ओर एक क्षण के लिए मेरी आँखें उठीं। जगन्माता आदि पराशक्ति काली की जिह्वा और आरक्त लगी। लगा कि खड्ग का शोणित अब चू पड़ेगा। देवी की आँखों में भीषण प्रसन्नता नाच रही थी।

योगी ने कहा—"चलो !" और उन्होंने अर्गला से खींचकर गह्वर का भारी कपाट बन्द कर दिया। अर्गला लगायी। ताला बन्द किया और चाभी राज को वापस कर दी। जैसे हम किसी अज्ञात शक्ति के सामने नाचते थे। बच्चों की तरह निस्सहाय पूछ बैठे—"यह सब कैसे हो गया?"

योगी ने जवाब नहीं दिया। वह हम लोगों को योगानन्द के कमरे में ले आये। कहा—"अब अभी क्या होगा? रात के दो बज रहे हैं। आप सब आराम करो। प्रातः-काल जो करना होगा, करना।"

योगी उसी तरह धीरे कदमों से खड़ाऊँ पर चलते हुए चले गये। सन्नाटे में खड़ाऊँ की आवाज गूंजती रही। खड़ाऊँ की आवाज जब बन्द हो गयी तो हम लोगों का सम्मोहन हटा। मैं थका-सा एक सोफे पर बैठ गया। योगानन्द के चले जाने का महान् कष्ट था मुझे। उस समय की मेरी व्यथा को कोई समझ न सकेगा। राज इस भाँति खड़ा था कि वह अब तक कुछ समझ न सका है। समरबाबू ने उसकी ओर देखते हुए कहा—"अजीब मामला है।"

इन्स्पेक्टर नारायण हतप्रभ-से खड़े रहे एक ओर।

राजबहादुर अपने भीतर उलझा हुआ था। लेकिन दिखलाना नहीं चाहता था कि वह कमजोर पड़ गया है। उसने कहा—"यही बुद्धि लेकर पुलिस-विभाग में आये थे··· तुम्हारे सिपाही कहाँ हैं ? बुलाओ।"

सिपाही ने आकर यही बतलाया कि दोनों मन्दिर के बाहर बारजे पर बैठे थे—अपनी ड्यूटी पर। आधी रात के समय लगा कि मन्दिर के भीतर से एक औरत निकली। वह सफेद कपड़ों में थी। सिपाही ज्वालासिंह ने टोका—"कौन ?"

औरत छिप गयी। कहाँ गयी, पता नहीं चला।

राज ने कहा—"सो रहे थे ?"

ज्वालासिंह बोला—"नहीं, हजूर, जाग रहा था। साफ देखा था, वह औरत फिर दिखलाई पड़ी थी। वह मन्दिर में फिर वापस चली गयी। हम लोगों के रोंगटे खड़े हो गये। हमने उसे टोकने की हिम्मत नहीं की। कुछ देर के बाद गह्वर का कपाट जाकर देखा। वह ज्यों का त्यों बन्द था। अचरज हुआ कि मन्दिर में गयी कहाँ औरत ?"

ज्वाला ने आगे बतलाया कि "इब्राहीम को जागते रहने को कहकर मैं मन्दिर की दीवार से उठँगकर ऊँघ गया। तभी इब्राहीम ने जगाया। जागकर देखा—वह जवान योगी मन्दिर के सामने बेचैनी से टहल रहा था। मैंने टोका—कौन है ? उसने कोई जवाब नहीं दिया। फिर वह उस कमरे में चला गया। पाँच मिनट बाद ही लगा कि काली के गह्वर के भीतर किसीने दीप जलाया है। चारों ओर होम जलने की गन्ध भर गयी। हमने कपाट की साँस से झाँककर देखा—भीतर वही योगी पलथी मारे बैठा था। फिर उसने काली के चरणों में लेटकर कहा—'माँ, मैंने तुम्हारा और तुम्हारे सृष्टि-रहस्यों को जानने-समझने के लिए प्रयास किया था, लेकिन माँ, तुम्हारी माया ने मुझे पराजित कर दिया। पराजित होकर अब मैं तुम्हारे चरणों में आ गया हूँ। मुझे ले लो। मुझे अपना लो माँ।' "

फिर एकाएक बत्ती बुझ गयी। क्षणभर के लिए बुझी थी। फिर जल गयी। देखा—"वह योगी उसी तरह लेटा है। समूचे कमरे में होम का धुआँ भरा था। फिर आप लोग आ गये।"

समरबाबू ने पूछा—"योगानन्द भीतर कैसे गया ? जानते हो ?"

ज्वाला ने निरीह स्वर में कहा—"जी, नहीं। इसके आगे मैं कुछ सुन नहीं सका। मेरी आँखें लग गयीं। न जाने कितनी रात गयी होगी कि मुझे लगा कि जैसे मुझे कोई पुकार रहा है। आवाज स्पष्ट थी। श्रद्धानन्द थे।"

श्रद्धानन्द मन्दिर के प्रांगण में एक ओर खड़े थे। पश्चिमी गवाक्ष में रखे चौमुखे दीप की शिखाएँ उठकर प्रांगण में प्रकाश भर रही थीं। श्रद्धानन्द की आकृति की छाया विशाल होकर सिंहद्वार पर पड़ रही थी। जैसे कोई बारह-तेरह फुट ऊँचा विशाल कायावाला यक्ष खड़ा हो। मन में उठा कि उस वक्त प्रांगण में प्रवेश करते समय इसी विशाल छाया को देखकर हम स्तम्भित रह गये थे।

श्रद्धानन्द और उनकी योगसिद्धि

श्रद्धानन्द ने कहा—"जैसे दीप के प्रकाश के विभिन्न कोणों के कारण मनुष्य की छाया कभी छोटी तो कभी बड़ी प्रतीत होती है, उसी प्रकार सिद्धि के प्रकाश में साधक अपनी इच्छा के अनुसार अपनी काया को घटा-बढ़ा सकता है। हनुमान् ने लघिमा सिद्धि के कारण लघुरूप धारण कर लंका में प्रवेश किया और महिमा सिद्धि में विशाल रूप धारण कर लंका को जलाया। अंगद ने गरिमा सिद्धि से अपने पैरों में पर्वत की गरिमा भर ली। भारत की इसी प्राच्य विद्या का अनुशीलन कर रहा था योगानन्द।

"साधक को नारी की रूपमाधुरी का मोह हो आया। योगानन्द को माया लेकर चली गयी। वह अपनी साधनाएँ अधूरी छोड़कर चला गया। जगन्माता क्या चाहती है, कोई नहीं जानता।"

क्या वह स्वप्न था ?

न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर मेरे पैर मन्दिर की ओर बढ़ गये। मन्दिर का कपाट बन्द था। मगर मेरे वहाँ पहुँचते ही स्वयं अपने-आप धीरे-धीरे पट खुल गया। ऐसा लगा कि किसी अदृश्य हाथों ने उसे खोला हो। बाहर से ही देखा—योगानन्द माँ के चरणों में अभी भी उसी प्रकार लेटा था। अभी मैं उसके मृत शरीर को देख ही रहा था कि तभी मेरे सामने वह सफेद वस्त्रधारिणी औरत प्रकट हुई। अचकचा गया मैं। रोम-रोम सिहर उठा। वह नारी-मूर्ति द्रुतगति से श्रद्धानन्द के कमरे की ओर बढ़ी।

यह सब क्या था ? मैं जागा हुआ था या सो रहा था ? क्या यह सब स्वप्न था ? चलकर मैं भी श्रद्धानन्द की कोठरी में आया। धुले हुए नंगे फर्श पर श्रद्धानन्द छाती के बल लेटे हुए थे। वह फूट-फूटकर रो रहे थे—माँ ! तुमने योगानन्द को क्यों स्वीकार किया ? भारत की इस योगविद्या को अब फिर से सरल बनाकर कौन प्रकाश में लायेगा माँ ? यह तो तुम्हारी ही क्षति हुई। मैं अकेला क्या करूँगा ? मेरे पापों का क्या यही दण्ड था माँ ? जगन्माता······

फिर क्या हुआ, नहीं जानता। जागा तो अंग-अंग टूट रहा था। आँखें जल रही थीं और भीतर के भीषण ताप से शरीर फुंक रहा था। एक सप्ताह बाद बुखार कम

हुआ। मालूम हुआ कि मैं अस्पताल में हूँ। दूसरे दिन बुखार और कम हुआ। मुझे सन्तरे का रस दिया गया।

चमत्कारपूर्ण पोस्टमार्टम-रिपोर्ट

राजबहादुर मिलने आया। मैंने जिज्ञासा से पूछा—"कालीमठवाले केस का क्या हुआ ?"

राज बोला—"अच्छे हो लो, सुनाऊँगा।"

अच्छे होने पर जो कुछ सुना—उसने मेरे मन को, मेरी आत्मा को एकबारगी विचलित और स्तम्भित कर दिया। खैर, दूसरे दिन श्रद्धानन्द को गिरफ्तार कर हाजत में भेज दिया गया। योगानन्द की लाश पोस्टमार्टम के लिए भेजी गयी। उसके बाद पूरे कालीमठ को कब्जे में ले लिया गया। योगानन्द का कमरा और काली गह्वर को सील कर दिया गया। पहरा बिठा दिया गया।

पोस्टमार्टम की रिपोर्ट में बतलाया गया कि काली के हाथवाले खड्ग के भरपूर वार से गरदन काट दी गयी थी। खड्ग पर लगा रक्त योगानन्द के रक्त से बिल्कुल मिलता-जुलता था। ज्योत्स्ना के पोस्टमार्टम की भी रिपोर्ट यही थी।

हवालात में श्रद्धानन्द बिल्कुल मौन हो गये। हजार प्रश्न, एक चुप। अन्त में टार्चर के लिए परमीशन लिया गया। परमीशन मिला। टार्चर किया गया। मगर वह कुछ नहीं बोले। आह भी नहीं की।

श्रद्धानन्द की पूर्वकथा

पाँचवें दिन कलकत्ता की रहनेवाली एक महिला ने एक वकील के मार्फत जमानत की दरखास्त दी। मगर वह नामंजूर कर दी गयी। औरत का नाम था—करुणामयी। वह कलकत्ता के पार्क स्ट्रीट में रहती थी।

करुणामयी योगानन्द की माँ थी। पुलिस ने योगानन्द के मरने की खबर उन्हें दी थी।

पुलिस को कैसे पता लगा और यह कैसे मालूम हुआ कि वह योगानन्द की माँ और श्रद्धानन्द की पत्नी थी ? यह पूछने पर राज ने बतलाया कि तलाशी लेने पर श्रद्धानन्द के कमरे में एक डायरी मिली थी। उसीमें सब लिखा था। उसीके आधार पर सी॰ आई॰ डी॰ पुलिस की तहकीकात शुरू हुई और सारा रहस्य सामने आया। राज ने आगे बतलाया—"स्वामी श्रद्धानन्द का पूर्वनाम था निशिकान्त भट्टाचार्य। वे अंग्रेजों के समय में किसी सरकारी विभाग में उच्च पद पर थे। पार्क स्ट्रीट में उनके तीन-चार मकान आज भी हैं। करुणामयी से उनका विवाह बचपन में ही हो गया था। मगर विवाह के बीस साल गुजर जाने के बाद उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई। इसी कारण

निशिकान्त बराबर दुःखी रहा करते थे। उसी मानसिक अशान्ति की अवस्था में एक बार तारापीठ में एक तान्त्रिक संन्यासी से उनकी भेंट हुई। उस तान्त्रिक संन्यासी का नाम था—कालिकानन्द शाक्त। वह कालीमठ का सर्वेसर्वा और महन्त था। भयंकर तन्त्रसाधक तो था ही वह। उसने निशिकान्त महाशय पर अपना ऐसा प्रभाव डाला कि वह घर-बार, नौकरी–यहाँ तक कि पत्नी को भी छोड़कर संन्यासी हो गये और कालीमठ में जाकर उस महातान्त्रिक के साथ रहने लगे। उस समय करुणामयी गर्भवती थी। मगर इस बात का पता उन्हें तब लगा जब कि निशिकान्त संन्यासी होकर कालीमठ में रहने लगे थे।

एक वर्ष के बाद कालिकानन्द शाक्त ने कालीमठ में ही महासमाधि ले ली, मगर इसके पहले उसने योग और तन्त्र-विद्या में पारंगत करा दिया था निशिकान्त को। समाधि के एक दिन पूर्व उसने निशिकान्त को तान्त्रिक दीक्षा देकर श्रद्धानन्द नाम रखा और सारा उत्तरदायित्व उन्हें सौंप दिया।

यथासमय करुणामयी को पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम रखा गया कृष्णकान्त। दो वर्ष बाद जब करुणामयी को अपने पति का पता लगा तो विह्वल हो उठी। एक दिन कृष्णकान्त को लेकर कालीमठ जा पहुँची वह। बड़ा हुआ तो उसको योग की दीक्षा देकर उसका नाम रखा योगानन्द।

मैंने पूछा—"श्रद्धानन्द जेल में ही है ?"

राज बोला—"एक बड़ी विचित्र घटना हुई। परसों की बात है। श्रद्धानन्द को टार्चर के बाद तनहाई के लिए एक कोठरी में बन्द कर दिया गया। हथकड़ी और बेड़ियाँ पड़ी थीं। रात में वह केवल दूध लेता था। उस रात भी दूध लेकर सो गया। सबेरे देखा गया कि वह कोठरी में नहीं था। हथकड़ी-बेड़ी में पड़े हुए और ताला बन्द कमरे के बाहर वह कैसे निकला, आश्चर्य की बात है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि कमरे का ताला बाहर से ज्यों का त्यों बन्द था। कमरे में दूसरा कोई दरवाजा या खिड़की भी नहीं थी।

"कमरे में दो कागज मिले। एक में लिखा था, मठ के पुस्तकालय के अलावा योगानन्द द्वारा योग-विद्या पर लिखित तमाम पाण्डुलिपियों को सरकार अपने अधीन कर ले और इस विद्या में अनुराग रखनेवाले किसी साधक को उन्हें सौंप दे। कालीमठ का प्रबन्ध भी साधकों के ही हाथ में रहे। दूसरे कागज पर लिखा था, मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी करुणामयी है।

"वह जेल के बाहर कैसे आया ? जेलर, वार्डेन, सन्तरी आदि को हिरासत में ले लिया गया। सी० आई० डी० वाले तथा अन्य पुलिस अफसर विस्मय में हैं।"

राज ने पूछा—"शर्माजी, आप इसे क्या मानते हैं ? क्या यह सब योग का ही चमत्कार है ?"

मैं राज को कोई जवाब न दे सका। उससे केवल अनुनय किया—"मैं श्रद्धानन्द का अन्तिम दर्शन करना चाहता हूँ और कालीमठ में रहकर उस श्वेतवस्त्रधारिणी का पता लगाना चाहता हूँ।"

राज बोला—"दर्शन तो हो जायेगा, लेकिन उस रहस्यमयी औरत का पता कैसे लगा सकेंगे आप ?"

मैंने कहा—"पुलिस कभी भी उसकी खोज में, कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकती, यह पक्का है। मगर मुझे विश्वास है कि मैं उस रहस्यमयी औरत का रहस्योद्घाटन कर दूँगा। अगर मैं न कर सका तो समझ लीजिये फिर कोई न कर सकेगा।"

राज जब चला गया, तो मैंने सरकार को एक प्रार्थना-पत्र दिया, जिसके अन्त में लिखा था—"कालीमठ का पुस्तकालय और योगानन्द की सारी पाण्डुलिपियाँ मुझे दे दी जायें। मैं उन पर व्यक्तिगत रूप से रिसर्च करूँगा।"

× × ×

श्रद्धानन्द की आत्मदाह-समाधि

यह घोर आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय बात थी कि तालाबन्द कमरे में और कड़े पहरे में रहने के बावजूद कैसे पहुँच गये कालीमठ, श्रद्धानन्द! काली गह्वर में उनका भी शव मिला था गला कटा हुआ। निश्चय ही उन्होंने "आत्मदाह-समाधि" ली थी! गह्वर के ठीक सामने उनकी समाधि बना दी गयी थी। पुलिस-विभाग की ओर से मुझे दो महीने के लिए परमिशन मिला था और मुझे कालीमठ में दो मास रहकर उस रहस्यमयी श्वेतवस्त्रधारणी नारी का पता लगाना था। खैर।

योगानन्द के सुसज्जित कमरे को मैंने अपना निवासस्थल बना लिया था। परिचारक गोपाल भट्ट तो था ही। केस फाइल हो जाने से मन्दिर खोल दिया गया था और माँ की पूजा-आरती के लिए एक ब्राह्मण नियुक्त कर दिया गया था। पूरे पन्द्रह दिनों तक तो मैं योगानन्द की पाण्डुलिपियों का ही अध्ययन करता रहा। इस बीच कोई ऐसी घटना नहीं घटी, जो उल्लेखनीय हो। कभी-कदा मैं साँझ के समय माँ का दर्शन कर लेता था और श्रद्धानन्द की समाधि-वेदी पर फूल चढ़ा दिया करता था। निश्चय ही वह उच्चकोटि के योगी थे, इसमें सन्देह नहीं। श्रद्धा से नत हो जाता मेरा मस्तक उनकी समाधि-वेदी के सम्मुख।

वह रहस्यमयी छायाकृति

सावन-भादों का महीना था। दो दिनों से अनवरत वर्षा हो रही थी। काले-भूरे बादल आकाश में छाये हुए थे। साँझ की स्याही घिर आई थी। पागल बरसात के उन्मत्त कोलाहल से भर गया था वातावरण। हवा की साँय-साँय रौरव शोर उत्पन्न कर रही थी।

श्यामल आकाश के वक्ष को जलाती हुई बिजली चमकी। जलते पारे जैसी तीखी रेखा ओर-छोर हीन आसमान के एक कोने-से दूसरे कोने तक कौंध गयी। हजारों मैग्नीशियम के तारों जैसे प्रखर आलोक से उद्‌भासित हो गया विस्तार।

और उसी क्षणिक चमकीले प्रकाश में मैंने देखा—एक छायाकृति मन्दिर के बगल-वाले खण्डहर के नजदीक खड़ी थी। एक बार तो सारा शरीर सनसना गया, मगर साहस कर मैंने दरवाजा खोला और बाहर निकला और जब मैं खण्डहर के करीब पहुँचा तो देखा कि वहाँ कोई न था। भ्रम नहीं था। मैंने साफ-साफ देखा था उस छायाकृति को। फिर।······अचानक वातावरण को मथती हुई विद्युत्-वाणी गरजकर शान्त हो गयी।

जब पुस्तकें और पाण्डुलिपियाँ गायब हो गयीं

एक सप्ताह का समय गुजर गया। इस बीच वह छायाकृति मुझे फिर नहीं दिखी। मैंने योगानन्द की पाण्डुलिपियों का अध्ययन करने के बाद यही निष्कर्ष निकाला कि वह महान् आत्मा योग-विज्ञान की कतिपय रहस्यमयी क्रियाओं को सरल और सहज बनाने की दिशा में प्रयत्नशील था। वे रहस्यमयी क्रियाएँ ऐसी थीं—जिनके द्वारा मनुष्य ब्रह्माण्डीय ऊर्जा को प्राणशक्ति के माध्यम से ग्रहण कर ब्रह्माण्ड के किसी भी ग्रह मण्डल, नक्षत्र मण्डल अथवा लोक-लोकान्तरों की गतिविधि का पता लगा सकता था। इच्छानुसार अपने अस्तित्व को कहीं भी प्रकट कर सकता था। इतना ही नहीं, एक ही साथ और एक ही समय में हजारों लोगों पर अपने बिचारों और भावों का प्रभाव डाल सकता था। इनके अलावा बहुत से ऐसे सामर्थ्य को उपलब्ध हो सकता था, जिन पर सहसा कोई विश्वास ही नहीं कर सकता। खैर! सचमुच योगानन्द की वे तमाम पाण्डुलिपियाँ भारतीय संस्कृति और साधना की दुर्लभ कृतियाँ थीं, इसमें सन्देह नहीं। मैं उन्हें लेकर सपने देखने लगा था। सोचा कि उन्हें सरल हिन्दी भाषा में रूपान्तरित कर प्रकाशित करूँगा जिससे लोग अपने देश की प्राचीन विद्या से परिचित हो सकेंगे। मगर मेरा सपना टूट गया। मेरी सारी कल्पनाएँ भी टूटकर बिखर गयीं। एक दिन देखा कि योगानन्द की वे सारी की सारी पाण्डुलिपियाँ आलमारी से गायब थीं। कहाँ गयीं, कैसे गायब हो गयीं? और कौन ले गया, समझ में नहीं आया। आखिर कहाँ गयीं वे तमाम पाण्डुलिपियाँ? क्या कोई प्रेतलीला थी?

एक दिन मैं टहलते हुए कालीमठ से थोड़ी दूर निकल गया। वहाँ से दूधा नदी बायीं ओर घूमकर घने जंगलों में चली गयी थी। चारों ओर निर्जन इलाका था—उजाड़, मरघट जैसा बीहड़ धूसर। निस्तब्धता थी चारों तरफ। समय दोपहर का था। मगर देखते ही देखते बादलों से अटकर काला हो गया आकाश और चारों ओर अँधेरा छा गया। गहन निःश्वास जैसी हवा हाहाकार करती झाड़ियों और झुरमुटों को कँपाये दे रही थी। थोड़ी देर पूर्व झींगुरों की झीं-झीं भी सुनाई दे रही थी किन्तु उस घने अँधियारे ने जैसे उस अनवरत क्रन्दन का भी गला घोंट दिया था। तेज गति से वापस लौटने लगा मैं। मन में यही लग रहा था, पानी अभी न गिरे, अभी न गिरे। किन्तु बारिश आ ही गयी। झर-झर कर बरसने लगा आकाश। उद्दाम हवा का तूफानी विलाप भी गूँज उठा, बारिश के लय के साथ। लगभग दौड़ता हुआ चल पड़ा मैं मठ की ओर। पानी की बौछार तेज हुई। उसीके साथ तीव्र हुआ हवा का वेग। पानी से भीगे वृक्ष झूमते हुए दोहरे हुए जा रहे थे। थोड़ी देर बाद लगा कि अब दौड़ा न जायगा। यहीं इस अनजाने अरण्य-प्रान्तर में ही हो जायगी जल-समाधि। मगर फिर भी दौड़ता ही रहा।

वह युवती कौन थी ?

धुनी हुई रुई जैसे काले अन्धकार से भर गया था आसमान! चारों तरफ एक अजीब-सा सन्नाटा, एक अबूझ-सी निबिड़ता छा गयी थी। खण्डहर जैसा कालीमठ अँधेरे में अपनी रहस्यमयी कहानी पर सिर धुनता-सा प्रतीत हो रहा था। मैं जैसे ही मठ के करीब पहुँचा, लगा, मानों मेरे साथ कोई चल रहा है। उसके साँसों की गन्ध स्पष्ट महसूस कर रहा था मैं अपने समीप। लेकिन अगल-बगल कोई नहीं दिखलाई पड़ा मुझे। कौन था वह ? क्या वही रहस्यमयी नारी तो नहीं थी ? एक बार काँप गया शरीर। कई क्षणों तक चुपचाप मठ के प्रांगण में उसी तरह खड़ा रहा मैं। लगा, जैसे प्रांगण के आँवले के पेड़ पर चोंच रगड़ता कोई पक्षी कर्कश स्वर में चीख उठा। किसी चमगादड़ के पर फड़फड़ाने की आवाज भी सुनाई दी। सिर उठाया तो सामने गह्वर के द्वार पर एक नारी-मूर्ति खड़ी दीखी। बिल्कुल स्पष्ट था सब कुछ। मैंने भीत दृष्टि से उसकी ओर देखा। एकटक बिना पलक झपकाये वह रहस्यमयी नारी-मूर्ति मेरी ओर देख रही थी। जीर्ण क्लान्त चेहरा, राख जैसा रंग और अजीब-से सम्मोहन से भरी वह निगाह। क्या था उस दृष्टि में, कह नहीं सकता। छाती के भीतर कुछ खाली-सा प्रतीत हुआ।

काली मन्दिर का रहस्यमय गर्भगृह

बारिश का एकरस शोर। अँधेरे की छाती पर जुगनुओं के जलते-बुझते रहने का

खेल। अपने तुमुल रव से धरती को कँपाती हुई बिजली फिर कौंधी। उस क्षणिक किन्तु तीव्र प्रकाश में लगा कि जैसे वह मेरी ही प्रतीक्षा में खड़ी है और मुझे बुला रही है। एक अज्ञात सम्मोहन के वशीभूत होकर मैं खिंचता हुआ उसी ओर बढ़ता गया। वही सफेद रेशमी साड़ी, वही देहयष्टि। हमने उसी नारी-मूर्ति को खण्डहर की दीवार से निकलते देखा था। क्या यह प्रेत है? मेरे मन में यह प्रश्न उठा ही था कि उस नारी ने मन्दिर की बायीं ओर की दीवार का स्पर्श किया। छः फुट चौड़ी और छः फुट ऊँची दीवार के एक भाग की चट्टान अपने-आप घूम गयी। भीतर हल्का प्रकाश था। मेरे भीतर चले जाने पर दीवार का वह खुला भाग अपने-आप बन्द हो गया। कैसे बन्द हुआ, नहीं कह सकता। नारी-मूर्ति दीपाधार लेकर आगे बढ़ती गयी। बाहर की दुनिया से परे अनजाना लोक-सा प्रतीत हुआ मुझे। उसी ढंग से दीवार की एक चट्टान और हटी। अब हम मन्दिर के दूसरे भाग में थे। वह दूसरा भाग काफी लम्बे-चौड़े विशाल कमरे के सामने था, जिसकी दीवारें और फर्श लाल पत्थरों के थे। दीवारों से लगी दर्जनों की संख्या में लम्बी-चौड़ी आलमारियाँ थीं। उन सभी आलमारियों में विभिन्न विषयों की पुस्तकें ठूँसकर भरी हुई थीं। उनमें कुछ प्राचीन और कुछ हस्त-लिखित पुस्तकें थीं। थोड़ा आगे बढ़ने पर हम मुख्य गर्भगृह में पहुँचे। वहाँ पंचमुण्डी आसन था। वह नारी-मूर्ति पंचमुण्डीवाले कमरे से बायीं ओर घूम गयी। वहाँ एक लम्बी-चौड़ी पाषाण-वेदी पर महाकाल और कालभैरव की विशाल और आदमकद मूर्तियाँ खड़ी थीं। दोनों मूर्तियाँ काले संगमरमर के पत्थर की थीं। बड़ी ही भयंकर और प्रभावोत्पादक थीं वे दोनों प्रतिमाएँ। उस गुप्त स्थान में अजीब-सी खिन्नताभरी उदासी व्याप्त थी। गहरी निस्तब्धता भी बिखरी थी चारों तरफ। प्रतिमा के सामने दीपाधार पर घी का चौमुखा दीप जल रहा था। वेदी के नीचे एक हवन-कुण्डभी था, जिसका धूप एक तीखी गन्ध बिखेर रहा था। महाकाल के गर्दन में वास्तविक नरमुण्डों की माला झूल रही थी पैरों तक। महाकाल की बड़ी-बड़ी आँखें सामने को ओर देख रही थीं। जीभ बाहर निकली हुई थी। चार भुजाएँ थीं। ऊपर के दोनों हाथों में त्रिशूल और कपालपात्र था। नीचे के दोनों हाथों में नरमुण्ड और नागपाश था। महाकाल का एक पैर नारी की नंगी छाती पर था और दूसर पैर एक पुरुष की पीठ पर।

कालभैरव की प्रतिमा भी कम भयानक नहीं थी। पथप्रदर्शक बनकर चलती हुई उस नारी ने हाथ का दीपाधार रखकर महाकाल को प्रणाम किया। आतंक के अतिरेक से मेरे हाथ भी जुड़ गये। यह सम्पूर्ण सृष्टि महाकाल के चरणों में लुण्ठित लगी मुझे।

× × ×

भय, विस्मय और संशय के मिले-जुले भावों से भरे मन को मैंने किसी प्रकार काबू में किया और फिर पूछा—"आप कौन हैं? क्या मैं जान सकता हूँ?"

मेरा प्रश्न सुनकर उस श्वेतवस्त्रधारिणी नारी ने सिर घुमाकर मेरी ओर देखा और फिर फिस्-फिस् कर हँस पड़ी। मन्दिर में जल रहे दीप के हल्के प्रकाश में इस बार मुझे उसका चेहरा बिल्कुल स्पष्ट दिखलाई पड़ा। दिल धक-से रह गया। लगा, जैसे छाती के भीतर यहाँ से वहाँ तक शून्य हो गया हो। बिल्कुल हू-ब-हू वैसी ही मुखाकृतिवाली एक नवयुवती का एक बड़ा-सा तैलचित्र मैंने स्वामी श्रद्धानन्द की कोठरी में टँगे हुए देखा था। चित्र के नीचे लाल स्याही से लिखा था—'विशालाक्षी' सन् १९१० ई०।

हे भगवान्! क्या चित्र की वह विशालाक्षी ही मेरे सामने खड़ी थी, साकार और सजीव रूप में? मगर वह चित्र तो चालीस साल पहले का था? और यह युवती तो बीस-पचीस साल से अधिक आयु की लग नहीं रही थी। क्या मेरे आक्रान्त मन का कोई भ्रम था वह? मैं आगे कुछ सोचूँ, समझूँ कि तभी वह युवती बोल पड़ी—"आप मेरा परिचय जानना चाहते हैं न?"

"जी······जी······हाँ!" किसी तरह मेरे मुँह से निकला।

"मेरा नाम विशालाक्षी है।"

"विशालाक्षी!"

"जी हाँ! विशालाक्षी। महान् योग-तन्त्र-साधक स्वामी कालिकानन्द शाक्त की महाभैरवी हूँ मैं।"

"कालिकानन्दजी तो श्रद्धानन्द के गुरु और इस कालीमठ के महन्त थे, क्या आप उन्हीं······?"

"जी हाँ। मैं उन्हींकी महाभैरवी हूँ और पिछले पचास वर्ष से इस मठ में निवास कर रही हूँ।"

"लेकिन आपकी अवस्था तो इतनी प्रतीत नहीं होती?"

"कैसे प्रतीत होगी?" युवती विहँसकर बोली—"मैं मानवीय काया में थोड़े ही हूँ?"

"ऐं, क्या कहा आपने? यह आपका पार्थिव शरीर नहीं है?"

"नहीं! पार्थिव शरीर तो न जाने कब का अर्पित हो चुका है इस महाकाल के चरणों में। तभी से मैं यक्षलोक से सम्बन्धित शरीर में हूँ।"

"क्या आपकी बलि दी गयी थी?"

"हाँ! बलि ही दी गयी थी—मगर मेरी नहीं, मेरे देह की। पार्थिव देह की।" थोड़ा ठहरकर युवती आगे कहने लगी—"तुम मेरा पता लगाने और मेरा रहस्य जानने के लिए इस मठ में ठहरे हुए हो, यह मैं जानती हूँ और तभी मैंने अपने अस्तित्व को प्रकट किया है तुम्हारे सामने।"

"इसका कोई उद्देश्य भी तो होगा ?"

"हाँ, है, उद्देश्य।"

"क्या ?"

दीपाधार को उठाती हुई युवती विषण्ण स्वर में बोली—"पार्थिव शरीर से मेरी साधना पूरी हो गयी है। पार्थिव शरीर की बलि भी हो गयी है। अब मैं यक्षशरीर में हूँ और यक्षलोक में मेरा स्थान भी बन गया है। मगर······मगर ···इस संसार के प्रति मेरा मोह समाप्त नहीं हुआ है। पार्थिव जगत् के मोह और अदम्य आकर्षण से मैं मुक्ति चाहती हूँ। पिछले दस वर्ष तक मैं श्रद्धानन्द के अधिकार में रही। उन्होंने मेरे माध्यम से योग और तन्त्र के अनेक गूढ़ रहस्य प्रसंगों से योगानन्द को परिचित कराया। वह युवक योगी उसीके आधार पर अपना शोध-ग्रन्थ तैयार कर रहा था।"

"लेकिन वह पाण्डुलिपियाँ तो न जाने कहाँ गायब हो गयीं"—मैने कहा।

"उसे मैंने ही गायब कर दिया है।"

"आपने ?"

"हाँ, मैंने। मैं नहीं चाहती कि अविश्वास, अश्रद्धा और अज्ञान के इस युग में योग-तन्त्र के तिमिराच्छन्न और रहस्यमय साधना-विषयों पर प्रकाश पड़े।"

वहाँ से हम वापस हुए। दीवारें उसी तरह खुलीं और बन्द हो गयीं। भीतर ही भीतर हम काली के प्रधान गह्वर में आये। युवती गह्वर के पार्श्व की ओर बढ़ गयी। पार्श्व की दीवार भी उसी प्रकार खुली। हम जब मन्दिर के बाहर निकले तो देखा कि हम खण्डहर में खड़े हैं। युवती वहीं गायब हो गयी।

× × ×

शायद आधी रात का समय था। अँधेरे में आसमान और जमीन मानों मिलकर एकाकार हो गये थे। शीतल अंधकार का अन्तहीन समुद्रा और उसके बीच दम्-दम् होनेवाली जुगनुओं की चमक और उस विकट अन्धकार में उद्दाम वासना लिये उठती नये पानी की भीनी-भीनी महक।

याद नहीं, उस अराजकताभरी रात में—जोश-होश खोकर हम कब योगानन्द के कमरे में पहुँचे। मन में एक अजीब-सी अवशता भर गयी थी। बिस्तर पर जाकर धम्म से गिर पड़ा और कब नींद आ गयी, पता न चला।

कई बातों के साथ उस श्वेतवस्त्रधारिणी नारी का भी एक प्रकार से रहस्य खुल चुका था मेरे सामने। लेकिन उस अनावृत्त रहस्य ने मेरे मन में अनेक जिज्ञासाओं और कौतूहलों को भी जन्म दे दिया था, इसमें सन्देह नहीं।

विशालाक्षी कौन थी ? कालिकानन्द की महाभैरवी कैसे बनी ? और उन्होंने उसकी बलि क्यों दी ? ऐसे तमाम और प्रश्न मेरे सामने थे। मेरे प्रति विशालाक्षी का क्या उद्देश्य था ? इसे भी उसने प्रकट नहीं किया था। यह भी मुझे जानना था। खैर !

आश्विन पूर्णिमा यानी शरद् पूर्णिमा। साँझ का समय था। दूधा के किनारे बैठा था मैं। घोर निस्तब्धता फैली थी वातावरण में। रुपहला चाँद जंगल और पहाड़ों के पीछे से झाँकने लगा था। उसकी रुपहली परछाइँ दूधा के दूध जैसे पानी में थिरक रही थी।

सहसा वातावरण में एक अनिर्वचनीय गन्ध फैल गई और उसीके साथ लगा--मानों कोई आकर मेरे करीब बैठ गया है। पलटकर देखा—स्तब्ध रह गया—वह विशालाक्षी थी।

चौंककर बोला—"आप !"

"हाँ, मैं। आना ही पड़ा मुझे"—विशालाक्षी ने गीले स्वर में कहा—"आपको यहाँ अकेले में बैठा देखकर मुझसे रहा न गया। इतना कहकर वह चाँद की ओर देखने लगी। मैं जानता था कि मेरे निकट एक अमानवीय सत्ता मानवीय अस्तित्व में प्रकट है—लेकिन फिर भी मुझे उस समय किसी प्रकार का भय नहीं लग रहा था। यही लगा कि शायद मैं विशालाक्षी की ही प्रतीक्षा में बैठा था वहाँ, उस निर्जन स्थान पर। चाँद अब काफी ऊपर आ चुका था। उसके शुभ्र धवल प्रकाश में विशालाक्षी का चेहरा जैसे दमक रहा था। हे भगवान् ! कितना सौन्दर्य भरा था उसके रूप में। सचमुच यक्ष-कन्या-सी लग रही थी वह उस समय। खैर !

फिर कथा शुरू हुई। एक अन्तरंग कथा। एक स्वर में बिना रुके, थमे, सुनाने लगी कथा विशालाक्षी। शायद उसीके लिए आयी थी वहाँ वह।

× × ×

विशालाक्षी की अन्तरंग कथा और साधक कालिकानन्द अवधूत

पश्चिम बंगाल और आसाम का सीमावर्ती क्षेत्र और उस क्षेत्र का एक सम्पन्न गाँव—जिसमें एक सम्पन्न बंगाली परिवार रहता था। परिवार में पाँच सदस्य थे। चारुचन्द्र मित्र निमाईचन्द्र मित्र के एकमात्र पुत्र थे। निमाईचन्द्र और उनकी पत्नी भद्रकाली काफी वृद्ध हो चले थे। चारुचन्द्र मित्र और उनकी पत्नी नमितांजलि भी अधेड़ हो चुके थे। नमिता को सन्तान के नाम पर मात्र एक कन्या थी, जो जन्मजात अंधी थी। उसके बाद उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई। चालीस वर्ष की अवस्था हो जाने के बावजूद नमितादेवी को यह विश्वास था कि उन्हें पुत्रलाभ अवश्य होगा और इसलिए उनका अधिक-से-अधिक समय जप-पूजा, व्रत, उपवास, ध्यान आदि में ही बीतता था। एक रात स्वप्न में किसी वृद्ध संन्यासी ने आदेश दिया कि वह तारापीठ जाकर माँ का दर्शन करे। दूसरे ही दिन पति-पत्नी तारापीठ के लिए रवाना हो गये। वहाँ उनकी भेंट कालिकानन्द से हुई। वे एक झोपड़ी लगाकर तारापीठ में श्मशान-साधना कर रहे

थे उन दिनों। यह भेंट अकस्मात् हुई थी कि माँ की प्रेरणा से—या कृपा से—यह नहीं बतलाया जा सकता।

कालिकानन्द ने कहा—"तुम्हें पुत्र-लाभ होगा।"

यह सुनकर चारुबाबू प्रसन्न हो उठे और नमितादेवी भी गद्‌गद हो गयीं। दोनों ने झुककर उस तन्त्र-साधक के चरणों का स्पर्श किया।

तभी कालिकानन्द गम्भीर स्वर में बोले—"इस चरण-स्पर्श की दक्षिणा देंगे आप ?"

"जो आदेश हो महाराज"—चारुबाबू विनम्र होकर बोले।

"मुझे आपकी पुत्री चाहिए"—कालिकानन्द ने सहज भाव से कहा।

"लेकिन महाशय ! वह तो बेचारी अंधी है—जन्मजात अंधी।

"माँ महामाया की कृपा से सब ठीक हो जायेगा। आप सब चिन्ता न करें।"

जानते हो वह अंधी लड़की कौन थी ? विशालाक्षी ने शुष्क कण्ठ से कहा—वह मैं ही थी। उस समय मेरी आयु सिर्फ पन्द्रह साल की थी। एक वर्ष के अन्दर माँ को पुत्र-लाभ हुआ और उसी दिन दक्षिणा के रूप में मुझे समर्पित कर दिया गया कालिकानन्द अवधूत शाक्त को। मैं बहुत रोयी थी उस समय। माता-पिता और दादा-दादी के प्रेम ने मुझे पागल बना दिया था। अपने नवजात भाई के प्रति भी कम स्नेह और प्यार नहीं था मुझमें। मगर कर ही क्या सकती थी ? लाचार और विवश थी मैं। कालिकानन्द मुझे लेकर कालीमठ आ गये। वहाँ का वातावरण मुझे अजीब-सा लगा। मैं घुटन महसूस करती थी। लेकिन फिर धीरे-धीरे वातावरण के अनुकूल अभ्यास कर लिया मैंने अपने-आपको।

दीपावली आयी। महारात्रि की महानिशा वेला में तान्त्रिक विधि से गुप्त क्रियाओं द्वारा विशालाक्षी को महाभैरवी की दीक्षा दी गयी और उसी रात विशेष योग-तान्त्रिक-बल से उसकी कुण्डलिनी जागृत कर दी गयी, जिसके फलस्वरूप विशालाक्षी के नेत्रों की ज्योति वापस लौट आयी। इतना ही नहीं, उसका उज्ज्वल रूप और भी अधिक जगमगा उठा। आँखों में जैसे काजल बहने लगा। मस्तक पर लगा सिन्दूर का लाल गोल टीका दप्-दप् करने लगा और कुसुम कोमल गालों पर बिखर गये लावण्य के कण। उद्दाम यौवन से तरंगित हो उठी देहयष्टि और फिर उसी दिन से और उसी समय से अपनी योग-तान्त्रिक गुह्य साधना शुरू कर दी कालिकानन्द ने, विशालाक्षी के माध्यम से।

जहाँ कामना होती है, वहाँ तृष्णा जन्म लेती है और जहाँ तृष्णा होती है—वहाँ उसकी पूर्ति के लिए वासना का आविर्भाव होता है। मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, मोक्ष अथवा आत्म, परमात्म, साक्षात्कार आदि भी तो एक प्रकार की कामना ही है।

इसलिए कालिकानन्द अपने जिस आध्यात्मिक लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए—अपनी जिन योग-तान्त्रिक क्रियाओं के बल पर—विशालाक्षी के शरीर के माध्यम से जो साधना करते थे—उसे वासना का ही एक रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा।

भोग से योग की ओर और वासना से साधना की ओर अग्रसर होने के लिए—नारी ही एकमात्र साधन है और इस साधना का उपयोग, प्रयोग जी भरके किया उस तन्त्र-साधक ने।

इस ब्रह्माण्ड में तीन प्रमुख मण्डल हैं—ऋषिमण्डल, अग्निमण्डल और ज्योतिमण्डल।

हमारे इस भौतिक जगत् में योग का आविर्भाव ऋषिमण्डल से, ज्योतिष का आविर्भाव ज्योतिमण्डल से और तन्त्र का आविर्भाव अग्निमण्डल से हुआ है। अग्नि-मण्डल के अन्तर्गत यक्षलोक, गन्धर्वलोक, किन्नरलोक—ये तीन प्रधान लोक हैं। यक्षलोक से गायन-कला का, गन्धर्वलोक से नृत्य-कला का और किन्नरलोक से वाद्य-कला का जन्म हमारे जगत् में हुआ है। इन तीनों का समन्वय 'तन्त्र' है। 'तन्त्र' इन तीनों कलाओं के मूल में है।

इस रहस्य से कालिकानन्द खूब परिचित थे। वे किसी प्रकार उन लोगों से सम्पर्क स्थापित कर तन्त्र-विद्या, तान्त्रिक साधना और तान्त्रिक कलाओं के तमाम रहस्यों और मुख्य आयामों से परिचित होना चाहते थे।

लेकिन इसके लिए साधन ?

साधना तो थी, पर साधन भी तो होना चाहिए था और इसके लिए उन्होंने विशालाक्षी को चुना और फिर अमावस की एक स्याह कालिमामयी रात्रि में उन्होंने महाकाल के सम्मुख तान्त्रिक विधि से विशालाक्षी को बलि दे दी और बलि देकर उसकी आत्मा को अपने योग-बल से अपने अधिकार में कर लिया और इसके बाद उनका एक अति अविश्वसनीय विलक्षण यज्ञ प्रारम्भ हुआ। वे अपनी प्राण-संचरण क्रिया द्वारा विशालाक्षी की आत्मा को अग्निमण्डल में भेजने लगे। आत्मा जाती और काफी दिनों बाद जब वह वापस लौटती तो उसके साथ होता—तन्त्र का अतुल और अक्षय भण्डार।

कहने की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार कालिकानन्द अग्निमण्डल से—विशालाक्षी की आत्मा द्वारा सम्पर्क स्थापित कर रहस्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने लगे। वही ज्ञान, दर्जनों हस्तलिखित पुस्तकों और सैकड़ों पाण्डुलिपियों के रूप में संगृहीत था उस गुप्त कमरे में। कभी-कदा विशालाक्षी की आत्मा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर लोक-से सम्बन्धित शरीर में आकर प्रकट होने लगी कालिकानन्द के सामने। अग्निमण्डल के लोकवाले इच्छानुसार शरीर धारण कर सकते हैं। कभी-कभी वे मानव-शरीर में भी प्रकट होते हैं। पृथ्वी पर कला, संगीत, नृत्य, वाद्य आदि की उन्नति के लिए वे पृथ्वी पर जन्म भी

लेते हैं। यक्षों के बजाय गन्धर्व और किन्नर पुरुष अति सुन्दर, कमनीय, लावण्यमय और आकर्षक होते हैं। उनके शरीर का रंग हल्का, सुनहला और बादामी होता है। उनकी वाणी में मिठास और तीखापन होता है। पक्षियों में लाल, पपीहा और कोयल उन्हीं लोकों के पक्षी हैं। पशुओं में बकरा, भेड़ और भैंसा यक्षलोक के तथा मृग व व्याघ्र अग्निमण्डल के पशु हैं। इसीलिए तान्त्रिक क्रिया व साधना में उन पशुओं की बलि दी जाती है और साधकगण मृग व व्याघ्र के चमड़े के आसन पर बैठते हैं। खैर!

अग्निमण्डल के प्राणियों में मनुष्य से पचासगुनी अधिक प्राणशक्ति होती है। इसलिए उनकी आयु भी पचासगुनी अधिक हुआ करती है। प्राणशक्ति की अधिकता के कारण ही विशालाक्षी की आत्मा पृथ्वीमण्डल में प्रवेश कर पाती थी और प्रबल मनोमय शक्ति के द्वारा पूर्वकाया में प्रकट हो जाती थी। मगर इसके मूल में था मोह और आकर्षण, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

मेरे यह पूछने पर कि क्या मानवीय स्तर पर और मानव-शरीर की सीमा में आने पर मानव गुणों, भावों और वासनाओं का भी प्रकटीकरण होता है—तो इस सम्बन्ध में विशालाक्षी ने बतलाया कि "प्रत्येक लोक की आत्माएँ भिन्न-भिन्न स्तर, स्वभाव, गुण और प्रकृति की हुआ करती हैं। अग्निमण्डल के प्राणियों की आत्माएँ मानव-आत्माओं से सर्वथा भिन्न हैं। किन्तु जब वे मानव-शरीर में जन्म लेती हैं—तो मानव-आत्मा जैसी उनकी प्रकृति हो जाती है। शरीर छोड़ने पर फिर पहले जैसी ही हो जाती हैं। लेकिन जो लोग स्वशरीर में पृथ्वी पर भ्रमण करने आते हैं—उनकी आत्मा में कोई भी परिवर्तन नहीं होता। चूँकि मैं मानव-आत्मा हूँ—इसलिए मुझमें मनुष्य के स्वभाव, गुण और मनुष्य की प्रकृति का होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि अपने पूर्व पार्थिव शरीर का निर्माण अपने मनोबल और प्राण-बल से कर लिया करती हूँ।"

"ऐसी स्थिति में आपका लोकोत्तर शरीर किस स्थिति में रहता है?"

यह सुनकर विशालाक्षी हँस पड़ी। फिर बोली—"आप सब लोगों का ज्ञान बड़ा अल्प है। आपको मालूम होना चाहिए कि जन्म-मरण का चक्कर और गर्भ-स्थिति—आदि केवल इसी धरती पर है। और लोकों में आत्माएँ अपने निज लोक के शरीर को इच्छानुसार छोड़ सकती हैं और निज शरीर की रचना स्वयं और तत्काल अपने गुण, धर्म और स्वभाव के अनुसार कर सकती हैं। इसीलिए वहाँ धरती की तरह किसी प्रकार का न परिवार होता है और न पारिवारिक, सामाजिक बन्धन ही होता है। सब अपने-अपने स्थान पर स्वतन्त्र हैं। इसीको आप सबको दार्शनिक भाषा में "आत्म-स्वातन्त्र्य" कहते हैं। मगर मानव-शरीर में रहते हुए यह उपलब्ध नहीं। अतः इसीकी

प्राप्ति के लिए योग और तन्त्र का मार्ग निर्दिष्ट है। आत्म-स्वतन्त्रता का ही दूसरा नाम भव-मुक्ति है। भव-मुक्त होने पर मानव-आत्मा फिर संसार में कभी नहीं आती। उसका सारा मोह और आकर्षण खत्म हो जाता है—हमेशा-हमेशा के लिए······और शर्माजी !" गीले स्वर में आगे बोली विशालाक्षी—"मैं यही आत्म-स्वतन्त्रता और भव-मुक्ति चाहती हूँ। इसीके लिए मैं पागल हूँ। इसीके लिए बार-बार आकर इस कालीमठ का चक्कर लगाती हूँ।"

अन्तिम वाक्य कहने के साथ-साथ उसने विचित्र दृष्टि से मेरी ओर देखा। दृष्टि की भाषा समझ न सका मैं। एक विचित्र-सा सम्मोहन उतर आया था वहाँ। रक्तिम होंठ फड़क रहे थे। जवाकुसुम जैसे गालों पर आग की लपट खेल रही थी जैसे।

काँपते प्राणों से मैंने विशालाक्षी की ओर देखा। आँखें झुलस गयीं। वहाँ एक अमानवीय सौन्दर्य था और था एक मानवेतर अदम्य आकर्षण।

अपने-आपको किसी प्रकार सँभाला और फिर कहा—"मुझसे आप कौन-सा सहयोग चाहती हैं ? आपकी आत्म-स्वतन्त्रता के लिए मैं क्या कर सकता हूँ ?"

वह मेरे और समीप आ गई। एक अजीब-सी गंध से न जाने कैसा होने लगा मेरा जी। लगा, जैसे चेतना खो बैठूंगा मैं। बोला—"कहो, विशालाक्षी ?"

वह विचित्र अनुभव

विशालाक्षी और करीब आ गई। उसकी साँसों की गर्मी महसूस करने लगा मैं। फिर धीरे-धीरे उसका दैवी आकर्षण, दैवी रूप और उद्दाम यौवन की उष्णता मेरे रक्त में घुलने लगी। उसके सम्मोहन से मैं अपने-आपको चाह करके भी मुक्त न कर सका। एक महायोग तन्त्र-साधक की महाभैरवी की उद्दाम यौवन से तरंगित देह की विषभरी आग ने मेरे मन, प्राणों को एकबारगी झुलसा दिया। तभी अप्रत्याशित रूप से एक घटना घट गई, जिसने मेरे टूटे और बिखरे मन में हाहाकार उत्पन्न कर दिया और आपा खो बैठा मैं।

चाँद धीरे-धीरे खिसकते हुए पश्चिम के पहाड़ों की ओट में चला गया था। झिर-झिर कर ओस के नन्हे-नन्हे कण गिर रहे थे धरती पर। राह, बाट, जंगल और चारों ओर का सारा पर्वतीय इलाका साँय-साँय कर रहा था।

मुझे क्या हो गया था ? मैं किस स्थिति में था ? मेरी आत्मा में कैसी शून्यता भर गई थी ? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। खण्डहर के समीप कदम्ब के पेड़ के नीचे विशालाक्षी खड़ी थी। चाँद के पहाड़ की ओट हो जाने से अँधेरा हो गया था वहाँ। फिर भी दप्-दप् करती विशालाक्षी की यौवनश्री को पहचान लिया मैंने। जगर-मगर करता हुआ विशालाक्षी का रूप उत्ताप जगा गया। कदम्ब खूब फूला हुआ था और वैसे

ही फूला हुआ था विशालाक्षी का यौवन। एक नैसर्गिक सौन्दर्य। दूध और आलते के मिले-जुले रंग का मुखड़ा। रतनारी आँखें। कोमल गुलाब के फूल जैसे होंठ। हतवाक्-सा देखता रहा मैं। आँखों से आँखें मिलाकर मेरी ओर अपलक निहारती रही विशालाक्षी। उसकी काली भौंराली पलकों में से जैसे अपूर्व आकर्षण चू रहा था।

कुछ क्षण निस्तब्धता रही। पाषाणवत् निश्चल हो गया था मेरा शरीर। कब और किस क्षण मुझसे अलग होकर विशालाक्षी वहाँ चली गयी थी, मेरी समझ के परे था। बस, मैं देखता रहा उसकी ओर। हजार प्यालियों के नशे से मदहोश उन स्वप्निल आँखों में मेरी आत्मा ने असन्तोष और अतृप्ति का भाव देखा। उफ्! कैसी आसुरी छवि थी विशालाक्षी की। मैं अपने कमरे में चला गया। विशालाक्षी भी आ गयी मेरे पीछे! हे भगवान्! अब उसकी पागल अतृप्त कामना मुझसे कौन-सी दक्षिणा चाहती है?

फिर असहाय-सा हो गया मैं। विशालाक्षी ने दोनों हाथों से मुझे अपने आगोश में भींच लिया और फिर उसने अपनी अतृप्त कामना और उद्दाम वासना के अथाह समुद्र में डुबा दिया मुझको आकण्ठ। अपूर्व रूप की स्वामिनी विशालाक्षी की रसवन्ती देह-लता न जाने कब तक लिपटी रही मेरे शरीर से और कब तक वह छककर सौरभ-पान करती रही—पता न चला मुझे। मेरा मन, मेरा प्राण और मेरी आत्मा धीरे-धीरे डूबती चली गयी उसकी अतृप्त और अदम्य कामना-वासना के सागर में।

× × ×

पूरब का आकाश सफेद होने लगा था। शुक्र तारा झिलमिलाने लगा था आकाश के उस शुभ्र धवल पटल पर। उस महातान्त्रिक भैरवी की यौवन-लीला समाप्त हो गयी थी। लेकिन फिर भी उस नवोढा यक्षिणी का रूप और यौवन जगमग-जगमग करता ही रहा और यहाँ मृतवत् खामोशी में मैं निश्वास लेता हुआ—निस्पन्द पड़ा रहा बिस्तर पर काफी देर तक। "अब मैं जा रही हूँ"—तृप्ति के स्वर में बोली विशालाक्षी, "भौतिक जगत् के प्रति, भौतिक शरीर के प्रति और भौतिक कामनाओं के प्रति अब मेरा आकर्षण और मोह समाप्त हो चुका है। कुछ भी शेष नहीं रह गया है यहाँ मेरे लिए। परन्तु फिर भी मैं अपने लोक से, अपने स्थान से बराबर तुमसे सम्पर्क बनाये रखूँगी। इतना ही नहीं, मैं तुम्हारे अन्वेषण और तुम्हारे शोध-कार्य में भरपूर सहयोग दूँगी अदृश्य रूप से। मेरी अगोचर सहायता से तुम उन महान् आत्माओं, योगियों, साधकों और उच्च कोटि के तान्त्रिकों से भी सम्पर्क स्थापित कर सकोगे जो सदैव प्रच्छन्न रूप से संसार में निवास करते हैं और जिनका दर्शन संसारियों के लिए दुर्लभ है।"

थोड़ा रुककर भावशून्य दृष्टि से मेरी ओर देखती हुई विशालाक्षी आगे बोली—"तुम मेरे उद्धारक हो—और हो तुम मेरे जीवन-स्वातन्त्र्य की दिशा में सहयोगी।

भला मैं तुमको कैसे भूल सकूंगी ? कैसे बिसार सकूंगी ? कभी नहीं, कभी नहीं। ऐसा कभी भी नहीं हो सकता।"

× × ×

तिमिराच्छन्न, रहस्यमय और गोपनीय भारतीय संस्कृति और साधना के गुह्य आयामों की खोज में मुझे जिन कंटकाकीर्ण मार्गों पर चलना पड़ा और अन्धकार में डूबे हुए जिन दिशाओं का अनुसरण करना पड़ा—उसकी दक्षिणा पहले ही इस प्रकार मुझे चुकानी पड़ेगी—इसकी कल्पना भी कभी मैंने स्वप्न में नहीं की थी और यह भी कभी स्वप्न में नहीं सोचा था कि एक महान् तन्त्र-साधक की अदम्य शक्तिशालिनी महाभैरवी की पारलौकिक दुर्धर्ष आत्मा इस दिशा में और इस मार्ग में मेरी निर्देशिका और पथ-प्रदर्शिका बनेगी। साथ-साथ यह भी कभी न सोचा था, न कल्पना की थी कि उसके लिए अपना भौतिक जीवन और उस जीवन के तमाम सुख, आकर्षण, आनन्द और तमाम शक्ति खो देनी पड़ेगी हमेशा-हमेशा के लिए और उसके बदले मुझे प्राप्त होगा वीतरागमय और तटस्थमय जीवन। प्राप्त होगी अनासक्त भावना तथा संसार एवं शरीर के प्रति उपेक्षा का भाव।

•

साधक ताराचन्द्र अवधूत

सन् १९५८ ई०।

मैं उन दिनों एकान्तवास और साथ ही योग-तन्त्र से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक को पूर्ण करने के उद्देश्य से उस पर्वतीय नगर के एक होटल में कुछ दिनों के लिए ठहरा हुआ था। होटल के मालिक मेरे सुपरिचित थे। नाम था भवानीबाबू। उन्होंने मुझे जो कमरा दिया था—वह सबसे ऊपर की मंजिल पर था। कमरे में दो बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ थीं। कमरे के सामने काफी लम्बी-चौड़ी छत थी—जिस पर फूलों और बेलों के कई गमले करीने से रखे थे। छत के दूसरी ओर कतार में तीन कमरे थे। अपने कमरे के बाहर बहुत ही कम निकलता था मैं। जिन सामानों की आवश्यकता मुझे प्रतीत होती, उन्हें भवानीबाबू स्वयं पहुँचा दिया करते थे। मैं प्रायः लिखता-पढ़ता

रहता था या फिर खिड़की के पास बैठकर सुनसान घाटी की ओर अपलक निहारा करता काफी देर तक। वह वीरान और उदास घाटी काफी दूर तक फैली हुई थी, जिसके एक ओर तो हिमालय के उत्तुंग शिखरों की कतारें थीं और दूसरी ओर घने जंगलों का लम्बा सिलसिला था। जब साँझ की स्याह चादर धरती पर फैल जाती और चारों तरफ साँय-साँय करने लग जाता और जब हिमाच्छादित पहाड़ों के पीछे से कृष्ण-पक्ष का चाँद धीरे-धीरे निकलता—उस समय वह घाटी किसी अनजाने लोक-सी प्रतीत होती मुझे। किसी अज्ञात अनुभूति से भर जाता मेरा मन और प्राण।

रोज की तरह उस दिन भी साँझ के समय खिड़की के पास बैठा निहार रहा था मैं घाटी की ओर। तभी होटल में शोर-गुल सुनाई पड़ा मुझे। दो तल्ले के बरामदे में काफी उत्तेजना दिखाई दी। कुछ शब्द एकदम नये ढंग के और साथ ही आशंका पैदा करनेवाले थे। और दिनों की तरह अलस क्षणों के अर्थहीन वाक्यों की तरह नहीं।

"उफ ! खून से एकदम सराबोर हो गये हैं। पहले डेटाल लगाइए।··· ·· नहीं है ? किसीके पास चूना है क्या ?···क्या ? वही दीजिए न !"

"अरे, पहले देखिए कि स्टिच करना होगा कि नहीं। चूना लगाने से मुश्किल होगी।"

"ओपफोह ! आप सब लोग डाक्टरी क्यों कर रहे हैं ? दिस इज ए सीरियस केस। ह्वाई डू .यू टेक दिस केस इन योर हैण्ड ?···डाक्टर को दिखाइये, आसपास कोई डाक्टर नहीं है ? होना तो चाहिए। मैनेजर से पूछिये न।"

"ऐसे कोई मारता है ? कौन है वह ? चाण्डाल या कृतघ्नी ?···स्काउण्ड्रल। साधु बनता है स्साला ! पुलिस को देना चाहिए बदमाश को। रिपोर्ट करा दी जाय। इसी हालत में रिपोर्ट की जाय तो केस तगड़ा होगा।"

दूसरी ओर का भी स्वर सुनाई दिया।

"आप लोग जाते ही क्यों हैं ? साधु सुनते ही भागकर जाना होगा। ठीक ही हुआ। अच्छा हुआ। आप लोगों को उचित शिक्षा मिल गयी। शिक्षा मिलनी ही चाहिए।"

"सचमुच ही" और एक वक्ता ने उनका समर्थन किया—"आप ही लोग तो गये थे वहाँ ट्रेस पास करने। वह तो आया नहीं था। वह अगर एकान्त में साधन-भजन करना चाहता है तो आप लोग उसे डिस्टर्ब करने क्यों जाते हैं ?"

"मान लिया महाशय। मगर क्या इसीलिए किसीकी जान ले लेगा। यह क्या अंधेर नगरी है ? आश्रम ? काहे का और कैसा आश्रम ? हमारे-आपके पैसे से ही तो चलता है। ट्रेस पास कैसा ? चलिए, हम सब एक साथ चलें। ढोंगी, पाखण्डी और शराबी बेटे को भरपूर शिक्षा दे आयें।"

"आप लोगों ने रुपये दिए हैं उसे श्रीमानजी ? यहाँ उपस्थित किसी एक ने भी दिया है ? मैंने तो सुना है कि कोई प्रणामी देने जाय तो उठाकर फेंक देता है।"

"रहने भी दीजिये। तब चलता कैसे है ?" पहलेवाले महाशय की बात पूरी नहीं हुई। इसी बीच केयर टेकर साहब की आवाज सुनाई दी—"अं: हाँ-हाँ, यह काम न करियेगा, सर, यहाँ की पुलिस सर्किल में उसका बड़ा सम्मान है। सब डरते हैं। सब इज्जत करते हैं। इसके पहले भी कुछ लोग जा चुके हैं। उस तान्त्रिक साधु ने त्रिशूल से एक भद्र व्यक्ति का सिर फोड़ दिया था और एक महाशय के कन्धे के आर-पार त्रिशूल भोंक दिया था। पुलिस को खबर दी तो एस० पी० साहब ने कहा कि आप लोग विदाउट परमीशन किसीके प्रेमिसेस में क्यों घुसे थे ? अगर हमें न्याय करना हो, तो पहले ट्रेस-पास का चार्ज लगाकर आप लोगों को अरेस्ट करना पड़ेगा। उसके बाद साधु अगर कहे कि आपने डकैती के इरादे से उसके घर पर चढ़ाई की थी तो आप इसके खिलाफ क्या सबूत देंगे ? सीरियस गोलमाल में पड़ जायेंगे, कहे देता हूँ। यह सब सुनकर वे लोग घबरा गये।"

"सोच-समझ लीजिये।.........इसीलिए तो उसे छेड़ने के लिए कोई नहीं जाना चाहता।"

इतना सब कुछ सुनकर कौतूहल रोकना मुश्किल हो गया मेरे लिए। उठकर बाहर आया मैं। देखा कि मेरे सामनेवाले कमरों में हुसन इन्टरप्राइज के जो पाँच-छह व्यक्ति आकर ठहरे थे—वही सब मुँह लटकाये बैठे थे। उनमें से जो जरा मोटे और थुल-थुल-से थे—तुलसीबाबू—उनका माथा फट गया था और उससे खून काफी निकला था। यहाँ तक कि कमीज भी भींग गयी थी। इन्हीं लोगों को घेरकर और लोग भी खड़े थे और इस विषय में अपना-अपना मत प्रकट कर रहे थे।

घटना जानने-समझने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ। भवानीबाबू ने ही बतलाया सब कुछ। यही तो जंगल से सटा हुआ लाल रंग का बड़ा-सा मकान दिखलाई पड़ रहा है, जिसके चारों ओर काफी पेड़-पौधोंवाला बगीचा है और बीच में एक मन्दिर जैसा है, उसीके पास लाल रंग का एक झण्डा फहरा रहा है। वहीं कोई एक तान्त्रिक साधु रहते हैं।

थोड़ा रुककर भवानीबाबू आगे कहने लगे—साधु की खूब ख्याति है यहाँ। हालाँकि सुख्याति के स्थान पर कुख्याति ही अधिक है। सुनने में आया है कि वे दिन-रात मदिरा-पान करते रहते हैं। उनकी आँखें शराब और गाँजे के कारण गुडहल के फूल जैसी लाल रहती हैं। वे बड़े ही कटुभाषी और अभद्र संन्यासी हैं। कोई मिलने जाता है, कोई दर्शन के लिए जाता है, तो मार-पीट करते हैं और कभी अच्छी-अच्छी

बातें भी करते हैं। योग, तन्त्र के रहस्यों को भी समझाते हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान सब बता देते हैं, जैसे छपी हुई किताब में लिखा हो।

भवानीबाबू के साथ आये रामरंजन महाशय ने बतलाया कि साधु में, सुना है, नारी-सम्बन्धी दोष भी काफी हैं। उनके पास प्रायः नयी युवती भैरवियाँ दिखाई देती हैं। इस मामले में वे बहुत भाग्यवान् भी हैं। आयु साठ-पैंसठ से कम नहीं है। कोई-कोई और भी ज्यादा बताते हैं। मगर आजकल जो भैरवी उनकी सेवा में जुटी है—वह परम सुन्दरी है और उसकी उम्र भी बीस-इक्कीस से ज्यादा नहीं है। कलकत्ता के किसी धनी परिवार की लड़की या बहू है वह। सुना है कि ढेर सारे जेवर और सोने की मोहरें साथ लाई है। उसीके साथ कभी-कभी साधु महाराज रिक्शे या कार में बाहर जाते हैं। वह युवती भैरवी दोनों हाथों से पैसा खर्च कर रही है, हर समय साधु के पास बनी रहती है और हर समय बनी-ठनी रहती है। लोगों का कहना यह भी है कि बाबा के साथ बैठकर वह भी शराब पीती है।

इतना ही नहीं! सुना है कि बम्बई के एक प्रसिद्ध करोड़पति व्यापारी का इकलौता लड़का देखने में सुन्दर और पढ़ने-लिखने में तेज—कालेज-वालेज छोड़कर—साधु बाबा के पास आकर पड़ा हुआ है। नौकर की तरह रहता है। इसी तरह एक और कश्मीरी ब्राह्मण का लड़का रहता है। वह खाना बनाता है। पूजा-आरती करता है। बाबा का पैर दबाता है। पूरी सेवा करता है और कभी-कभी लात भी खाता है। बाबा जरा-सी बात पर भी कसकर पीट देते हैं बेचारे को। सुना है कि एक दिन कश्मीरी ब्राह्मण के उस बेटे की छाती पर बैठकर उन्होंने जबरदस्ती उसे शराब पिलाई थी। लड़का मरते-मरते बचा। पूरे सात घण्टे तक बेहोश रहा। मगर आश्चर्य की बात तो यह है कि वे लोग सब कुछ सहकर भी जाते नहीं, वहीं पड़े रहते हैं। माँ-बाप आकर रोते-पीटते हैं। लड़कों के हाथ-पैर पकड़ते हैं। मगर वे घर लौटकर नहीं जाना चाहते। किस लोभ में वे लड़के पड़े हैं और किस शान्ति की खोज में वे युवतियाँ पड़ी हैं, कोई नहीं जानता।······

भवानीबाबू ने नीचे से चाय-टोस्ट मँगवा लिया था। चाय की चुस्की लेते हुए भवानीबाबू कहने लगे—इधर जो लोग आते हैं, उनमें अधिकांश बाबा से मिलनेवाले लोग ही होते हैं। ऐसे लोग प्रायः मेरे ही होटल में ठहरते हैं। इसलिए बाबा के सम्बन्ध में समय-समय पर बहुत कुछ सुनने-समझने को मिल जाता है मुझे। बहुत से ऐसे भी भले मानुष हैं—जिनको साधु-संगत की सनक होती है कुछ! इसीलिए वे लोग जब मौका पाते हैं तो सब एक साथ मिलकर निकल पड़ते हैं घूमने। ज्यादातर तीर्थों में जाते हैं। मगर तीर्थों के देवताओं का दर्शन करने नहीं, साधु-सन्त खोजने। जो लोग अभी लात खाये हैं, वे ऐसे ही लोगों में से हैं। यहाँ आकर भी इन लोगों ने साधु-

सन्तों की तलाश की। कई लोगों के मुँह से इस तान्त्रिक साधु का वर्णन सुनकर नाच उठे थे। साधु बाबा शिष्य नहीं बनाते। रुपया-पैसा नहीं चाहते। प्रचार-प्रसार भी नहीं चाहते। उलटे भक्तों से बचकर ही रहना चाहते हैं। ऐसा आदमी अगर साधु, संन्यासी न हो, तब और कौन होगा भला। ऐसे ही साधु की तो ये लोग इतने दिन से खोज कर रहे थे। भवानीबाबू हँस पड़े। कई लोगों ने मना किया था कि बदमिजाज और शराबी आदमी है। क्यों जाते हैं खाहमखाह छेड़ने? इन लोगों ने किसीकी नहीं सुनी और आज सबेरे ही स्नान करके फूल, मिठाई, अगरबत्ती आदि ख़रीदकर साधु का दर्शन करने गए। सोचा था कि भीतर जब एक मन्दिर है—तब देवता के नाम, पूजा का सामान ले जाने पर कुछ लौटा न सकेंगे। दूसरे, सबेरे शराब का प्रभाव भी कम रहेगा।

मगर पता नहीं, क्यों साधु महाशय इन लोगों को देखते ही जल उठे। 'निकलो! अभी निकल जाओ। कुत्ते के बच्चे, गधे की औलाद!' आदि गालियाँ देते हुए साधु महाशय ने फूल-मिठाई आदि सब उठाकर फेंक दिया। फिर पैर से खड़ाऊँ उतारकर जो लोग सामने पड़ गए—फेंक-फेंककर मारा। मगर वे लोग फिर भी नहीं हटे। डटे रहे और तुलसीबाबू झुककर पैरों पर गिरने चले। तब साधु ने एक भारी-सा लोहे का चिमटा उठाकर उनके माथे पर जमा दिया। तब भाग जाने के सिवाय कोई चारा नहीं रहा। निकलकर यहाँ चले आये लोगों से सलाह-मशविरा करने।

जितने लोगों ने घटना सुनी, उतने प्रकार की सलाह दी। पहले भी तो सलाह दी थी काफी। मगर तुलसीबाबू आदि ने अन्त में अपनी ही बुद्धि पर निर्भर किया, यानी मामले को एकदम दबा दिया। कहावत है कि सयाना ठगे जाने पर बाप से भी नहीं कहता। इसी रीति के अनुसार अपनी इज्जत बचाकर दूसरे दिन वे लोग कलकत्ते चले गये, रिजर्वेशन भी नहीं कराया। उन्होंने देखा कि वे लोग खाली होटल में ही नहीं, बल्कि आसपास के लोगों के लिए दर्शनीय और कौतुक व व्यंग्योक्ति के लक्ष्य हो रहे हैं। इसीलिए वे इतने उतावले हो गये।

भवानीबाबू और रामरंजन महाशय चले गये। मगर मैं किसी भी तरह इस बात को भूल न सका। सब कुछ बड़ा ही रहस्यमय लग रहा था मुझे। सैकड़ों तान्त्रिक साधु-संन्यासियों से मिल चुका था मैं। सैकड़ों तन्त्र-साधकों की मति-गति से परिचित था मैं। मगर ऐसे तान्त्रिक भी होते हैं? और ऐसे भी बदमिजाज साधक होते हैं? यह पहली ही बार जाना-सुना मैंने। खाहमखाह दर्शनार्थी भक्तों के प्रति इस दुर्व्यवहार का क्या माने है? क्या यह भी प्रचार का एक कौशल है, जिसे पब्लिसिटी स्टण्ट कहते है? अथवा इसका और कोई गहरा रहस्य है? सचमुच क्या वह साधु मानव-समाज से छिपकर रहना चाहता है? वह कोई क्रिमिनल तो नहीं है? नहीं तो शिष्यों के बिना

काम कैसे चलता है ? माना कि पैसेवाली जवान भैरवी आ जुटी है—मगर इतने दिन कैसे चलता था ? मकान, मन्दिर, नित्य सेवा पूजा—सभी काम तो चल रहा है। शराब का दाम भी तो कम नहीं है और वह लड़की ही भला कितना पैसा लायी होगी ? यह सभी क्या एक बड़ा आवरण नहीं है ? सचमुच वह क्या करता है ? वह कोई रिसीवर आफ स्टोलेन प्रापर्टी है या कोई स्पाई ! या यह वास्तव में ही सच्चा साधु है ? पुलिस उसकी इज्जत क्यों करती है ? मुनाफे के लिए या भक्ति के कारण ?

यौगिक साधना और तान्त्रिक साधना

मैं जितना सोचता, उतना ही उत्तेजित होता। पूरी रात नींद नहीं आयी मुझे। खिड़की के पास बैठा सोचता रहा तन्त्र और तान्त्रिक के विषय में। भारतीय संस्कृति का मूल स्तम्भ है—तन्त्र। वेदों में सबसे प्राचीन ऋग्वेद है। उसी ऋग्वेद से आविर्भाव हुआ है तन्त्र का। भारतीय अध्यात्म-क्षेत्र में केवल दो ही साधनाएँ हैं—यौगिक साधना और तान्त्रिक साधना। वैसे देखने में ये दोनों साधनाएँ अलग-अलग हैं—मगर आन्तरिक दृष्टि में दोनों एक-दूसरे की पूरक और एक-दूसरे पर आश्रित हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड के मूल में एक ही शक्ति क्रियाशील है। उस शक्ति का क्या स्वरूप है, क्या गुण है—इसे आज तक कोई भी जान नहीं सका है। मगर तत्ववेत्ताओं के अनुसार उसे परमात्म-शक्ति अथवा चिन्मय-शक्ति कहा जा सकता है। विवेचना की दृष्टि से उस परमात्म-शक्ति को दो रूपों में विभक्त किया गया है। पहला समष्टिरूप है—जो अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। दूसरा व्यष्टिरूप है—जो सभी प्रकार के जीवों और प्राणियों में चैतन्य-रूप में स्थित हैं। साधकगण इन्हीं दोनों रूपों को 'परमा' और 'परा' कहते हैं। मनुष्यों में यही परारूप शक्ति, मन, प्राण, वाक् के रूप में विभक्त होकर क्रियाशील है। सवर्णोपासना भूमि में इन्हीं तीनों रूपों को महालक्ष्मी, महाकाली और महासरस्वती की संज्ञा दी गयी है। तन्त्र में शक्ति के समष्टि और व्यष्टिरूप के अलावा इन तीनों रूपों की भी साधना है। वास्तव में तान्त्रिक साधना विशुद्ध शक्ति-साधना है। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो, तन्त्र एक अत्यन्त गूढ़, गोपनीय और रहस्यमय शास्त्र है। यह एक प्रकृष्ट विज्ञान है। वर्त्तमान में तन्त्र-साधना और तन्त्र-विज्ञान के परिणाम के परिपक्व ज्ञाता अथवा साधक प्रकट में बिल्कुल नहीं हैं। जो भी हैं वे प्रच्छन्न हैं। शीघ्र अपने-आपको व्यक्त नहीं करते वे। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि उनकी मति-गति को और उनकी गतिविधि को समझना कठिन है। उनको जानना-समझना भी मुश्किल है। सबसे बड़ी बात तो यह भी है कि मानवेतर शक्तिसम्पन्न और गुप्त रूप से संचरण-विचरण और निवास करनेवाले साधकों को पहचानने की दृष्टि भी अब नहीं रह गई है हमारे पास।

× × ×

कौन था वह रहस्यमय साधु ?

आखिर में मुझसे रहा नहीं गया। दूसरे दिन तीसरे पहर साधु के आश्रम की ओर चला गया। ऊँची मुँड़ेर से घिरा एकतल्ला मकान था। बाहर से कुछ भी दिखलाई नहीं देता था। मन्दिर की चोटी और लाल झण्डा भी मकान से कुछ दूर जाने पर ही दिखाई देता है। मेरा सन्देह और भी बढ़ गया। इस तरह जेलखाने की जैसी ऊँची दीवार बनाकर लोगों की नजर से बचकर रहने का क्या उद्देश्य है ? साधु के आश्रम में कौन-सा ऐसा अवांछनीय कार्य-कलाप हो सकता है, जिसमें आदमी की नजर पड़ने से बाधा पड़ जायगी ? शराब और नारी-सम्बन्धी दुराचार की बात तो सब लोग जान ही गए हैं। तब जरूर कोई और भी कुकृत्य यहाँ छिपकर होता है।

तीसरे पहर से शाम तक आश्रम के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहा—मगर न वह तान्त्रिक साधु, न उसकी सुन्दरी भैरवी और न उन दोनों लड़कों में से कोई एक बार भी बाहर आया। न किसीने दरवाजा ही खोला। शक्ल-सूरत में कौन कैसा है—सो भी नहीं जान सका। दरवाजे पर धक्का देकर खुलवाने का साहस नहीं हुआ। देखकर सीखना बुद्धिमान् का काम है। बेवकूफ लोग ठगे जाकर सीखते हैं। तुलसीबाबू आदि की हालत देखकर ही मुझे शिक्षा मिल चुकी थी।

मगर यह मालूम था कि हाट-बाजार के लिए तो जाते ही होंगे और यह भी सुना था कि साधु महाशय दर्शन भी देने जाते हैं और कभी-कदा युवती भैरवी को साथ लेकर भी निकलते हैं। सोचा, ऐसे ही मौके पर कभी भेंट हो ही जायगी।

दूसरे दिन भोर होते ही फिर गया। खूब तड़के उठा था। आश्रम के पास जब पहुँचा तो उस समय भी पाँच बजने में देरी थी। दूर से देखा कि आश्रम के सामने ही एक ऊँचे से टीले पर साधु महाशय भी बैठे हैं और अपलक दृष्टि से नवालोकित पूर्वाकाश की ओर देख रहे हैं। उनकी दृष्टि स्थिर है। साथ ही शरीर भी निश्चल है। मानो कोई निष्प्राण पत्थर की मूर्ति है। शायद इसीको योगासन कहते हैं। तो फिर ? यह तो कोई जादूगरी या विज्ञापन नहीं मालूम होता। इतने तड़के निश्चय ही उन्होंने किसी दर्शनार्थी भक्तों के आने की आशा न की होगी, जिसको दिखाने के लिए इस तरह बैठे होते। यहाँ के होटलों और टूरिस्ट लाजों में कोई भी इतने सबेरे नहीं उठता। हाँ, अगर मेरे आने की आशा की हो तो और बात है। मगर तब तो यही समझना होगा कि वह कोई बड़े शक्तिशाली तपस्वी हैं।

खूब सावधान होकर—जिससे कोई आवाज न हो—धीरे-धीरे पैर उठाता—मैं उनके पास बढ़ गया। साइड से मुँह ठीक से देख नहीं पा रहा था। इसलिए थोड़ा घूमकर मैं एक कोने से उन्हें देखने लगा जिससे चेहरा देख सकूँ और साधु महाशय के चेहरे

पर जब मेरी नजर पड़ी तो एकबारगी चौंक पड़ा मैं। वह चेहरा तो मेरा परिचित है—अच्छी तरह पहचाना हुआ। दस साल का समय कम न होने पर भी इतना ज्यादा नहीं होता कि इतनी भूल हो जाय। वही मुँह, वही दाढ़ी, माथे पर वही सिन्दूर की लम्बी रेखा, जिसके बीच में—सफेद चन्दन या मिट्टी का टीका, इसका क्या अर्थ है—सो कई बार पूछने पर भी जान न सका था मैं—परिवर्तन खाली इतना है कि पहले सिर के बाल ऐसे ही बड़े-बड़े और उलझे हुए थे—और अब पीछे की ओर दो-तीन छोटी-छोटी जटाएँ हो गयी हैं। पहले बाल अधकचरे थे—अब सफेद बाल अधिक हैं, काले कम।

वे क्रोधी, बदमिजाज और शराबी तान्त्रिक साधु और कोई नहीं—मेरे सुपरिचित ताराचन्द्र अवधूत थे।

सन् १९५० ई० में पश्चिम बंगाल से आकर वाराणसी में डेरा-डण्डा जमा लिया था संन्यासी ताराचन्द्र अवधूत ने। नगवा से जरा आगे गंगा किनारे काफी जगह लेकर उनका आश्रम था। कच्ची मिट्टी की मोटी-मोटी दीवारों के बने बड़े-बड़े तीन-चार कमरे थे। आश्रम के चारों तरफ केले के दर्जनों पेड़ और असंख्य पेड़-पौधे। दो गायें भी थीं। बहुत कुछ प्राचीन काल के तपोवन जैसा लगता था वहाँ का वातावरण।

धीरे-धीरे अवधूत महाशय के—भक्तों और शिष्यों की संख्या अधिक हो गयी। ज्यादातर उनके भक्त और शिष्य बंगाली थे। कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर कलकत्ता, धनबाद, बर्दवान और चौबीस परगना से भी उनके सैकड़ों भक्त और शिष्य हर साल आते थे। फिर खूब भजन-कीर्तन होता और भण्डारा भी। देखते-ही-देखते डेढ़-दो साल के भीतर-ही-भीतर वाराणसी और आसपास के इलाकों में संन्यासी ताराचन्द्र अवधूत की ख्याति फैल गयी। विशेषकर त्रिकालदर्शी तान्त्रिक के रूप में। अवधूत महाशय अत्यन्त मृदुभाषी और सरल प्रकृति के व्यक्ति थे। सभी लोगों से प्रेम से मिलते थे। जो कोई बुलाता—उसके घर चले जाते। किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखते थे। कभी-कभी देखा था कि रईसों, अफसरों और बड़े-बड़े व्यापारियों की कीमती कार में जा रहे हैं और कभी रिक्शे में किसी निम्नवित्त भक्त के साथ बैठकर उसके घर चले जा रहे हैं। किसीकी बीमारी की खबर सुनकर पैदल ही उसे देखने चले जाते—और इसके लिए दो-तीन मील पैदल चलना भी उनके लिए कष्टकारक या अपमानजनक नहीं लगता था। मगर शहर के अन्दर कोई उन्हें पैदल चलने नहीं देता था। उन्हें देखते ही रिक्शेवाले दौड़ आते और उन्हें रिक्शे पर बिठा लेते—और किराया देने पर जीभ काटते हुए हाथ जोड़ देते।

इसके अवश्य कई कारण थे। सुना था कि तन्त्र-मन्त्र के अलावा वे बहुत-सी दवा-दारू भी जानते हैं, जिनकी डाक्टर-वैद्य को दिखाने की हैसियत नहीं होती थी—ऐसे

सभी लोग रोग-व्याधि होने पर उनके पास दौड़ जाते थे। प्राय: धनी-मानी और अफसर लोग भी उनकी चिकित्सा का यश सुनकर उनके पास आते थे। तन्त्र-मन्त्र के जरिये भी अनेक प्रकार की भयानक व्याधियों और भूत-प्रेत आदि बाधाओं को तत्काल दूर कर दिया करते थे। यही सब उनकी प्रसिद्धि का कारण था।

मेरे एक पत्रकार मित्र थे—नाम था अशोक काजले। उन्होंने ताराचन्द्र अवधूत के फोटो सहित उनसे सम्बन्धित एक चित्ताकर्षक लेख स्थानीय समाचार पत्रों में छपवा दिया, जिसका फल यह हुआ कि जो लोग अवधूत महाशय को अब तक नहीं जानते थे, वे सब लोग भी उनसे परिचित हो गये। मैं भी उसी लेख को पढ़कर अवधूत महाशय के आश्रम में गया था। फिर बाद में प्राय: रोजाना जाने लगा था मैं। मुझे काफी अच्छे लगते थे अवधूत महाशय। वे तब भी पागल जैसे लगते थे। मगर एक अत्यन्त सदाशय पागल। नशा-वशा करते उन्हें कभी नहीं देखा मैंने। मगर उस समय भी उनकी एक भैरवी थी—नाम था आरती। बहुत ही सुन्दर और विनम्र थी वह। उम्र भी यही थी पचीस-छब्बीस के लगभग। कई प्रकार की तान्त्रिक साधना जानती थी वह भैरवी। हर अमावस्या की शाम से ही भैरवी के साथ कमरे का दरवाजा बन्द करके काली माँ की पूजा करते थे अवधूत महाशय। अन्दर क्या करते थे—शराब वगैरह पीते थे या नहीं, पता नहीं। मगर दिनभर निराहार व्रत रखकर अपने हाथों पूजा की व्यवस्था करते थे—भोग भी स्वयं बनाते थे। इससे लगता कि सात्त्विक भाव से ही पूजा करते थे। दूसरे दिन सवेरे प्रसाद लेने कई बार गया हूँ—मगर कभी तो उन्हें नशे में नहीं देखा। खैर!

मन्त्र-शक्ति

जब अवधूत साधक को यह मालूम हुआ कि मैं तन्त्रशास्त्र का चिन्तन, मनन और अध्ययन करता हूँ तो मेरे में अधिक रुचि लेने लग गये वह।

जब मैंने यह पूछा कि "क्या मन्त्रों में शक्ति होती है?" तो अवधूत महाशय चट् से बोले—"हाँ, होती है। मन्त्रों में असीम शक्ति होती है। जिस प्रकार पदार्थ के मूल में विद्युत् है उसी प्रकार शब्दों के मूल में ध्वनि है। ध्वनि जब विद्युत् द्वारा नियोजित होती है तो वह आकार धारण कर लेती है। प्रत्येक अक्षर में और प्रत्येक शब्द में विद्युत्मयी ध्वनि-शक्ति है। हम जो श्वास-प्रश्वास लेते हैं—उसमें भी विद्युत् है। श्वास में धन विद्युत् और प्रश्वास में ऋण विद्युत् का प्रवाह है। जब श्वास-प्रश्वास के आधार पर मन्त्रों का जप होता है तब प्राण ऊर्जा से अनुप्राणित होकर शब्दों की ध्वनि स्वयं एक विशेष प्रकार की विद्युत्-चुम्बकीय धारा को जन्म देने लग जाती है। वही धारा बाद में अपने कम्पन से और अपनी तरंगों से आकार का निर्माण करने लगती है।"

मूल ध्वनि और उसके तीन रूप

"मूल अथवा मौलिक ध्वनि कौन-सी है ?" फिर प्रश्न किया मैंने।

"अ, उ, म यानी ओम्—यह आदिध्वनि है—यही मूल या मौलिक ध्वनि है।" अवधूत महाशय ने आगे बतलाया—"ॐ भारतीय संस्कृति की एक दुर्लभ और अद्‌भुत खोज है। ॐ शब्दातीत, अर्थातीत और भावातीत है। अ, उ, म—हमारी भाषा की मूल ध्वनि है। सारे के सारे शब्दों का अनन्त विस्तार इन तीन ध्वनियों का ही विस्तार है। मुख्य ध्वनियाँ केवल तीन हैं, 'अ' पहली ध्वनि है, 'उ' दूसरी और 'म' तीसरी ध्वनि है। मगर आश्चर्य की बात तो यह है कि इन तीनों ध्वनियों का कोई अर्थ नहीं है। अर्थ तो इनके सम्बन्धों से ही निश्चित होता है। 'अ' का अपना कोई अर्थ नहीं है। मगर जब शब्द बनेगा तो उसका कोई न कोई अर्थ भी होगा। इसी प्रकार 'उ' और 'म' का भी अपना कोई अर्थ नहीं। मगर वह भी ज़ब शब्द बनेगा तो उसका भी कोई न कोई अर्थ भी होगा। लेकिन तीनों शब्दातीत और अर्थातीत हैं—क्योंकि तीनों न शब्द हैं और न तो अर्थ हैं। जब शब्द भी नहीं हैं और अर्थ भी नहीं है तो उनसे किसी भी प्रकार के भाव का जागरण भी सम्भव नहीं और इसीलिए तीनों अक्षर भावातीत भी हैं। खैर !

"मुख्य रूप से ध्वनि के तीन ही रूप हैं और तीनों रूपों से सम्बन्ध रखनेवाले—अ, उ, म—ये तीन अक्षर हैं। तीनों ध्वनियों के ये तीन मूल अक्षर हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, ये तीन मूल ध्वनियाँ और ये तीनों अक्षर ही हमारी वाणी का और हमारी भाषा का विस्तार है और है जोड़।

"भारतीय तत्त्वचिन्तकों और मनीषियों ने सर्वप्रथम इन्हीं तीनों मूल ध्वनियों को पकड़ा और फिर 'अ', 'उ' और 'म' को संयुक्त कर 'ओम्' का निर्माण किया। वास्तव में यह उनकी गहरी और विलक्षण खोज थी और था अद्‌भुत निर्माण। खैर !

"तत्त्वचिन्तक और मनीषीगण 'ओम्' को लिख सकते थे। मगर ऐसा नहीं किया उन्होंने, क्योंकि लिखने से यह सन्देह उत्पन्न होता कि फिर 'ओम्' का कोई अर्थ होना चाहिए। 'ओम्' शब्द बन जाता तो उसके लिए अर्थ भी अनिवार्य हो जाता। जब कि ओम् का कोई अर्थ नहीं है। इसीलिए उन महापुरुषों ने ओम् को शब्द न बनाकर उसको 'चित्र' का रूप दे दिया। शब्द किसी भी अवस्था में नहीं बन सकता—इसीलिए उसके स्थान पर चित्र बनाया गया 'ओम्' का और 'ओम्' का वह चित्र है—ॐ ! ॐ चित्र के सिवाय और कुछ भी नहीं है। शब्द नहीं, अर्थ नहीं और भाव भी नहीं। इसीलिए किसी भी शब्दकोश में ओम् का न अर्थ मिलेगा और न तो मिलेगी कोई भाषा या परिभाषा ही।

"मैंने मूल ध्वनि के तीन रूप बतलाये हैं।"—अवधूत महाशय निर्विकार भाव से आकाश की ओर देखते हुए बोले—"मूल ध्वनि आदि ध्वनि है—जो चेतना की ध्वनि है। योगीगण अनहद नाद के रूप में उसी ध्वनि का श्रवण करते हैं। वह ध्वनि बिना किसी आघात, संघात के स्वयं प्रकट है इसीलिए उसे स्वयम्भू ध्वनि भी कहते हैं। स्वयम्भू ध्वनि ही अनहद ध्वनि या नाद है। उसके जो तीन रूप हैं उनके अपने-अपने भाग हैं। यानी प्रत्येक रूप के दो-दो भाग हैं। एक भाग पुरुषतत्त्व-प्रधान है तो दूसरा रूप स्त्रीतत्त्व-प्रधान है। विद्युत् की भाषा में यदि कहा जाय तो एक भाग से ऋणात्मक विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा का विकिरण होता है तो दूसरे भाग से विकिरण होता है—धनात्मक विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा का।

"इस प्रकार तीन ध्वनियों के छह भागों से छह प्रकार की ऊर्जा तरंगें उत्पन्न होती हैं—जिनमें तीन तो ऋणात्मक विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें होती हैं और तीन होती हैं—धनात्मक विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें। मूल ध्वनि इन तरंगों से दूध-पानी की तरह मिली रहती है। इसीलिए ध्वनिशास्त्र इन तरंगों को भी 'ध्वनि-तरंग' कहता है। वे ध्वनि-तरंग हैं ही, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार मूल ध्वनि को लेकर सात ध्वनि या ध्वनि-तरंगें हैं।"

चक्र, ध्वनि और वर्ण

थोड़ा रुककर अवधूत महाशय आगे बोले—"योगशास्त्र देखा है?" "हाँ! काफी गहराई से अध्ययन किया है योग का।" मैंने कहा। "योग में जिन सात चक्रों का वर्णन है—उनमें मूल ध्वनि या अनहद नाद का केन्द्र सहस्रार चक्र है। शेष चक्र क्रम से छह ध्वनियों के केन्द्र हैं। मूल ध्वनि को केन्द्र मानकर जब ऋणात्मक और धनात्मक ध्वनि-तरंगें आपस में संघर्ष करती हैं तो उनके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के सात स्वरों का आविर्भाव होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन सातों स्वरों का भी सम्बन्ध सातों चक्रों और सातों शरीरों से है।

"भारतीय मनीषियों ने 'ओम्' को चित्र-रूप देने की दिशा में जब खोज की तो उन्हें 'ओम्' का चित्रमय रूप चौथे शरीर और चौथे चक्र में मिला। 'ॐ' चौथे शरीर से सम्बन्ध रखता है। चौथे चक्र में जो ध्वनि-तरंगें हैं–उन्हीं तरंगों से ॐ का चित्र निर्मित होता है। ॐ का स्वरूप ध्वनिमय और तरंगमय है। ध्वनि-तरंगें घनीभूत होकर श्वेत, पीत और हरित वर्णों में परिवर्तित हो जाती हैं। ये तीनों वर्ण ही मूल वर्ण हैं। इन्हीं तीनों वर्णों से सात वर्णों का आविर्भाव हुआ है। उन वर्णों के अनुसार ही सातों चक्रों के भी अपने-अपने वर्ण हैं। जब वे ध्वनि-तरंगें घनीभूत होकर वर्ण के रूप में परिवर्तित होने लगती हैं—तो उन तरंगों का आकार 'अ', 'उ' और 'म' हो जाता है। 'अ' का वर्ण श्वेत है। 'उ' का वर्ण पीत है और 'म' का वर्ण हरित है। इन तीनों वर्णों की संयुक्त सत्ता का ही नाम 'ॐ' है।

"चौथा शरीर मनोमय शरीर, चौथा चक्र अनाहत चक्र और चौथा स्वर 'मा' है। अनाहत चक्र से बराबर ध्वनि-तरंगें निकला करती हैं और तीनों वर्णों के रूप में बराबर परिवर्तित भी हुआ करती हैं। उस समय वे तरंगें अधिक मात्रा में निकलती हैं और अधिक-से-अधिक वर्णों के रूप में परिवर्तित हुआ करती हैं, जब हम कल्पना करते हैं, विचार करते हैं और जब हम स्वप्न देखते हैं। क्योंकि कल्पना, विचार और स्वप्न—ये तीनों मनोमय शरीर के विषय हैं। जब हम कल्पना करते हैं, विचार करते हैं और जब हम सपना देखते हैं तो उस समय हम मनोमय शरीर में रहते हैं।

"जिन योगियों को मनोमय शरीर में प्रवेश करने की क्षमता होती है—वे मनोमय शरीर में प्रवेश कर अनाहत चक्र पर चित्र को एकाग्र कर तरंगों की सहायता से स्वप्न को अतीन्द्रिय ज्ञान अथवा अतीन्द्रिय दर्शन (व्हिजन) में बदल देते हैं। इसी प्रकार विचार को बदल देते हैं—विचार संप्रेषण (टेलीपैथी), दूरदर्शन (क्लिअरोवायन्स) और विचार-पठन (थाट रीडिंग) में।

"अतीन्द्रिय जगत् अथवा सूक्ष्म जगत् का ही नाम आन्तर जगत् है और उस आन्तर जगत् में प्रवेश करने का एकमात्र साधन है अनाहत चक्र। इस चक्र पर दो घण्टे तक मन को एकाग्र कर और 'ॐ' का ध्यान करने पर सहज ही आन्तर जगत् में प्रवेश किया जा सकता है—इसमें सन्देह नहीं।"

× × ×

कुछ देर मौन रहने के बाद अवधूत महाशय आगे कहने लगे—"ओम् के चित्र की खोज एक बहुत बड़ी खोज है। पूरी भारतीय संस्कृति और साधना का मूल आधार है ओम्। सच तो यह है कि जब कोई व्यक्ति साधना के मार्ग से चौथे शरीर में प्रवेश करता है तो वह निर्विचार हो जाता है और जब वह निर्विचार हो जाता है तो उस अवस्था में पहले 'अ' की ध्वनि गूँजती है। फिर कुछ अन्तराल पर 'उ' की ध्वनि और कुछ अन्तराल पर 'म' की ध्वनि गूँजती है। जब एक की ध्वनि गूँजती हुई मन्द, मन्दतर होने लगती है तो दूसरे की ध्वनि का गूँजना शुरू होता है। फिर अन्त में तीनों ध्वनियों का जोड़ 'ॐ' बनने लग जाता है।

"जब मस्तिष्क की गहराई में पूरी नीरवता छा जाती है और जब विचारशून्य हो जाता है मस्तिष्क-उस समय 'ॐ' की ध्वनि अपने-आप तरंगित होने लग जाती है। मतलब यह कि जहाँ विचार नहीं है, भाषा नहीं है, भाव नहीं है, वहाँ मात्र रह जाती है ॐ की ध्वनि।"

× × ×

मेरे यह पूछने पर कि "क्या 'ॐ' का सम्बन्ध अनाहत चक्र है ?" तो इसके उत्तर में अवधूत महाशय ने कहा कि " 'ॐ' किसी भी चक्र का बीज नहीं है। वास्तव में वह बीज

अथवा बीजाक्षर है ही नहीं। वह 'प्रणव' है और ॐ प्रणव की जो अपनी ध्वनि है—वही अनहद नाद यानी मूल ध्वनि है। सच तो यह है कि 'ॐ' परमतत्त्व का प्रतीक है। वह परम ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति है। उसका स्थान सहस्रार चक्र है। वह अनादि और अनन्त का प्रतीक है। मगर उसकी उपलब्धि होती है चौथे शरीर में ही। क्योंकि चौथे चक्र और चौथे शरीर से आन्तर जगत् का आरम्भ हो जाता है और आन्तर जगत् का प्रवेशद्वार है अनाहत चक्र तथा साधन है एकमात्र ध्यान। अनाहत चक्र पर ध्यान करने पर और साथ ही भीतर ही भीतर 'ॐ' का जप करने पर अपने-आप 'ॐ' का चित्र भी उभरने लग जाता है। सच तो यह है कि प्रत्येक चक्र की अपनी-अपनी ध्वनि है और है अपना-अपना बीजाक्षर। बीजाक्षर का निर्माण चक्र की ध्वनि से ही होता है—इस बात का ख्याल रखना चाहिए। हम जिस चक्र पर मन को एकाग्र कर उसके बीजाक्षर का मन ही मन जप करेंगे उस चक्र की ध्वनि हमें सुनाई पड़ने लग जायेगी और सम्बन्धित बीजाक्षर का चित्र भी उभरने लग जायेगा साथ ही साथ। कालान्तर में उसी ध्वनि का आश्रय लेकर चक्र से सम्बन्धित जगत् में भी हमारा मन प्रवेश कर जायेगा और जब वह वापस लौटेगा तो उसके साथ होगा—उस जगत् का अनुभव और ज्ञान। इसीको कहते हैं योगशास्त्र में नाद-साधना।"

"क्या नाद-साधना के विषय में कुछ बतलायेंगे ?" मेरे यह प्रश्न करने पर अवधूत महाशय चट् से उठ खड़े हो गये और फिर आकाश की ओर देखकर बोले—"बाबा ! कुछ समय का भी ध्यान रखो। पूजा-अर्चा नहीं करने दोगे क्या ? देख नहीं रहे हो कि सायंकाल का समय हो गया है।"

सचमुच सांझ की स्याह कालिमा फैल गई थी चारों तरफ। मगर विषय ऐसा था कि मुझे समय का ज्ञान ही न रहा। सिर झुकाकर प्रणाम किया मैंने और फिर दूसरे दिन आने को कहकर चला गया मैं।

सभी धर्मों में 'ओम्'

ताराचन्द्र अवधूत योगतन्त्र से सम्बन्धित अध्यात्मज्ञान में निष्णात हैं-यह समझते देर न लगी मुझे। पूरी रात चर्चित विषयों पर चिन्तन-मनन करता रहा मैं। दूसरे दिन रोज से पहले ही पहुँच गया। देखा—अवधूत महाशय आश्रम के सामने बने मिट्टी के चबूतरे पर ध्यान लगाये बैठे थे। पास ही उनकी भैरवी भी बैठी थी चिन्तन-मनन की मुद्रा में। थोड़ी देर बाद जब ध्यान भंग हुआ तो अवधूत महाशय ने मेरी ओर कुछ क्षण अपलक निहारने के बाद कहा—"लगता है, अभी प्यास नहीं बुझी !"

"आध्यात्मिक ज्ञान की प्यास कहीं बुझती है भला ?"—मैंने हँसकर उत्तर दिया।

"आप क्या जानना-समझना चाहते हो ?"—अवधूत महाशय बोले।

"वही कलवाले विषय की पूर्णता।"—सहज स्वर में उत्तर दिया मैंने।

मेरी बात सुनकर पहले हो-हो कर खूब हँसे अवधूत महाशय, फिर बोले—"अच्छा ···अच्छा···'ओम्' और ध्वनिशास्त्र के सम्बन्ध में ?"

"जी हाँ ! जरा और समझना चाहता हूँ ।"

" 'ओम्' एक सार्वभौमिक सत्य है । समझे न !" अवधूत महाशय कहने लगे—"जब उस सार्वभौमिक सत्य की खोजकर प्राप्त किया तब लाखों, करोड़ों साधकों ने अपने-आपमें उसका अनुभव किया । जब उन्हें प्रतीत हो गया और जब वह सुनिश्चित हो गया तभी उसे सार्वभौम रूप दिया गया । यही मूल कारण है कि 'ओम्' केवल भारतीय संस्कृति की धरोहर नहीं है, बल्कि विश्व में जितनी संस्कृतियाँ और जितने धर्म हैं और हैं जितने सम्प्रदाय—उन सबकी सम्पत्ति है । सभी ने 'ओम्' का प्रयोग और उपयोग किया है । बौद्ध, जैन, ईसाई और इस्लाम ने भी । इसका कारण यह है कि अध्यात्म का लक्ष्य एक है—लेकिन उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए धर्म या सम्प्रदाय के रूप में मार्ग भिन्न-भिन्न हैं । जो जिस मार्ग से चौथे शरीर में पहुँचा—उसने ओम् का साक्षात्कार किया । ओम् चौथे चक्र और चौथे शरीर का विषय है ही, इसलिए हर व्यक्ति को साक्षात्कार होगा ही । भले ही वह व्यक्ति किसी धर्म या सम्प्रदाय का हो ।

"अरेबिक और लैटिन को ही लो—साधकों की जो खोज वृत्ति इनमें रही है—यदि उस पर विचार किया जाय तो एक आश्चर्यजनक बात सामने आती है और वह यह है कि 'ओम्' का 'म' तो अवश्य मिलेगा और किसीमें 'ओम्' का 'अ' और 'म' मिलेगा । 'म' तो निश्चित रूप से मिलेगा । क्योंकि उसका कारण है और कारण यह है कि ओम् का वह इतना सूक्ष्म भाग है कि प्रायः आगे का भाग छूट जाता है—पकड़ में नहीं आता—और पीछे का भाग सुनाई पड़ जाता है । इसीलिए ध्यान की अवस्था में जब 'ॐ' की ध्वनि गूँजने लगती है तो उस समय तो 'म' सबसे सरल रूप में पकड़ में आ जाता है और आगे का भाग दब जाता है ।

"साधारण रूप से भी यदि हम किसी बन्द और एकान्त स्थान में बैठकर 'ॐ' का जप करें तो एक ऐसी स्थिति आयेगी जब कि 'म' 'अ' और 'उ' को दबा देगा और स्वयं एकदम से व्यापक और विस्तृत हो जायेगा । 'म' ही व्यापक और सर्वमय है । इसीलिए सभी सम्प्रदाय और सभी धर्मवालों को मात्र केवल 'म' ही स्थिर प्रतीत हुआ । मगर काल का प्रवाह एक ऐसा प्रवाह है कि वह सभी वस्तुओं में विकृति पैदा कर देता है । यही हाल 'ओम्' का भी हुआ । वह भी अन्य सम्प्रदायों व धर्मों में विकृत हो गया ।

"सच बात तो यह है कि इस विश्व में हमारा ही देश एक ऐसा सौभाग्यशाली देश है—जहाँ के लोग हजारों वर्षों से आध्यात्मिक अथवा आत्मिक यात्रा सम्मिलित रूप से कर रहे हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे । यही कारण है कि हमारे देश को सर्वप्रथम

आध्यात्मिक देश होने का गौरव मिला। इस गौरव का एक और भी महत्त्वपूर्ण कारण है—और वह यह कि आध्यात्मिक और आत्मिक जगत् से सम्बन्धित जिन चीजों को और जिन मूलगत तथ्यों को हमारे देश ने खोज निकाला और प्राप्त किया उन्हें दूसरा देश न खोज सका और न तो प्राप्त ही कर सका। क्योंकि उस देश का साधक अकेला था—एकाकी था—हमारे देश की तरह वहाँ हजारों, लाखों साधकों का सम्मिलित प्रयास कभी नहीं रहा था खोज की दिशा में। हमारे देश के अलावा किसी भी देश में आत्म-विज्ञान के खोजी वैज्ञानिकों का कभी भी सम्मिलित गिरोह नहीं रहा। यदि गिरोह रहा भी तो भौतिक विज्ञान के खोजकर्त्ताओं का रहा, जिस प्रकार हमारे देश ने हजारों-लाखों प्रतिभासम्पन्न लोगों को योग-विज्ञान के क्षेत्र में लगाया। यही कारण है कि हमारा देश आत्मविज्ञान के क्षेत्र में बराबर उन्नति करता रहा—और जब कि पश्चिम के देश भौतिक विज्ञान की दिशा में सफलता प्राप्त करते रहे। विज्ञान तो दोनों हैं। मगर एक आत्मा से सम्बन्ध रखता है जब कि दूसरा सम्बन्ध रखता है यथार्थ की दुनिया से।

"हमारे देश ने आत्मा के क्षेत्र में जो कुछ उपलब्ध किया—उसका विस्तार तो अन्य देशों में हुआ अवश्य है, मगर वहाँ पहुँचते-पहुँचते—वह उपलब्धि विकृत होती गयी। उसका मौलिक स्वरूप भी छिन्न-भिन्न होता गया।

"जैसे उदाहरण के रूप में स्वस्तिक चिह्न 卐 को ही लो। ॐ जैसे सातवें शरीर व चक्र का प्रतीक है, उसी प्रकार स्वस्तिक पहले शरीर और चक्र का प्रतीक माना जाता है। ॐ स्थिरता का प्रतीक है जब कि स्वस्तिक 'गति' का है प्रतीक। जीसस हमारे देश में भी आये थे और नालन्दा में कुछ समय तक निवास भी किया था। जब वे जाने लगे तो हमारी संस्कृति की बहुत-सी चीजें अपने साथ ले गये—जिनमें स्वस्तिक भी एक था। मगर स्वस्तिक क्रिश्चियनिटी तक पहुँचने तक कटकर क्रास बन गया क्रिश्चियन धर्म का। यही हाल ओम् का भी हुआ। कैथोलिक के अनुसार 'आमेन' जो शब्द है वह एकमात्र ओम् का ही अपभ्रंश है। ओम् से ही 'आमेन' बना है। क्रिश्चियन धर्म में जितनी भी प्रार्थनाएँ हैं—उनके अन्त में ईश अभिवादन के हेतु 'आमेन' शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता है। जब इस विषय को लेकर खोज की गयी तो ज्ञात हुआ कि ओम् वही शब्द है—जिसको क्रिश्चियन धर्मग्रन्थ बाइबिल में कहा गया है कि 'वह सृष्टि के प्रारम्भ में था, ईश्वर के साथ था अथवा स्वयं ईश्वर था। (योहन १:१) 'आमेन' को प्रकाशन ग्रन्थ के अ० १ श्लो० २ में 'अल्फा और ओमेगा' यानी आदि और अन्त के नाम से निरूपित किया गया है। एक बार ईसा ने सन्त माहेन से स्वयं कहा था कि वे ही आमेन हैं। दूसरी जगहों पर इसी प्रकार 'तथास्तु' और 'पूर्ण सत्य' के अर्थ में भी 'आमेन' का प्रयोग हुआ है। कैथोलिक पूजा-पद्धति में लैटिन भाषा के कई

शब्द ऐसे हैं—जिनका प्रयोग होता है। मगर वे सभी शब्द ओम् के ही अपभ्रंश रूप हैं। उदाहरण के रूप में जैसे 'ओमनीप्रजेन्ट', 'ओमनीसियेन्ट', 'ओमनीपोटेन्ट' पेर ओमनीया सेकुला और सेकूलोरुम। इतना ही नहीं, अब तो हमारे देश के अनेक गिरजाघरों में, प्रार्थनाओं में तथा सलीब के बीच में 'ओम्' का प्रयोग होने लगा है। सन्त मेरी कालेज, करसियांग, दार्जिलिंग के प्रार्थना मन्दिर की प्रमुख वाचन पीठिका पर ॐ (ओम्) अंकित है। यह सबसे बड़ा उदाहरण है। अब इस्लाम धर्म को लो। इस्लाम में अर्धचन्द्र का काफी सम्मान, आदर और महत्त्व है। यह जानकर आश्चर्य होगा कि वह अर्धचन्द्र 'ओम्' का ही ऊपर का खण्डित भाग है। हिन्दू-धर्म से इस्लाम-धर्म में जब 'ओम्' पहुँचा तो उसका केवल ऊपरी अर्धचन्द्रवाला ही भाग शेष रह गया था। इसमें आश्चर्य की बात नहीं। शब्द और प्रतीक दो ऐसी चीजें हैं—जो सैकड़ों, हजारों साल में बुरी तरह कट-पिटकर 'अपभ्रंश' का रूप धारण कर लेती हैं। फिर उन्हें उनके मौलिक रूप में जानना, समझना और पहचानना कठिन हो जाता है। शब्दों व प्रतीकों की इस दीर्घकालीन यात्रा में उनके साथ समय-समय पर तरह-तरह क ध्वनियाँ भी जुड़ जाती हैं। नये-नये शब्द भी जुड़ जाते हैं। नये-नये लोगों की वाणी से उनका उपयोग-प्रयोग भी बदल जाता है। इस प्रकार यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो सभी शब्द और सभी प्रतीक अपने-अपने मूल स्रोत से भिन्न हैं। खैर!

"यह तो निर्विवाद है कि सम्पूर्ण विश्व की जो आध्यात्मिकता है—उसका मूल स्रोत एकमात्र हमारा देश है। हमारे ही देश से अध्यात्मज्ञान का प्रचार-प्रसार अन्य देशों में हुआ। हाँ, एक बात अवश्य है कि जिन लोगों ने प्रचार-प्रसार किया—उनकी अपनी भाषा और अपना भाव था। इसीलिए वे किन गूढ़ तथ्यों का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं—इनका उन्हें कुछ भी ख्याल नहीं था और यही कारण है कि आज एक पादरी को यह समझ में नहीं आ सकेगा कि जिस क्रास को वह गले में लटकाये हुए है—वह स्वस्तिक का ही एक खण्डित रूप है—जो क्रास बनकर गले में झूल रहा है। इसी प्रकार एक मौलवी को भी ज्ञात नहीं है कि जिस चाँद को वह अपने धर्म और अपनी साधना-संस्कृति में महत्त्व दे रहा है—वह और कुछ नहीं —बल्कि ॐ का एक टूटा हुआ हिस्सा है।"

× × ×

साधक ताराचन्द्र अवधूत की भैरवी

कहने की आवश्यकता नहीं, अब रोज ही आध्यात्मिक चर्चा और सत्संग होने लगा था अवधूत महाशय के आश्रम में। अवधूत महाशय भी मुझमें अधिक-से-अधिक रुचि लेने लग गये। भैरवी भी मेरी जिज्ञासाओं के कारण मेरी ओर विशेष रूप से आकर्षित हो गयी थी। जब कभी अवसर मिलता तो वह भी मेरे साथ सत्संग करती गंगा-तट पर बैठकर। उस समय हम दोनों अकेले ही रहते। और कोई न होता साथ में।

भैरवी भी उच्चकोटि की साधिका और विदुषी है—यह अब भलीभाँति समझ चुका था। इसीलिए मेरे हृदय में उसके प्रति गहरा सम्मान और गहरा आदर का भाव पैदा हो चुका था, अब तक।

रोज की भाँति उस दिन जब मैं आश्रम में गया तो देखा, अवधूत महाशय नहीं थे भक्तगण भी नहीं थे। कुटिया का दरवाजा अधखुला था। सोचा, भैरवी होगी। दरवाजे को थोड़ा ढकेलकर भीतर झाँका तो देखा कि भैरवी काली माँ की छवि के सामने पद्मासन लगाये ध्यान की मुद्रा में बैठी हुई थी। काफी तेज था उस समय भैरवी के चेहरे पर। अनिर्वचनीय आलोक से दप्-दप् कर जल रहा था मुखमण्डल उसका। थोड़ा हट-कर मैं भी बैठ गया वहीं। काफी देर बाद जब ध्यान भंग हुआ तो सिर घुमाकर स्थिर नेत्रों से मेरी ओर देखा भैरवी ने और जब उसने देखा तो उसी क्षण एक झटका-सा लगा मुझे। बिजली के करेन्ट जैसा था वह झटका। सारा शरीर सनसनाने लगा मेरा। एक विचित्र-सी स्थिति हो गयी मेरी। फिर उसी विचित्र स्थिति में एक गहरी नीरवता का और एक गहरी शून्यता का अनुभव करने लगी मेरी आत्मा।

× × ×

ध्वनियों से तीन प्रकार के मन्त्रों का आविर्भाव

बाद में प्रसंगवश अवधूत महाशय ने बतलाया कि "वह वही शून्य था और वही थी नीरवता जिसकी चर्चा उन्होंने ओम् के सम्बन्ध में की थी।

"ओम् के जो अपने कम्पन हैं—वे अनाहत चक्र, विशुद्धाख्य चक्र और आज्ञा चक्र को प्रभावित करते हैं। सातवाँ शरीर आत्मा का अन्तिम शरीर है और सातवाँ चक्र अन्तिम केन्द्र है। ओम् उसी सातवें शरीर और सातवें चक्र से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि वह उन दोनों का प्रतीक माना जाता है। सातवाँ शरीर और केन्द्र—आत्मा की ऐसी अवस्था है—जिसका वर्णन शब्दों में कदापि नहीं किया जा सकता। उसके लिए कोई भी सार्थक शब्द नहीं है। इसीलिए भारतीय मनोषियों ने एक ऐसे शब्द की खोज की जो निरर्थक हो—यानी जिसका कोई अर्थ न हो और वह शब्द था 'ओम्'। उन्हें ओम् की उपलब्धि चौथे शरीर में प्रवेश करने पर अनाहत चक्र में हुई।

"वास्तव में जब हमारा मन अथवा चित्त सभी प्रकार के भावों और सभी प्रकार के विचारों से रहित हो जाता है—तब आत्मा को एक अनिर्वचनीय शून्य का अनुभव होता है। एक ऐसे शून्य का जिसका अपना सन्नाटा होता है और होती है अपनी गहन नीरवता भी और उस सन्नाटे को और उस नीरवता की होती है अपनी ध्वनि भी। यदि कोई व्यक्ति उस परम शून्य में पहुँचकर उसकी नीरवता का अनुभव करे तो उसे अवश्य उस शून्यता की ध्वनि सुनाई देगी। वास्तव में वही ध्वनि मूल ध्वनि है—जो अ, उ और म् की ध्वनियों के रूप में प्रकट होती है। उसी ध्वनि का विस्तार

वे तीनों ध्वनियों से तीन प्रकार के मन्त्रों और उनकी ध्वनियों का जन्म हुआ। पहली ध्वनि से वैदिक मन्त्रों और उनकी ध्वनियों का—दूसरी ध्वनि से तान्त्रिक मन्त्रों और उनकी ध्वनियों का—तथा तीसरी ध्वनि से पौराणिक मन्त्रों और उनकी ध्वनियों का आविर्भाव हुआ। बाद में इन तीनों प्रकार की मन्त्र-ध्वनियों से विश्व ब्रह्माण्ड की समस्त प्रकार की अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियों ने जन्म लिया।"

"क्या इसकी कोई प्रयोगात्मक विधि भी है ?"—मेरे यह पूछने पर अवधूत महाशय बोले—"क्यों नहीं ? यह सब योग के प्रयोगात्मक विषय ही तो हैं। तुम किसी ऐसे स्थान पर चले जाओ—जहाँ किसी भी प्रकार की ध्वनि या आवाज न हो। हवा की भी सरसराहट न सुनाई पड़े। जैसे हिमालय में बहुत-सी ऐसी जगहें हैं—जहाँ सिवाय शून्यता के, नीरवता के और सिवाय सन्नाटा के और कुछ नहीं होता। ऐसी ही जगह पर मन को बिल्कुल एकाग्र कर अनाहत चक्र पर उसे केन्द्रित करो तो कुछ ही दिनों के अभ्यास के बाद तुम्हें वह ध्वनि सुनाई देने लग जायेगी—जिसकी चर्चा मैंने की है।

"जैसा कि मैंने कहा कि ओम् की खोज जब की गई तो वह मनोमय शरीर में मिला। हर शरीर की तरह मनोमय शरीर की भी दो प्राकृतिक सम्भावनाएँ हैं—यह तो तुम जानते ही हो। कल्पना और स्वप्न दो प्राकृतिक सम्भावनाएँ हैं मनोमय शरीर की।"

"हाँ, यह तो मैं जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि शरीरों की जो इस प्रकार की प्राकृतिक सम्भावनाएँ हैं—वे ही साधना का आधार बनती हैं योग की दिशा में।"

यह सुनकर अवधूत महाशय ने आगे कहना शुरू किया—"जैसे किसी भी शब्द को बार-बार दुहराओ या किसी नाम या मन्त्र का जप करो—तो कुछ देर बाद अपने-आप एक विशेष तन्द्रा की अवस्था पैदा हो जाती है। उसी प्रकार 'ॐ' को बार-बार दुहराने या उसका जप करने पर भी एक विशेष प्रकार की तन्द्रिल स्थिति पैदा हो जायेगी। अनाहत चक्र पर मन को केन्द्रित करने अथवा ध्यान करने पर जो ध्वनि सुनाई दे—उस ध्वनि को पकड़कर 'ॐ' का जप करने से जो तन्द्रा पैदा होगी—वह तन्द्रा तुम्हें तन्द्रा जैसी अथवा नींद जैसी जरूर लगेगी—मगर वह होगी सम्मोहन की नींद जैसी यानी हिप्नोटिक-स्लीप ! समझ गए न ? उस सम्मोहनमयी-निद्रा—हिप्नोटिक-स्लीप की स्थिति में भी तुम कल्पना करोगे। स्वप्न भी देखोगे। मगर वह कल्पना और वह स्वप्न—साधारण कल्पना व स्वप्न न होगा। वह कल्पना और वह स्वप्न अतीन्द्रिय सत्ता से सम्बन्धित होगा। उसकी अनुभूति परानुभूति होगी। तुम जो भी कल्पना करोगे—वह तुम्हें उस स्थिति में साकार दिखलाई देगी। तुम परमेश्वर का दर्शन करने की कल्पना करोगे या कल्पना करोगे किसी भी लोक-लोकान्तर में जाने को तो तुरन्त वह साकार हो जायेगा। तुम परमेश्वर का दर्शन भी प्राप्त कर लोगे और लोक-लोकान्तर की यात्रा

भी कर लोगे। लेकिन सब कुछ होगा स्वप्न जैसा ही। तुम्हें उस स्थिति में अभौतिक आनन्द और शान्ति भी मिलेगी। मगर समझ लो, वह भी होगी काल्पनिक ही।"

धीरे-धीरे विषय अति गम्भीर होता जा रहा था। अवधूत महाशय योग-विज्ञान के अतुल भण्डार लगे मुझे। मैंने प्रश्न किया—"ऐसा क्यों ?"

"इसलिए कि इनका आधार मनोमय शरीर की प्राकृतिक सम्भावनाएँ हैं—यानी कल्पना और स्वप्न। ये दोनों मानसिक यानी मनोमय शरीर के प्रकृति-प्रदत्त रूप हैं। यदि इन दोनों का साधना के धरातल पर विकास किया जाय तो कल्पना, संकल्प अथवा विल पावर यानी इच्छाशक्ति में रूपान्तरित हो जायेगी और स्वप्न रूपान्तरित हो जायगा अतीन्द्रिय दर्शन और अतीन्द्रिय ज्ञान में।"

"वह कैसे ?" प्रश्न किया मैंने।

"जिस प्रकार कल्पना और स्वप्न प्रकृति-प्रदत्त सम्भावनाएँ हैं—उसी प्रकार इच्छा-शक्ति और अतीन्द्रिय दर्शन अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान—साधना-प्रदत्त हैं। दोनों प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं का इन दोनों में रूपान्तरण साधना-बल पर होता है।

"आगे के गूढ़ विषय को समझने के लिए तुम्हें योग के दो महत्त्वपूर्ण शब्दों को ध्यान में रखना होगा। पहला शब्द है योगनिद्रा और दूसरा शब्द है योगजागृति।

"ऊपर जिस तन्द्रा का और जिस सम्मोहनमयी निद्रा का यानी हिप्नोटिक्-स्लीप का उल्लेख मैंने किया है—वह योग ओम् के जप का जो तरीका ऊपर बतलाया हैं मैंने-" अवधूत महाशय थोड़ा रुककर आगे कहने लगे—"वह सरल है। ज्यादा कठिनाई नहीं है उसमें। ओम् की ध्वनि में मन को एकाग्र कर उसमें लीन हो जाना अधिक कठिन नहीं। वह लीनता अवश्य रसपूर्ण, सुन्दर और सुखद होती है। उसका परिणाम भी सुखद और आनन्दमय होता है—मगर होता है स्वप्निल और काल्पनिक ही।"

योगनिद्रा और योगजागृति

"योगशास्त्र का कहना है कि योगनिद्रा कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। महत्त्वपूर्ण है योगजागृति जिसमें प्रवेश करने पर ही साधक के लिए कल्पना, इच्छाशक्ति और स्वप्न, अतीन्द्रिय ज्ञान या दर्शन में रूपान्तरित होता है।"

"योगजागृति में कैसे जाया जा सकता है ?"

"बतलाता हूँ—बतलाता हूँ—जरा साँस तो लेने दो"—अवधूत महाशय जरा डाँटते हुए बोले। फिर एक लोटा खींचकर पानी पीया। पानी पी लेने के बाद, मुँह पोछते हुए आगे कहने लगे—"मन को एकाग्र कर ओम् का जप करने पर—जैसा कि बतला चुका हूँ—उसके संघात से तन्द्रा उत्पन्न होती है। यानी योगतन्द्रा अथवा योगनिद्रा। अब इसके दूसरे पक्ष को बतलाता हूँ—जो योगजागृति की अवस्था में ले जाता है।

"बिल्कुल एकान्त स्थान पर बैठो। स्थान नीरव हो। किसी भी प्रकार की आवाज वहाँ सुनाई न दे ऐसे स्थान पर बैठकर अनाहत चक्र पर चित्त को एकाग्र करो और उस एकाग्रता के साथ ही साथ 'ॐ' का ध्यान भी करो और जोर-जोर से 'ॐ' का उच्चारण भी करो। अब यहीं से मार्ग बदलकर दूसरे पक्ष में जाना होगा। उच्चारण से जो ध्वनि निकलती है—ओम् की—पहले की तरह उस ध्वनि में डूबो मत और न तो उस ध्वनि पर मन को ही केन्द्रित करो। अपने-आपको बस-अलग कर लो। अपने शरीर को दूर से देखो—अलग से देखो—उसका द्रष्टा बन जाओ। इसी प्रकार अलग होकर-द्रष्टा बनकर—ओम् की ध्वनि तुम्हारे मुँह से निकल रही है—उसको सुनो—उसका साक्षी बन जाओ। मतलब यह है कि तुम अपने-आपका-अपने शरीर का, अपने मन का और साथ ही साथ ओम् का-ओम् के उच्चारण का-ओम् की उच्चारित ध्वनि के द्रष्टा बन जाओ और बन जाओ एकमात्र साक्षी। कुछ समय बाद इस प्रकार के अभ्यास से तुम्हारा मनोमय शरीर सक्रिय हो जायेगा। उसके सक्रिय काल में तुम्हें अपने पार्थिव शरीर का जरा भी बोध न रहेगा। मनोमय शरीर का ही बोध होगा उस अवस्था में। तुम अपने को मनोमय शरीरधारी ही समझने लग जाओगे। पार्थिव शरीर की भाँति मनोमय शरीर ही सब कुछ होगा—तुम्हारे लिए। फिर चौथे शरीर की जो साधना-प्रदत्त सम्भावनाएँ हैं—वे क्रियान्वित होने लग जायेंगी। तुम जो भी संकल्प करोगे और संकल्प कर जो भी इच्छा करोगे—वह बिना किसी आश्रय के और बिना किसी प्रकार के कार्य के तत्काल पूरी हो जायेगी। इसी प्रकार बिना किसी इन्द्रिय की सहायता के लौकिक-पारलौकिक—किसी भी प्रकार का ज्ञान तुम प्राप्त कर सकोगे। लोक-लोकान्तरों का भी ज्ञान इसीमें शामिल है। मन इन्द्रियों की सहायता से ज्ञान प्राप्त करता है। मगर योगजागृति की अवस्था में 'मन' स्वयं—बिना किसी प्रकार की इन्द्रियों की सहायता के—कोई भी और किसी भी स्थान का अथवा विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। इसी-को कहते हैं अतीन्द्रिय ज्ञान। इसी प्रकार बिना किसी इन्द्रिय की सहायता के-मनः-शक्ति की सहायता से-सैकड़ों-हजारों मील दूर के किसी भी दृश्य को देख सकेंगे। इतना ही नहीं, लोक-लोकान्तरों के दृश्यों को भी करामलकवत् देख सकोगे। इसीका नाम है अतीन्द्रिय दर्शन।

"अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन और संकल्प अथवा इच्छाशक्ति योगजागृति की मुख्य उपलब्धियाँ हैं। ओम् की ध्वनि की जो यह साधना है—उसीको योग में 'नाद-साधना' कहते हैं। नाद-साधना की दो उपलब्धियाँ हैं—पहली है योगनिद्रा और दूसरी है—योगजागृति। पहले में सूक्ष्म शरीर काम करता है—जब कि दूसरे में काम करता है एकमात्र मनोमय शरीर। हमारे भारतीय मनीषियों ने पाँच प्रकार की निद्रा और पाँच प्रकार का जागरण भी बतलाया है। जब हम स्थूल शरीर में सोते हैं तो दूसरे वासना-शरीर में जाग जाते हैं और जागरण-काल में जो कुछ देखते, सुनते व अनुभव करते हैं—

वही स्वप्न कहलाता है। जब हम वासना-शरीर में सोते हैं तो तीसरे सूक्ष्म शरीर में जाग जाते हैं। वह जागरण सुषुप्ति-अवस्था कहलाती है। उस अवस्था में हम जो कुछ देखते, सुनते व अनुभव करते हैं—वह सब सूक्ष्म जगत् से सम्बन्धित होता है—मगर स्वप्न की तरह हमें याद नहीं रहता। इसी प्रकार जब हम सूक्ष्म शरीर में सोते हैं तो पुनः स्थूल शरीर में जाग जाते हैं और उस जागरण-काल में जो कुछ देखते, सुनते व अनुभव करते हैं—वह सब स्थूल जगत् से सम्बन्धित होता है।''

अवधूत महाशय ने कहा - "निद्रा और जागरण की तरह मृत्यु और जन्म की भी यही स्थिति है। हम स्थूल शरीर में मरते हैं तो सूक्ष्म शरीर में जन्म ले लेते हैं। इसी प्रकार जब सूक्ष्म शरीर में मरते हैं तो पुनः स्थूल शरीर को स्वीकार कर लेते हैं हम।

"इस प्रकार तीन शरीरों में सोना, जागना और इस प्रकार तीन शरीरों में मरना और जन्म लेना—साधारण आत्मा का व्यापार है। रही दो शेष शरीरों–मनोमय शरीर और आत्म शरीर–की बात। उसका सम्बन्ध दिव्य अथवा उच्च आत्माओं से होता है। उच्चकोटि की दिव्य आत्माओं को ही प्राप्त होते हैं वे दोनों शरीर।

"जिस योगनिद्रा और योगजागृति की बात मैंने कही है—वह मनोमय शरीर और आत्म शरीर से सम्बन्ध रखती है। जिस साधना की चर्चा मैंने की है—उस साधना की स्थिति में हम सूक्ष्म शरीर में तन्द्रिल होते या सोते हैं। मतलब यह कि स्थूल शरीर में जागते हुए—साधनाकाल में सूक्ष्म शरीर में सोने की अवस्था को योगनिद्रा कहते हैं। यदि उस नींद से अथवा उस योगनिद्रा से हम पुनः स्थूल शरीर में जाग जाते हैं तो नींद की उस अवस्था में देखी, सुनी और अनुभव की हुई सारी बातें—कल्पना और स्वप्न के सिवाय और कुछ न होंगी। मगर ध्यान रहे—वह कल्पना ठोस होगी और उसके आधार पर—स्वप्न के रूप में उस कल्पना का जो हम साकार रूप देखेंगे—वह साधारण स्वप्न जैसा नहीं, बल्कि ठोस और पराभौतिक होगा।

"यदि हम वही साधना साक्षीभाव और द्रष्टाभाव से करते हैं तो हम योगनिद्रा से स्थूल शरीर में जागने के बजाय पाँचवें आत्मशरीर में जाग जायेंगे और उसी जागरण को योगजागृति कहा जाता है। अतः आत्मशरीर में जागने पर हम जो कुछ देखेंगे, सुनेंगे और अनुभव करेंगे—वह सब हमारे लिए अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन और संकल्पबल, इच्छाशक्ति आदि होंगी। कल्पना संकल्प का रूप धारण कर लेंगी और स्वप्न रूप धारण कर लेगा अतीन्द्रिय ज्ञान व दर्शन का।''

× × ×

"योग यह नहीं कहता कि जप करो या किसी शब्द को बार-बार दुहराओ, क्योंकि इससे हम शत-प्रतिशत तन्द्रिल या नींद की अवस्था में चले जायेंगे। कितना ही हम सतर्क रहेंगे तन्द्रा या नींद आ जायेगी हमें। बच नहीं सकते। क्योंकि हमारा जो

मनोमय शरीर है—वह नींद के सिवाय और नींद में स्वप्न देखने के सिवाय और कुछ नहीं जानता, जहाँ हम किसी शब्द को या किसी मन्त्र को एकाग्रचित्त होकर बार-बार दुहराने लगे कि आलस्य आने लगेगा और नींद आने लगेगी। हमारा स्वप्न देखने का आदी मन अपनी यान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा तत्काल सपनों की दुनिया में चला जायेगा और हम स्वप्न देखने लग जायेंगे।"

× × ×

इसी प्रसंग में अवधूत महाशय ने बतलाया कि "ओम् के जप से प्रायः स्वप्न की दुनिया में और कल्पना के लोक में भटक जाने की सम्भावना ज्यादा रहती है। योगियों का कहना है कि इस सम्भावना के प्रति सतर्क रहना चाहिए।

"संकल्प व इच्छाशक्ति, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन आदि है तो पराजगत् की वस्तु—लेकिन उन सबकी मूल भित्ति है भौतिक ही। वे सब बातें अध्यात्म से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। आध्यात्मिक हैं ही नहीं। हाँ, अध्यात्म-मार्ग पर ले जाने का साधन अवश्य हैं।

"इन साधनों को अपनाकर—उपर्युक्त साधना द्वारा जब हम अध्यात्म-मार्ग पर कदम उठाते जाते हैं तो सबसे पहले हमारे सामने एक प्रश्न उभरता है—और वह प्रश्न है—'मैं कौन हूँ ?' अध्यात्म-मार्ग पर चलने के पहले इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त कर लेना आवश्यक है। क्योंकि बिना उत्तर प्राप्त किये अध्यात्म-मार्ग पर न चला जा सकता है और न तो चलकर उसके अन्तिम लक्ष्य को ही प्राप्त किया जा सकता है।

अध्यात्म के दो छोर

"अध्यात्म के दो छोर हैं। पहले छोर पर यदि हमें 'मैं कौन हूँ' का उत्तर मिल जाता है तो वह हमारी आत्मानुभूति होगी और आत्मानुभूति होते ही हमारे सामने अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा जिस पर चलकर हम दूसरे छोर पर पहुँचेंगे जहाँ हमें परमात्म की अनुभूति होगी और फिर होगा परमात्म-साक्षात्कार। पहले छोर पर है हमारा मनोमय शरीर और दूसरे छोर पर है हमारा आत्म शरीर।

"कहने का मतलब यह कि इस साधना की जो प्रथम आध्यात्मिक उपलब्धि है—वह है—'मैं कौन हूँ' का उत्तर। मगर यह उत्तर तभी सम्भव है—जब कि हमारे में साक्षीभाव और द्रष्टाभाव का जन्म और उदय होगा

"अन्य शब्दों और मन्त्रों की तरह ओम् का उच्चारण भी हमें नींद और स्वप्न की स्थिति में ले जा सकता है—यदि हम साक्षी, द्रष्टाभाव से उस स्थिति में जाने के पहले ही "मैं कौन हूँ" को बार-बार दुहराने लगूँ तो नींद की और नींद में स्वप्न की सम्भावना बिल्कुल 'न' के बराबर हो जायेगी। ओम् के जप और मैं कौन हूँ' के बार-बार दुहराने में काफी सीमा तक मौलिक भिन्नता है—इसे ठीक से समझ लेना होगा। जहाँ

'प्रश्न' होगा – वहाँ न तन्द्रा आयेगी और न तो आयेगी नींद। ओम् में कोई प्रश्न नहीं है। जैसे बच्चे को सुलाने के लिए माँ थपकी देती है। ओम् केवल उसी प्रकार की थपकी है। "मैं कौन हूँ" एक प्रश्न है। विकट प्रश्न है। इस शब्द के पीछे एक प्रश्न-चिह्न है और वही प्रश्नचिह्न तुम्हें बराबर जगाये रखेगा।

"कोई भी प्रश्न क्यों न हो, वह हमें हमेशा सतर्क, जागरूक और चैतन्य बनाये रखेगा। अगर हर समय कोई प्रश्न हमारे मस्तिष्क में चक्कर काट रहा हो—घूम रहा हो तो हम स्थिर न रह सकेंगे। हम सो भी न सकेंगे। हमारी सारी दिनचर्या में व्यतिक्रम पैदा हो जायेगा। इसलिए हम ओम् के स्थान पर 'मैं कौन हूँ' का बराबर जप आध्यात्मिक दृष्टि से हितकर समझते हैं। मगर तभी जब कि 'ओम्' की साधना अपनी एक विशेष सीमा पर पहुँच जाय।

" 'मैं कौन हूँ' एक मौलिक और तीखा प्रश्न है। हृदय की गहराई में उतर जानेवाला प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर की खोज भी और उपलब्धि भी गहरी है। इसलिए 'मैं कौन हूँ' का गहराई में उत्तर पाने के लिए भी हमें सदैव जागरूक रहना पड़ेगा। हमेशा सतर्क रहना पड़ेगा। तभी मिलेगा हमें उत्तर।

"ओम् की ध्वनि में मिठास है—वह हमें नींद की कोमल गोद में ले जायेगी। मगर 'मैं कौन हूँ ?' में नहीं। क्योंकि उसकी ध्वनि में तीखापन है। एक चोट है, जो हमें बराबर चैतन्य बनाये रखेगी। सोने न देगी।

" 'मैं कौन हूँ' न किसी प्रकार का संगीत है और न तो है किसी प्रकार का रस। ओम् में संगीत है और रस-माधुर्य भी है। दोनों में अन्तर है। दोनों की ध्वनि में अन्तर है। दोनों के प्रभाव में भी अन्तर है। दोनों के संघात में भी भेद है और है अन्तर।

"अगर तुम गहरी नींद में सोये हो—और हम तुम्हारे पास बैठकर 'मैं कौन हूँ ? मैं कौन हूँ ?' का जप जोर-जोर से करने लगें तो तुम कुछ देर बाद उठकर बैठ जाओगे। भले ही कितनी भी गहरी नींद में क्यों न रहो। इसी प्रकार यदि हम 'मैं कौन हूँ' के स्थान पर 'ओम्' का उच्चारण करने लगें तो तुम्हारी नींद टूटने के बजाय और गहरी हो जायेगी और सुबह हो जायेगी।

"हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि 'ओम्' से यह उपलब्ध न हो सकेगा। हो सकेगा—लेकिन उसके लिए एक विशेष अवस्था है और है एक विशेष साधना।"

× × ×

"जैसा कि मैंने बतलाया"—अवधूत महाशय ने कहा—"ओम् सातवें शरीर और सहस्रार का प्रतीक है लेकिन उसकी ध्वनि का केन्द्र है अनाहत चक्र और अनाहत चक्र का सम्बन्ध है मनोमय शरीर से यदि तुम केवल ओम् की साधना करोगे तो तुम्हारा मनोमय शरीर से आन्तरिक सम्बन्ध अनिवार्य रूप से स्थापित हो जायेगा। मगर 'ओम्'

की साधना द्वारा मनोमय शरीर का जो यह आन्तरिक सम्बन्ध है वह सम्बन्ध तुम्हें आगे बढ़ने न देगा। आगे के शरीरों व चक्रों में जाने के लिए प्रबल बाधक सिद्ध होगा। यह बहुत बड़ी कठिनाई है 'ओम्' की साधना के साथ।

"जैसा कि यह भी बतलाया जा चुका है कि ओम् की प्रतीति और ध्वनि की अनुभूति होती तो है मनोमय शरीर और अनाहत चक्र में—मगर उसका प्रयोग योगशास्त्र में किया गया है सातवें शरीर और चक्र के लिए और उस सातवें शरीर और चक्र के लिए न कोई शब्द है और न तो है किसी प्रकार के शब्दों की ध्वनि।

"जहाँ तक शब्द और ध्वनि का प्रश्न है—उसकी सीमारेखा बस, मनोमय शरीर और अनाहत चक्र तक ही है। शब्दों और ध्वनियों का संसार वहाँ जाकर समाप्त हो जाता है। किसी प्रकार के शब्दों का व ध्वनियों का सुनाई पड़ना–चौथे शरीर के बाद समाप्त हो जाता है। पाँचवाँ, छठा शरीर और चक्र बिल्कुल निःशब्द है। सातवाँ चक्र और सातवाँ शरीर तो पूर्ण रूप से शून्य है। इसीलिए योगशास्त्र में पाँचवें को शून्य, छठे को महाशून्य और सातवें को परमशून्य कहा गया है। शक्ति का प्रतिपादन करने-वाले आगमशास्त्र का कहना है कि जहाँ शून्य है वहीं शक्ति है। जहाँ अभाव है—वहीं शक्ति का केन्द्र है। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो तीनों चक्र शक्ति के केन्द्र हैं। आगम में केन्द्र को 'पीठ' कहा जाता है। इस प्रकार तीनों शक्तिपीठ हैं, जिन्हें शक्ति-पीठ, महाशक्तिपीठ और परमशक्तिपीठ की संज्ञा दी है आगमशास्त्र में। इन तीन शक्तिपीठों की साधना ही एकमात्र तन्त्र-साधना है।"

तान्त्रिक साधना गूढ़ और रहस्यमय

कुछ देर तक मौन रहने के बाद अवधूत महाशय फिर गम्भीर स्वर में कहने लगे—"आज के युग में तन्त्र को और तन्त्र की साधना को समझना कठिन है। सभी उसके रहस्य से और उसकी गूढ़ता से परिचित नहीं हो सकते। योग की कतिपय बाह्य और आन्तरिक क्रियाओं के द्वारा प्रथम तीन शरीरों में प्रकाश प्रवेश कर और उन पर अधिकार प्राप्त कर–फिर उसी क्रम से तीनों चक्रों का भेदन करने के बाद ही वास्तविक तन्त्र की साधना शुभ होती है। क्योंकि तन्त्र की साधना—मनोमय शरीर, अनाहत चक्र, आत्मशरीर, विशुद्धचक्र और ब्रह्मशरीर आज्ञाचक्र से सम्बन्धित है। मनोमय शरीर में स्थिर होकर अनाहतचक्र में शक्तिपीठ की साधना मूल शक्ति की तान्त्रिक साधना है, जिसका प्रतीक है 'ऐं' बीज। आत्मशरीर में स्थिर होकर विशुद्धचक्र में महाशक्तिपीठ की साधना—महाशक्ति की तान्त्रिक साधना है, जिसका प्रतीक है 'ह्रीं' बीज। इसके बाद है ब्रह्मशरीर में स्थित होकर आज्ञाचक्र में परमशक्तिपीठ की साधना परमाशक्ति की तान्त्रिक साधना है, जिसका प्रतीक है—क्लीं बीज। इन तीनों

शक्तियों को तन्त्रशास्त्र में—परा, परापरा और परमा के नामों से सम्बोधित किया गया है। जो तीनों बीजाक्षर हैं–उनका विद्या सम्बन्ध तीनों शक्तियों से समझना चाहिए। विशेष यौगिक क्रिया द्वारा उनका एकाग्रचित्त होकर जप करने से सम्बन्धित शक्ति का उसके केन्द्र में जागरण अपने-आप हो जाता है। पहली शक्ति का सम्बन्ध मन से है। यदि हम 'ह्रीं' का जप करें तो हमारे प्राणों की शक्ति बढ़ने लग जायेगी। इसी प्रकार यदि हम 'क्लीं' का जप करें तो हमारे 'वाक्' की शक्ति बढ़ने लग जायेगी। मन, प्राण और वाक्–जिसे आज का विज्ञान—माइण्ड, मैटर, लाइफ कहता है—मूल तत्त्व हैं और इसी मूल तत्त्व का आश्रय लेकर तन्त्र का रहस्यमय गूढ़ और गोपनीय शास्त्र आगम-शास्त्र विभिन्न तान्त्रिक साधनाओं का निर्देश करता है।"

इतना कहकर अपनी आदत के अनुसार झट से उठ खड़े हो गये और पैरों में खड़ाऊँ डालकर फट-फट करते हुए—कमरे में घुस गये अवधूत महाशय। उनकी साधना का समय हो गया था शायद। उसके बाद काफी देर तक मैं बैठा सोचता-विचारता रहा इन तमाम विषयों पर। फिर धीरे-धीरे चलकर आश्रम के बाहर निकल आया। तब तक साँझ की स्याह कालिमा बिखर चुकी थी चारों तरफ।

× × ×

विश्वसृष्टि के मूल में शब्द

जिस ढंग से और जिस तरीके से अध्यात्म के जिस गूढ़ विषय को ताराचन्द्र अवधूत ने मुझे समझाया था, वह मेरे लिए सर्वथा नवीन था। ओम् के प्रसंग से सम्बन्धित मेरी जिज्ञासा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। कहने की आवश्यकता नहीं, यह वही समय था—जब कि मेरे मन में ध्वनिशास्त्र और मन्त्रविज्ञान के प्रति विशेष रुचि जागृत हुई थी और उसमें विशेष रूप से खोज करनी चाही थी मैंने। खैर!

अवधूत महाशय ने कहा—"वास्तव में 'ओम्' एक प्रतीकात्मक शब्द है। लेकिन वह साध्य है, साधन नहीं। सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायों के आध्यात्मिक वर्ग विश्व-सृष्टि के मूल में–शब्द मानते हैं। सृष्टि का आरम्भ शब्द से हुआ है। यही कारण है कि हमारे शास्त्रों में शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। शब्द ब्रह्म है। मगर इसका मतलब या अर्थ यह नहीं है कि शब्द के माध्यम से अथवा शब्द के द्वारा हमें ब्रह्म का दर्शन हो जायेगा। जहाँ तक ब्रह्म-दर्शन या ब्रह्म-साक्षात्कार की बात है—वह निःशब्द की अवस्था में सम्भव है। जहाँ शब्द नहीं है, जहाँ ध्वनि नहीं है, वहाँ ब्रह्म-साक्षात्कार है। इसीलिए ब्रह्म को शब्दातीत कहा गया है।

"विश्व ब्रह्माण्ड में जितने प्रकार की ध्वनियाँ बिखरी हुई हैं और जितने प्रकार की ध्वनियों को हम जानते, समझते और सुनते हैं, उन सबमें सबसे सूक्ष्मतम ध्वनि एक-मात्र शब्द की ध्वनि है। शब्द ब्रह्म का केवल इतना ही तात्पर्य है। समझ गये न?

"शून्य से ही समस्त विश्व की सृष्टि और सम्पूर्ण विश्व की रचना हुई है।

"तुम सोचो! तुम सारे जगत् के पीछे चले गये हो और उस स्थान पर पहुँच गये हो—जहाँ शून्य के सिवाय और कुछ नहीं है और तुम उस शून्य में प्रवेश कर गये हो। तो तुम उस अवस्था में भी पाओगे कि उस शून्य में भी ध्वनि है और साथ ही साथ यह भी अनुभव करोगे कि उस ध्वनि से निकलनेवाला अथवा उस ध्वनि से पैदा होनेवाला जो स्वर है—वह है 'अ', 'उ' और 'म' का है। कहने का मतलब यह कि उस शून्य की जो अपनी ध्वनि है—वह ओम् की ध्वनि है। भारतीय मनीषियों और योगियों का कहना है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में कोई अन्तर नहीं है। पिण्ड कहते हैं शरीर को। जिन तत्त्वों से मानव-पिण्ड का निर्माण हुआ है—उन्हीं तत्त्वों से ब्रह्माण्ड की भी रचना हुई है। जो तत्त्व पिण्ड में काम करता है—वही तत्त्व काम करता है ब्रह्माण्ड में भी। आगे के विषयों को समझने के लिए यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि इस दृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। दोनों सीमा में बँधे हुए हैं। आत्मा बँधी है शरीर यानी पिण्ड के आवरण से तो परमात्म बँधा हुआ है ब्रह्माण्ड के आवरण से। जिस प्रकार आत्मा के सात शरीर हैं, उसी प्रकार परमात्मा के भी सात शरीर हैं—जिसे हम सात लोक कहते हैं। आत्मा के सातों शरीरों का परमात्मा के सातों शरीरों से अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध पर 'योग' की सारी साधनाएँ निर्भर हैं, क्योंकि आत्मा के सातों शरीरों से परमात्मा के सातों शरीरों का भी सम्बन्ध है। उसीका नाम योग है। यदि योग के विषयों की दृष्टि से उसकी समीक्षा की जाय और उसका वर्गीकरण किया जाय तो इस नित्य और शाश्वत सम्बन्ध को महायोग या परमयोग कहेंगे।

"आत्मा के सातों शरीर अपनी-अपनी सीमा में नियन्त्रित हैं। शरीर की इस सीमा को ही जगत् कहा जाता है। प्रत्येक शरीर का अपना-अपना जगत् है। इसके बाद सातों शरीर भी एक साथ एक परिधि में बँधे हैं—जिसे विश्व कहते हैं। सीमा जगत् है तो परिधि है विश्व।"

परमशून्य

"इसी प्रकार परमात्मा के भी सातों शरीरों की भी अपनी-अपनी सीमा है—जिसे लोक कहते हैं और वे लोक भी एक साथ एक विशाल परिधि में बँधे हुए हैं—जिसे कहते हैं—ब्रह्माण्ड।

"निर्वाण की दृष्टि से भी यह समझ लेना चाहिए कि जिन तत्त्वों से जिस शरीर की रचना हुई है—उससे सम्बन्धित लोक की भी रचना उन्हीं तत्त्वों से हुई है। इसीलिए स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक शरीर अपने से सम्बन्ध रखनेवाले लोक से बराबर सम्पर्क बनाये

रखता है। यही कारण है कि आत्मा जिस शरीर को लेकर सम्बन्धित जिस लोक या जगत् में जाती है—वहाँ वह अपने पिछले शरीर तथा उस शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले लोक या जगत् को भूल जाती है। मगर जो योगी हैं—उनकी आत्मा नहीं भूलती। खैर! आत्मा का जो चौथा शरीर है—उसका सम्बन्ध मनोमय जगत् और मनोमय लोक से है। मनोमय जगत् की ऊपरी सीमा, जो आत्म जगत् से मिलती है—शून्यमय है। मगर जैसा कि कहा गया है—उस शून्य की भी ध्वनि है—जो ओम् की ध्वनि मानी जाती है।

"जब कोई योगी—अपने तीनों शरीरों को पार कर अपने मनोमय शरीर में पहुँचता है—तो उसका सम्पर्क मनोमय जगत् की ऊपरी सीमा से स्थापित हो जाता है और तब वह उस अवस्था में उस ध्वनि का सहारा लेकर शून्य में डूब जाता है और उस स्थान पर पहुँच जाता है—जहाँ जगत् अपने आरम्भिक रूप में रहा होगा कभी।

"उसके बाद योगी प्रवेश करता है आत्मजगत् में। फिर क्रम से प्रवेश करता है ब्रह्म-शरीर में और निर्वाण-शरीर में। इस बात को फिर से समझ लो कि चार शरीर हैं—मनोमय शरीर, आत्मशरीर, ब्रह्मशरीर और निर्वाण शरीर। इनसे सम्बन्धित अपने-अपने चार जगत् हैं। मनोमय शरीर और मन जगत् आत्मशरीर और आत्म-जगत् की जो सीमारेखा है—वहाँ 'ओ' की ध्वनि है। इसी प्रकार ब्रह्मशरीर और ब्रह्मजगत्, निर्वाण शरीर और निर्वाण जगत् की जो सीमारेखा है—वहाँ 'म्' की ध्वनि है। अन्त में जब छह शरीरों को क्रम से पार करके सहस्रार चक्र में प्रवेश करता है तो तीनों विभिन्न स्तरों की ध्वनियाँ सम्मिलित होकर ओम् की ध्वनि के रूप में उसे सुनाई पड़ती हैं। सहस्रार में जो गहनतम शून्य व्याप्त है—उसीको परमशून्य कहते हैं। उस परमशून्य की जो ध्वनि है—वह ओम् की ध्वनि है और हर समय सहस्रार में गूंजती रहती है। योगी उसी परमध्वनि का आश्रय लेकर परमशून्य में लीन हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं—इसी अवस्था का नाम है परम निर्वाण। कुण्डलिनी योग में इसी अवस्था को सामरस्य महामिलन अथवा शिव-शक्तियोग कहते हैं।"

इतना कहने के बाद मौन हो गये अवधूत महाशय। और फिर थोड़ी देर बाद उठकर कमरे में चले गये और दरवाजा बन्द कर दिया भीतर से उन्होंने।

× × ×

वह विचित्र और रहस्यमय अनुभव

पत्रकार मित्र अशोक कापले से एक दिन मालूम हुआ कि अपने एक परम भक्त निमाईबाबू के साथ न जाने कहाँ लापता हो गये हैं अवधूत महाशय। कब तक लौटेंगे—यह ठीक नहीं है। भैरवी को भी यह पता नहीं है कि कहाँ गये हैं महाशय।

पूरा एक पखवारा बीत गया । सोचा–शायद अब आ गये होंगे महाशय । मगर जब पहुँचा तो देखा वीरान पड़ा है आश्रम । चारों तरफ गहरा सन्नाटा छाया हुआ है। भैरवी भी कहीं दिखलाई नहीं दी मुझे । कमरे में ताला लटक रहा था । भैरवी कहाँ गयी होगी—यह समझ में नहीं आया मेरे । कुछ क्षण रुककर नगवा घाट की ओर चल पड़ा मैं । सोचा, थोड़ा गंगा-तट पर बैठकर वापस लौटूँगा ।

कार्तिक का महीना था और साँझ का समय । गंगा के उस पार पेड़ों के झुरमुटों के पीछे का स्याह आकाश धीरे-धीरे सफेद हो रहा था । थोड़ी ही देर बाद शुक्लपक्ष की त्रयोदशी का चाँद निकलनेवाला था । मिट्टी और बालू से अटी सीढ़ियों पर बैठ गया मैं और गालों पर हाथ रखकर चाँद के निकलने की प्रतीक्षा करने लगा । और फिर प्रतीक्षा की उन्हीं घड़ियों में न जाने कब और कैसे अवधूत महाशय की भैरवी, आरती के बारे में सोचने लग गया मैं और उसीके साथ उसका रूप, रंग और आकार-प्रकार भी धीरे-धीरे उभरने लगा मेरे मानस-पटल पर । कब तक यह सब स्थिति रही—बतला नहीं सकता ।

चाँद काफी ऊपर चढ़ आया था और ठंडक भी बढ़ गयी थी । वातावरण में गहरी निस्तब्धता छायी हुई थी । कभी-कदा उधर से गुजरनेवाली नाव की छप्-छप् की आवाज उस निस्तब्धता को भंग कर दिया करती थी ।

सहसा अपने समीप किसीकी उपस्थिति का आभास लगा मुझे । पलटकर देखा तो चौंक पड़ा एकबारगी । मेरी बगल में आरती न जाने कब से बैठी हुई थी ।

"कब और कैसे आयीं यहाँ आप ?" सहज भाव से पूछा मैंने । हँस पड़ी आरती । और फिर हँसते हुए ही बोली—"आप मुझे याद कर रहे थे न ? बोलो—'हाँ' ।"

"हाँ ! सचमुच आपको ही याद कर रहा था—झूठ क्यों बोलूँ ?"—सकुचाते हुए उत्तर दिया मैंने । फिर थोड़ा रुककर बोला—"आश्रम में गया था—लेकिन मिलीं नहीं आप—इसलिए यहाँ आ गया मैं । पर आपको कैसे मालूम हुआ कि यहाँ इस जगह बैठा हूँ मैं ?"

"मुझे नहीं मालूम होगा तो भला किसको फिर मालूम होगा ?"—यह कहकर मेरे और समीप आ गयी आरती ।

चित्त उद्‌भ्रान्त-सा हो गया । मन भी एकबारगी विचलित हो उठा उसके मादक स्पर्श से । जरा-सा खिसककर और विषय को बदलते हुए बोला—"आपने उस दिन मुझे जिस दृष्टि से देखा था—सचमुच उस दृष्टि ने मेरे अन्तर्मन को बेध-सा दिया था । और फिर न जाने कैसी एक विचित्र-सी स्थिति में पहुँच गया था मैं । समझ में नहीं आया था मुझे कुछ ?"

"कैसे समझ में आयेगा भला—साधक होते तो सब समझते, बिना साधक के उस

स्थिति की परिभाषा नहीं की जा सकती"—एक ही साँस में इतना बोल गयी आरती। और फिर मेरे करीब आकर पहले की ही तरह सट गयी मेरे शरीर से वह। अभी जो थोड़ा अन्तर था—वह फिर मिट गया। मगर मेरा चित्त उद्भ्रान्त नहीं हुआ। मन भी विचलित नहीं हुआ मेरा पहले की तरह इस बार। तटस्थ बना रहा मैं।

"आप अवधूत महाशय की भैरवी हैं। स्वयं एक ऊँची साधिका भी हैं आप। क्या मुझे किसी प्रकार की साधना का अनुभव नहीं करा सकेंगी ?"—सहज भाव से बोला मैं। मेरी बात सुनकर कुछ बोली नहीं आरती। थोड़ी देर बाद सहसा अपने सिर पर उसके कोमल करतल का स्पर्श प्रतीत हुआ मुझे—और वह स्पर्श होते ही पहले तो मैं एकबारगी चौंका—लेकिन फिर स्थिर-सा हो गया। और वह स्थिरता काफी देर तक बनी रही। और उसी स्थिरता की स्थिति में अन्तर्मुखी हो गया मैं। और फिर धीरे-धीरे किसी अज्ञात प्रदेश में प्रवेश करता चला गया मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व। वह अज्ञात प्रदेश नीरव था और खामोशी से भरा था। एक झटका-सा लगा मुझे। और उस झटके के साथ ही मैंने पहले अपने पार्थिव-शरीर को अपने से अलग देखा—उसके बाद देखा अपने वासना-शरीर को। और फिर अन्त में देखा अपने सूक्ष्म शरीर को। उन तीनों शरीरों को अलग-अलग एक ही स्थान पर देखकर मुझे घोर आश्चर्य हो रहा था। कभी मैं एक शरीर को देखता तो कभी दूसरे शरीर को। मेरा भौतिक शरीर तो बैठा था। मगर अन्य दोनों शरीर हवा में जैसे झूल रहे थे। मगर तीनों के रंग अलग-अलग थे। वासना-शरीर का रंग काला था—जब कि सूक्ष्म शरीर का रंग शुभ्र था—और उसमें से भाप जैसा कुछ निकलकर चारों ओर फैल रहा था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि मुझे आरती कहीं नहीं दिखलाई पड़ रही थी और न तो मुझे किसी प्रकार के भौतिक वातावरण का ही एहसास हो रहा था। निश्चय ही मैं अपने चौथे मनोमय शरीर में था उस समय। उस शरीर में रहकर मुझे विलक्षण अनुभव हो रहा था। उस समय मैं परम विराट् शून्य का अनुभव कर रहा था। मगर उस परम विराट् शून्य की भी अपनी ध्वनि थी--जो भ्रमर के गुंजन जैसी थी। उस ध्वनि के सहारे जैसे तैर रहा था मैं उस परम विराट् शून्य के महासागर में। और इस तरह कब तक तैरता रहा--बतला नहीं सकता। और यह भी नहीं बतला सकता कि कब तक रहा मैं उस स्थिति में। मगर जब उस अवस्था से मुक्त हुआ तो अपने-आपको अकेला पाया नगवा घाट की सीढ़ी पर बैठा हुआ पहले की तरह। चकपकाकर चारों तरफ देखा—आरती कहीं नहीं दिखलाई दी मुझे। कब और कहाँ चली गयी--समझ में नहीं आया। आश्रम में गया—मगर वहाँ भी नहीं मिली मुझे आरती। दरवाजे पर पहले की ही तरह ताला झूल रहा था और पहले की ही तरह खामोशी छायी हुई थी चारों ओर।

× × ×

यह क्या रहस्य था ?

उसके बाद पता नहीं कैसे--मानों एक बड़ी प्राकृतिक दुर्घटना ने सब उलट-पलट कर दिया। मुझे एक अति आवश्यक कार्य से कलकत्ता जाना पड़ गया और जब एक सप्ताह बाद वापस लौटा और लौटने पर जो समाचार मुझे सुनने को मिला--उसने एकबारगी स्तब्ध कर दिया। मस्तिष्क झनझना उठा मेरा। काफी देर तक सिर दोनों हाथों से थामे बैठा रहा मैं।

एक रात पुलिस ने चारों ओर से आश्रम को घेर लिया। आश्रम की तलाशी ली और तलाशी में ढेरों जाली नोट पाये गए। सौ-सौ के नोटों में लगभग एक लाख रुपये थे। गिरफ्तार कर लिए गए अवधूत महाशय। हाथों में हथकड़ी डालकर थाने ले गई पुलिस। दो दिन हवालात में बन्द रखा। फिर जेल भेज दिया पुलिस ने उन्हें। अशोक काजले ने ही बतलाया मुझे यह सब।

इसके बाद पता नहीं क्या हुआ : आरती कहाँ गई, यह भी पता नहीं चल सका।

पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ। लगा कि कहीं कोई बड़ी भारी भूल हो रही है। मगर जब यह मालूम हुआ कि पुलिस केस चलानेवाली है—और आरती को भी खोज रही है, तब मैं दुविधा में पड़ गया। तो क्या यह सच है ? नहीं, तो वे छूटे क्यों नहीं ? आरती को पुलिस क्यों खोज रही है ?··· ··· और साधु के आश्रम में ये जाली नोट आए किस तरह—और कहाँ से ? और उनकी भैरवी ही उन्हें भाग्य के ऊपर छोड़कर क्यों चुपचाप खिसक गई ?

तत्त्व, ज्ञान और अध्यात्म की इतनी ऊँची बातें करनेवाले साधु महाशय का यह भी रूप देखने को मिलेगा इसकी कल्पना भी नहीं की थी मैंने। मगर मगर उस दिन आरती के स्पर्श से जो भी विचित्र और आश्चर्यजनक आध्यात्मिक अनुभूति हुई थी—वह क्या था ? क्या वह सब भी धोखा था ? फरेब था ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं था। उस परानुभूति को मेरी आत्मा धोखा और फरेब मानने के लिए तैयार नहीं हो रही थी। तो फिर और इसी 'तो फिर' पर आकर मेरी बुद्धि मौन हो जाती थी।

मन को काफी धक्का लगा। खूब कष्ट भी हुआ। साथ ही अपनी बुद्धि और विचार-शक्ति के प्रति आस्था भी बहुत कम हो गई। हम लोग वास्तव में किसी मनुष्य को नहीं पहचानते। किसके भीतर क्या है, सो शायद भगवान् ही जानते हैं। इसके बाद कोई खबर नहीं मिली। समय गुजरता गया और समय के साथ मैं भी अध्ययन, अध्यापन और लेखन में डूबता चला गया। परिणाम यह कि साधुजी कौन थे ? भैरवी कौन थी ? इन दोनों का अंजाम क्या हुआ—सो मैं भूल गया।

उसके बाद अब यह भेंट हुई है।

वही सदा आनन्दमय परोपकारी सरल साधुजी यहाँ आकर एक भयंकर शराबी और बदमिजाज तान्त्रिक के रूप में परिणत हो गए। शायद जेल से छूटकर यहाँ आ छिपे हैं और सब कुछ एक छद्मवेश है।

खूब मजे में हैं। देखता हूँ कि इन्हीं सब ढोंगियों के पास दुनियाभर के चेले आकर जुट जाते हैं। इन्हें रुपये-पैसे का भी अभाव नहीं होता। मगर एक समस्या फिर भी रह जाती है—जेल में से छूटे कब ? कल ही तो भवानीबाबू कह रहे थे कि साधुजी नौ-दस बरस पहले आए थे। दस साल कहना भूल होगी। हिसाब करके देखा, पूरे नौ साल हुए—जब उनसे मेरी अन्तिम भेंट हुई थी। तो क्या वे अन्त में छूट ही गये थे ? क्या पुलिस केस कर न सकी थी ? तब भी ससम्मान आश्रम में वापस लौट जाना चाहिए था। यहाँ आकर क्यों जम गये।

स्मृति और चिन्ता का विवरण कागज पर लिखने में बहुत समय लगता है। मनके भीतर वह क्षणभर में पूरा हो जाता है। सामने आकर विस्मय का धक्का सँभाल पाने के पहले ही उन्होंने आँखें खोलकर देखा। नहीं, आँखें तो खुली ही थीं। केवल नजर मेरी तरफ घूम गयी।

मेरी ओर घूमकर सस्नेह और सहज भाव से बोले—"आ, मैं जानता हूँ कि तू पिछले शुक्रवार को आया है।·· नहीं, नहीं. योगबल से नहीं। तू कल रात को जब आ रहा था, तभी मैंने देख लिया था। सोच रहा था कि तू इस शराबी, गँजेड़ी साधु को देखने एक बार आएगा। नहीं तो एक दिन बुलवा ही लूंगा। मैं पहले ही खबर भेजता। मगर मैंने किसीको भेंट करने के लिए बुलाया—यह सुनकर ऐसा शोर-गुल शुरू हो जाता कि तू भी त्राहि-त्राहि कर उठता। चल, भीतर चलें।······जाल-साज साधु के आश्रम में जाने से घृणा तो नहीं होगी ?"

यह कहकर वे धीरे से हँसे। वही अभ्यस्त मीठी हँसी और वही सरल भाव। शराबीपन का कहीं कोई चिह्न तक नहीं था। बदमिजाजी की कहीं गन्ध तक नहीं थी। बात मजाक में कही थी या सत्य थी—समझ में नहीं आया। जो भी हो—इस तरह सीधे आक्रमण से मेरा झेंपना स्वाभाविक था। वही हुआ। हँसूँ या अफसोस करूँ ? या प्रतिवाद करूँ—सो ठीक न समझ पाकर बेवकूफ की तरह जरा-सा हँसकर मैंने कहा—"यहीं बैठें न ! खूब एकान्त है यहाँ।"

उन्होंने तुरन्त गर्दन हिलाकर कहा—"अच्छी बात है। यहीं बैठ। एक घण्टे के पहले होटल में किसीकी नींद नहीं टूटेगी। तब तक बातें हो लेंगी।······तेरे पेट में तो अभी चाय भी न पड़ी होगी शायद। सो, चाय मिलेगी, तुझे। भैरवी से तेरी बात कह रखी है। वह निश्चय ही पहचान गयी है कि तू वही है। अभी चाय भेजेगी।",

"किस भैरवी की बात कर रहे हैं, क्या आरती की ?"—मैंने कौतूहलवश पूछा।

"हाँ, हाँ ! उसी भैरवी की बात कर रहा हूँ। आरती के सिवाय भला और कौन हो सकती है मेरी भैरवी ? आरती भी यहीं है। उससे भी भेंट होगी।"

भीतर ही भीतर खूब प्रसन्न हुआ मैं। पाँच मिनट बाद ही सत्रह-अठारह बरस का अति सुन्दर ब्राह्मण लड़का—नंगे बदन पर शुभ्र जनेऊ पड़ा था—इसलिए ब्राह्मण समझने में दिक्कत नहीं हुई।—आकर एक सुन्दर-सी ट्रे में चाय का सामान रख गया। मैंने समझ लिया कि यह वही लड़का है—जो घर से भाग आया है। ऐसा लड़का घर-बार छोड़कर बिना वेतन के नौकर का काम कर रहा है। माँ-बाप के तो पागल हो जाने की बात ही है। चाय का सामान भी कैसा ? कीमती सुगन्धित चाय थी। साथ में कुछ नमकीन भी था। मगर कप एक ही था।

लड़के से यह बात मैं कहने ही जा रहा था कि याद आया कि ताराचन्द्र चाय नहीं पीते। कम-से-कम पहले नहीं पीते थे।

तब भी मैंने एक बार पूछा—"आप चाय नहीं पीयेंगे ? अब भी नहीं पीते क्या ?"

ताराचन्द्र मुस्कराये। बोले—"भयंकर तान्त्रिक हूँ। दिन-रात शराब के नशे में डूबा रहता हूँ। सुना नहीं तूने ? चाय क्या पीयूँगा ? तू पी। तूने शायद सुना होगा कि साधु चाय पीता है। चाय का खूब शौक है। कलकत्ते से खूब बढ़िया चाय मँगवाता है।" फिर थोड़ा रुककर उन्होंने पूछा—"अच्छा बता, आजकल करता क्या है तू ?"

"करूँगा क्या ?" मैंने कहा—"वही खोज, शोध और लेखन-कार्य कर रहा हूँ योग और तन्त्र पर।"

"अच्छा, अच्छा ...... समझा। वही पुराना रोग पाल रखा है तूने अभी भी। चलो, ठीक है। भैरवी सहायता करेगी तेरी इस व्यापार में।" इतना कहकर फिर हठात् बोले—"हाँ रे ! निमाई के घरवाले कैसे हैं ? जानता है तू ? कोई अच्छा काम निमाई को मिला है ? ब्याह किया है उसने ?"

निमाई ! कौन निमाई ? क्षणभर के लिए मैं कुछ आश्चर्य में पड़ गया। उसके बाद ही याद आ गया। जिसके साथ वे कई दिनों तक लापता थे—वही निमाई। बनारस में ही रहता था। साधारण परिवार का गृहस्थ था वह। एक मारवाड़ी की गद्दी पर मामूली-सा नौकर था। घर में माता-पिता थे। कई भाई-बहन थे। काफी बड़ा परिवार था और आमदनी का जरिया बस उतना ही। इसलिए उम्र चालीस के करीब हो जाने पर भी भाई-बहन के कारण उसने ब्याह नहीं किया था। इस आदमी को अच्छी तरह परखने का कारण यह है कि मैंने माता-पिता के प्रति ऐसी भक्ति और किसीमें नहीं देखी। कम-से-कम मैंने नहीं देखी। रोज सबेरे माता-पिता को प्रणाम करके वह

सूर्य को नमस्कार करता और भगवान् का नाम जपता था। जब उसके पिता को कैंसर हुआ तो इतनी उम्रवाला व्यक्ति कैसा बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोया था। जमीन थोड़ी-सी ही थी। मगर पिता की चिकित्सा के लिए निमाई कैसा पागल हो उठा था। वह सब कुछ बेच-बाच देता—अगर वह सम्पत्ति पिता के नाम न होती। वे किसी भी तरह हस्ताक्षर करने को राजी नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया—"यह रोग तो अच्छा होनेवाला नहीं है। खास तौर से जब पैंसठ बरस की उम्र में उसने पकड़ा है। लड़के-लड़कियों को क्या खिलाओगे? तुम्हारी माँ क्या खायेगी? और किसीको अभी तो कुछ काम भी नहीं मिला। जमीन तो इतनी-सी है। फसल पूरी हो, तो नौ महीने की खुराक मिलती है। उस पर से तीन साल से एक बार भी पूरी फसल नहीं मिल पायी। इस बार ही कैसे चलेगा? उससे क्या इलाज का खर्च पूरा पड़ेगा?"

बात युक्तिपूर्ण थी। मगर पिता के प्रति इतनी भक्ति होने पर भी या कहना चाहिए कि भक्ति के कारण ही यह युक्ति उसकी समझ में नहीं आयी। जमीन, मकान वह बेच नहीं सकता था। पर इसके अलावा घर में जो थोड़ा-बहुत था—बासन-बर्तन, चाँदी-सोने के दो-चार गहने—सब बेच डाला। इसके बाद कार्य का बोझ बढ़ने लगा। बस, यहीं तक मुझे मालूम था। ताराचन्द्र के गिरफ्तार होने के बाद दो-एक बार गया था निमाई के घर। मगर कुछ मालूम नहीं हुआ आगे। फिर इतनी खोज-खबर लेने का न तो समय ही था, न मन ही।

चाय पीते-पीते मैंने यही सब बात कही।

मगर इतना याद नहीं था। जब मैं उनसे कहने लगा—तब सब याद आया। और यह भी याद आया कि साधु को गिरफ्तार होने के बाद मन्नू रिक्शेवाले ने बातचीत के सिलसिले में बतलाया था कि सभी लोग साधुजी के खिलाफ हो गये और उनकी निन्दा करने और उन्हें धिक्कारने लगे। तब निमाईबाबू आश्रम में जाकर खोज-खाजकर साधु बाबा की पुरानी खड़ाऊँ ले आये थे—और उसे अपने घर में एक ताक पर रखकर रोजाना फूल, चन्दन से उसकी पूजा करते थे रामायण के भरतजी की तरह। रोज सुबह उठकर माता-पिता को प्रणाम करते थे, तब खड़ाऊँ को भी उसी तरह सिर नवाते थे।

यह सब भी मैंने उन्हें बतलाया।

सुनकर वे खूब हसे। बोले—"वह हमेशा का ऐसा ही पागल है।" उसके बाद कुछ देर तक शून्य की ओर देखकर बोले—"सच पूछो, तो उल्टा होना चाहिए था। हम लोगों को ही उसकी पादुका की पूजा करनी चाहिए थी। इस युग में, इस युग में क्यों? अपनी इतनी उम्र में किसीकी माता-पिता के प्रति इतनी भक्ति नहीं देखी। माँ-बाप की ठीक तरह से सेवा नहीं हो पायेगी, बहू आकर पराया कर देगी, इसी डर से

ब्याह तक नहीं किया। वही असली साधु है।" फिर कुछ देर चुप रहकर बोले—"वह कृतज्ञ आदमी है। उसका कल्याण होगा। कम-से-कम शान्ति तो पायेगा ही वह। अकृतज्ञ और बेईमान आदमी कभी शान्ति नहीं पाता।"

एकाएक मेरे मुँह से निकल गया—"अच्छा, कहिए तो वह क्या मामला था? वह—मेरा मतलब है—वह पुलिस का हंगामा।"

वे निःशब्द ही कुछ देर तक खूब हँसे। कौतुकमयी हँसी थी वह। मेरी दुर्बलता पकड़ी गई थी। जैसी आशा उन्होंने की थी उसी तरह कोई फँस गया है—इसी बात पर विजय और कौतुकमिश्रित हँसी थी।

बोले—"वह बात अब भी याद है? इसी मतलब से आया है शायद। इतने दिनों का कौतुक मिटाने? मगर सुनने से लाभ क्या होगा? जाली नोट बनाता हूँ—यह जो तूने जान रखा है—वही तो अच्छा है। साधना और भक्ति की मुझे जरूरत नहीं है। यहाँ सब कोई शराबी और बदमाश ही समझते हैं मुझे और बदमिजाज भी! बड़ा अच्छा है। मैं एक तरह से बड़ी शान्ति से हूँ। ढेर सारे भक्त और शिष्य जुट जाने से एकदम गृहस्थ हो जाना होता है। संसार में फँस जाना होता है। तब वही लोग अपने सगे हो जाते हैं। उनके रोग-शोक और तमाम पीड़ाओं और वेदनाओं का अंश लेना होता है। वह बड़ी ही कष्टदायक स्थिति हो जाती है। सबको लेकर एक विराट् परिवार बन जाता है। यह सब झंझट और अशान्ति ही करता रहूँ तो अपना काम कब करूँगा? तब फिर संसार छोड़ा ही क्यों? ब्याह करके अपने बाल-बच्चों को लेकर भी तो रह सकता था।" मैंने कहा—"इसीलिए क्या इतनी मार-पीटकर बैठना, कहीं कोई खून-खून हो गया तो क्या होगा?"

"ओह, समझा, यहाँ के इन शौकीन भक्तों की बात कर रहा है? कल वे लोग तेरे वहाँ से आये थे न?··· ···सच कहूँ तो वहाँ जो लोग आये थे—उनकी बात फिर भी समझ में आती है। अशिक्षित देहाती लोग ठहरे। अपनी धारणा और विश्वास के हिसाब से चलते हैं। मगर इन शरारती भक्तों को देखकर सच कहता हूँ—मेरे सिर में रक्त चढ़ जाता है—आग लग जाती है तन-बदन में। लगता है कि बेटा-बेटियों का खून कर डालूँ। टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ। खुद कुछ नहीं करेंगे, किसी इन्द्रिय के और किसी रिपु के दमन की चेष्टा नहीं करेंगे और आशा करेंगे कि महापुरुष या साधु बाबा, जिन्हें पकड़ रखा है, वे ही उनकी तरफ से सब कुछ कर देंगे। भाव यह होता है कि तुम साधु हो, हम तुम्हारी भक्ति करते हैं। यही बहुत है। अब तुम्हारा कर्त्तव्य है—हमें तार देना। हम बैठे-बैठे आराम करेंगे। भरपेट भोजन करेंगे। भोग-विलास में डूबे रहेंगे। पाप, अन्याय, चोरी, बदमाशी, जालसाजी, कालाबाजारी सब करेंगे। तुम हमारे इहलोक की विपद्, आपद् काट दोगे। लड़कों को अच्छी नौकरी, लड़कियों का

ब्याह यह सब प्रबन्ध कर दोगे। उन्हें परीक्षा में पास करा दोगे। रोग, व्याधि अच्छी कर दोगे। साथ ही परलोक में भी एक अच्छा-सा मकान देख रखोगे और ऐसी व्यवस्था कर दोगे कि वहाँ भी सुखपूर्वक हम लोग रह सकें और भगवान् का दर्शन भी इसी तरह—अगर हमें फुरसत मिले, अपने काम-धाम और शौकों के बाद तो तुम वह भी करा दोगे। समझा तू ? इन लोगों के हर काम में इसी तरह का भाव रहता है। बीमार होने पर, देखता नहीं, कोई जरा भी सावधान नहीं होता ? कहते हैं—अरे ! सावधान ही रहें तो डाक्टर को दिखाने से, दवा खाने से क्या फायदा ? पैसा भी खर्च करें और खाना-पीना भी बन्द कर दें। पाप, पाप, महापाप ! इन लोगों का मुँह देखने से भी पाप लगता है। ये लोग जब दाँत निपोरकर इस तरह भोले-भाले बनकर सामने आ खड़े होते हैं—तब मेरा सारा शरीर बिच्छू काटने की तरह जलने लगता है। ज्यादा देर इन लोगों का संग करने से आत्मा का अधःपतन होता है। साधन-भजन नष्ट हो जाता है।"

कहते-कहते साधु की दृष्टि आग की तरह जलने लगी। चेहरा सुर्ख हो गया। कुछ देर चुप रहकर एक अमानवीय चेष्टा से उन्होंने अपने को सँभाल लिया। बोले—"इसीलिए इन्हीं लोगों के कारण मनुष्य के संसर्ग से मुझे घृणा हो गई है। बनारस से जो चला आया—वह भी इसी जलन के कारण। इसी निमाई के कारण ही ··· ···आना ही पड़ता, सो बात नहीं थी। मगर उस घटना के बाद ही मेरी आँखें खुल गईं। समझ गया कि इस तरह रहने से और भी फँस जाऊँगा और अपना काम धरा रह जायेगा।"

मगर निमाई के कारण ही—यह बात मेरी समझ में नहीं आई। उसके कारण क्या हुआ था ?

मेरी बात सुनकर साधु ने एक बार चारों ओर देखा और फिर बोले—"अब आगे सुनने-सुनाने का समय नहीं है। देखो, लोगों का आना-जाना अब शुरू हो गया है। तू अब यहाँ से चला जा। कल इसी तरह सबेरे के वक्त आना तब आगे बातें होंगी।"

मैंने भी देखा कि सूरज निकल आया था। जागरण हो गया था। चुपचाप उठा, प्रणाम किया और वापस लौट आया मैं होटल।

× × ×

आरती के साथ योग-तान्त्रिक चर्चा

लगातार चार-पाँच दिनों तक घोर वर्षा होती रही। इसलिए बाहर निकलना न हो सका। अपने लेखन-कार्य में जुटा रहा मैं एकाग्रचित्त होकर। सोचा, इसके बाद ही साधु महाशय से मिलने के लिए जाऊँगा।

उस दिन सायंकाल का समय था। रिम-झिम वर्षा हो रही थी। खिड़की के पास टेबुल-कुर्सी लगाकर लिखने में लीन था मैं और तभी कमरे का बन्द दरवाजा भड़ाक् से

खुला । सिर घुमाकर देखा—सामने, प्रौढ़ वय की एक युवती खड़ी मुस्करा रही थी। रूप-रंग और चेहरा-मोहरा कुछ-कुछ जाना-पहचाना-सा लगा। फिर भी सन्तुष्टि के लिए धीरे से पूछा—"कहिये, क्या बात है ? कौन हैं आप ?"

अचकचाकर किये गये मेरे प्रश्न को सुनकर युवती हँस पड़ी एकबारगी और फिर कोमल स्वर में बोली—"अरे! आपने मुझे पहचाना नहीं ? मैं···मैं हूँ, आरती। अवधूत महाशय की···।" वाक्य पूरा न हो पाया। बीच में ही आश्चर्यचकित होकर बोल पड़ा मैं—"पहचानूंगा क्यों नहीं ? आपको भला कैसे भुला सकूंगा, आपमें किसी प्रकार का अन्तर भी तो नहीं आया है।"

सचमुच कोई अन्तर नहीं आया था आरती में। वही रूप, वही रंग, वही स्निग्ध सौंदर्य और वैसी ही घनी काली केशराशि। आयु का प्रभाव कहीं भी तो नहीं पड़ा था। जैसे पहले देखा था, बस उसी तरह अब भी देख रहा था आरती को। कुछ क्षण तक अपलक निहारता रहा मैं उस अप-रूप सौंदर्य की ओर। लगा, जैसे मेरे उपन्यास "अग्निशिखा" की नायिका ही आकर खड़ी हो गई है, साकार रूप में मेरे सामने।

"इस वर्षा में कैसे आना हुआ ?"—पूछा मैंने।

"कल रात मालूम हुआ कि आप यहाँ आये हुए हैं—अवधूत महाशय ने ही बतलाया मुझे। लोभ-संवरण न कर सकी। इसीलिए चली आई। सोचा कि देखूं कैसे हैं, आप ? कहीं कोई अन्तर तो नहीं पड़ा है ?"

"क्या—कहीं, भीतर या बाहर कोई अन्तर दिखलाई दिया, आपको मेरे में ?"—हँसकर पूछा मैंने।

"नहीं, वैसे ही हैं, जैसे पहले थे आप। वैसा ही रूप, रंग और वैसा ही स्वभाव। कहीं कुछ बदला नहीं है।" फिर थोड़ा रुककर रेशमी साड़ी का पल्लू ठीक करती हुई आगे बोली आरती—"आजकल क्या कर रहे हैं आप ?"

"वही कर रहा हूँ—जो पहले करता था—लिखना-पढ़ना। इसके सिवाय भला और कर ही क्या सकता हूँ मैं।"

आरती हँस पड़ी। बोली—"यह तो बड़ी अच्छी बात है। क्या लिख रहे हैं, इस समय ?"

सामने खुली हुई पुस्तकों को बन्द करते हुए मैंने कहा—"तन्त्रशास्त्र में ओम् प्रणव और मन्त्र की ध्वनि का महत्त्व है। उसी पर लिख रहा हूँ।······अवधूत महाशय ने ओम् की जो व्याख्या की थी मेरे सामने वह व्याख्या वास्तव में मेरे लिए अति मूल्यवान् सिद्ध हुई थी। वास्तव में उसीकी प्रेरणा से 'तन्त्रशास्त्र में ध्वनि-विज्ञान' शीर्षक देकर लिख रहा हूँ।"

"ओह ! यह तो अति सुन्दर विषय है।"—आरती बोली—"मेरी भी रुचि इसमें है। मैंने भी काफी गहराई से चिन्तन-मनन किया है इस पर।"

"अच्छा, तब तो आप पुस्तक को पूरी करने में मेरी काफी सहायता कर सकती हैं।"—मैंने कहा।

"आपने अभी तक ध्वनि के सम्बन्ध में क्या विचार किया है ? यह तो आप स्वीकार करेंगी ही कि पश्चिम का विज्ञान भौतिक विज्ञान है—जब कि पूरब का विज्ञान है अध्यात्म-विज्ञान। भौतिक शास्त्र का कहना है कि जीवन की जो अन्तिम इकाई है वह है एकमात्र विद्युत्। मगर भारतीय मनीषियों का जो अध्यात्म-विज्ञान है—उसका कहना है कि जीवन की अन्तिम अथवा मूल इकाई विद्युत् नहीं, "ध्वनि" है। भौतिक शास्त्र के अनुसार पदार्थ की रचना का जो अन्तिम स्वरूप है उसका अन्तिम भाग एकमात्र विद्युत् है। उसीसे सारे पदार्थों व सारी वस्तुओं का निर्माण हुआ है। भारत के तत्त्व-चिन्तकों के अनुसार एकमात्र ध्वनि ही समस्त पदार्थों व वस्तुओं का मूलाधार है। इन दोनों प्रकार की धारणाओं में सत्यता कितनी है और वास्तविकता कितनी है—इस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। मगर यह अवश्य निर्विवाद है कि दोनों के बीच गहरा सम्बन्ध है। जब हम उस 'गहरे सम्बन्ध' में चिन्तन करते हैं तो दोनों के विचार और धारणाएँ एक-सी ही प्रतीत होती हैं। तब हम पाते हैं कि एक ही पदार्थ का एक रूप विद्युत है और दूसरा रूप है ध्वनि। मगर इन दोनों के बीच एक तत्त्व है—जो दोनों को एक-दूसरे से जोड़ता है। वह कौन-सा तत्त्व है—जिसका एक रूप विद्युत् है तो दूसरा रूप ध्वनि है।

"उस अज्ञात तत्त्व की खोज भौतिक विज्ञान ने भी की और अध्यात्म-विज्ञान ने भी। सम्भव है, अध्यात्म को लेकर इस तत्त्व की खोज करने के कारण पश्चिम के भौतिक शास्त्री लोग विद्युत् पर पहुँचे। मगर इस विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भारतीय मनीषियों ने इसकी खोज स्वयं के भीतर की जब कि भौतिक शास्त्रियों ने पदार्थ के भीतर की। दोनों में यही अन्तर है। मगर यह अन्तर मूल में आकर मिट जाता है हमारे स्वयं के भीतर। मतलब यह कि हमारा जो स्वयं का बोध है—वह ध्वनि की अन्तिम इकाई है। अन्तिम भाग है। जब तक हमें अपना बोध रहेगा तब तक अपने भीतर की ध्वनि का बोध रहेगा। अपना बोध और ध्वनि का बोध—एक ही है। हम अपने भीतर जितनी गहराई से उतरेंगे—उतनी ही ध्वनि भी सूक्ष्म होती जायेगी, सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होती जायेगी। अपने-आपके भीतर की गहराई में उतरने का एकमात्र साधन है, ध्यान। ध्यान की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा हम अपने भीतर की गहराई में उतरते चले जाते हैं और उसीके साथ ध्वनि भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होती चली जाती है। अंत में फिर एक ऐसी अवस्था आती है, एक ऐसा समय आता है जब कि केवल मात्र

शून्य रह जाता है। शून्य के सिवाय और कुछ नहीं। मगर भारतीय मनीषियों का कहना है कि शून्य की भी अपनी ध्वनि है—जिसे वे 'अनहद नाद' के नाम से पुकारते हैं। शून्य की अपनी ध्वनि है जो नीरवता है। जो सन्नाटा है और खामोशी है—वही अनहद नाद है। अनहद नाद का मतलब है उस शून्य की नीरवता की अन्तिम पकड़। मानव-चेतना में अन्तिम वस्तु—निराकार में प्रवेश करने के पूर्व की वह ध्वनि है अनहद। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने एकमात्र ध्वनि को ही अन्तिम तत्त्व माना। उनके विचार में अन्तिम तत्त्व ध्वनि के सिवाय और कुछ नहीं है।

"पश्चिम के भौतिकी मनीषियों ने पदार्थ के भीतर प्रवेश कर जिस अन्तिम तत्त्व को—जिसके आगे सब कुछ समाप्त हो जाता है, खो जाता है और निराकार हो जाता है—प्राप्त किया—वह है विद्युत्-कण। यहाँ समझने की बात यह है कि पदार्थ का जो अन्तिम विद्युत्-कण है—क्या चेतना का अन्तिम जो कण है—उससे पहले होगा या बाद में? मतलब यह कि विद्युत्-कण के पहले चेतना का कण है या उसके बाद? यदि इस तथ्य की गहराई में उतरकर देखा जाय तो पदार्थ से अधिक गहन वस्तु है चेतना। चेतना अत्यन्त रहस्यमय वस्तु है। सम्भावना तो यही है कि चेतना का अन्तिम कण पदार्थ के अन्तिम कण के बाद हो। उसके आगे हो। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने ध्वनि को विद्युत् के आगे रखने की दृष्टि प्रस्तावित की।

"जो भी हो, मैंने तो अपने चिन्तन-मनन के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला कि संगीत, कीर्तन-भजन, प्रार्थना, मन्त्र आदि सब ध्वनि के ही उपयोग हैं। प्रत्येक ध्वनि हमारे भीतर एक स्थिति उत्पन्न करती है। ध्वनि का आघात होता है हमारी चेतना पर। तलवार हमारे शरीर को ही केवल काट सकती है, हमारे मन को नहीं। मन को काटती है ध्वनि की तलवार। ध्वनि एक ऐसी तीक्ष्ण धार है—जिससे मन खण्ड-खण्ड हो जाता है और इसीलिए भजन, कीर्तन, मन्त्र, जप, संगीत आदि के द्वारा ध्वनि का प्रयोग किया जाता है, ताकि मन कट जाय। खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाय। साधक अपने-आपको मिटा दे और मिटकर अनन्त यात्रा पर निकल पड़े। विश्व में जितने भी धर्म हैं—इसी विचार से—सभी की अपनी-अपनी ध्वनियाँ हैं। सभी धर्मों की अपनी-अपनी ध्वनियाँ हैं—जिनका प्रयोग पूजा के रूप में होता है। ध्वनि के अनुसार पूजा जैसे-जैसे गहरी होती जाती है—वैसे ही वैसे हमारे भीतर ध्वनि के प्रहार से रूपान्तरण होना शुरू हो जाता है। आपका क्या विचार है? मैं ठीक ही कह रहा हूँ न?"

आरती का ध्यान भंग हुआ। एकबारगी चौंककर बोली—"बहुत सुन्दर। मेरी भी यही धारणा है। संगीत की ध्वनि हो या मन्त्र की ध्वनि हो, अथवा हो अपशब्द से निकली हुई ध्वनि—सभी प्रकार की ध्वनियाँ मन को काट डालती हैं। जब तक मन नहीं कट जाता तब तक अपने-आपमें शून्य का अनुभव भी नहीं होता। विरक्ति का

भाव भी पैदा नहीं होता।" इतना कहने के बाद आरती कुछ सोचने लगी। मैंने चाय का आर्डर दे दिया। थोड़ी ही देर बाद चाय आ गयी। हम दोनों के भीतर विचारों और भावों का मिला-जुला मन्थन चल रहा था। चाय पीते समय हम दोनों मौन ही थे। अब तक रिम-झिम करती वर्षा तेज हो गई थी, पहले की तरह। चाय पीने के बाद आरती ने कहना शुरू किया।

"ओम् के सम्बन्ध में तो आप अब तक बहुत कुछ जान-समझ गये होंगे। मगर जहाँ तक इस सम्बन्ध में मेरी धारणा है—वह यह है कि ध्वनि की मूल इकाई एकमात्र ओम् ही है। एकमात्र ओम् ही मूलभूत सत्य है, जिसका अस्तित्व हर काल में एक-सा रहता है। मगर शर्माजी, उस सत्य से भला कौन परिचित है आज के युग में ? हम जब ओम् का उच्चारण करते हैं तब हमें ओम् का ज्ञान होता है। उच्चारण में जो ध्वनि है वह हमारे द्वारा उत्पन्न की हुई है। यह वास्तविक ओम् का उच्चारण नहीं है। मुँह बन्द कर लें। होंठों को न हिलायें। भीतर ही भीतर ओम् का उच्चारण करें। तो वह भी ओम् का वास्तविक उच्चारण न होगा। इन दोनों प्रकारों में हमें ओंकार के वास्तविक स्वरूप का न ज्ञान होगा और न तो होगी अनुभूति। क्योंकि दूसरे प्रकार के उच्चारण में भी तो शरीर के भीतर की मांस-पेशियाँ क्रियाशील होती हैं। बाहर की तरह भीतर मन में भी जब उच्चारण न होगा, तब उस अवस्था में हमें अपने-आपमें एक ऐसा उच्चारण सुनाई देने लगेगा—जो हमारे द्वारा किया गया न होगा। हम उसके कर्ता न होंगे। हम होंगे उसके केवलमात्र साक्षी।

"कहने की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार की ओंकार-ध्वनि हमारे भीतर बराबर हो रही है—लेकिन हमारे मन में इतना कोलाहल है कि हम उसे सुन नहीं पा रहे हैं। वास्तव में वही ध्वनि सम्पूर्ण जगत् का आधार है। मूलभित्ति है।

"जैसा कि आपका कहना है—पश्चिम की खोज विद्युत् है। पश्चिम की दृष्टि में जगत् का आधार और जगत् का मूल विद्युत् है। ध्वनि विद्युत् का ही एक रूप है, एक प्रकार है, जब कि इसके ठीक विपरीत पूरब के चिन्तकों का कहना है कि ध्वनि ही एकमात्र जगत् का कारण है। जगत् का मूल है। मूल उपकरण है। विद्युत् ध्वनि का ही एक रूप और एक प्रकार है। एक जगत् के मूल में विद्युत् को स्वीकार करता है और दूसरा स्वीकार करता है ध्वनि को। बस, यहीं मतभेद हैं। मगर यह मतभेद निराधार हैं। पूरब की चिन्तना अपने स्थान पर सही है। विद्युत् की गति जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है तो ध्वनि में बदल जाती है। इसी प्रकार ध्वनि की गति जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है तब वह भी विद्युत् में बदल जाती है। ध्वनि और विद्युत्—दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। पूरब के लोग ध्वनि को ही सर्वोपरि मानकर चले—तभी तो ध्वनि के द्वारा दीप को जला सके तानसेन। उनके एक राग

मात्र से दीप जल उठा। अभी भी तिब्बत में एक ऐसा मठ है, जिसमें विभिन्न प्रकार की ध्वनियों से तरह-तरह के रंगों की रोशनियाँ पैदा होती हैं। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि के भीतर विद्युत् है। ध्वनि के कुल सोलह भेद हैं। मगर उन भेदों को जानता कौन है वर्तमान में ? प्रत्येक भेद में अलग-अलग विद्युत्-तरंगें हैं। किस ध्वनि से किस प्रकार की विद्युत्-तरंगें निकलती हैं इसका अपना विज्ञान है। जो इस विज्ञान को जानता है—वह ध्वनि की सहायता से इच्छानुसार जो चाहे वह कर सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं, ध्वनि के भेदों और उन भेदों से जन्म लेनेवाली विद्युत्-तरंगों के आधार पर ही मन्त्र-शास्त्र की रचना हुई है। मन्त्र तीन प्रकार के होते हैं—वैदिक मन्त्र, पौराणिक मन्त्र और तान्त्रिक मन्त्र। इन तीनों मन्त्रों की अपनी-अपनी विशिष्ट ध्वनियाँ हैं और उन ध्वनियों की अपनी अलग-अलग तरंगें हैं। शरीर में वैदिक मन्त्र का केन्द्र नाभि है। पौराणिक मन्त्र का केन्द्र हृदय है। तान्त्रिक मन्त्र का केन्द्र मस्तिष्क है। इन केन्द्रों पर मन को एकाग्र कर सम्बन्धित मंत्रों का जप अथवा बारम्बार उच्चारण करने पर ही तरंगों का आविर्भाव सम्भव है। तरंगों के घनत्व पर ही सफलता निर्भर है। घनीभूत तरंगें ही वायुमण्डल से मन्त्र के व्यक्तित्व यानी मन्त्र के देवता का आकार अथवा रूप का निर्माण करती हैं।"

आरती ने आगे कहा—"स्वर और वर्ण मिलकर ध्वनि को पैदा करते हैं। दोनों के उचित मात्रा में योगायोग होने पर ही ध्वनि का आविर्भाव होता है। हमारे शरीर में जो छह चक्र हैं—वे ही स्वर और वर्ण को एक में मिलानेवाले केन्द्र हैं। किस चक्र में कौन-सा स्वर किस वर्ण से मिलता है—यह एक रहस्यमय विषय है मन्त्र-शास्त्र का। 'ध्वनि-शास्त्र और स्वर-विज्ञान' पर मैंने काफी अध्ययन किया और उसीको आधार मानकर मैंने विभिन्न प्रकार की योग-तान्त्रिक साधना भी की। वाराणसी में मैंने आपको जिस अनिर्वचनीय स्थिति में ले गई थी—उसमें ध्वनि और उसकी तरंगों का ही सहयोग था।"

"अच्छा," मैं आश्चर्य से बोला।

"इतना ही नहीं, ध्वनि और उसकी विद्युत्-तरंगों की सहायता से उससे भी उच्च स्थिति में जाया जा सकता है।"

"क्या वैसा प्रयोग फिर कभी करेंगी ?"

"हाँ, क्यों नहीं ? समय पर वैसा करना सम्भव है। सब कुछ समय की परिधि में बँधा हुआ है। ध्वनि भी समय के नियन्त्रण में है। इसीलिए तो वैदिक मन्त्रों के लिए प्रातःकाल का समय, पौराणिक मन्त्रों के लिए मध्याह्नकाल का समय और तान्त्रिक मन्त्रों के लिए सायंकाल अथवा रात्रि का समय निर्धारित है। खैर, मैं तो अब यह कह रही थी कि ध्वनि के बिना विद्युत् नहीं और विद्युत् के बिना ध्वनि नहीं। लेकिन पूरब

और पश्चिम के विचारों में यह आन्तरिक अन्तर क्यों आया ? इसे समझना आवश्यक है। इसका कारण क्या है ?"

मैंने कहा—"जैसा कि आपको बतला चुका हूँ—पश्चिम की खोज पदार्थ को तोड़कर है। कौन-सी वस्तु से पदार्थ बना है—यह जानने की प्रक्रिया से पश्चिम को अन्तिम परमाणु के रूप में विद्युत्-कण यानी एलेक्ट्रान मिले। पूरब ने पदार्थ को तोड़कर खोज नहीं की। मन को तोड़कर की। पदार्थ का अन्तिम अणु विद्युत् है। मन का अन्तिम अणु ध्वनि है।"

"अगर आप मुझसे पूछेंगे तो मैं यही कहूँगी कि पदार्थ का जो अन्तिम अणु है—वह अप्रकट मन ही है और मन का जो अन्तिम अणु है वह अप्रकट पदार्थ है। परमाणु भी पदार्थ का छिपा हुआ मन ही है। क्षुद्रतम में भी छिपा हुआ विराट् है। यदि विराट् को भी प्रकट होना होगा तो क्षुद्र का ही सहयोग लेना होगा उसे। बिना क्षुद्र का सहारा लिये विराट् कदापि विराट् न हो सकेगा।

"ओंकार परम ध्वनि है। अनहद नाद है और उसी नाद में परमसत्य स्थित है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि मैं ओंकाररूप हूँ। ॐ से ही सम्पूर्ण जगत् की रचना हुई है। ओंकार का अनुभव सारे जगत् का आत्यन्तिक अनुभव है। मगर ओंकार का अनुभव तभी सम्भव है जब कि मन पूर्ण रूप से ध्वनिशून्य अथवा ध्वनिरहित हो जाता है। जिस समय मन पूर्ण रूप से ध्वनिहीन हो जाता है—उसी समय हमें अपने भीतर ओंकार की ध्वनि गूंजती हुई मिलती है, जिसके हम कर्त्ता नहीं, बल्कि केवल साक्षीमात्र ही होते हैं।

"गीता में भगवान् ने ओंकार के बाद वेदों का नाम लिया है। कहते हैं कि तीनों वेद भी मैं ही हूँ। ओंकार के बाद वेदों को महत्त्व देना कम रहस्य की बात नहीं है। खैर। अब छोड़िये इस प्रसंग को—फिर कभी समय मिलेगा तो चर्चा होगी। समय काफी हो गया है। साधु महाराज चिन्तित होंगे कि कहाँ चली गयी मेरी भैरवी"—उठती हुई बोली आरती।

"आपका बहुत ख्याल रखते हैं साधुजी"—मैंने हँसकर कहा।

"क्यों नहीं रखेंगे ?"—आरती भी हँसते हुए बोली—"मेरे ही सहयोग से और मेरी ही शक्ति के बल पर वे इतने बड़े साधक बने।"

"यह तो मैं जानता-समझता हूँ। बिना भैरवी के सहयोग के कोई भी तन्त्र-मार्ग में सफल नहीं हो पाता। मगर एक बात पूछूं ? बुरा तो नहीं मानेंगी ?"

"पूछिये, क्या पूछना चाहते हैं ?"

"आप कौन हैं ? कैसे इस मार्ग पर चल पड़ीं ? और कैसे इतनी आयु में भी अक्षय यौवनसम्पन्न बनी हुई हैं ? यह सब मैं जानना चाहता हूँ। क्या बतलायेंगी आप ?"

मेरी बात सुनकर खिलखिलाकर अबोध बालक की तरह हँस पड़ी आरती। फिर बोली--"यह सब जानने में क्या रखा है। खैर! कभी अवसर मिलेगा तो बतला दूँगी सब कुछ। अच्छा, अब मैं चलूँ"--यह कहकर आरती कमरे के बाहर निकल गयी।

× × ×

दो-तीन दिन तक लगातार वर्षा होती रही। इसीलिए आश्रम में जाना न हो सका और जब एक दिन बिल्कुल तड़के पहुँचा तो देखा कि साधु महाराज आश्रम के सामनेवाले पीपल के नीचे चबूतरे पर ध्यान लगाये बैठे हुए थे। करीब जाकर खड़ा हो गया मैं। थोड़ी देर बाद महाशय की आँखें खुलीं। मेरी ओर देखकर मुस्कराये। फिर बोले—"अब किस बात के लिए तेरा पेट फूल रहा है? बिना मतलब के तू आने-वाला नहीं।"

"निमाई के कारण का क्या हुआ था? बस, यही जानना था मुझे।" झेंपते हुए बोला मैं। शायद मेरी आवाज में कुछ अधिक व्यग्रता प्रकट हुई थी।

साधु की आवाज में उसी मात्रा में व्यंग्य और कौतुक था। बोले—"वह बात सुनने के लिए, उसके भीतर का रहस्य जानने के लिए तू मरा जा रहा है न? औरतों की तरह इतना कौतूहल क्यों होता है बेटा? तू तो पुरुष है।"

उसके बाद कुछ रुककर जाने क्या सोचकर बोले—"तो सुन। तुमसे कह सकता हूँ। अब इस बात का प्रचार होने से भी निमाई का कोई अनिष्ट नहीं होगा। कोई विश्वास नहीं करेगा। तू ही भला किससे कहेगा।··· कोई खास बात नहीं। निमाई बाप की बीमारी से एकदम पागल हो गया था न! कितना मैंने समझाया कि शरीर की मृत्यु के लिए एक बहाना तो चाहिए। कृष्ण, बुद्ध, ईसा, कोई भी इस नियम को लाँघ नहीं सका और उम्र भी तो काफी हो चुकी। अब उन्हें बचाकर ही क्या करेगा? क्या ऐसा भोग, सुख दे सकेगा उन्हें? और अब भोग करने की शक्ति ही कहाँ है? मगर कौन सुनता है? आदमी पागल होने पर क्या कोई युक्ति सुनता है? या वह उसके दिमाग में प्रवेश करती है? पैसे के लिए पागल होकर घूमता-फिरता था। उसी समय एक फरेबी और जाल-साज आकर उसकी गर्दन पर सवार हो गया। उसने जाली नोटों के कुछ बण्डल निमाई के हाथों सौंप दिये। निमाई एक मारवाड़ी की गद्दी पर काम करता था और बैंक से रोज ही रुपया ले जाता था। उसको सिखा दिया कि रोज दो-एक जाली नोट मिलाकर चला देने से कोई पकड़ नहीं पायेगा। पकड़े जाने पर निमाई कहेगा कि वह कुछ नहीं जानता। चला सकेगा तो रुपये में चार आना निमाई पायेगा। तब भी निमाई राजी न होता मगर जाल-साज दो सौ रुपये के असली नोट दे गया। तब निमाई लोभ नहीं सँभाल सका। इसके पहले एक काण्ड और हो गया।

रामस्वरूप की दुकान से निमाई दवा उधार लाया करता था। उस दिन रामस्वरूप ने कह दिया कि बकाया रुपया न देने पर दवा या सूई वह उधार नहीं देंगे।

"जाल साजों ने सोचा था कि निमाई को सभी लोग प्यार करते हैं। सज्जन और धर्मभीरु आदमी है। इसीलिए उस पर कोई शक नहीं करेगा। मगर धर्म के घर में पाप सहन नहीं होता। यह बात बेटे लोग नहीं जानते थे। पहले ही दिन निमाई को दुर्बुद्धि या सद्बुद्धि से पाप का पैसा खाना नहीं पड़ा। सौ-सौ के चार जाली नोट लेकर गया और उसीमें वह पकड़ा गया। बैंकवालों ने उसे डिटेन करके पुलिस को खबर की, भाग्य से उसी समय मेरा शिष्य जीवनलालजी बैंक गया था। वह निमाई को बहुत प्यार करता था। वह दौड़कर मेरे पास आया और सारी बातें बतलायीं। तभी सब मामला समझ में आ गया। एक दिन पहले ही निमाई रामस्वरूप की दुकान से ढेर सारी दवा लाया था, जब कि रुपये के कारण उसने दवा उधार देना बन्द कर दिया था। यह बात मुझे मालूम थी। जीवनलाल को साथ लेकर मैं निमाई के घर चला गया। वहाँ मुझे एक लोहे का सन्दूक छिपा हुआ मिला। मैंने उसे खोलकर भी नहीं देखा। बस, जीवनलाल से वह सन्दूक निकलवाकर आश्रम में ले आया और अपने कमरे में चौकी के नीचे रखवा दिया और जीवनलाल को सिखा दिया कि वह कहे कि मैंने ही वे नोट भुनाने के लिए निमाई को दिए थे और निमाई चूँकि मेरा भक्त है इसीलिए मेरा दोष छिपाकर अपने सिर ले रहा है। मैंने उससे यह भी कहने को कहा कि जिस पिता के लिए वह इतना बड़ा खतरा ले रहा है अगर उसे जेल हो जाय तो उस पिता का क्या होगा ? वह तो भूखों मर जायेगा। इसके अलावा पुलिस मुझे कुछ नहीं कहेगी। इसीलिए निमाई चुप रहे। ज्यादा सत्यवादी बनने की कोशिश न करे।"

इतना कहकर शायद वे थककर चुप हो गये। मगर मुझे धैर्य नहीं था। सो कुछ असहिष्णु होकर मैंने पूछा—"फिर ?"

"ठहर जा रे ! जरा दम तो लेने दो।" स्नेह के स्वर में उन्होंने मुझे डाँटा। फिर बोले—"फिर क्या ? निमाई चुप रहा। वह असल अपराधी का नाम भी नहीं कहेगा, यह मैं जानता था। क्योंकि रुपया ले चुका था, बेईमानी नहीं करेगा और पिता की बात सोचकर मेरी बात भी न मानने का साहस वह नहीं कर सका। मेरा अन्दाजा ठीक था। पुलिस ने आकर जब सन्दूक तोड़ा तो देखा कि जाली नोट उसमें ठूँस-ठूँसकर भरे हुए हैं। पुलिस जब मुझे पकड़कर थाने ले गई तो ओ० सी० मुझे देखकर अवाक् रह गया। बेचारे का मुँह कैसा हो गया था—सो क्या बतलाऊँ ? हाथ जोड़कर बोला—'महाराजजी, क्या बात है, कृपा करके बतलाइए।' मैंने कहा—'मैं कुछ नहीं कहूँगा। हाँ भी नहीं कहूँगा और ना भी नहीं कहूँगा। कुछ कहने से मिथ्या कहना होगा। इस स्थिति में तुम्हारे कानून में जो हो वही करो। मेरा लिहाज करने की जरूरत नहीं।'

मेरी बात सुनकर बेचारे ओ० सी० ने सिर झुका लिया। मेरा पैर पकड़ा। फिर कहा—धन्य हैं आप महाराज और उसके बाद उसने अपने कर्त्तव्य का पालन किया, यानी मुझे बन्द कर दिया।"

"इसके बाद कैसे छूटे आप ?" मैंने पूछा।

"अरे! मुझे कौन पकड़ सकता है रे! मैं अगर जेल में रहूँ तो माँ को नींद नहीं आयेगी, समझे बेटा। वह अपनी गरज से मुझे छुड़ा लाई।......मगर भक्तों से बचने के लिए ही यहाँ भाग आया। इसके बाद वहाँ रहने से और भी हजारों भक्त आ जुटते। पता नहीं, मामले की जादूगरी का किस तरह प्रचार हो गया था। हाकिम के सामने सन्दूक खोला गया तो सबने देखा कि वह एकदम खाली है। एक भी नोट उसमें नहीं है। ताला जैसा बन्द किया गया था, वह ज्यों का त्यों था। सील भी नहीं टूटी थी। थाने के गोदाम में रखा गया था। तब मुझे किस वजह से रोके रहते ? हाँ, असल कल्प्रिट कौन है, यह मुझे बाद में पता लगा था और ओ० सी० से मैंने चुपचाप बतला भी दिया था। छापने की मशीन सहित वे लोग पकड़े गए थे। मेरे कारण ओ० सी० बेचारे की जो बदनामी हो सकती थी, नौकरी की खींचातानी हो सकती थी, वह बच गई।.......मगर अब यहाँ नहीं। दो-एक लोग दिखाई दे रहे हैं। अब भीतर चल।"

उठकर चलते-चलते—अब मेरा विश्वास भी बहुत कुछ बढ़ गया था और साथ में श्रद्धा हो गई थी। मैंने पूछा—"आप तो भक्तों को आने नहीं देते। तो फिर चलता कैसे है ? खर्च तो कम नहीं है ?"

"जिसकी गरज है, जिसका आश्रम है, वह चलाती हैं, माँ चलाती हैं। कहाँ से रुपया आता है ? किसी दिन भी मैंने खोज नहीं की। आज ही खोज करने क्यों जाऊँ ? रुपये की खोज यदि लेने लगूँ, आमदनी की चिन्ता करूँ तो फिर साधु कहाँ रहा बेटा ?

मगर ये जो दो भक्त सेवक हैं—इनके आने में आपने बाधा क्यों नहीं दी ? ये लोग किस आशा में पड़े हुए हैं और भले घर की वह युवती किस आकर्षण से आपके पास है ?"

अचानक साधु हो-होकर हँस पड़े। बोले—"यही जानने के लिए और भी छटपटा-कर तू मरा जा रहा है न ? ...अरे, गधे, उसकी आयु तू जितनी कम समझ रहा है, उतनी कम नहीं है। इसके अलावा समझ ले कि यह भी जन्मान्तर का सम्बन्ध है। पिछले जन्म में भी वह मेरी भैरवी थी। माँ को कुछ मजाक करने की इच्छा थी—इसीसे वह छिटककर दूसरी जगह जा पड़ी थी।...मगर और नहीं। इसी जन्म में उसका शरीर धारण करना समाप्त हो जायेगा। उसे माँ की कृपा और प्रसाद मिल गया है

ऊँचे मार्ग की साधिका है वह। सुनकर तू अवाक रह जायेगा, पर मैं रोज फूल-चन्दन अर्पण कर उसकी पूजा करता हूँ।"

"और ये दो लड़के ?"

"यह भी निश्चय ही पूर्वजन्म के संस्कार हैं। नहीं तो वे भी भला इस प्रकार क्यों पड़े रहते ? और मैं भी उन्हें क्यों नहीं भगा पाता ? निश्चय ही वे पिछले जन्म में उन्नति कर चुके हैं। इसीसे माँ ने मेरे सिर पर उन्हें थोप दिया है असल बात क्या है, जानता है ? मैं यह सब लेकर कभी सिर नहीं खपाता। माँ के होटल में रहता हूँ खूब आनन्द से, निश्चिन्त होकर। इतनी बातें जानने की जरूरत ही क्या है ?"

दरवाजे के सामने खड़े-खड़े उन्होंने अन्तिम बातें कही थीं। फिर चारों ओर देखकर बोले—"अच्छा, अब तू लौट ही जा। भीतर जाकर बैठने की जरूरत नहीं। अभी कोई नहीं देख रहा है। मगर बाद में तुझे निकलते हुए कोई देख लेगा, तो पीछे पड़ जायेगा।" कहते-कहते उन्होंने स्वयं भीतर घुसकर—और बिदा देने की बात भी कहने की चेष्टा किए बिना ही—मेरे मुँह पर खट्ट से दरवाजा बन्द कर दिया।

उसके बाद मैं फिर नहीं गया आश्रम में। जाना बेकार था। लेकिन हाँ, आरती की प्रतीक्षा करता रहा मैं कई दिनों तक। मैं उससे कुछ और बातें करना चाहता था, विशेषकर साधना के मामले में। मगर वह नहीं आयी। बहुत दिनों तक साधु महाशय का क्रोध से तमतमाया चेहरा और गूलर के फूल की तरह लाल-लाल आँखें याद आती रहीं। बहुत दिनों के बाद मालूम हुआ कि अवधूत महाशय ने फिर समाधि ले ली और अब आश्रम में कोई नहीं रहता। किसी मरघट की तरह उदास और वीरान हो गया है वह। यह सब सुनकर मन को न जाने कैसा लगा एक बार। मगर फिर धीरे-धीरे भूल ही गया सारी कथा मैं। हाँ, अन्त में आरती के सम्बन्ध में बतला दूँ, वह वाराणसी में ही पिछले चार-पाँच साल से काशीवास कर रही है। अवस्था तो उसकी बहुत हो गयी है, लेकिन देखने में अभी भी युवती-सी लगती है। भगवान् जाने कौन-सी साधना के बल पर काल के प्रभाव को रोक रखा है उसने।

●

साधक हरिराम साधू, पृ० १

साधक भवतोष स्मृतिरत्न, पृ० ४

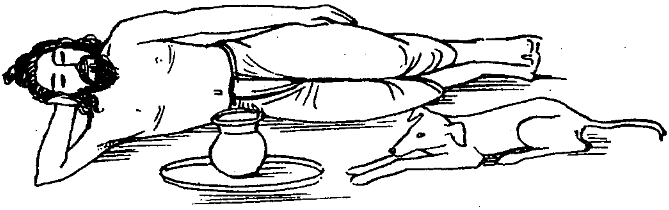

साधक रूपलाल, पृ० ८

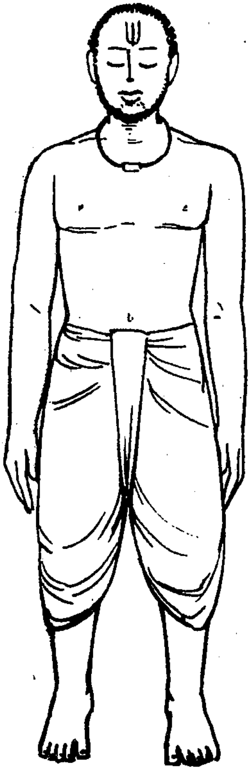

साधक रामचन्द्रा स्वामी, पृ० २३

शिवा भारती, पृ० २७

रहस्यमयी अघोरी संन्यासिनी, पृ० ४३

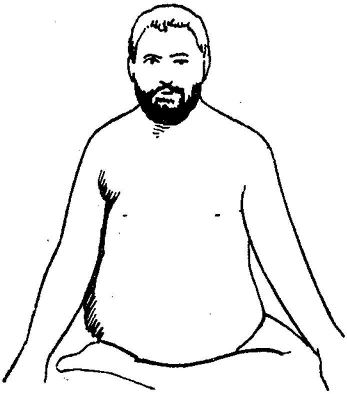

साधक ताराचन्द्र अवधूत, पृ० ६०

प्रमथनाथ भट्टाचार्य, पृ० ६७

सोमारूराम, पृ० ८४

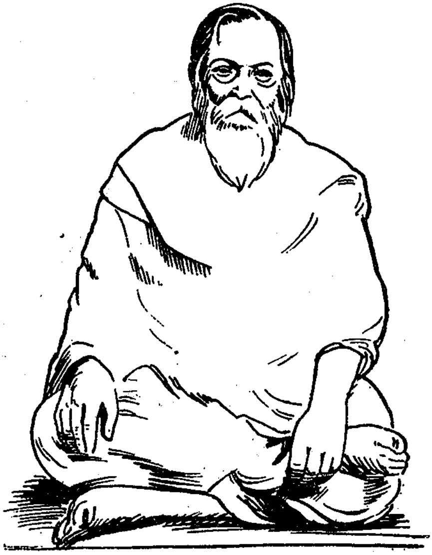

भूपेन्द्रनाथ सान्याल, पृ० १०१

ताराप्रपन्न शाक्त, पृ० १०८

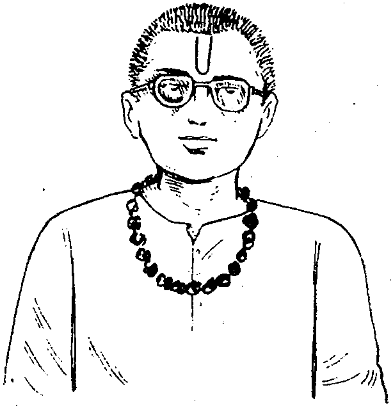

कालीपद गुहाराय, पृ० ११४

तारानाथ भट्टाचार्य, पृ. ११८

कालीचरण, पृ० १३०

कौलेश्वर ब्रह्मचारी, पृ० १३३

बटेश्वर गिरि, पृ० १४१

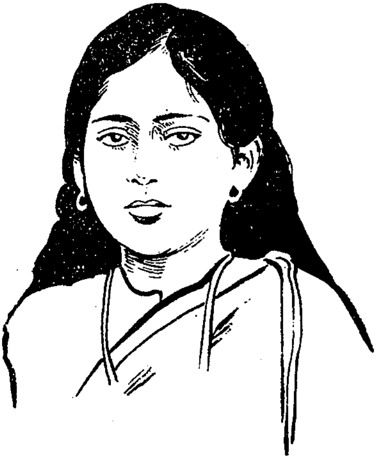

साधिका मंगला, पृ० १७२

सिद्धमाताजी, पृ० १७६

मातुलीमाया, पृ० १७७

भवानन्द, पृ० १७७

ब्रह्मयोगी, पृ० १७९

दिव्यानन्द परमहंस, पृ० १९०

हेड़ियाखान बाबा, पृ० १९२

अवधूत चारुचन्द्र, पृ० १९८

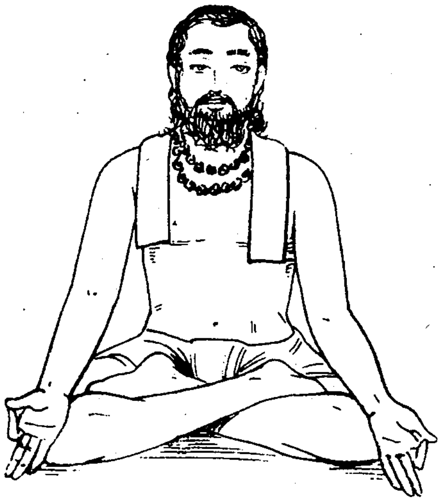

नोमानन्द, पृ० १९८

दिव्यानन्द, पृ० १९८

फँरेल साहब, पृ० २२१

सत्यानन्द, पृ० २३२

स्वरूप ब्रह्मचारी, पृ० २४९

योगानन्द, पृ० २५१

वक्रेश्वर श्मशान की सिद्ध योगिनी, पृ० ३६४

कृष्ण काली मण्डल, पृ० ३८९

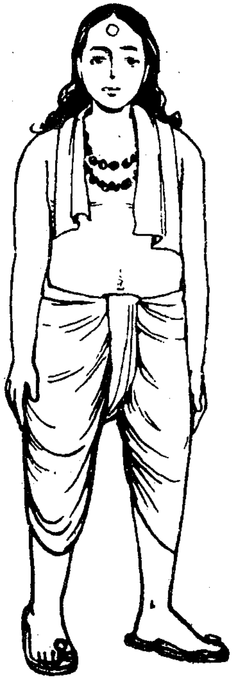

राखालचन्द्र भट्टाचार्य, पृ० ४२४

राधामाधव भिषगूरत्न, पृ० ४३३

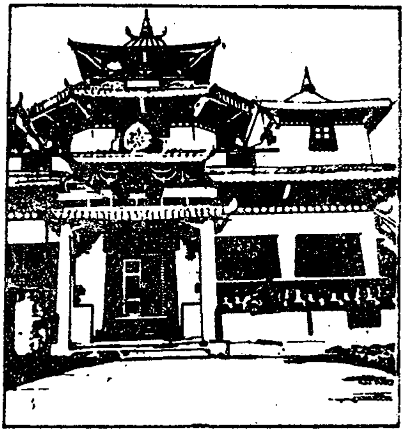

तवांग मठ, पृ० ४५७

लामा युत्सुंग, पृ० ४५९

योगेश्वरी माँ, पृ० ४६९

रहस्यमय अघोरी

स्वामी दिव्यानन्द परमहंस

काशी में प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न भाव से संचरण-विचरण करनेवाले योगी, साधकों और गुप्त रूप से निवास करनेवाले सन्त-महात्माओं की खोज के सिलसिले में स्वामी सत्यानन्द के बाद जिस महापुरुष से मेरी भेंट हुई वे थे स्वामी दिव्यानन्द परमहंस देव !

इकहरी स्वस्थ देह-यष्टि, लम्बा कद, साँवला रंग, मुण्डित सिर, शरीर पर केवल एक कौपीन, आयु यही लगभग साठ-पैंसठ। काशी के शिवालाघाट के ऊपर एक जीर्ण-शीर्ण मठ में रहते थे स्वामीजी। वे मठ के बाहर बहुत ही कम निकला करते थे। प्रायः अपने कमरे में व्याघ्र-चर्म पर पद्मासन की मुद्रा में समाधिस्थ बैठे रहते थे महाशय। उनकी दिनचर्या तो रहस्यमयी थी ही। उनका व्यक्तित्व भी कम रहस्यमय नहीं था।

बनारस स्टेट के सेक्रेटरी स्व० रमेशचन्द्र डे से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन दिनों डे बाबू चेतसिंह किले में रहते थे। प्रायः मेरा नित्य ही जाना होता था उनके यहाँ। योग-तन्त्र की गहरी रुचि रखते थे डे बाबू। उन्हींसे परिचय प्राप्त हुआ था मुझे स्वामीजी का।

डे बाबू ने मुझे बतलाया कि स्वामी दिव्यानन्द परमहंस देव तिब्बत के एक सिद्ध लामा हैं। नाम है युंग-सांग।

यह सुनकर एकबारगी चौंक पड़ा था मैं। सकपकाकर बोला—"आपका मतलब समझा नहीं मैंने।"

डे बाबू थोड़ा विनोदी स्वभाव के थे। हँसकर बोले—"आत्मा तो है तिब्बती लामा युंग-सांग की, लेकिन शरीर है किसी मृत व्यक्ति का।"

"आपके कहने का तात्पर्य यह है कि वह तिब्बती लामा परकाया-प्रवेश कर काशी-निवास कर रहा है ?"

"हाँ। ठीक समझा आपने······" डे बाबू जम्हाई लेते हुए बोले।

साधु, सन्त, महात्माओं और योगी-साधकों के प्रति काफी पैनी दृष्टि थी डे बाबू की, उन लोगों के सम्बन्ध में बहुत ही सोच-विचार और समझ-बूझकर बतलाया करते थे वह। इसलिए उनकी बातों पर विश्वास करना स्वाभाविक था मेरे लिए।

× × ×

परकाया-प्रवेश की यह दूसरी घटना थी मेरे सामने। कहने की आवश्यकता नहीं—स्वामी दिव्यानन्द परमहंस देव के दर्शन के लिए मेरा जिज्ञासु मन आकुल हो उठा एकबारगी। दूसरे ही दिन मुझे दर्शन-लाभ हुआ उनका। स्वामीजी के व्यक्तित्व में

अवर्णनीय आध्यात्मिक आकर्षण था, इसमें सन्देह नहीं। सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा मेरा। अंधकार में डूबे उनके कमरे में गहरी शान्ति बिखरी हुई थी। फिर तो मेरा नित्य का नियम हो गया स्वामीजी के यहाँ जाने का। धीरे-धीरे बहुत-सा रहस्य उजागर हुआ मेरे सामने।

लामा युंग-सांग तिब्बत स्थित 'चकपोरी मठ' से सम्बन्धित एक उच्चकोटि के सिद्ध साधक थे। 'चकपोरी मठ' में तन्त्र की गूढ़, गोपनीय और रहस्यमयी तान्त्रिक साधना की उच्च शिक्षा-दीक्षा देने की अत्यन्त गोपनीय व्यवस्था है। मठ के प्रधान आचार्य हैं ताओत्सुंग। लामा ताओत्सुंग कालजयी हैं। उनकी आयु कितनी है—यह कोई नहीं बतला सकता। वे अपनी पार्थिव काया को मठ में छोड़कर सूक्ष्म शरीर से यत्र-तत्र संचरण-विचरण किया करते हैं। इतना ही नहीं, लामा ताओत्सुंग के शिष्यगण भी शरीर की आयु समाप्त हो जाने पर—आगे की साधना के लिए अन्यत्र कहीं जन्म ले लेते हैं अथवा किसीके स्वस्थ मृत शरीर में—प्रवेश कर जाते हैं। इन दोनों स्थितियों में उनका पूर्व पार्थिव शरीर मठ में सुरक्षित रहता है। इसलिए कि वह सद्‌गुरु द्वारा दीक्षित होता है। उसका अपना मूल्य और महत्त्व होता है। अन्य शरीर में साधना पूर्ण हो जाने के पश्चात् साधक उसका त्यागकर पुनः अपने पूर्व शरीर को स्वीकार लेता है। मठ के गर्भगृह में ऐसे कई पार्थिव शरीर सुरक्षित हैं—जिनकी आत्माएँ कहीं जन्म लेकर अथवा परकाया-प्रवेश कर साधनारत हैं।

स्वामी दिव्यानन्द परमहंस देव ने बतलाया कि तिब्बत का एक साधारण व्यक्ति भी यह जानता और मानता है कि मनुष्य का शरीर एक ऊपरी आवरण है, जिसे एक अदृश्य महान् शक्ति परिचालित करती है। उसी शक्ति को आत्मा कहा गया है। आत्मा को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि जैसे मृत्यु के बाद वह शरीर छोड़कर अलग हो जाती है—उसी प्रकार नींद की अवस्था में भी अस्थायी रूप से शरीर का परित्याग कर सके। आत्मा की यह स्वतन्त्रता जब योगी और साधक की सम्पत्ति बन जाती है तब दीक्षा शरीर के जीर्ण हो जाने पर समाधि की विशेष अवस्था में उसका त्यागकर वे इच्छानुसार अनुकूल गर्भ अथवा किसीके मृत शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। वे गर्भ के बजाय परकाया-प्रवेश को अधिक महत्त्व देते हैं। इसलिए कि गर्भ-यातना न भोगनी पड़े।

थोड़ा रुककर स्वामी दिव्यानन्द परमहंस देव ने आगे कहा—"आयु तो शरीर की होती है। काल का, समय का अथवा आयु का प्रभाव तो शरीर पर पड़ता है। आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। मेरा पूर्व शरीर आज भी चकपोरी मठ में सुरक्षित है। कुछ वर्ष पश्चात् इस शरीर की नस, नाड़ियाँ और कोशिकाएँ शिथिल पड़ जायेंगी—उस समय इसका परित्याग कर मुझे पुनः अपने पूर्व शरीर को स्वीकार कर लेना होगा।"

"वर्तमान शरीर किसका है ?"

"एक ब्राह्मण का। आज से ४० वर्ष पूर्व सर्प-विष से इसकी मृत्यु हुई थी—और उसके शव को गंगा में प्रवाहित कर दिया गया था। मैं ऐसे ही शरीर की खोज में था। समाधि की अवस्था में जब मैंने इस शरीर को गंगा में बहते हुए देखा तो तत्काल पूर्व शरीर को छोड़कर इसमें प्रवेश कर गया। पहले तो थोड़ी असुविधा हुई। पर बाद में सब ठीक-ठाक हो गया। शरीर में प्रवेश करने के बाद ज्ञात हुआ कि जिस ब्राह्मण युवक का वह शरीर था—वह सम्पन्न परिवार का और अपने माता-पिता का एकमात्र पुत्र था। कुछ समय पूर्व ही उसका विवाह हुआ था। थोड़ा-सा मोह हुआ मुझे। सोचा, क्यों न उसके परिवारवालों से मिलें। कितने प्रसन्न होंगे परिवार के लोग! कितनी आनन्दित होगी उसकी विधवा पत्नी। वे लोग भला क्या जानें-समझेंगे कि शरीर में किसी और की आत्मा है। वे लोग तो पुनर्जीवित ही मानकर प्रसन्न और आनन्दित होंगे। मगर यह मोह अधिक समय तक न रहा। मैंने गंगा-स्नान किया और तीर्थयात्रा पर निकल पड़ा मैं। अब पिछले दो साल से आपकी काशी में हूँ।" इतना कहकर स्वामीजी मौन साध गयें।

तान्त्रिक साधना सम्बन्धी विविध प्रसंग

स्वामी दिव्यानन्द परमहंस देव से मेरा पूरे चार साल तक सम्पर्क रहा। इस अवधि में कई तान्त्रिक चमत्कार देखे उनके मैंने। स्वामीजी उच्चकोटि के योग-तन्त्र-साधक हैं—इस सम्बन्ध में किंचित् सन्देह नहीं रह गया था मेरे सामने। प्रायः नित्य ही जाने लगा मैं उनके यहाँ। मेरे जाने का एकमात्र उद्देश्य था—तन्त्र की विविध साधनाओं की गोपनीयता से परिचित होना।

जड़ और चेतन

एक दिन अवसर देखकर मैंने प्रश्न किया कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अलग-अलग अपना अस्तित्व रखते हैं या एक ही हैं? इसके साथ ही यह भी प्रश्न किया कि ये सब आत्मा से अलग हैं या उसके साथ हैं? वे जड़ हैं कि चेतन? क्या जड़ हैं और क्या हैं चेतन?

"यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस संसार में जड़ और चेतन—दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। जिसे हम जड़ कहते हैं—वह वास्तव में प्रसुप्त चेतन ही है। जिसे हम चेतन कहते हैं—वह जागृत जड़ ही है। दो में से अस्तित्व एक का ही है—और वह एक परमात्मा हैं। वह 'एक' जब सोया हुआ है—तब जड़ और जब जागा हुआ है—तब चेतन मालूम पड़ता है। जड़-चेतन में कोई आन्तरिक भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं। बस, नाम का भेद है।"

पदार्थ और परमात्मा

"अब विज्ञान ने भी स्वीकार कर लिया है कि जड़ अथवा पदार्थ जैसी कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि पदार्थ की गहराई में प्रवेश करने पर वह तो खो जाता है और मात्र केवल बच जाती है ऊर्जा !

"अणु-विस्फोट के बाद जो शेष बचता है—वह परमाणु है। परमाणु क्या हैं-जानते हैं—केवल ऊर्जा-कण हैं। परमाणु के विस्फोट पर जो शेष बचता है—वे केवल हैं तीन प्रकार के विद्युत्-कण—जिन्हें वैज्ञानिक भाषा में कहते हैं—इलेक्ट्रान, प्रोटान और न्यूट्रान। उन्हें 'कण' कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि 'कण' कहने से पदार्थ का ही बोध होता है। इसीलिए वैज्ञानिकों को इसके लिए एक नया शब्द खोजना पड़ा-क्वाण्टा Quanta। क्वाण्टा का मतलब दोनों होता है-कण भी और लहर भी-दोनों एक साथ।

विज्ञान और धर्म

"कण और लहर एक साथ कैसे हो सकती है ? यह समझना कठिन है। उसका स्वभाव कभी कण के रूप में तो कभी लहर के रूप में दिखाई देता है। विज्ञान की अन्तिम उपलब्धि ऊर्जा है और अध्यात्म की अन्तिम उपलब्धि 'आत्मा' है। आत्मा भी ऊर्जा है। दोनों की उपलब्धियाँ ऊर्जा ही हैं। दोनों का लक्ष्य ऊर्जा प्राप्त करना है।"

अद्वैत अस्तित्व

स्वामीजी बोले—"मेरी दृष्टि में दो का अस्तित्व नहीं है। एक ही है। तब फिर यह प्रश्न नहीं उठता कि कौन जड़ है और कौन है चेतन। जिसे चेतन की भाषा पसन्द है वह सर्वत्र चेतन ही देखेगा और जिसे जड़ की भाषा पसन्द है वह सर्वत्र जड़ ही देखेगा। पदार्थवादी और अध्यात्मवादी में एक समानता है कि वे एक को ही स्वीकार करते हैं। केवल असमानता एक है कि पदार्थवादी बहुत प्राथमिक चीज को मान लेता है और इसलिए अन्तिम से वंचित रह जाता है। अध्यात्मवादी अन्तिम को स्वीकार करता है। इसलिए पहला तो उसमें आ ही जाता है। वह कहीं जाता नहीं। इसलिए मुझे अध्यात्म की भाषा प्रीतिकर है। उसके अनुसार समस्त अस्तित्व चेतना है।"

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार

"मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चारों अलग-अलग नहीं हैं। ये मन के ही विभिन्न रूप हैं। हमारा मन बहुत तरह से व्यवहार करता है। जब वह यह कहता है कि 'वही सब कुछ' है, तब वह 'अहंकार' की तरह प्रतीत होता है। जब वह सोचता, विचारता है तब 'बुद्धि' है और जब वह न सोचता है, न विचारता है, केवल तरंगों में प्रवाहित रहता है तब वह 'चित्त' है।"

"तरंगों में प्रवाहित से आपका क्या तात्पर्य है ?"—मैंने पूछा।

"जब मन एक सुनिश्चित मार्ग पर प्रवाहित होता है—तो उसे बुद्धि कहते हैं और जब वह असंगत, असम्बद्ध और अनिश्चित मार्ग पर प्रवाहित होता है तो उसे 'चित्त' कहते हैं। यह बुद्धि और चित्त में अन्तर है। कहने का मतलब यह कि मन के बहुत ढंग हैं। लेकिन वह है मन ही।"

मन और आत्मा

"आपने पूछा है कि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और आत्मा अलग-अलग हैं या एक हैं?

"आत्मा की विक्षुब्ध अवस्था 'मन' है। मन जब शान्त हो जाता है—तब वह 'आत्मा' है। मन आत्मा की विक्षुब्ध अवस्था है और आत्मा जो है वह मन की शान्त अवस्था है। विक्षुब्ध मन विविध रूपों में प्रकट होता है—कभी अहंकार के रूप में, कभी बुद्धि के रूप में, तो कभी चित्त के रूप में।

"शरीर, मन और आत्मा—वास्तव में एक ही तत्त्व के तीन रूप हैं। एक ही तत्त्व के रूपान्तरण हैं। उस एक 'तत्त्व' को जान लेने पर द्वैतभाव समाप्त हो जाता है।"

चित्त की एकाग्रता

"योग में चित्त की एकाग्रता को सर्वप्रथम महत्त्व दिया गया है—इस सम्बन्ध में आपका विचार जानना चाहता हूँ।"—मैंने कहा।

"चित्त और एकाग्रता दो अलग-अलग बातें हैं। इसे ठीक से समझना होगा। चित्त जीवन की अनिवार्यता है। चित्त का अर्थ है विचारों का प्रवाह। इसलिए वह प्रतिपल बदलता रहता है। इसी बदलाव की चपलता के कारण उसका नाम चित्त है।

"चित्त नदी की प्रखर धारा के समान बराबर प्रवहमान है। हम एक चित्त को दुबारा नही पा सकते इसी कारण। हमारे भीतर बराबर चित्त की धारा प्रवाहित है। हमारे और जगत् के बीच में प्रवहमान चित्त है। बराबर बदलती हुई खण्ड-खण्ड चित्त की छाया हर वस्तु पर पड़ रही है। इसीलिए हमें प्रत्येक वस्तु खण्ड-खण्ड दिखलाई पड़ती है। और यही कारण है कि हमें संसार भी परिवर्तनशील दिखलाई पड़ता है। चित्त बदल रहा है—वस्तुएँ बदल रही हैं—संसार बदल रहा है। सर्वत्र अस्थिरता का ही दर्शन। चित्त की अस्थिरता और चित्त की चंचलता के ही कारण है सब कुछ।

"जानते हैं यही एकमात्र कारण है कि चंचल और अस्थिर चित्त के द्वारा—उसे नहीं जाना जा सकता—जो कभी बदलता नहीं, जो सदैव स्थिर है अपरिवर्तनशील है। बदलती हुई चीज के माध्यम से हम जो भी जानेंगे—वह भी बदलता हुआ ही दिखाई पड़ेगा।

"आपका मन प्रतिपल बदल रहा है। इसी कारण मन से हम केवल उसीको जान सकते हैं—जो बदल रहा है। मन से उसे नहीं पा सकते जो कभी नहीं बदलता है।

जीवन का जो परमगुह्य सत्य है—वह अपरिवर्तनीय है—वह शाश्वत है—वह कभी नहीं बदलता। इसलिए चित्त उसे जानने का मार्ग नहीं है। साधन नहीं है।

"जगत् की जो पदार्थ सत्ता है–वह बदलती रहती है—वह मन की ओर ही बदलती है। इसलिए मन में जगत् के पदार्थ को जाना जा सकता है। लेकिन जगत् में छिपे हुए परमात्मा को नहीं जाना जा सकता। जैसे विज्ञान अपनी खोज के लिए मन का उपयोग करता है। मन के माध्यम से सत्य की खोज में प्रवृत्त होता है। इसलिए विज्ञान कभी भी नहीं कह पायेगा कि 'परमात्मा' है। वह हमेशा कहेगा कि पदार्थ है। इसका मतलब यह नहीं कि 'परमात्मा' का अस्तित्व नहीं है। परमात्मा का अस्तित्व तो अपने स्थान पर है ही। विज्ञान को 'परमात्मा' के अस्तित्व का पता इसलिए कभी भी नहीं लग सकेगा कि वह जिस माध्यम का उपयोग करता है—वह माध्यम केवल परिवर्तनशील वस्तु या पदार्थ को ही जान सकता है।

"चित्त परिवर्तनशील है। इसलिए वह परिवर्तनशील को ही जान पायेगा। अपरिवर्तनीय को कभी भी जान नहीं पायेगा। इसलिए जो लोग 'मन' के माध्यम से परमात्मा की खोज में निकलते हैं—वे एक न एक दिन नास्तिक हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं। उसकी आस्तिकता वैसी ही झूठी है—जैसे बहरा आदमी कहे कि मैंने आँख से संगीत सुना है—या अन्धा आदमी कहे कि मैंने कान से रूप देखा है।

"संसार में सभी धर्मों के आस्तिक दिखाई देंगे। लेकिन सच्चा आस्तिक मिलना कठिन है। अगर आपके भीतर भी आस्था है तो उसका आधार मन है। आपकी आस्था के पीछे आपका सोच, विचार और तर्क होता है। सोच, विचार और तर्क से कोई आस्तिक नहीं होता। उसकी आस्तिकता झूठी ही होती है। क्योंकि माध्यम ही अपरिवर्तनीय को पकड़नेवाला नहीं है। अपने को धोखा दे तो बात अलग। अपनी आस्तिकता पर गम्भीरता से सोचें। आप परमात्मा को मानते हैं। लेकिन यह भी सोचिये कि आपका 'मानना' तर्क, अनुमान, विचार, शास्त्र, परम्परा और सिद्धान्त से निकला है। परमात्मा के प्रति आपकी श्रद्धा, आपका विश्वास और आपकी भक्ति के मूल-स्रोत ये ही हैं और इनसे आविर्भूत होनेवाले परमात्मा की सत्ता वास्तविक नहीं होती, क्योंकि आपके मन से परमात्मा निकल ही नहीं सका है।

"हम जिन्हें आस्तिक समझते हैं—वे वास्तव में छिपे हुए नास्तिक हैं। उनकी आस्तिकता में कोई बल नहीं। वे निर्वीर्य हैं। नपुंसक हैं। जरा-सी चोट से उनकी सारी आस्तिकता समाप्त हो जानेवाली होती है।

"आस्तिक तो तभी कोई होता है—जब मन को हटाकर संसार को देखता है। उस अवस्था में संसार नहीं दिखाई देता। क्योंकि संसार परिवर्तनशील है—हम भी परिवर्तनशील हैं—इसलिए परिवर्तनशील मन के हटते ही परिवर्तनशील संसार का न दिखाई

पड़ना स्वाभाविक है । मन के अस्तित्व को हटते ही चेतना सामने आ जाती है और जब चेतना देखती है तो संसार नहीं दिखाई देता–दिखाई देता है वह जो अपरिवर्तनीय है ।

"चेतना शाश्वत है । अपरिवर्तनीय है । चेतना से हमारा तात्पर्य आत्मा से है । आत्मा ही चेतना है । मन के हटते ही आत्मा सामने आ जाती है । फिर आत्मा के द्वारा जो दिखाई देता है—वह परमात्मा है ।"

"आपके कहने का तात्पर्य यह है कि मन संसार को देखता है और आत्मा संसार के स्थान पर परमात्मा को देखती है । मन और संसार परिवर्तनशील हैं । इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा परिवर्तनशील हैं । जो जिस स्वभाव का है—उसे उसी स्वभाव-वाले का दर्शन होता है । जिसने मन से देखा—उसे सर्वत्र संसार ही दिखाई दिया और जिसने आत्मा से देखा—उसे सर्वत्र परमात्मा का दर्शन हुआ ?"

स्वामीजी ने कहा—"परमात्मा परमसत्य है । वेद, उपनिषद् आदि के रूप में उस परमसत्य का अवतरण हजारों साल पहले आत्मा के द्वारा ही हुआ है—मन के द्वारा नहीं । इसलिए वेद, शास्त्र, पुराण, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि के सिद्धान्त शाश्वत और अपरिवर्तनीय हैं । मन को छोड़ते ही हम उस जगत् में प्रवेश करते हैं—जो शाश्वत है, सनातन है और है अपरिवर्तनीय ! जहाँ समय ठहर गया है । काल के चरण रुक गये हैं । जहाँ काल की गति नहीं है ।

"भारत की मौलिक खोज यही है कि 'अस्तित्व' को मन के बिना भी जाना जा सकता है । धर्म और विज्ञान में यही अन्तर है । विज्ञान का कहना है कि जो भी जाना जा सकता है—वह मन से जाना जा सकता है । धर्म का कहना है कि मन से जो भी जाना जाता है—वह भ्रम है । लगभग सत्य है । मन के पार जो जाना जाता है—वही सत्य है । वही है शाश्वत । मन के पार ही वास्तविक 'जानना' सम्भव होता है ।"

"तो चित्त को कैसे मिटा दिया जाय ? कैसे शून्य कर दिया जाय ? कैसे शान्त कर दिया जाय ?"—मैंने प्रश्न किया ।

"यह बात समझने की है ।" स्वामीजी बोले—"एकाग्रता चित्त का स्वभाव नहीं है । आप एक क्षण भी चित्त को एकाग्र करें—वह एकाग्र न होगा । उसमें से भी प्रवाह खोज ही लेगा और चिन्तन करने लग जायेगा ।"

ध्यान और चिन्तन

"ध्यान का अर्थ है—चिन्तन का ठहर जाना—रुक जाना—प्रवाह का थम जाना । एकाग्रता का अर्थ है 'एक ही रह जाय' । उसके सम्बन्ध में फिर कोई चिन्तन न रहे ।

"लेकिन मन के लिए एकाग्र होना असम्भव है । उसके स्वभाव के प्रतिकूल है । अगर उसके स्वभाव के प्रतिकूल आप उसे एकाग्र करने का प्रयत्न करेंगे तो काफी संघर्ष करना पड़ेगा आपको । फिर भी सफलता नहीं मिलेगी । यह बात आपको विचित्र

लगेगी कि जब मन एकाग्र होनेवाला नहीं है तो फिर उसे एकाग्र करने के लिए क्यों कहा जाता है। क्यों उसके लिए प्रयत्न किया जाता है ? एकाग्र होने का मतलब है मन का नाश। मन एकाग्र नहीं होता। एकाग्रता से मन का नाश अवश्य होता है। मन के अस्तित्व का नाश होना—एकाग्रता है।

"एकाग्रता और मन विपरीत घटनाएँ हैं। विपरीत की चेष्टा करने से मन मर जाता है। उसका नाश हो जाता है।"

चित्त की एकाग्रता और परमात्मा

"उपनिषद् का कहना है कि विकल्प और भेद का मूल एकमात्र चित्त है। चित्त न हो तो कोई भेद नहीं। इसलिए परमात्मा से चित्त को एकाग्र करने के लिए कहा गया है।"

"एकाग्रता से परमात्मा का क्या सम्बन्ध है ?"—मैंने प्रश्न किया। स्वामीजी बोले—"परमात्मा का अस्तित्व है या नहीं—यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—चित्त की एकाग्रता। चित्त को किसी भी वस्तु पर एकाग्र किया जा सकता है। चाहे वह वस्तु कल्पित हो या वास्तविक। यह आवश्यक नहीं है कि किसी वास्तविक वस्तु पर करेंगे—तभी चित्त एकाग्र होगा। इसलिए उपनिषद् यह नहीं कहता कि पहले परमात्मा को खोजो—फिर चित्त को एकाग्र करो। आपकी दृष्टि में परमात्मा काल्पनिक हो या वास्तविक हो—इसकी कोई चिन्ता नहीं। अगर काल्पनिक बिन्दु पर भी चित्त एकाग्र हो जाय तो भी मन का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा—और उसका दर्शन शुरू हो जायेगा—जो वास्तविक है।

"ध्यान के मार्ग में जो साधक अग्रसर होता है—उसके लिए परमात्मा भी एक कल्पित बिन्दु ही है। एक काल्पनिक वस्तु है। एक काल्पनिक आधार है। इसका मतलब यह नहीं है कि परमात्मा के अस्तित्व को अस्वीकार कर रहा हूँ मैं। ध्यान-मार्ग पर चलनेवाले साधक के लिए अभी नहीं है उसका अस्तित्व। मेरे कहने का तात्पर्य यह है। उसके लिए परमात्मा का वह काल्पनिक अस्तित्व 'राम' भी हो सकता है। 'कृष्ण' भी हो सकता है। कुछ भी हो सकता है।

"आप चित्त को किस पर एकाग्र कर रहे हैं—इसका महत्त्व नहीं है—महत्त्व यह है कि आप एकाग्र कर रहे हैं। इसलिए सारे धर्म काम में आ जाते हैं। ध्यान-मार्ग के पथिक के लिए धर्म के सिद्धान्तों में कोई भी मतभेद हो—कोई अन्तर नहीं पड़ता। धर्म और उसके सिद्धान्तों के मतभेद से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसका सम्बन्ध मात्र आधार से होता है—आधार के रूप और नाम से नहीं। धर्म का जो विज्ञान है—धर्म की जो प्रक्रिया है—उसका मूल्य आप किस वस्तु पर एकाग्र कर रहे हैं—उससे है ही नहीं, वह असंगत है। महत्त्व यही है कि आप एकाग्र कर रहे हैं—अ, ब, स—कुछ भी हो—आप एकाग्र कर रहे हैं। एकाग्र करने की प्रक्रिया में ही

मनोनाश हो जाता है। और मनोनाश होकर जो जाना जाता है—उसका नाम—न राम है—न कृष्ण है—न अल्लाह है—और न तो है–याहवे। एक योगी के लिए—जो ध्यान-मार्ग पर अग्रसर है—ये सारे के सारे नाम कल्पित हैं—अनुपयोगी हैं। यह बड़ी क्रान्तिकारी बात है।''—स्वामीजी बोले—"साधारण धार्मिक व्यक्ति की समझ में नहीं आता कि उसके राम, उसके कृष्ण, उसकी मूर्तियाँ, उसके मन्दिर—सब काल्पनिक हैं। काल्पनिक का अर्थ 'झूठे' नहीं है। काल्पनिक का अर्थ है—उनका उपयोग किया जा सकता है—उनका आश्रय लेकर ध्यान की मात्रा शुरू की जा सकती है। उनका आधार लेकर साधना, उपासना का मार्ग निश्चित किया जा सकता है। जब यात्रा समाप्त हो जाती है—जब साधना, उपासना का लक्ष्य पूरा हो जाता है—तब पता चलता है कि उनके बिना भी यात्रा हो सकती थी—उनके बिना भी लक्ष्य पर पहुँचा जा सकता था। अन्त में यह भी पता चलता है कि यात्रा, साधना, उपासना आदि दूसरे नामों से भी सम्भव था। लेकिन शुरू में इसका पता नहीं चलता।

"प्रत्येक धर्मवाले अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुसार यात्रा पर चलते हैं। साधना, उपासना आदि का मार्ग अपनाते हैं। जब वे अपने लक्ष्य पर पहुँचते हैं—तब न हिन्दू रह जाते हैं—न मुसलमान रह जाते हैं—न ईसाई रह जाते हैं—और न तो रह जाते हैं यहूदी ही। सभी उस लक्ष्य पर पहुँचकर केवल धार्मिक रह जाते हैं।''

योग का साक्षी शब्द

"योग में 'साक्षी' शब्द का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। साक्षी के विषय में आपका क्या विचार है?''—मैंने प्रश्न किया।

स्वामीजी बोले—"मनोनाश होने पर—हमें जिस अपरिवर्तनीय शाश्वत तत्त्व का साक्षात्कार होता है—और जिसे आत्मा की संज्ञा दी गयी है—योग उसे 'साक्षी' कहता है। योग की दृष्टि में 'साक्षी' शब्द बड़ा मूल्यवान् है। हमारे देश का सारा चिन्तन—सारी मनीषा—सारी प्रतिभा—इस छोटे से शब्द में निहित है। इससे महत्त्वपूर्ण शब्द हमारे देश ने संसार को दूसरा नहीं दिया है।''

"साक्षी का मतलब क्या है?''

"साक्षी का मतलब है—देखनेवाला—गवाह, द्रष्टा! मैं शरीर नहीं हूँ। मैं मन नहीं हूँ। मैं यह नहीं हूँ। मैं वह नहीं हूँ। इस प्रकार—ऐसा कौन है—जो इन्कार करता चला जाता है बराबर! एक तत्त्व है हमारे भीतर जो इस प्रकार बराबर इन्कार करता जाता है। और वह वही तत्त्व है—जिसे हमने द्रष्टा, साक्षी और अपरिवर्तनीय शाश्वत तत्त्व कहा है।

"जो देख रहा है—जो द्रष्टा है—वह साक्षी है—और जो दिखलाई दे रहा है—

वह जगत् है । जो देख रहा है—वही है 'मैं' ! 'मैं' जो देख रहा है—वह है जगत् । 'मैं' शब्द का प्रयोग 'साक्षी' के लिए है । लेकिन सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जो देखनेवाला है—वह कभी भी दिखाई नहीं पड़ सकता, क्योंकि वह किसको दिखाई देगा । आप जगत् को और जगत् की सारी वस्तुओं को देख सकते हैं—केवल अपने-आपको छोड़कर । आप अपने को कैसे देखियेगा ? क्योंकि देखने में दो की आवश्यकता पड़ेगी । हम अपने-आपको छोड़कर सब कुछ देख सकते हैं । जिसे हम देख लेंगे—समझ लें—वह हम नहीं हैं । हम अपने भीतर ईश्वर का दर्शन कर लें—प्रकाश देख लें, आनन्द का अनुभव कर लें तो समझ लेना चाहिए कि वह सब हम नहीं हैं । जो वस्तु अनुभव बन जाती है उससे हम पार हो जाते हैं । इसलिए 'अध्यात्म' कोई अनुभव नहीं है । अध्यात्म का मतलब है—उस तरफ पहुँच जाना जिसको सब अनुभव होता है और जो स्वयं कभी अनुभव नहीं बनता—अनुभोक्ता—साक्षी, द्रष्टा ।"

× × ×

नेति-नेति

"योग की व्यवस्था, प्रक्रिया और विधि यही है—नेति, नेति ।" स्वामीजी ने थोड़ा रुककर आगे कहा—"जो भी दिखाई पड़ जाय—जो भी अनुभव में आ जाय—कहिए कि यह नहीं—समझिए कि यह नहीं । एक समय अन्त में ऐसा आयेगा कि कुछ भी अस्वीकार करने के लिए शेष नहीं रह जायेगा । राग, द्वेष, सुख, दुःख और सारी कामनाओं और सारी वासनाओं के अनुभवों के पार तो हो ही जायेंगे । आनन्द, समाधि आदि के भी अनुभव विलीन हो जायेंगे । सबके अन्त में शेष रह जायेगा—साक्षी । उसके बाद कुछ भी नहीं रह जायेगा । यदि कुछ शेष रहेगा भी तो केवल शून्य, परमशून्य केवल आकाश जिसके बीच में रह जायेगा बस, साक्षी ।"

आत्म-अनुभव

"जब कोई भी अनुभव, कोई भी दर्शन, कोई भी दृश्य और कोई भी विषय शेष नहीं रह जाता, केवल रह जाता है मात्र साक्षी, उस अवस्था में 'क्या' होता है ? इसका उत्तर देने के लिए कोई शब्द नहीं है । कोई भाषा भी नहीं है । यही वह स्थान है—जहाँ 'नेति', 'नेति' कहा गया है । यानी नहीं जानते—नहीं जानते । क्योंकि हमारे पास अनुभव के सिवाय और कोई शब्द नहीं है । इसलिये इसे हम कहते हैं—'आत्म अनुभव' या 'ब्रह्म अनुभव' । लेकिन ये दोनों शब्द भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि अनुभव उसी जगत् का शब्द है—जिसको हमने तोड़ डाला । अनुभव उस 'द्वैत' के जगत् में अर्थ रखता है—जहाँ दूसरा भी था । यहाँ अब कोई अर्थ नहीं रखता । यहाँ केवल अनुभोक्ता बचा—साक्षी बचा, द्रष्टा बचा ।"

साक्षी की खोज ही अध्यात्म है

"ध्यान देने की बात है—ईश्वर की खोज 'अध्यात्म' नहीं है। पुराने योगसूत्रों में कहीं भी ईश्वर की चर्चा नहीं की गयी है। ईश्वर के सम्बन्ध में कोई भी बात नहीं उठाई गयी है। इसकी आवश्यकता नहीं थी। कालान्तर में ईश्वर की चर्चा की भी गयी—बात उठायी भी गयी तो उसे 'अध्यात्म' का साधन बतलाया गया—साध्य नहीं। कहा गया कि 'ईश्वर'—साधना में सहयोगी और अध्यात्म की खोज में सहायक है। उपकरण मात्र है। एक विधि है। बस ! इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

"इसीलिए बुद्ध, महावीर जैसे लोगों ने एकबारगी ईश्वर को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने दूसरी विधियाँ खोज लीं। उन्होंने कहा—इस विधि की कोई आवश्यकता नहीं। अगर 'ईश्वर' विधि ही है तो किसी दूसरी विधि से भी काम चल सकता है।

"लेकिन जहाँ तक प्रश्न साक्षी का है—उसे वे लोग अस्वीकार न कर सकें। ईश्वर को, परमेश्वर को, भगवान् को, यहाँ तक कि सब कुछ को अस्वीकार किया जा सकता है, मगर साक्षी को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि साक्षी 'धर्म' का विषय है। जहाँ 'साक्षी' की चर्चा न हो—वहाँ समझ लेना चाहिए कि उस विषय से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। वहाँ सब गौण है। सब बातों में मतभेद सम्भव है। साक्षी के विषय में किसी भी प्रकार का मतभेद सम्भव नहीं। इसलिए भविष्य में कभी धर्म का विज्ञान निर्मित होगा—तो उसमें ईश्वर, परमेश्वर, ब्रह्म आदि की चर्चा न होगी, क्योंकि ये सब स्थानीय बातें हैं। कोई धर्म मानता है तो कोई धर्म नहीं मानता ईश्वर, परमेश्वर और ब्रह्म को। लेकिन उस समय साक्षी की चर्चा अवश्य होगी धर्म-विज्ञान में। इसलिए कि साक्षी स्थानीय घटना नहीं है। साक्षी के बिना धर्म का अस्तित्व सम्भव नहीं। समस्त धर्म के अनुभव की खोज की और यात्रा की एकमात्र आधारशिला है 'साक्षी'। और इसी साक्षी के चारों ओर वेद, उपनिषद्, शास्त्र, पुराण और उनके सारे सिद्धान्त घूमते हैं। सभी उसीकी ओर संकेत करते हैं। जैसा कि मैंने कहा—साक्षी की खोज अध्यात्म है और योग की चरम उपलब्धि है—साक्षीभाव। साक्षीभाव को उपलब्ध योगी स्वयं का मालिक और स्वयं का स्वामी होता है। अपने का मालिक अथवा स्वामी होने का मतलब है अपनी आत्मा पर, अपने मन पर, अपने शरीर पर और अपने से सम्बन्धित प्रकृति पर अधिकार हो जाना।"

× × ×

"साक्षी की खोज करनेवाले मुमुक्षु की एकमात्र यही धारणा होती है कि वह सदा साक्षी है—कभी कर्त्ता नहीं। कर्त्ता का भाव उसमें नहीं होता। साक्षी का भाव होता है। वह न कर्त्ता समझता है अपने-आपको और न तो समझता है अपने-आपको भोक्ता ही। वह समस्त वस्तुओं के ऊपर से अपनी वासना का–अस्मिता का–और मेरे मन का

भाव छोड़ देता है। वह भीतर उस तीसरे बिन्दु पर अन्त में पहुँच जाता है—जिसके आगे हटने का फिर कोई उपाय नहीं रह जाता।''

तीन बिन्दु

"आपने 'तीसरे' बिन्दु का नाम लिया है-शेष दो बिन्दु क्या हैं ?''-मैंने प्रश्न किया।

स्वामीजी बोले—"तीनों बिन्दुओं को इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे—आप बोल रहे हैं—मैं सुन रहा हूँ—इसमें एक बिन्दु आप हैं और दूसरा बिन्दु 'मैं' हूँ। फिर भीतर आप कौन हैं—जो कि दोनों को अनुभव कर रहे हैं—बोलनेवाले को भी और सुननेवाले को भी ? आप तीसरे हो गये—यही तीसरा बिन्दु है—यही साक्षी है। इस तीसरे बिन्दु के पार नहीं जाया जा सकता, क्योंकि वह आखिरी बिन्दु है। ये तीनों बिन्दु वास्तव में जीवन का त्रिकोण है। प्रथम दो बिन्दु हैं—विषय और विषयी और तीसरा बिन्दु है—इन दोनों का साक्षी। दोनों का अनुभव करनेवाला। दोनों को देखनेवाला।''

लोक-अनुसरण का त्याग

स्वामीजी ने कहा—"ऐसा मुमुक्षु—जब साक्षीभाव का अनुभव करने लग जाता है—तो फिर लोक का अनुसरण करना छोड़ देता है।''

"लोक का क्या अर्थ है ?''—मैंने प्रश्न किया।

"लोक का अर्थ है—समाज, संस्कृति, सभ्यता और चारों तरफ की भीड़।

"जब तक साक्षी का अनुभव परिपक्व नहीं हो जाता है—तब तक योग-मार्ग के पथिक मुमुक्षु के लिए लोक-अनुसरण का त्याग खतरनाक है। इसलिए कि लोक के साथ नियम, नीति, मर्यादा, व्यवस्था और अनुशासन जुड़ा हुआ होता है। जो अपना अभी मालिक नहीं है—निश्चित ही समाज उसका मालिक होगा। उसको नियन्त्रित करनेवाला होगा। अनुशासित करनेवाला होगा। अगर ऐसा न हो तो अराजकता फैल जायेगी। सारी सामाजिक व्यवस्था विक्षिप्त और पंगु हो जायेगी।

"जब मुमुक्षु को अपने होने का यानी साक्षी का अनुभव हो जाता है—तब वह स्वयं का मालिक और स्वयं का स्वामी है। ऐसे ही सन्त-महात्माओं और योगी-साधकों के लिए—जिन्हें साक्षीभाव उपलब्ध हो गया है—'स्वामी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्वामी रामतीर्थ, स्वामी योगानन्द, स्वामी रामकृष्ण आदि के लिए 'स्वामी' शब्द का प्रयोग इसीलिए हुआ है कि वे लोग साक्षीभाव को उपलब्ध थे।''

●

साधक स्वरूप ब्रह्मचारी

स्वामी दिव्यानन्द परमहंस देव के पश्चात् मैं जिस महापुरुष से प्रभावित हुआ—वे थे साधक स्वरूप ब्रह्मचारी। आयु ८०-८५ के लगभग थी, मगर शरीर से स्वस्थ थे। दुग्धाहारी थे। दिन में केवल एक बार आधा सेर दूध मात्र लिया करते थे। उन दिनों मीरघाट के एक मठ में रहा करते थे वह। बहुत कम बोलते थे। लोक-सम्पर्क से अप्रभावित साधनामय जीवन था उनका। स्वामीजी से जो चर्चा हुई थी—उसने मुझमें योग के विषय में गहरी रुचि जागृत कर दी थी जिसके फलस्वरूप अनेक जिज्ञासाओं, अनेक प्रश्नों और अनेक शंकाओं की सृष्टि हो गई थी मेरे मन-मस्तिष्क में। तभी मेरी भेंट हुई ब्रह्मचारीजी से। सायंकाल का समय था। ब्रह्मचारीजी जमीन पर बिछे कम्बल पर लेटे हुए थे। अपने आने का उद्देश्य बतलाया और फिर चरणस्पर्श कर एक तरफ बैठ गया मैं। ब्रह्मचारीजी बहुत देर तक मेरी तरफ अपलक निहारते रहे—फिर मन्द स्वर में बोले—"केवल प्रश्न और जिज्ञासा ही है कि कुछ साधना-वाधना भी करते हो ?" यह सुनकर एकबारगी संकोच से भर गया मैं। मगर उत्तर तो देना ही था। कहा—"हाँ, थोड़ा-बहुत योगाभ्यास करता हूँ। साधना में कहाँ तक गति है, इसमें मैं स्वयं अपरिचित हूँ। इसे तो आप जैसे महात्मा ही समझ सकते हैं।" ब्रह्मचारीजी अपना दाहिना हाथ उठाकर मन्द स्वर में बोले—"ठीक है, ठीक है। क्या जानना-समझना चाहते हो ? कौन-सी जिज्ञासा है ?"

ब्रह्मचारीजी परमयोगी हैं। निर्विकल्प अवस्था प्राप्त है उन्हें। प्रायः सहज समाधि की अवस्था में रहते हैं वह। यह सब उनके सम्बन्ध में बतलाया गया था मुझे। सहज भाव से मैंने प्रश्न किया—"आपकी दृष्टि में योग की उपलब्धि यानी चरम प्राप्तव्य क्या है ?"

मेरा प्रश्न सुनकर ब्रह्मचारीजी कुछ देर तक मौन रहे। फिर बोले—"भौतिक शरीर में योग की चरम उपलब्धि है निर्विकल्प समाधि और शरीरान्त के पश्चात् योग की चरम उपलब्धि है निर्वाण। पहली उपलब्धि का विषय महामुनि पतञ्जलि के योग का विषय है और दूसरी उपलब्धि के विषय का सम्बन्ध है भगवान् श्रीकृष्ण की गीता से।"

"योग के कितने मार्ग हैं ?"

"केवल दो। पहला है—भगवान् श्रीकृष्ण का मार्ग और दूसरा है—महामुनि पतञ्जलि का मार्ग। पहले मार्ग का एकमात्र लक्ष्य है—संसार में किस प्रकार रहना

चाहिए ? और दूसरे मार्ग का एकमात्र लक्ष्य है—संसार पर विजय कैसे प्राप्त करनी चाहिए ?"

"महामुनि पतञ्जलि के योग-मार्ग के मुख्य विषय क्या हैं ?"

"आनन्द, वैराग्य, ज्ञान, उपरति और शान्ति।"

आनन्द

"आपका आनन्द से क्या तात्पर्य है ?"

"मेरा तात्पर्य आत्मानन्द से है। यह शब्द योगशास्त्र में बहुत प्रचलित है। 'आनन्द' चार प्रकार का है—आत्मानन्द, सहजानन्द, नित्यानन्द और परमानन्द। इसमें 'आत्मानन्द' मुख्य है और अन्य उसीकी क्रमिक उपलब्धियाँ हैं। बिना किसी कारण के उपलब्ध आनन्द ही वास्तविक तथा शाश्वत आनन्द है।"

"बिना कारण का आनन्द—समझ में नहीं आया। बिना कारण के तो कुछ भी सम्भव नहीं है।"—मैंने कहा।

ब्रह्मचारीजी बोले—"हम स्वाद लेते हैं-रस लेते हैं—कभी-कभी सुख भी पाते हैं—और इन सबमें आनन्द का अनुभव करते हैं—लेकिन सदैव दूसरे में—अपने-आपमें नहीं। कभी आपने—अपने-आपमें स्वाद लिया है ? रस लिया है—सुख लिया है—और लिया है आनन्द ?

"नहीं लिया होगा—कभी नहीं लिया होगा। कभी सोचा भी न होगा इस सम्बन्ध में। इसलिए कि आप अपनी ओर ध्यान ही नहीं देते।

"योग कहता है कि साधक को धीरे-धीरे दूसरे में रस लेना छोड़कर अपने में रस लेना चाहिए। खाली बैठे हैं। अकेले बैठे हैं। उस समय आप कभी भी आनन्द का और प्रसन्नता का अनुभव नहीं करते। आप सोचते हैं—कोई मित्र आ जाय—कोई प्रेमी आ जाय—कोई अपना आ जाय—तो थोड़ा आनन्द मिले। थोड़ी प्रसन्नता प्राप्त हो। अकेले में उदासी छाने लगती है आपको। ऊबने लगते हैं आप।"

ब्रह्मचारीजी बोले—"कोई अपने-आपको पसन्द करता ही नहीं। आश्चर्य की बात है। सभी लोग यही चाहते हैं कि दूसरे उनको पसन्द करें। वे अपने को पसन्द करना नहीं चाहते। उन्हें अपने-आपसे कोई मतलब नहीं है। उनका ध्यान अपनी ओर कभी जाता ही नहीं। वे अपने से ऊबे रहते हैं। अपने से उदास रहा करते हैं और रहा करते हैं विरक्त।

"आप चाहते हैं कि दूसरा आपको देखकर प्रसन्न हो। आनन्दित हो। आप भी यही चाहते हैं कि आप किसीको देखकर प्रसन्न और आनन्दित हों। दूसरे के आनन्द में और दूसरे की प्रसन्नता में आप अपने आनन्द और अपनी प्रसन्नता का दर्शन करना

चाहते हैं। मगर यह कैसे सम्भव होगा ? यह तो असम्भव है। आप यही सोचते हैं कि दूसरे को आनन्द दें—प्रसन्नता दें। मगर कभी आपने यह भी सोचा-विचारा है कि जब आप अपने-आपको आनन्द और प्रसन्नता नहीं दे पाते तो दूसरे को भला कैसे दे पायेंगे। जो वस्तु आपके पास नहीं है—उसे किसी और को देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

"योग का कहना है कि अपने-आपमें, अपने स्वभाव में रस का, स्वाद का, आनन्द का अनुभव करें। एकान्त में अकेले बैठे हैं—अपने-आपमें आनन्दित होइये—प्रसन्न होइये—प्रफुल्ल होइये। कारण स्वयं बनिये। जानते हैं आप, इसीको फकीरों ने 'मस्ती' कहा है और योगियों ने कहा है 'आनन्द'।

"मस्ती का मतलब है कि कोई कारण न हो, लेकिन फिर भी मस्त हो रहे हैं, आनन्दित हो रहे हैं, प्रसन्न हो रहे हैं। भीतर-ही-भीतर कोई रस की धारा प्रवाहित हो रही है। अपने-आपमें ही आनन्द ले रहे हैं। स्वयं अपने ही ले रहे हैं। स्वयं कारण बन रहे हैं। दूसरा कोई कारण नहीं बन रहा है। 'मस्ती' का एकमात्र सूत्र यही है कि अपने सुख, अपने आनन्द और अपनी प्रसन्नता, अपनी प्रफुल्लता को दूसरे से मत जोड़िये। अपने-आपसे जोड़िये। अगर दूसरे से जोड़ेंगे तो उसका सारा दुःख, सारा क्लेश और सारा कष्ट भी आपसे जुड़ जायेगा। जो व्यक्ति दूसरे से अपने सुख को जोड़ता है—उसका सुख भी दूसरे से जुड़ जाता है।

"अपने सुख को कभी भी दूसरे से मत जोड़िये। उसे अपने से जोड़िये। कठिन अवश्य लगेगा कि बिना कारण के कैसे प्रसन्न हों। कैसे आनन्दित हों। कोई कारण सामने है ही नहीं।

"आपने कभी किसी पागल को बिना किसी कारण के हँसते हुए, प्रसन्न होते हुए, प्रफुल्ल होते हुए देखा होगा। इसलिए मस्तों में, योगियों में और पागलों में फर्क करना कठिन हो जाता है। जिनको हमने 'मस्त' कहा है—उनमें से कितने लोग, ठीक उन जैसे लोग, पागलखानों में पड़े सड़ रहे हैं, क्योंकि उनके पास विभाजन करने का कोई उपाय नहीं है। आदमी पागल मालूम पड़ता है, क्योंकि उन्होंने इस बात को स्वस्थ होने की परिभाषा बना ली है कि सुख बिना कारण के सम्भव नहीं। सुख कारण से होता है—तो आपका मस्तिष्क ठीक है और अकारण सुख हो रहा है, अकारण आनन्दित हो रहे हैं तो आपका दिमाग खराब है। आप पागल हैं, क्योंकि बिना कारण के सुख अथवा आनन्द कैसे सम्भव है। लेकिन मस्ती की परम्परा कहती है कि कारण से सुख हुआ ही नहीं, लेकिन भ्रम होता है सुख का। कारण से सदा दुःख ही मिलता है। इसे समझ लें। इसका अपना पूरा मानसशास्त्र है। जब आप कारण में सुख खोजते हैं—किसी वस्तु में, किसी घटना में, किसी व्यक्ति में—तो उसका अन्तिम परिणाम सिवाय दुःख और पीड़ा के और कुछ नहीं होता। दुःख-ही-दुःख होता चला जाता है बराबर।

"पत्नी-पति में, पति-पत्नी में, बेटा-माँ में, माँ-बेटे में, बाप-बेटे में, बेटा-बाप में—सुख खोजता है। कोई धन में, कोई पद में, कोई प्रतिष्ठा में सुख खोजता है। कोई कहीं और······। अपने को छोड़कर हम सर्वत्र खोजते हैं सुख। सारा प्रयास खोजने में लगाते हैं हम और आश्चर्य की बात तो यह है कि जिनमें हम सुख खोजते हैं—वे महाशय स्वयं कहीं और सुख खोजते रहते हैं। जिनमें हम शान्ति खोजते हैं—जिनसे हम शान्ति की आशा रखते हैं—वे महाशय स्वयं कहीं और शान्ति की खोज में गये हुए होते हैं।

"हर व्यक्ति कहीं और है। उसका शरीर कहीं है और मन कहीं और है। इसलिए किसीसे मिलना नहीं हो पाता। जिसके घर जाइए—वह वहाँ नहीं मिलेगा आपको। यन्त्रचालित-सा केवल शरीर मिलेगा आपको उसका। जिसका हाथ, हाथ में लीजिए वह वहाँ नहीं है। जिसको हृदय से लगाइये—वह कहीं और गया हुआ होता है। सभी कहीं न कहीं गये हुए ही मिलेंगे आपको। इसलिए किसीसे आपका मिलना हो ही नहीं सकता। होगा भी नहीं। जो कारण में सुख, आनन्द और शान्ति खोजता है—वह एक न एक दिन दुःख की गहरी खाई में अवश्य गिरेगा। गिरने पर या तो आत्म-हत्या कर लेगा, या फिर पागल हो जायेगा। अगर बुद्धिमान् होगा तो साधु होकर इधर-उधर भटकेगा। इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि हर बार आशा बँधेगी कि यह कारण सुख देगा और जब मिल जायेगा तो आशा टूट जायेगी।

"योगीगण कहते हैं—दूसरे से हमेशा दुःख मिलता है। दुःख के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। दूसरे से सुख की आशा रखना आकाशकुसुमवत् है। अगर सुख मिलता है तो स्वयं अपने-आपसे। अगर आपको किसीसे सुख मिलता हुआ प्रतीत हो तो समझिए कि उसका कारण वह नहीं, स्वयं आप ही हैं। जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है। तो उसे खून का स्वाद मिलता है। वह समझता है कि खून हड्डी से निकल रहा है। वह यह नहीं जानता है कि वह खून उसीके दाँतों से निकला हुआ है।"

ब्रह्मचारीजी बोले—"जो व्यक्ति यह जान लेता है कि सुख और आनन्द का स्रोत उसीके भीतर है तो वह हर समय उसीमें डूबा हुआ अपने-आपको अनुभव करने लगता है। इसी अवस्था को 'नित्यानन्द' कहते हैं। बिना किसी प्रयास के, प्रयत्न के, बिना किसी कारण के, सहजभाव से, आनन्द का अनुभव हो—उसे सहजानन्द कहते हैं। जो अपने आनन्द का स्वयं कारण बन जाता है—किसी और के कारण नहीं, केवल अपने होने के कारण—वही सच्चा योगी है। सच्चा साधक है। उनके लिए केवल अपना होना ही प्रसन्नता है, आनन्द है, सुख है—और है प्रफुल्लता।

"कोई कारण खोजने की आवश्यकता नहीं। श्वास चल रहा है—क्या यह कम आनन्द है? हृदय धड़क रहा है—क्या यह कम सुख है? अपने अस्तित्व का बोध हो

रहा है—क्या यह कम प्रसन्नता है ? स्वस्थ हैं, सुन्दर हैं, युवा हैं—क्या यह कम प्रफुल्लता है ?"

"इसे थोड़ा समझाइये।"—मैंने कहा।

"समझिये ! आपको किसीसे प्रेम है। अपने प्रेमी की उपस्थिति आपको सुखद लगती है। यहाँ अब थोड़ा समझने की बात है। प्रेमी की उपस्थिति के कारण आपको सुख मिल रहा है कि आपकी यह धारणा आपको सुख दे रही है कि मेरा प्रेम है और उपस्थिति में सुख मिल रहा है। क्योंकि अगर प्रेमी की उपस्थिति से सुख मिलता हो, तो उसकी उपस्थिति से सभी को सुख मिलना चाहिए। लेकिन ऐसा होता नहीं। उसकी उपस्थिति से किसीको घृणा होती है और किसीको दुःख भी होता है। अगर पानी से प्यास बुझती है तो सभी की बुझनी चाहिए। यदि आप कहें कि पानी से हमारी प्यास बुझती है और किसीकी नहीं बुझती तो इसमें मामला आपका ही है—पानी का नहीं हो सकता।

"विषयगत सत्य और आत्मगत सत्य में फर्क करना सीखना चाहिए। अगर पानी पानी है तो वह हमारी भी प्यास बुझायेगा और आपकी भी बुझायेगा। किसीकी भी बुझायेगा। मनुष्यों से पानी का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसकी भी प्यास होगी—बुझ जायेगी।

"किसीका सौन्दर्य हमें सुख देता है—किसीको नहीं देता। अगर सौन्दर्य है तो जिनको भी सौन्दर्य की खोज होगी—उन सबको सुख मिलना चाहिए। मगर यह नहीं होता। उसी सौन्दर्य से हमें सुख मिलता है तो उसी सौन्दर्य को देखकर कोई भाग भी खड़ा होता है। किसीको तो यह भी पता नहीं चलता कि सौन्दर्य है भी। मतलब क्या हुआ इसका ? मतलब यह हुआ कि जो सौन्दर्य हमें दिखाई पड़ रहा है—वह हमारा ही दिया हुआ है। वहाँ कुछ है नहीं। आप ही कारण हैं। इसलिए ऐसा भी होता है कि जिसके सौन्दर्य से प्रातः सुख मिला, दोपहर को दुःख मिलने लगता है। कल हमने प्रेम किया, आज वही प्रेम ऊबानेवाला हो जाता है। कल जिसके प्रति घृणा थी, उसीके प्रति आज प्रेम हो जाता है।

"बात स्पष्ट है, कोई किसीके प्रेम में नहीं पड़ता। हम अपनी ही छाया देखकर किसीके प्रेम में पड़ते चले जाते हैं। जब हमें लगता है कि दूसरे से सुख मिल रहा है—तब भी हमारा आभास होता है। जितना हम गहराई में जायेंगे उतना हम पायेंगे कि सुख की सारी घटना अपना ही विस्तार है। चूँकि हम दूसरे में सुख मानते हैं और दूसरे से सुख होता ही नहीं—इसलिए दुःख भोगना पड़ता है।"

× × ×

"अध्यात्म की खोज वास्तव में अपने ही प्रेम में पड़ने की खोज है। संसार दूसरे के प्रेम में पड़ने की यात्रा है और अध्यात्म अपने प्रेम में पड़ने की है यात्रा। अध्यात्म बड़ा

स्वार्थी है। वह स्वयं का ही रस जानना है। स्वयं का ही आनन्द लेना है। अपने होने का आनन्द लेना है। 'मैं' हूँ यह भी क्या कम अनूठी घटना है ? मैं न होता तो क्या करता ? किससे शिकायत करता ? संसार में अपना अस्तित्व है—यह क्या कम आनन्द की बात है ? 'मैं' हूँ इसका बोध क्या कम सुखद है ? अपने अस्तित्व का, अपने होने का, अपने-आपके बोध का आनन्द लेना चाहिए, सुख लेना चाहिए—इतनी गहराई से और इतनी तल्लीनता से कि तन, मन और आत्मा पुलकित हो जाय, प्रफुल्ल हो जाय। कहने की आवश्यकता नहीं—इसी अवस्था को 'आत्मानन्द' कहा गया है।"

× × ×

वैराग्य

"अब मैं वैराग्य की चर्चा करूंगा"—ब्रह्मचारीजी बोले—"वैराग्य का मतलब है-यह बोध कि जहाँ-जहाँ हमें सुख का खयाल होता है-वहाँ सुख नहीं है। यह शास्त्र पढ़ने से नहीं आयेगा। संसार को—उसके पूरे तत्त्व के साथ समझने से आयेगा।

"आप बराबर प्रयोग करते रहते हैं। जहाँ-जहाँ सुख की छाया दिखी, वहाँ-वहाँ दौड़कर गये हैं आप। पर क्या मिला वहाँ सुख ? नहीं मिला। केवल सुख का प्रतिबिम्ब दिखा और मृग-मरीचिका मिली। सुख के लिए गये, खाली हाथ लौट आये। प्यासे गये और प्यासे ही वापस आ गये। इन सारे जीवन के अनुभवों का जो निचोड़ है—वही वैराग्य है। अगर आप यह सोचें कि शास्त्र पढ़ने से वैराग्य आ जायेगा—तो यह आपका भ्रम है। आप भर्तृहरि का 'वैराग्य-शतक' पढ़ लें और सोचें कि वैराग्य आ जायेगा। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकेगा। भर्तृहरि को वैराग्य हुआ था-गहन भोग की अवस्था में। गहन अशान्ति की अवस्था में। उन्होंने भोग की और अशान्ति की अवस्था में 'श्रृंगार-शतक' और वैराग्य की अवस्था में 'वैराग्य-शतक' पुस्तक की रचना की थी।

"श्रृङ्गार-शतक, भर्तृहरि का संसार के प्रति प्रथम अनुभव था जिसे उन्होंने भोगा था, जिसका उन्होंने गहराई से अनुभव किया था। उन्होंने वे तमाम भूलें कीं और वे तमाम गलतियाँ भी कीं—जो कोई भी समझदार, बुद्धिमान् और हिम्मती व्यक्ति करेगा। उन्होंने अपने-आपको किसी भी भूल से और किसी भी गलती से बचाया नहीं। क्योंकि जो अपने-आपको भूलों और गलतियों से बचाता है—वह अनुभवों से भी वंचित रह जाता है।

"भर्तृहरि संसार में सर्वत्र भटके। संसार के सभी मार्गों पर गये। उन्होंने भले-बुरे का, अच्छाई-बुराई का और छोटे-बड़े का भेद भी नहीं किया। उनकी वासना उन्हें जहाँ भी ले गई—वे वहाँ निस्संकोच गये। लेकिन उन्होंने बराबर अपना होश सजग रखा। हमेशा सतर्क रहे वे। इतना ही नहीं—वे इस बात को बराबर जाँचते

रहे कि—जहाँ-जहाँ वासना उनको ले जाती है—वहाँ-वहाँ कुछ उपलब्ध होता है या नहीं। मगर हर बार उन्हें असफलता ही मिली। निराश, हताश होना पड़ा उन्हें। सुख कहीं भी नहीं मिला उन्हें। सदा ही उनके लिए सब कुछ भ्रान्ति ही सिद्ध हुई। वासना ने जहाँ-जहाँ मार्ग दिखाया, वहीं-वहीं व्यर्थता हाथ लगी उनको। गहन विषाद का अनुभव हुआ उस व्यक्ति को। वासना के हजारों मार्ग पर चलकर—निरपवाद रूप से—जब एक ही अनुभव होता हैं—तो वैराग्य का जन्म होता है।

"वैराग्य, वासना की सतत असफलता के अनुभव का सारतत्त्व है और तब उस समय—अहंकार को—ममता को—वासना को—और मोह-माया को काट देना जरा-सा भी कठिन नहीं होता।"

"वैराग्य की प्रतीति का अर्थ क्या है ?"—मैंने पूछा।

ब्रह्मचारीजी बोले—"जहाँ-जहाँ वासना कहती है सुख है वहाँ-वहाँ सुख नहीं है। जहाँ-जहाँ वासना कहती है—वहाँ-वहाँ दुःख है। जहाँ-जहाँ वासना कहती है दुःख है–वहाँ-वहाँ सुख है। वासना हमेशा धोखा देती है। वह प्रवञ्चक है और इसी प्रतीति का नाम वैराग्य है और यह प्रतीति होने पर सुख में वासना की खोज बन्द हो जाती है और दुःख में उसकी खोज शुरू हो जाती है। दुःख में खोज को हम 'तप' कहते हैं।"

"तपश्चर्या का क्या अर्थ है ?"

"अब मैं सुख में नहीं खोजूंगा। क्योंकि सुख में खोजने पर कुछ नहीं पाया। अब मैं दुःख में खोजूंगा।

"वासना की विफलता का अनुभव वैराग्य है। वह अनुभव गहरा होने पर 'शस्त्र' बन जाता है जो वासना को काटने का काम करता है। वासना के पशु की बलि वैराग्य के शस्त्र से ही होती है।

"हर वासना के बाद वैराग्य की झलक मनुष्य को मिलती है। हर सम्भोग के बाद स्त्री-पुरुष को व्यर्थता की प्रतीति होती है। लेकिन उस प्रतीति में स्थिरता नहीं होती। कुछ समय बाद वासना फिर सजग हो जाती है। ऐसा क्षणिक अनुभव वैराग्य-रूपी शस्त्र का निर्माण नहीं कर सकता। इसलिए कि वह अनुभव संगृहीत नहीं हो पाता। संग्रह होने पर ही वह शस्त्र बन सकता है। आपके अनुभव और बुद्ध के अनुभव में कोई अन्तर नहीं है। बुद्ध से अधिक आपको अनुभव हुए होंगे। लेकिन आपने उनका संग्रह नहीं किया, खो जाने दिया। बुद्ध ने ऐसा नहीं किया था। उन्होंने बूंद-बूंद करके अपने अनुभवों को एकत्र किया था। अगर अन्तर है तो केवल इतना ही। बूंद-बूंद करके वैराग्य का संग्रह ही एक न एक दिन शस्त्र बन जाता है और उसकी क्षमता फिर इतनी बढ़ जाती है कि वासना का वेग उसके सामने अपने-आप शिथिल पड़ जाता है। वासना निर्वीर्य हो जाती है।"

× × ×

वैराग्य और शरणागति

"योगशास्त्र का कहना है कि वैराग्य की अग्नि में वासना के भस्म हो जाने पर साधक को उस परमपद परमेश्वर को खोजना चाहिए — जिसके शरण में गये पुरुष पुनः संसार में नहीं आते।

"इस प्रक्रिया को थोड़ी सजगता से समझ लेना चाहिए। हम सब बार-बार जन्म लेते हैं और बार-बार मरते हैं। मगर हर जन्म और हर मरण मूर्च्छा में होता है। इसलिए आपको यह स्मरण नहीं रहता कि पहले भी आप थे, पहले भी आपका अस्तित्व था और पहले भी कोई जीवन था। यह जन्म पहला मालूम होता है और मृत्यु आती है तो वह भी अन्तिम मालूम पड़ती है। क्योंकि दोनों तरफ अन्धकार है और उस अन्धकार में सारी स्मृति खो गयी होती है।

"अगर हम होश पूर्वक मर सके तो हमारा होश पूर्वक जन्म भी होगा। लेकिन मृत्यु अभी भविष्य में है। पीछे लौटा जा सकता है। पिछले जन्म की सारी घटनाओं की सारी स्मृतियाँ हमारे मस्तिष्क में संगृहीत हैं। अगर हम मस्तिष्क की उन कोशिकाओं को—जिनमें सारी स्मृतियाँ सोयी पड़ी हैं, चैतन्य करने की 'कला' जान जायँ तो हम उन अनुभवों से फिर गुजर सकते हैं—जिनसे हम बेहोशी में गुजर गये थे। इस कला की सहायता से हम पिछले जन्म में वापस जा सकते हैं और इतना ही नहीं—पिछले जन्म के पीछे मृत्यु में भी जा सकते हैं।"

"वह 'कला' कौन-सी है ?"—मैंने पूछा।

"समाधि !" ब्रह्मचारीजी बोले—"समाधि द्वारा यात्रा का द्वार खुल जाता है और इस प्रकार जो व्यक्ति पीछे लौटता है—होश पूर्वक, उसकी— आगे के लिए भी होश की क्षमता अपने-आप निर्मित हो जाती है। वह मरेगा, लेकिन होश पूर्वक मरेगा। वह जन्म लेगा, लेकिन होश पूर्वक जन्म लेगा। वह जीयेगा, लेकिन होश पूर्वक जीयेगा और जो व्यक्ति होश पूर्वक जीने की कला जान गया उसे—फिर संसार कभी भी बाँध नहीं पायेगा। संसार के बन्धन से मुक्त हो जायेगा वह, क्योंकि बाँधती है मूर्च्छा।"

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"वैराग्य द्वारा माया-मोह, ममता और वासना, कामना को काटकर जो व्यक्ति परमपद परमेश्वर की खोज में निकल पड़ता है—वह फिर संसार के बन्धनों में नहीं पड़ता। संसार में वापस नहीं आता, क्योंकि संसार में वापस आने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता।

"हम संसार में वापस बार-बार मूर्च्छा के कारण आते हैं। मूर्च्छा भंग होने पर संसार की यात्रा अपने-आप समाप्त हो जाती है।

"गीता में भगवान् ने कहा है कि जिस परमेश्वर से संसाररूपी वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है—उसी आदिपुरुष की शरण में 'मैं हूँ'—इस प्रकार दृढ़

निश्चय करके नष्ट हो गयी है जिनकी माया, मोह, ममता आदि तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिनने तथा पूर्णरूपेण नष्ट हो गयी है कामना जिनकी--ऐसे सुख-दुःख नामक द्वंद्वों से विमुक्त हुए ज्ञानी जन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

" 'मैं उस आदिपुरुष परमपद परमेश्वर की शरण में हूँ'—यह सूत्र बहुमूल्य है। शरण का भाव मूल्यवान् है। योग में जितने भी भाव हैं—उनमें 'शरणागत' भाव सर्वोपरि है। इसलिए सर्वोपरि है कि इस भाव के उदय होने पर वैराग्य का अहंकार नष्ट हो जाता है।"

"वैराग्य का अहंकार—समझा नहीं"—मैंने कहा।

ब्रह्मचारीजी बोले—"मैं वैरागी हूँ—मैंने इतना छोड़ा—मैंने इतना त्याग किया—मेरी सारी वासना नष्ट हो गयी—इन्हीं सबका नाम है वैराग्य का अहंकार ! वैराग्य से वासना काटी जा सकती है। मोह-माया को तोड़ा जा सकता है। मगर वैराग्य का जो अहंकार है—उसे नष्ट नहीं किया जा सकता। सारे अहंकार भस्म हो सकते हैं—लेकिन अतिसूक्ष्म और अतिसघन होने के कारण वैराग्य के अहंकार का भस्म होना अत्यन्त कठिन होता है। उसकी गहन अग्नि बराबर जलती रहती है भीतर।

"वैराग्य के अहंकार को भी भस्म होना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना भस्म हुए 'मूल' यानी परमपद परमेश्वर से तादात्म्य स्थापित होना सम्भव नहीं।"

"वैराग्य के अहंकार को नष्ट करने का कौन-सा उपाय है ?"—मैंने पूछा।

"शरणागत भाव—मूल के प्रति शरणागत भाव"—ब्रह्मचारीजी बोले—"इसलिए साधक को 'वैराग्य' की साधना के साथ-ही-साथ शरणागत भाव को भी साधते रहना चाहिए। मैं 'अहंकार' का प्रतिनिधि है। जब तक मैं है—तब तक 'मूल' में विलीन होना सम्भव नहीं। 'मैं' का मूल में विलीनीकरण 'योग' की चरम उपलब्धि है। शरणागत भाव के गहन होने पर मूल में 'मैं' के साथ 'अस्मिता' और नाम-रूप भी विलीन हो जाते हैं। केवल बचता है 'सत्त्व' और केवल बचती है 'चेतना'। जैसा कि मैंने बतलाया कि 'शरणागत' भाव अति मूल्यवान् है। मूल के शरण में जाना ही पड़ेगा। क्योंकि शरण में गये बिना साधक के वैराग्य का अहंकार नष्ट नहीं हो सकता। इसीलिए पतञ्जलि ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है—और वह यह है कि परमात्मा स्वयं को खोने की एक विधि है। परमात्मा का अस्तित्व है या नहीं—यह प्रश्न ही नहीं है। परमात्मा तो एक उपाय है—स्वयं को खोने का। परमात्मा, ईश्वर और परमेश्वर का अस्तित्व है या नहीं—हिन्दुओं के लिए—इस दार्शनिक विवेचन का कोई मूल्य नहीं है। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए ईसाई-मत ने बहुत परिश्रम किया कि—'वह है'। इस सम्बन्ध में जो प्रमाण अथवा दलील ईसाई-मत प्रस्तुत करता है वह काटा जा सकता है और उसका खण्डन भी किया जा सकता है।

"हिन्दुओं ने ईश्वर को सिद्ध करने के लिए कभी भी प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि वे कहते हैं कि वह तो एक युक्ति और एक उपाय मात्र है शरण में जाने के लिए।

"जब सर्वप्रथम ईसाई-मत और इसलाम भारत में आया तो उसको घोर आश्चर्य हुआ कि हिन्दू लोग कैसे पागल हैं? कैसे मूर्ख हैं? कोई नदी की, कोई झाड़ की, तो कोई अनगढ़ पत्थर की पूजा कर रहा है। कोई विचित्र आकृतिवाले प्राणी की पूजा कर रहा है। भला उनको क्या मालूम था कि हिन्दुओं ने बड़े गहन तत्त्व को खोज लिया है।"

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"हिन्दू-धर्म कहता है कि इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आप किसको पूज रहे हैं? किसकी पूजा कर रहे हैं—यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न है कि आप 'पूजा' कर रहे हैं। 'किसको' का महत्त्व नहीं है। महत्त्व है 'पूजा' का! आप कहाँ और किसके सामने झुक रहे हैं—इसका कोई महत्त्व या मूल्य नहीं है। महत्त्व और मूल्य तो है—आपके झुकने का। बस, इतना ही काफी है।

"आप पीपल के सामने झुक जाइये। किसी बेडौल, अनगढ़ पत्थर पर सिन्दूर पोतकर—उसके सामने झुक जाइये या झुक जाइये किसी नदी के सामने। यह सब एक बहाना है। परमात्मा भी एक बहाना है। इन सबसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। ये सब आपके झुकने में केवल मात्र सहयोगी हैं। जैसा कि मैंने बतलाया"—ब्रह्मचारीजी बोले—"आपके झुकने का महत्त्व है—किसके सामने झुके—इसका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि आप झुकने से उस मूल को—उस परमतत्त्व को—और उस परमपद को समझ लेंगे—जान लेंगे—जो आपके बाहर विद्यमान है। बिना झुके उसे जानना, समझना असम्भव है। इसलिए विश्व में हिन्दू-धर्म को समझने में बड़ी अड़चन हुई है। अपने अनगढ़ रूप और अपनी रहस्यमयता के कारण—हिन्दू-धर्म विश्व में सबसे कम समझा गया धर्म है। जहाँ तक उसके अनगढ़ होने का प्रश्न है, उसका कारण है और वह यह कि हिन्दुओं की पकड़ में बड़ी गहरी बात आ गयी—ईश्वर महत्वपूर्ण नहीं है—महत्त्वपूर्ण है—झुका हुआ और शरण में गया हुआ साधक।

"जहाँ शरण मिल जाय—जिसके माध्यम से मिल जाय—वह है या नहीं—यह भी गौण है। बस, शरण मिल जाय तो सब हो जाता है। फिर कुछ शेष नहीं रह जाता है। मान, सम्मान, मोह, माया, अहंकार सब कुछ समाप्त हो जाता है शरणागत-भाव में। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है······'मामेकं शरणं व्रज'।"

× × ×

"जीवन में सर्वाधिक कठिन और दुरूह यदि कोई भाव है तो वह है—शरणागति ही। दो दशाएँ हैं—पहली है—अहंकार भाव दशा और दूसरी है—शरणागत भाव दशा। मैं साध्य हूँ और सभी कुछ साधन है। सब कुछ मेरे लिए है और मैं किसीके लिए

नहीं हूँ। मैं ही लक्ष्य हूँ। मेरे लिए ही सब घटित हो रहा है। सभी कुछ मेरी सेवा का आयोजन है—यह है अहंकार भाव दशा।

"शरणागत भाव दशा ठीक इसके विपरीत है।

"मैं कुछ नहीं हूँ। मेरा होना शून्यवत् है, नगण्य है। मेरा कोई अस्तित्व नहीं है—यह शरणागत भाव दशा है।

"केन्द्र मुझसे बाहर है। केन्द्र आप किसको बनाते हैं—राम को बनाते हैं—कृष्ण को बनाते हैं—बुद्ध को बनाते हैं—या किसी वृक्ष को बनाते हैं—किसी अनगढ़ पत्थर को बनाते हैं यह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है।

"मैं स्वयं अपना केन्द्र नहीं हूँ। अपने होने का केन्द्र मैं नहीं हूँ। केन्द्र मुझसे बाहर है और मैं उसके लिए जी रहा हूँ। मैं साधन हूँ, वह साध्य है। यह अति कठिन बात है। क्योंकि इस भाव दशा में अहंकार बिल्कुल स्वाभाविक मालूम होता है। लेकिन इस क्रान्ति के बिना घटे—कोई भी साधक सत्य को उपलब्ध नहीं हो सकता। क्योंकि सत्य यही है कि आपका केन्द्र आपके भीतर नहीं है।

"इस सारे विश्व का एक ही केन्द्र है। सभी का एक ही केन्द्र है। इसलिए प्रत्येक के भीतर अलग-अलग केन्द्र होने का प्रश्न ही नहीं उठता। समस्त जीव और समस्त प्राणी संयुक्त जीते हैं—वियुक्त नहीं। व्यक्ति होना भ्रान्ति है। सारा अस्तित्व जुड़ा हुआ है। यह विश्व एक इकाई है। यहाँ कुछ भी खण्ड-खण्ड नहीं है।

"शरणागति का अर्थ है—इस तथ्य को समझ लेना कि मेरे जीवन का केन्द्र मेरे भीतर नहीं है—अस्तित्व में है—जिसे भक्तगण भगवान् कहते हैं—ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं—तान्त्रिक 'सत्य' कहते हैं।

"अपने के बाहर केन्द्र को समझ लेना ही शरणागत हो जाना है। और जब केन्द्र मेरे भीतर नहीं है तो अभिमान किस बात का ? अपने-आपको इतना महत्त्वपूर्ण समझ लेना पागलपन के सिवाय और क्या है ?

"जो अपने-आपको गहराई से समझेगा—वह शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझेगा अपने को। जो अपने-आपको ठीक से नहीं समझेगा—वह अपने को बहुत कुछ समझेगा।

"अपने को शून्य समझनेवाला व्यक्ति वास्तव में धार्मिक है और ऐसा ही धार्मिक व्यक्ति सच्चे अर्थों में शरणागत भाव को उपलब्ध होता है।

"अपने को बहुत कुछ समझनेवाले व्यक्ति को धार्मिक नहीं कहा जा सकता। ऐसा व्यक्ति परम अहंकारी होता है। उसका रोम-रोम अहंकार से भरा हुआ होता है।"

"आपके कहने का तात्पर्य यह है कि अपने को शून्य समझनेवाला व्यक्ति ही शरणागत भाव को उपलब्ध होता है।"—मैंने कहा।

"हाँ ! बिल्कुल ठीक समझा आपने"—ब्रह्मचारीजी बोले—"जिस दिन आप अपने को शून्य समझ लेंगे—उसी दिन आप स्वयं भगवान् हो जायेंगे। शून्य होते ही शरणागति घटित हो जाती है। और घटित होते ही फिर शेष कुछ नहीं रह जाता है। सारे विचार, सारे भाव और सारी धारणाएँ समाप्त हो जाती हैं। जैसा कि मैंने बतलाया—केवल बच जाता है व्यक्ति की चेतना का अस्तित्व। गीता का यह श्लोक—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।"

× × ×

ज्ञान और उपरति

"अब मैं ज्ञान और उपरति के सम्बन्ध में चर्चा करूँगा"—ब्रह्मचारीजी बोले—"वैराग्य का फल ज्ञान है। ज्ञान का फल उपरति है और आत्मानन्द के अनुभव से जो शान्ति उपलब्ध होती है--वह उपरति का फल है। विषयों से दूर हो जाना ही परमतृप्ति है और आत्मा का जो आनन्द है वह स्वयं ही अनुपम है।

"वैराग्य के सम्बन्ध में सर्वप्रथम शरीर के विषय में विचार करना आवश्यक है। शरीर व्यर्थ है। नश्वर है। नाशवान् है। परतन्त्र है, प्रकृति के अधीन है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय—तो इन सब बातों का पता चल जायेगा। देह के प्रति भारी भ्रान्ति है। पूरा जीवन इसी भ्रान्ति में ही व्यतीत हो जाता है और यही भ्रान्ति प्राणी के प्रारब्ध कर्म की कल्पना है।

"आपने अपनी देह के अतिरिक्त और कुछ जाना-समझा है? कोई ऐसी झलक आपको मिली है कभी—जिससे आपको इस बात का पता चले कि आप 'देह' नहीं हैं। क्या आपको इसकी प्रतीति है कि आपकी लाश जलायी जायेगी तो आप नहीं जलेंगे। शरीर के जल जाने पर भी आपका अपना अस्तित्व रहेगा? नहीं, कभी नहीं।"

× × ×

"आप शरीर के अतिरिक्त भी कुछ हैं—इसका आपको कोई अनुभव नहीं है। बस, आपको इतना ही अनुभव है कि 'शरीर' हूँ। आप भले ही मानते हों कि 'आत्मा हूँ'—'कभी मरनेवाला नहीं हूँ'—'अजर-अमर हूँ'—आत्मा का नाश कभी नहीं होता है। यह सब आपकी मान्यता है और आपकी यह मान्यता बड़े धोखे की है। वास्तव में यह 'मान्यता' भी अज्ञान का एक अंग ही है।"

× × ×

"सभी जीवित रहना चाहते हैं। कोई मरना नहीं चाहता। अज्ञानी नहीं मरना चाहता और ज्ञानी मरना चाहता है। क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु में प्रवेश का अर्थ है—'अमृत' का शुद्धतम अनुभव।

"ठीक इसके विपरीत अज्ञानी मृत्यु से भयभीत होता है। इसलिए कि उसे निश्चित रूप से इस बात का पता है कि मृत्यु का अर्थ है समाप्ति। कुछ बचेगा नहीं। वह बिल्कुल मर न जाय, समाप्त न हो जाय—इसलिए 'आत्मा अमर है' पर विश्वास करता है। मगर इस विश्वास का आधार ज्ञान नहीं, बल्कि भय होता है। भय के ही कारण 'आत्मा अमर है'—कहता है वह।"

× × ×

"इस शरीर के बाहरी रूप से परिचित है। अगर भीतर झाँककर देखे तो तत्काल उसके प्रति आसक्ति समाप्त हो जायेगी। उससे छुटकारा मिल जायगा। समाप्त हो जायगी सारी मोह-माया। बुद्ध अपने शिष्यों को मरघट पर भेजते थे—लाशों को देखने के लिए—जलती हुई चिता को देखने के लिए—हड्डियों को देखने के लिए—खोपड़ियों को देखने के लिए—ताकि शरीर के प्रति ममत्व समाप्त हो जाय।"

× × ×

"शरीर की कोई निन्दा नहीं है। धर्म न किसीकी निन्दा करता है और न तो करता है किसीकी प्रशंसा। 'जो जैसा है' उसे उसी रूप में वह प्रस्तुत कर देता है। उसका कहना है कि शरीर माता-पिता के मैल से उत्पन्न होता है और स्वयं मल-मूत्र आदि से भरा हुआ होता है।

"योग की दृष्टि में 'चाण्डाल' और 'शूद्र' शब्द अत्यधिक मूल्यवान् हैं। उसका कहना है कि जो व्यक्ति शरीर को ही महत्त्व देता है—शरीर को ही सब कुछ समझता है और जिसके लिए शरीर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—वह शूद्र है। शूद्र का अर्थ है—जिसने अपने-आपको शरीर मान रखा है। ब्राह्मण का अर्थ है—जिसने अपने-आपको ब्रह्म मान लिया है।

"ब्राह्मण के परिवार में जन्म लेने से न कोई ब्राह्मण होता है और न तो शूद्र के घर जन्म लेने से कोई शूद्र होता है। ब्राह्मण और शूद्र वास्तव में एक मनोदशा है। ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व—का सम्बन्ध न घर से है, न परिवार से है और न तो है जाति से ही। सभी लोग शूद्र की तरह जन्म लेते हैं। लाखों में कोई ब्राह्मण होकर मर पाता है। सारा जगत् शूद्र है। इसलिए कि प्रायः सभी लोग अपने को शरीर ही मानकर जीवन-यापन करते हैं। ब्राह्मण को खोजना दुरूह है। ब्राह्मण के परिवार में जन्म लेना कोई कठिन बात नहीं है—कठिन बात तो है ब्राह्मण होना।

"योग कहता है कि जैसे शूद्र और चाण्डाल को सामने देखकर उससे दूर हट जाते हैं लोग उसी प्रकार शरीर से भी दूर हट जाना चाहिए। दूर हटने की आवश्यकता नहीं है। बस, समझने में आ जाना चाहिए कि शरीर के भीतर दुर्गंध है, मल-मूत्र है, मांस-मज्जा है—दिखाई पड़ जाय—फिर अपने-आप दूर हटना शुरू हो जायेगा। वास्तव में

शरीर के प्रति आसक्ति, शरीर के प्रति आकर्षण, शरीर के पास रहने का मन और शरीर के प्रति मोह का एकमात्र कारण है हमारा अज्ञान। हमें पता ही नहीं है कि शरीर हमारा क्या है। और जिस क्षण हमें इसका पता चल जायेगा—उसी क्षण हमारे भीतर वैराग्य की ज्योति झिलमिलाने लगेगी।"

× × ×

"योगीगण कहते हैं कि दुःख से कैसे छुटकारा हो—यह संसार की यात्रा है। और सुख से भी कैसे छुटकारा हो—यह है मोक्ष की यात्रा। हमें शरीर सुख नहीं दे सकता। संसार शान्ति नहीं दे सकता। कोई दूसरा आनन्द नहीं दे सकता। हमारा सारा जीवन आत्म-प्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीवन ऐसा है कि वैराग्य अपने-आप उत्पन्न होगा ही। वैराग्य उत्पन्न करने के लिए आपको किसी भी प्रकार का प्रयत्न अथवा प्रयास नहीं करना है। किसी प्रकार की चेष्टा भी नहीं करनी है। वास्तव में वैराग्य उत्पन्न न हो—इसके लिए आप प्रयत्न करते हैं। गम्भीरतापूर्वक सोचें और पीछे लौटकर अपने जीवन को देखें और उस पर विचार करें तो पायेंगे कि जीवन का हर पल और क्षण आपको वैराग्य की ओर ले जा रहा है। जीवन का प्रत्येक सन्देश, वैराग्य है। इंगित वैराग्य है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो चारों तरफ से जीवन आपको दुःख ही देता है। फिर भी वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। जीवन आपको चारों तरफ से असफल करता है—तोड़ता है—खण्ड-खण्ड करता है—लेकिन इन सबके बावजूद वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। आश्चर्य है। घोर आश्चर्य है। नहीं तो जीवन का सहज स्वर वैराग्य है। राग में जीवन का जन्म है और वैराग्य में है उसकी परिणति। राग में आप जन्म लेते हैं और राग में ही अगर आप मर जाते हैं तो इसका मतलब यह होगा कि आपको जीवन का सन्देश सुनाई नहीं दिया। जीवन का सन्देश अथवा जीवन का स्वर वैराग्य है। सोच करके देखिये, विचार करके देखिये, खोज करके देखिये—अपने को धोखा मत दीजिये—तब समझ में आयेगा कि आपके जितने भी मित्र हैं—जितने भी शत्रु हैं—जितने भी अपने, पराये हैं—और जितने भी सहयोगी हैं—वे सब आपको वैराग्य की ओर ही ले जानेवाले हैं। सभी आपको वैराग्य की ओर प्रेरित करनेवाले ही हैं।

"हम यह नहीं कहते हैं कि आपको वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है। होता है, मगर क्षणभर के लिए। फिर आप उसे खो देते हैं।"

× × ×

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"जानते हैं आप, वैराग्य की ज्योति जब भीतर जलने लगती है तब संसार के प्रति कोई वासना नहीं रह जाती। संसार से कोई माँग नहीं रह जाती। संसार की सारी व्यर्थता स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है—और इसीका परिणाम अथवा फल ज्ञान है। और वह ज्ञान जब अपनी पूर्णता पर पहुँचता है तो उसके फल-स्वरूप आपके भीतर 'प्रज्ञा' का आविर्भाव होता है।

"वैराग्य के घनीभूत होने पर ज्ञान और ज्ञान के घनीभूत होने पर 'प्रज्ञा' का जन्म होता है। अगर वैराग्य से ज्ञान का दीप प्रज्वलित नहीं होता है तो समझिये, वैराग्य अपरिपक्व है। हमारे देश में वैरागियों का अभाव नहीं है। लेकिन ज्ञानी खोजना कठिन है। वैरागी तो हर मन्दिर और हर मठ में आपको बैठे हुए मिलेंगे। मगर ज्ञानी का दर्शन दुर्लभ है। अगर ज्ञानी मिल भी गया तो प्रज्ञावान् नहीं मिलेगा आपको। लाखों में कोई एक वैराग्य को उपलब्ध होता है। लाखों में कोई एक ज्ञान को उपलब्ध होता है और इसी प्रकार करोड़ों में कोई एक प्रज्ञावान् होता है।"

× × ×

"जैसा कि मैंने कहा—ज्ञान का फल उपरति यानी पूर्ण विश्राम है। पूर्ण विश्राम का मतलब है—शरीर-मन-चित्त-आत्मा और समस्त इन्द्रियाँ पूर्ण विश्राम को उपलब्ध हो जाती हैं। कहीं कोई तनाव नहीं रह जाता। किसी प्रकार का श्रम नहीं रह जाता। अगर साधक उपरति को उपलब्ध नहीं हुआ है तो समझ लेना चाहिए कि उसका ज्ञान अपरिपक्व है। अगर साधक तनाव से भरा है—श्रम से भरा है—और अपने को उसे अनुशासन में रखना पड़ रहा है तो समझ लेना चाहिए कि उसे जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ है—वह शास्त्रों से मिला है, अनुभवों से नहीं। पढ़कर और सुनकर पा लिया होगा उसने ज्ञान। जानकर नहीं पाया होगा। आपको मालूम होना चाहिए कि शास्त्रों से उपलब्ध ज्ञान का क्षेत्र 'बुद्धि' होती है और उससे 'तर्क' के सिवाय और कुछ नहीं होता। ऐसा ज्ञान व्यक्तित्व में समाहित नहीं हो पाता। वास्तव में वह एक प्रकार का बोझा होता है, भार होता है। पंख नहीं होता कि उससे निर्मल आकाश में स्वतन्त्रता-पूर्वक उड़ा जा सके।"

× × ×

"उपरति को उपलब्ध साधक श्रम और चेष्टारहित हो जाता है। पूर्ण रूप से निश्चेष्ट हो जाता है वह, 'स्थिरता' आ जाती है उसके जीवन में। उसके लिए जो जैसा है—वह ठीक है। अच्छा, बुरा दोनों उसकी दृष्टि में बराबर हैं। कुछ पाने की चेष्टा और कुछ खोने का भय नहीं रह जाता है उसमें। कुछ गलत न हो जाय और किसी प्रकार की भूल न हो जाय—इसकी भी बेचैनी नहीं रहती है उसमें। कहीं गिर न जाऊँ, कहीं भटक न जाऊँ—इसके तनाव से भी मुक्त रहता है वह। कहने की आवश्यकता नहीं, इसी अवस्था का नाम है उपरति।"

ब्रह्मचारीजी ने कहा—"उपरति अति गहन गम्भीर अवस्था है योग की। इस अवस्था को प्राप्त योगी धीरे-धीरे उस केन्द्र का स्पर्श कर लेता है जिसे 'परमशक्ति' कहा गया है।"

●

वक्रेश्वर श्मशान की सिद्ध योगिनी

भारत की योगतन्त्रपरक जितनी भी प्राचीन विद्याएँ हैं—उन्हींमें एक विद्या है आकाशगामिनी विद्या भी। योग-तन्त्र की यह विद्या अत्यन्त रहस्यमयी और महत्त्वपूर्ण है। आकाशगामिनी विद्या से योगियों को एक ऐसी रहस्यमयी शक्ति प्राप्त हो जाती है—जिससे वे अपने शरीर को हल्का बनाकर हवा में उठ जाते हैं और इच्छानुसार आकाश में संचरण-विचरण करते हैं। वास्तव में इस रहस्यमयी विद्या के अन्तर्गत ध्यानयोग की जो विशेष क्रिया है—उसके बल पर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है जिसके फलस्वरूप शरीर भारहीन होकर हवा में यानी शून्य में तैरने लगता है। एविला की सन्त टेरेसा जब उपासना के समय ध्यानावस्था में होती थीं तो कभी-कभी धरती से ४-५ फुट ऊपर उठ जाती थीं। उनके उठने पर उनकी शिष्याएँ उन्हें नीचे खींचने का प्रयास करतीं, फिर भी वे नीचे नहीं खींच पाती थीं।

तिब्बत प्रवास काल में मैंने एक ऐसे ही लामा योगी को देखा था। उस लामा योगी को आसन-उत्थान की सिद्धि थी। वह साधनावस्था में आसन से लगभग दो फुट ऊपर अधर में लटका रहता था। तिब्बती योग-साधना में आसन-उत्थान की सिद्धि को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उस लामा ने मुझे बतलाया कि संसार में जितने भी प्राणी हैं—उनमें मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है—जिसके शरीर की रचना सबसे भिन्न और विलक्षण है। मानव-शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं, जिनमें एक नाड़ी है 'सुषुम्ना नाड़ी'। इस नाड़ी में कुछ भी नहीं है। इसलिए उसे शून्य नाड़ी भी कहते हैं। वास्तव में आकाशगामिनी विद्या का सम्बन्ध इसी शून्य नाड़ी से है। योगानुसार इस नाड़ी के दोनों सिरे बन्द रहते हैं। इसका एक सिरा तो मूलाधार में और दूसरा सिरा ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश में है। साधनावश अथवा किसी अन्य कारणवश दोनों में से कोई एक सिरा खुल जाय तो मनुष्य अपने-आप हवा में उठकर तैरने लग जायेगा। उसका भार कुछ समय के लिए समाप्त हो जायेगा।

ऐसी ही एक घटना सन् १८५२ में मैसाच्यूसेट्स के 'बाई' नामक स्थान पर बड़े ही रहस्यमय ढंग से घटी थी। श्रीमती चैनसी का बायाँ हाथ अचानक ही हवा में उठने लगा और धीरे-धीरे इतना ऊँचा उठ गया कि उसने श्रीमती चैनसी के शरीर को ऊपर खींचकर छत और फर्श के बीच लटका दिया।

इसी प्रकार हवा में उड़ने की शक्ति अनायास ही डी०डी०जी० होम नामक व्यक्ति को प्राप्त हो गयी थी। सन् १८६८ में लन्दन के एक विशेष समारोह के अवसर पर वह

अचानक ही कमरे की फर्श से उठकर छत से जा लगे थे। इसके बाद वे लगभग उड़ते हुए तीसरी मंजिल की खिड़की से बाहर निकल गये और फिर उसी प्रकार दूसरी खिड़की से भीतर आ गये। उनके इस अनोखे कार्य को देखकर वहाँ उपस्थित अनेक लोग आश्चर्यचकित रह गये।

× × ×

अपने शोध और अन्वेषण के सिलसिले में एक बार जब मैं अरुणाचल प्रदेश की दुर्गम घाटियों में भटक रहा था—उस समय मुझे एक लामा योगी मिला था। वह बर्मा से तिब्बत जा रहा था। उसने मुझे पारद की एक गुटिका दी थी। उसने बतलाया कि गुटिका को मुख में रख लेने से आदमी हवा में तैर तो नहीं सकता, लेकिन अगोचर भाव से आकाश में संचरण-विचरण और गमन करते हुए शरीरी, अशरीरी सिद्ध योगियों और दिव्य आत्माओं को चर्मचक्षु से अवश्य देख सकता है। वह पारद-गुटिका मेरे लिए अति महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् थी। मैं तो यही चाहता था कि अशरीरी दिव्य आत्माओं और सूक्ष्म शरीर से संचरण-विचरण करनेवाले महापुरुषों का दर्शन-लाभ कर सकूँ। प्रसन्न हो उठा मैं। मेरे आनन्द की कोई सीमा न थी।

× × ×

शुरू से ही मेरे चिन्तन-मनन का स्थान काशी का लालीघाट और चेतसिंह का किला रहा है। अब तो अस्वस्थता के कारण वहाँ जाना प्रायः अब बन्द ही हो गया है। लेकिन पहले नित्य का नियम था मेरा। कभी-कभी तो पूरी की पूरी रात ही गुजर जाती थी मेरी वहाँ।

चेतसिंह का किला काफी पुराना और ऐतिहासिक है। लेकिन अघोर-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सन्त बाबा कीनाराम द्वारा श्रापित होने के कारण वहाँ मरघट जैसी उदासी हमेशा छायी रहती है। जिन्नों और प्रेतों की आखेटस्थली तो है ही शुरू से वह। रात्रि के समय प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है उनके अस्तित्व का। उन दिनों चिन्तन-मनन की दृष्टि से प्रायः नित्य रात्रि के समय किले की टूटी-फूटी बुर्जी पर घण्टों बैठा करता था मैं। न जाने क्यों मुझे उस प्रेतपुरी में अजीब-सी शान्ति मिलती थी। जब से उस पारद-गुटिका को मुंह में रखकर बैठने लगा था—तब से एक विशेष प्रकार की अनुभूति होने लगी थी मुझे।

× × ×

सावन-भादों का महीना था। बादलों से अटकर काला पड़ गया था सारा आकाश। गहन निःश्वास-सी पुरवा हवा हा-हाकार करती हुई किले में दानवों की तरह खड़े पेड़ों और चारों तरफ फैली हुई झाड़ियों को कँपाये दे रही थी। घोर निस्तब्ध रात्रि। निबिड़

रात्रि का घोर अन्धकार। यदा-कदा उस अभिशप्त किले में निवास करनेवाली प्रेतात्माओं की एक साथ हँसने और रोने की भयानक तीखी आवाजों से किले का निस्तब्ध वातावरण बार-बार काँप उठता था और उसीके साथ मेरा मन भी दहशतों से भर जाता था। सहसा मेरी दृष्टि आकाश की ओर उठ गयी। क्यों उठ गयी थी ? इसका कारण तो मैं नहीं बतला सकता, मगर दृष्टि उठते ही आकाश के मेघाच्छन्न पटल पर बादलों के बीच मैंने जो कुछ देखा—उसने मुझे एकबारगी रोमाञ्चित कर दिया।

गहरे अन्धकार में डूबे हुए मेघाच्छन्न आकाश में मैंने देखा—एक सर्वांग नग्न सुन्दर स्त्री तीव्र गति से उड़ती हुई पूरब से उत्तर दिशा की ओर चली जा रही थी। उसके काले घने बाल बिखरकर हवा में लहरा रहे थे। उस स्त्री की गति कभी तीव्र हो जाती थी तो कभी मन्द। कभी वह बायें घूम जाती थी तो कभी द्रुत गति से दाहिने। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि मैं उस घोर अन्धकार में भी बिल्कुल स्पष्ट देख रहा था उस आकाशचारिणी योगिनी को। निश्चय ही वह कोई उच्चकोटि की योगसाधिका थी। देखते ही देखते वह निबिड़ अन्धकार की गोद में समा गयी।

मेरे एक परिचित तन्त्र-साधक थे। नाम था भवतोष गांगुली। रात्रि के समय नित्य गंगा के किनारे बैठकर वे कोई साधना किया करते थे। कौन-सी साधना करते थे ? इसे मैंने न कभी उनसे पूछा और न तो कभी उन्होंने बताया ही मुझे। एक दिन प्रसंगवश मैंने भवतोष बाबू से जब उस आकाशचारिणी की चर्चा की तो उन्होंने बताया कि वह वक्रेश्वर श्मशान की सिद्ध योगिनी है। उसने वक्रेश्वर श्मशान के सहस्रमुण्डी आसन पर बैठकर पूरे साठ वर्ष तक कठोर साधना की है तन्त्र की और आज भी वह उसी महाश्मशान में निवास करती है। उस सिद्ध योगिनी को आयु कितनी है—यह कोई नहीं बतला सकता।

कई प्रकार की दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त हैं उस महासाधिका को। देखते-ही-देखते हवा में गायब हो जाती है वह। रोजाना आकाशमार्ग गमन करना उसके लिए सहज है। रूप-रंग और आयु बदलने में तो सिद्धहस्त है ही वह। सचमुच बड़ी ही रहस्यमयी योगिनी है वह।

"आपको यह सब कैसे मालूम हुआ ?"—जब मैंने यह प्रश्न किया तो भवतोष बाबू बोले—"मैं नहीं जानूँगा तो भला और कौन जानेगा ? उस योगिनी के साथ पूरे चार साल रह चुका हूँ मैं वक्रेश्वर के श्मशान में।"

"ऐं, आप उस आकाशचारिणी के साथ रह चुके हैं !" आश्चर्यचकित होकर बोला मैं।

"हाँ भाई ! मैं उस मायाविनी के साथ रहा ही नहीं हूँ, बल्कि साधना भी की है उसके सान्निध्य में रहकर वक्रेश्वर महाश्मशान में।"—भवतोष बाबू हँसकर बोले।

बतलाने की आवश्यकता नहीं, भवतोष बाबू से सारी बातें सुनकर मैं उस आकाशचारिणी योगिनी से मिलने के लिए आकुल हो उठा। आकाशगामिनी विद्या पर निश्चय ही उस योगिनी द्वारा प्रकाश पड़ेगा। अवश्य ही उससे उस रहस्यमयी विद्या के विषय में अधिक-से-अधिक जानकारी मिलेगी। इन सबके अतिरिक्त उसका स्वयं का अनुभव भी सुनने को मिलेगा। सँभाल न सका मैं अपने-आपको। चौथे दिन ही चल पड़ा मैं उस रहस्यमयी आकाशचारिणी सिद्ध योगिनी से मिलने के लिए। विस्तृत भू-भाग में फैला हुआ वक्रेश्वर का सिद्ध महाश्मशान। इतिहास की दृष्टि से भी जिसका महत्त्व कम नहीं। तान्त्रिक साधना और सिद्धि का अमोघ स्थल। जिसके एक ओर कल-कल निनाद करती हुई प्रवाहित दामोदर नदी और उसके तट पर स्थित वक्रेश्वर महादेव का भग्न मन्दिर—जिससे थोड़ी ही दूर पर था—भवतारिणी महामाया तारा का विशाल मन्दिर। मन्दिर तक पहुँचने के लिए आड़ी-तिरछी सीढ़ियाँ थीं, जिन पर सँभल-सँभलकर पैर रखते हुए मैं पहुँचा मन्दिर में। सामने विशाल चबूतरा था—जिससे सटा हुआ नाट-मन्दिर था और था उसके बाद माँ तारा का मन्दिर।

× × ×

जनवरी का महीना था। दिन ढलने लगा था। कुहरे की हल्की परतें धरती पर फैलने लगी थीं। नाट-मन्दिर के चबूतरे पर थोड़ी देर बैठने के बाद मैं माँ तारा के मन्दिर की ओर चला। वातावरण बड़ा ही शान्त था। मन को बड़ी तृप्ति मिली। फिर माँ तारा की पाषाण-प्रतिमा के सम्मुख जा खड़ा हुआ मैं।

माँ भगवती का मुख बड़ा ही अद्भुत लगा मुझे। मानो माँ मेरी ओर देखकर मुस्करा रही हैं। और उसी मुस्कराहट में एक अद्भुत स्नेह गल-गलकर झर रहा है। जमीन पर बैठ गया और दोनों हाथ जोड़कर अपलक माँ के मुख को ओर निहारने लगा मैं। उसी स्थिति में अपने भीतर एक नीरव आलोड़न का अनुभव किया मैंने। कुछ बोला नहीं जा रहा था मुझसे। मगर मन में एक आकुल प्रार्थना उठ रही थी······ मैं पूजा नहीं जानता—स्तुति नहीं जानता—तुम्हारी महिमा भी नहीं जानता माँ। क्यों आया हूँ और किसकी खोज में आया हूँ—यह तुम अच्छी तरह जानती हो। इससे भी तुम भलीभाँति परिचित हो।

वह रहस्यमयी भैरवी

कब तक मैं बैठा रहा, नहीं जानता। फिर उठा और धीरे-धीरे चलकर बाहर निकल आया। साँझ की स्याह कालिमा शनैः-शनैः फैलने लगी थी। जब मैं नाट-मन्दिर के समीप पहुँचा तो सहसा मेरी दृष्टि बायीं ओर घूम गयी। देखा, नाट-मन्दिर के मोटे खम्भे से टेक लगाये व्याघ्र-आसन पर एक भैरवी ध्यानस्थ बैठी हुई थी। शरीर पर कसकर पहनी हुई लाल रंग की रेशमी साड़ी थी। लेकिन ऊपर का भाग अनावृत था। काफी नीचे तक झूल रहे बड़े-बड़े स्तन साफ दिखलाई दे रहे थे। चौड़े मस्तक पर

श्मशान-भस्म की त्रिपुण्ड्री रेखा थी और उस रेखा के बीच में लाल सिन्दूर का बड़ा-सा गोल टीका था। दोनों भुजाओं, गर्दन, छाती और पेट पर भी लाल चन्दन का प्रलेप था। सिर के घने काले बाल बिखरकर जमीन का स्पर्श कर रहे थे। बड़ी-बड़ी फाँक जैसी आँखें कुछ-कुछ रक्ताभ—गले में रुद्राक्ष की मोटी-सी माला—दोनों कलाइयों में शंख और लोहे की चूड़ियाँ—शरीर का रंग बिल्कुल काला—नाक-नक्शा आकर्षक—मगर व्यक्तित्व अत्यन्त कठोर और खूब स्थिर। पीठ सीधी किये बैठी थी वह। पास ही लोहे का चमचमाता हुआ लम्बा-सा त्रिशूल रखा था। सुडौल और स्वस्थ शरीर था उसका। बैठने पर भी लम्बी लग रही थी वह। वय ३५-४० से अधिक नहीं थी। मगर मुख की ओर देखकर वय की बात याद नहीं आती थी।

भैरवी की बड़ी-बड़ी रक्ताभ आँखों की अपलक दृष्टि के एक अव्यर्थ आघात से ठिठककर खड़ा हो गया मैं। मुझे ऐसा लगा कि वह दृष्टि काफी देर से मेरी ओर ही स्थिर होकर लगी हुई है। अब आँखों से आँखें मिलते ही हठात् मेरा सारा शरीर बेबस और पंगु हो गया। ऐसी बेधनेवाली तीक्ष्ण और स्थिर दृष्टि मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। मुझे लगा कि इन आँखों के द्वारा यह नारी किसी भी व्यक्ति को अपने पास खींच सकती है और उसके बाद इत्मीनान से पास रखे त्रिशूल को उसके कलेजे में उतार दे सकती है विमूढ़ होकर ताकता रहा मैं। दूसरी ओर मुँह नहीं घुमा सका। हिल-डुल भी न सका। खूब धीरे-धीरे भैरवी की पलकें गिरीं। पुकारकर या इशारे से नहीं, बल्कि पलकें गिरा करके ही उसने मुझे मानों अपने पास बुलाया। एक बार पलकों को गिरते देखकर मेरा भी होश लौट आया। तुरन्त सम्भल गया मैं। जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाकर—कुछ सीढ़ियाँ उतरकर चबूतरे पर से सिंहद्वार की ओर बढ़ चला। नीचे उतरने के लिए वह टूटी-फूटी और बेढंगी सीढ़ियाँ थीं। सिंहद्वार के बाहर जाकर मैंने लम्बी साँस ली। मेरा कलेजा अब भी धड़क रहा था। वहाँ खड़े-खड़े एक बार मैंने घूमकर नाट-मन्दिर की ओर देखा और देखते ही मुझे फिर एक बार वही झटका लगा। भैरवी स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देख रही थी। उस दृष्टि में क्रोध का आभास था। जहाँ भी जाऊँ, जितनी भी दूर जाऊँ, मानो वह मेरा सर्वस्व नाश कर दे सकती है। अब बिना एक पल रुके मैं सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आ गया। शान्ति की एक लम्बी साँस ली मैंने। ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ था जीवन में। तान्त्रिक साधना के रहस्यों से परिचित होने के लिए न जाने कितने स्थानों की यात्रा करनी पड़ी है मुझे, मगर यह मामला बड़ा ही विचित्र लगा था। हठात् न जाने क्या याद आया और याद आते ही काँप उठा मैं। कहीं यह भैरवी ही तो नहीं आकाशचारिणी योगिनी है? भवतोष बाबू मुझे आकाशचारिणी योगिनी का स्वरूप बतलाते-बतलाते रुक गये थे। बाद में मुझे भी पूछना याद नहीं रहा था।

× × ×

रात्रि में ठहरने के लिए एक कमरा मिल गया था मुझे। उसी कमरे में जमीन पर कम्बल बिछाकर अगरबत्ती जलायी और कम्बल पर बैठकर काफी देर तक माँ तारा का स्मरण करता रहा मैं। न जाने कब और किस क्षण नींद आ गयी मुझे और उस अवस्था में कई बार भैरवी को देखा मैंने निर्मम और भयंकर रूप में। एक बार तो डर के मारे उठकर बैठ ही गया मैं। दूसरे दिन सबेरे मेरा मन काफी शान्त था। तारा मन्दिर में भैरवी को देखकर भी मैंने परवाह नहीं की। एक बार घूमकर भी उसकी ओर मैंने नहीं देखा। माँ का दर्शन कर वापस चला आया। फिर साँझ हुई। आकाशचारिणी योगिनी की खोज में फिर मैं महाश्मशान की ओर चला गया।

काफी लम्बा-चौड़ा था वक्रेश्वर का वह महाश्मशान ! श्मशान-भूमि में ही कई पेड़ थे—पाकड़, पीपल, नीम और सेमल के। सभी पेड़ों पर यमघण्ट बँधे हुए थे और हर पेड़ के नीचे नर-कंकाल के हाथ-पैर की हड्डियाँ और खोपड़ियाँ बिखरी हुई थीं। शवों के गद्दे, तकिये, चादर, माला-फूल भी काफी संख्या में पड़े थे वहाँ। कुछ दूर पर तीन-चार अधजली लाशों के अंग भी बिखरे थे—जिन्हें श्मशान के कुत्ते नोच-खसोट रहे थे। थोड़ा आगे बढ़कर महाश्मशान के बगल में सहस्रमुण्डी आसन की लम्बी-चौड़ी वेदी थी और वेदी से लगा हुआ पंचवटी था। शायद भवतोष बाबू ने बतलाया था कि सहस्रमुण्डी आसन सिद्ध है। न जाने कितने योगी और तान्त्रिक उस महाआसन पर बैठकर सिद्धि-लाभ कर चुके हैं अब तक। सभी लोग उस महाआसन पर नहीं बैठ सकते। संयम और मन की स्थिरता न होने पर वह महाआसन सहा नहीं जा सकता।

× × ×

पूरे श्मशान में गहरी नीरवता छायी हुई थी। एक अबूझ-सी खिन्नता भरी थी निस्तब्ध वातावरण में। चारों ओर साँय-साँय हो रहा था। कुछ शव जलाये जा रहे थे। कुछ शव भूमि में गाड़े जा रहे थे और कुछ शव अन्त्येष्टि की प्रतीक्षा में थे। श्मशान का चक्कर लगाते समय एक महाशय से परिचय हो गया। नाम था भोलाराम। भोलाराम दिन-रात हर समय श्मशान में ही विचरण करते रहते हैं। श्मशान ही उनका एक प्रकार से निवासस्थल है। बीच-बीच में 'माँ' 'माँ' कहकर हुँकार कर उठते हैं। भोलाराम शाक्त-मार्ग के साधक हैं। गहरे लाल रंग का चोगा पहने रहते हैं। सारे चेहरे पर काली दाढ़ी और मूँछ भरी हुई हैं। लम्बा कद है। शरीर का रंग गोरा है। आयु पैंतालीस के आसपास होगी। वैसे हँसमुख और मिलनसार व्यक्ति हैं। नया आदमी देखते ही हर प्रकार की खोज-खबर लेते हैं। मेरे साथ भी बातचीत करने की चेष्टा की थी उन्होंने। पर प्रयत्न व्यर्थ होने पर बाद में माँ के चिन्तन में लग गये। भोलाराम से थोड़ी बातचीत करने के बाद सहस्रमुण्डी महाआसन की ओर बढ़ गया मैं। मगर दस-पन्द्रह कदम आगे बढ़ने पर ठिठक कर खड़ा हो गया। सहस्रमुण्डी आसन के पास ही हाथ में चमचमाता त्रिशूल लिये भैरवी के बिलकुल सामने पड़ गया मैं।

लम्बा और शक्तिशाली डीलडौल था भैरवी के शरीर का। गम्भीरता के बावजूद काला चेहरा सुन्दर ही लग रहा था। पहले दिन की तरह दृष्टि अन्तर्भेदी नहीं थी। फिर भी अपलक और कठोर अवश्य थी।

मैं एक तरफ हटकर निकलने को उद्यत हुआ था कि कण्ठस्वर सुनकर खड़ा हो गया। उस कण्ठस्वर में न जाने कैसी एक रहस्यमयी मोहिनी शक्ति थी—"पुण्य करने आये हो?"

अनजाने में ही मैंने सिर हिलाकर बताया—"नहीं, ऐसा नहीं है।"

"तब? उससे अधिक साधना या मोक्ष-प्राप्ति?"

मैंने फिर नकारात्मक सिर हिलाया। वह मेरी ओर अपलक देख रही थी। उसकी दृष्टि पैनी होती जा रही थी। तब तक श्मशान में 'बोल हरि, बोल ·······' करते हुए तीन-चार शव आ गये थे। थोड़ी भीड़ हो गई थी। लोग कभी मुझे तो कभी भैरवी को देख रहे थे। एकाएक स्वाभाविक होकर आगे बढ़ गया मैं। कलेजे में कँपकँपी थी। समझ न सका। लौटते समय देखा, भैरवी वहाँ नहीं थी।

× × ×

रात्रि में कमरे का ताला बन्द कर मैं फिर बाहर निकला। मेरे कदम अपने-आप सहस्रमुण्डी महाआसन की ओर बढ़ गये। साँझ के समय आनेवाले शवों की चिताएँ अब तक काफी जल चुकी थीं। श्मशान में मरियल कुत्तों और सियारों की भीड़ इकट्ठी हो गई थी। सहस्रमुण्डी महाआसन पर बैठने की मेरी इच्छा थी उस समय। सोचा, महाआसन पर बैठकर उस आकाशचारिणी योगिनी का चिन्तन करूँगा और साथ ही माँ को भी पुकारूँगा। वातावरण में गहन अन्धकार छाया हुआ था। आकाश में काले मेघ मँडरा रहे थे। हवा में वेग था। घोर निस्तब्धता थी चारों तरफ। हवा की सरसराहट भी चौंका देती थी कभी-कभी। सहस्रमुण्डी महाआसन पर कम्बल बिछाकर पद्मासन की मुद्रा में बैठ गया मैं तनकर। भय नहीं लगा। और भी दो-चार साधक बैठे थे वहाँ। भोलाराम भी थे। मगर अँधेरे में किसीका चेहरा साफ नहीं दिखाई दे रहा था। स्थिर होकर कुछ देर बैठने के बाद ही मेरा मन शान्त होकर गहराई में डूब गया। वह एक विचित्र अनुभूति थी। एक अद्भुत प्रशस्ति की गहन अनुभूति। चुपचाप कोई आकर बैठ गया था और कोई उठकर चला भी गया था। मगर मेरा ध्यान उधर नहीं था। वास्तव में समर्पण के एक नये प्रवाह में विभोर था मैं। पता नहीं कितना समय बीत गया। अचानक बिल्कुल पास ही किसीके जोर से साँस लेने की आवाज सुनकर मैंने धीरे से आँख खोलकर देखा। साथ ही रोम-रोम सिहर उठा मेरा। केवल गजभर की दूरी पर दो जलती हुई आँखें मेरे चेहरे की ओर स्थिर होकर देख रही थीं।

ये क्या किसी बाघिन की आँखें हैं ? कब वह आयी और बैठ गई थी—मुझे पता तक नहीं चला था। उसका सारा शरीर पत्थर की तरह निश्चल था। केवल मशाल की तरह आँखें जल रही थीं। सहस्रमुण्डी आसन पर उस समय कोई भी आदमी नहीं था। भोलाराम भी नहीं थे। मेरा सारा शरीर अवश और निस्पन्द हो गया।

'माँ ·· ···' सहस्रमुण्डी महाआसन के समीप किसी पेड़ के नीचे से भोलाराम का गम्भीर स्वर तैरता हुआ आया और उसी क्षण मानो मुझे होश आया। सारे शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। उठकर सीधा खड़ा हो गया मैं और उसके बाद अँधेरे में ही आसन से उठकर तेजी से पैर उठाते हुए रास्ते की ओर चल पड़ा। उस समय मानों मैं रास्ता भूल गया था और माँ नाम के विद्युत्-प्रकाश में वह दीख गया मुझे। तात्पर्य यह कि वह अवसर खो देने से मैं अपने-आपको हमेशा के लिए खो बैठता।

कौन थी वह रहस्यमयी भैरवी ?

सभी चिताएँ जलकर राख में बदल गई थीं। मैं उस रहस्यमयी भैरवी के बारे में ही सोचता हुआ जल्दी-जल्दी आगे बढ़ रहा था। कौन है वह रहस्यमयी भैरवी ? इस प्रकार मेरे पीछे क्यों पड़ी हुई है ? मिलने आया था यहाँ आकाशचारिणी योगिनी से और मिल गई यह त्रिशूलधारिणी भैरवी ! कहाँ आकर किसके चंगुल में फँस गया मैं ? नित्यक्रिया से निवृत्त होकर सबेरे ही सबेरे माँ के दर्शन के निमित्त निकला मैं। रास्ते में अचानक भोलाराम मिल गये। बोले—"कल रात्रि में महाआसन पर आपके समीप भैरवी को बैठी हुई देखकर मन में एक बात आयी। बुरा न मानियेगा। जरा आप उस त्रिशूलधारिणी से बचकर रहियेगा। समझे महाशय ! अत्यन्त भयंकर है वह। रक्तपिशाचिनी है वह। न जाने कितने लोगों का रक्तपान कर चुकी है वह इस महाश्मशान में रहकर।" फिर 'हे माँ !' कहकर भोलाराम मौन साध गये।

"कौन है यह भैरवी ? कहाँ से आयी है और कब से रह रही है इस महाश्मशान में ?"—प्रश्न किया मैंने।

एक हुँकार भरकर भोलाराम बोले—"मैं इसे पिछले चालीस साल से इसी रूप-रंग, वेश-भूषा में इसी तरह यहाँ इस महाश्मशान में विचरण करते हुए देख रहा हूँ। जरा-सा भी फर्क नहीं पड़ा है उसके रूप-रंग और स्वभाव में।"

भोलाराम 'माँ' के नाम का उच्चारण कर आगे बोले—"सुना है, पश्चिम बंगाल के किसी जमींदार परिवार की है वह। युवावस्था में अत्यधिक सुन्दर रही होगी, इसमें सन्देह नहीं। न जाने कैसे कामाख्या के प्रसिद्ध तन्त्र-साधक उमानन्द कापालिक के चंगुल में फँस गई बेचारी। उस विकट कापालिक ने उसे सम्मोहित कर अपनी भैरवी बना लिया। आप तो जानते ही होंगे कि बिना भैरवी के तन्त्र की ऊँची साधना में

सफलता और सिद्धि उपलब्ध नहीं होती। भैरवी के अभाव में तन्त्र-साधना में गति असम्भव है। कापालिक उमानन्द ने उसके माध्यम से अपनी कई रहस्यमयी तान्त्रिक साधना पूर्ण कर सिद्धि-लाभ किया। खैर, बाद में भैरवी को एक पुत्र भी हुआ। इस प्रकार भैरवी से उत्पन्न शिशु को पशु की संज्ञा दी जाती है कापालिक-मार्ग में।"

यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे।

भोलाराम बतलाते गये—"कापालिक उमानन्द अतिप्रसन्न हुआ शिशुरूप में पशु प्राप्त कर। उसकी आँखें चमक उठीं। शिशु की बलि देकर कोई उच्च तान्त्रिक सिद्धि प्राप्त करना चाहता था वह। किया भी उसने ऐसा ही। दीपावली की कालरात्रि की महानिशा वेला में उस दुर्धर्ष कापालिक ने केवल छह मास के उस अबोध शिशु की बलि दे दी श्मशानभैरव के सम्मुख।"

भोलानन्द थोड़ा रुककर आगे बोले—"कापालिक उमानन्द को सिद्धि उपलब्ध हुई या नहीं, यह तो बतलाया नहीं जा सकता, लेकिन पुत्र-वियोग से सन्तप्त भैरवी उसका साथ हमेशा के लिए छोड़कर हिमालय की ओर चली गई और जब वह वापस लौटी तो उसके पास अनेक प्रकार की यौगिक और तान्त्रिक सिद्धियाँ थीं जो अपने-आपमें अतिरहस्यमयी और दुर्लभ थीं।" तब से लेकर अब तक वक्रेश्वर के महाश्मशान में रह रही है वह।"

"आपने क्या कोई चमत्कार देखा है भैरवी का?" मैंने पूछा।

"हाँ, कई बार देखा है।"—भोलाराम बोले-"पहला चमत्कार तो यही है कि आज तक किसीने भैरवी को कुछ भी खाते-पीते नहीं देखा। किसीसे कुछ माँगते हुए भी नहीं देखा। कब और कहाँ सोती है, यह भी किसीने आज तक नहीं देखा। मगर बन्धु, शराब बहुत पीती है। हर समय पीती ही रहती है। आश्चर्य की बात तो यह कि शराब उसे मिलती कहाँ से है? कौन देता है उसे? बाजार में कई दुकानें हैं शराब की। लेकिन कभी किसीने शराब खरीदते हुए उसे नहीं देखा। दुकान पर कभी शराब लेने आई है—इस बात को साफ इन्कार कर देते हैं दुकानदार लोग। कोई ऐसा आदमी यहाँ है भी नहीं—जो शराब खरीदकर उसे दे।"

"आपने तो बड़ी आश्चर्यजनक बात बतलाई।"—मैंने कहा।

"सब कुछ आश्चर्यमय तो है ही।" भोलाराम बोले—"एक बार भैरवी को मैंने मुर्दे से बातें करते हुए भी देखा है।"

"अच्छा।"

"हाँ, वह मुर्दा किसी युवक का था। लावारिस था। कई दिनों तक नदी के किनारे बालू पर पड़ा रहा। भैरवी रोज उसे नहलाती-धुलाती थी। चन्दन-टीका

लगाती थी। कपड़े बदलती थी। फिर घण्टों उससे न जाने क्या-क्या बातें करती रहती थी।"

"मुर्दा भी बात करता था ?"

"हाँ भाई, वह भी जीवित व्यक्ति की तरह बातें करता था भैरवी से। कभी-कभी जोर से हँसता भी था।"

यह सुनकर एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं।

"एक बात और बतला दूँ मैं आपको—किसीसे कहियेगा नहीं।"–भोलाराम बोले–"कापालिक उमानन्द ने अभी तक भैरवी का पीछा नहीं छोड़ा है। वह न जाने कहाँ से कैसे यहाँ आ जाता है हर अमावास्या की रात्रि में और अत्यन्त गोपनीय ढंग से भैरवी के साथ साधना करके न जाने कब वापस भी लौट जाता है।"

"क्या आपने कभी कापालिक उमानन्द को देखा है ?"—मैंने पूछा।"

भोलाराम ने कहा—"हाँ! कई बार देखा है। काफी लम्बी-चौड़ी काठी का है वह भयंकर कापालिक। वय कितनी होगी यह तो नहीं बतला सकता। मगर देखने में चालीस से अधिक नहीं लगता वह। घने काले बाल हैं—जो कन्धे तक झूलते रहते हैं। दाढ़ी-मूँछ भी घनी है। मस्तक पर श्मशान-भस्म और काला टीका लगाता है। काला चोगा पहनता है। शराब के नशे के कारण हमेशा उसकी आँखें लाल रहती हैं। चेहरे पर हमेशा क्रूरता का भाव रहता है।"

कापालिक उमानन्द का यह विवरण सुनकर न जाने क्यों उसे देखने और उससे मिलने की लालसा जाग्रत हो गई मेरे मन में। दो ही दिन बाद अमावास्या थी।

एक रहस्यमय साधु से भेंट

दो दिन तक महाश्मशान में नहीं गया मैं। बस, माँ तारा का दर्शन कर वापस अपने कमरे में आ जाता था। सोचा, अमावास्या की रात्रि में महाश्मशान की ओर जाऊँगा और महाआसन पर बैठकर प्रतीक्षा करूंगा उस कापालिक की। लेकिन अमावास्या के प्रातःकाल मन्दिर में एक सज्जन से मेरा परिचय हो गया। मालूम हुआ कि वे महाशय माँ का दर्शन करने के लिए बहुत दूर से आये थे। नाम था चक्रपाणि। हाँ, यही नाम बतलाया था उन्होंने। लेकिन चक्रपाणि महाशय का व्यक्तित्व काफी रहस्यमय लगा मुझे। स्वस्थ शरीर—लम्बा कद—मजबूत काठी—काला रंग—शरीर पर लाल रंग की लूंगी और रेशमी चादर—गले में मूंगे और रुद्राक्ष की मालाएँ–सिर मुड़ा हुआ–दाढ़ी-मूंछ भी सफाचट-गोल-गोल आंखें–तोते की तरह नाक–कद्दू की तरह बेडौल चेहरा—नीचे का जबड़ा मोटा और नीचे की ओर लटका हुआ। कुल मिलाकर एक हास्यास्पद और बदसूरत व्यक्तित्व। फिर भी न जाने कैसा आकर्षण था उस विचित्र साधु में।

"मैं काशी से आया हूँ। आकाशगामिनी विद्या के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी चाहता हूँ और इसीलिए वक्रेश्वर में एक आकाशचारिणी योगिनी से मिलने भी आया हूँ'—आदि बातें न जाने कैसे जान गये थे वे महाशय। घोर आश्चर्य हुआ था मुझे। यहाँ तक कि वे मेरा नाम भी जान गये थे। मैं उन्हें अपने कमरे में ले आया। अब तक काफी प्रभावित हो गया था मैं उनसे। मेरे आसन पर ही पसरकर बैठ गये महाशय। निश्चय ही कोई सिद्ध साधक थे वह, इसमें सन्देह नहीं। यदि न होते तो मेरे विषय में सारी बातें कैसे जान या समझ पाते ? कमरे में बैठने के बाद एक बार उन्होंने चारों ओर सिर घुमाकर देखा और फिर उसके बाद अपने छोटे-से झोले से गाँजा निकालकर उसे चिलम में सुलगाने लगे। गाँजे का दो-चार दम लगाने के बाद कुछ देर तक मौन रहे। तब तक उनकी आँखें लाल हो गयीं। थोड़ा खाँसने के बाद भर्राये स्वर में कहने लगे—"तुम्हें अभी कुछ भी नहीं मालूम है। बालक हो।"

आकाशगामिनी विद्या-सम्बन्धी विवरण

"योग-तन्त्र की चौंसठ विद्याओं में से एक है आकाशगामिनी विद्या। यह अतिप्राचीन विज्ञान है—जिसे जाननेवाला व्यक्ति आकाश-मार्ग से सर्वत्र विचरण कर सकता है। नदी, पहाड़, जंगल, समुद्र कोई भी उसके मार्ग में बाधक नहीं बन सकते हैं। इस रहस्य-मयी विद्या के अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। महर्षि व्यास के पुत्र शुकदेव ने इसी विद्या की सिद्धि द्वारा सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की निर्विघ्न यात्रा की थी। इसी विद्या का आश्रय लेकर महर्षि नारद भी तीनों लोकों में विचरण करते थे। हनुमान् और नल-नील को भी इस विद्या की सिद्धि थी। हनुमान् ने समुद्र का उल्लंघन इसी विद्या के द्वारा किया था और आकाश-मार्ग से मृतसंजीवनी भी लाये थे। रावण को तो आकाश-गामिनी विद्या का आचार्य ही कहना उपयुक्त होगा। उसने इसी विद्या की सहायता से एक ऐसा विमान बनाया था जो उसके संकेत पर अत्यन्त तीव्रगति से आकाश में उड़ता था। स्वयं रावण भी इसी विद्या की सहायता से आकाश-मार्ग से यात्रा करता था। 'हेमवती विद्या' द्वारा उसने अथाह स्वर्ण का निर्माण कर सम्पूर्ण लंका को ही स्वर्णमय बना डाला था। वास्तव में जितनी भी तान्त्रिक विद्याएँ हैं—वे सब यक्षों और राक्षसों की ही देन हैं। आर्यों के आने के पहले हमारे देश में यक्ष और राक्षस—ये ही दो जाति के लोग थे। दोनों प्रकृति के भयानक रूप के उपासक थे। मगर दोनों की उपासना में थोड़ी भिन्नता थी। यक्ष-जाति के लोग प्रकृति-शक्ति को अपने अनुकूल बनाने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहते थे, जब कि राक्षस-जाति के लोग प्रकृति-शक्ति के विभिन्न रूपों पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहा करते थे। कहने की आवश्यकता नहीं—दोनों के इसी प्रयत्नशीलता के फलस्वरूप नाना प्रकार की तन्त्र-विद्याओं ने जन्म लिया और उनके विज्ञानों का भी आविर्भाव हुआ समय-समय पर।''' ''

"तान्त्रिक विद्याओं में एक 'पारद-विद्या' भी है। पारद को बाँधना असम्भव है। उसको बाँधने की क्रिया को 'रसबन्ध-क्रिया' कहते हैं। रावण पारद-विद्या और उसकी रसबन्ध-क्रिया से भी भलीभाँति परिचित था। रसबन्ध-क्रिया के आधार पर उसने पारद की एक ऐसी 'गुटिका' तैयार कर अपनी नाभि में रख ली थी—जिसके प्रभाव से वह जरा, मरण के भय से मुक्त हो गया था। ऐसे सिद्ध पारद को 'अमृत' कहा गया है। 'नाभि' जीवनी शक्ति का एकमात्र केन्द्र है। इसीलिए 'गुटिका' को रावण ने अपनी नाभि में रखा था। रावण की मृत्यु तभी सम्भव हो सकी—जब तक राम ने अपने ३१वें बाण से गुटिका को नष्ट नहीं कर दिया।"

× × ×

"२री शताब्दीमें भी 'आकाशगामिनी' विद्या के जीवित रहने का प्रमाण मिलता है। उत्तरी भारत के आर्यावर्त प्रान्त में नाग-वंश के अनेक प्रतापी राजा हुए। इस अवधि में जिन्होंने इस रहस्यमयी विद्या को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया—उनमें अहिछत्र (वर्तमान रुहेलखण्ड) के राजा वासुकि के असाधारण प्रतिभाशाली पुत्र नागार्जुन का नाम प्रसिद्ध है। नागार्जुन के गुरु थे पदलिप्त। पदलिप्त ने नागार्जुन को रसायन-शास्त्र में पारंगत ही नहीं किया, बल्कि आकाशगामिनी विद्या भी बतलाई उन्हें। वे स्वयं आकाशमार्ग से नित्य तीर्थयात्रा करते थे। उन्होंने प्रसन्न होकर नागार्जुन को आकाश-गमन-विद्या से सारे रहस्यों से परिचित करा दिया था। भारतीय रसायन के इतिहास में नागार्जुन एक महत्त्वपूर्ण नाम है। पारद-विद्या के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं—तारबीज और हेमबीज। प्रकारान्तर में इन्हीं दोनों को तारक-विद्या और हेमवती-विद्या कहते हैं।

"जैसे हेमवती-विद्या स्वर्ण-निर्माण से सम्बन्धित है, वैसे ही तारक-विद्या है आकाश-गमन से सम्ब्रन्धित। दोनों में पारद का प्रयोग है। पारद का पर्याय रस है। आकाशगमन योग द्वारा तो सम्भव है ही, पारद-सिद्धि द्वारा भी सम्भव है। नागार्जुन पारद-विद्या के ज्ञाता तो थे ही, इसके अतिरिक्त तारक-विद्या और हेमवती-विद्या के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। तिब्बत में रस-रसायन से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'बौद्धतन्त्र', जिसके लेखक नागार्जुन हैं। महायान-सम्प्रदाय के इस तन्त्र का नाम 'रस-रत्नाकर' है। रस-रत्नाकर में नागार्जुन को रसशास्त्र का एक महान् सिद्ध बतलाया गया है।"

× × ×

"जैसा कि ऊपर बतलाया गया है 'रस' यानी पारद द्वारा भी आकाश-गमन सम्भव है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में व्याडी नामक एक रसायनशास्त्री ने अत्यधिक परिश्रम से सोना बनाने और आकाश में उड़ने की कला प्राप्त की थी। इस विषय में व्याडी ने एक पुस्तक भी लिखी थी, जो अब अनुपलब्ध है।"

चक्रपाणि ने कहा—"मैं आपको व्याडी की कथा सुनाता हूँ। व्याडी उज्जैन का निवासी था। वह रसायन-विद्या की खोज में इतना डूब गया था कि अपनी सम्पत्ति तो सम्पत्ति, अपना जीवन तक भी नष्ट कर डाला था। अपना सर्वस्व गँवा देने के बाद उसे इस विद्या से घोर घृणा हो गयी। एक दिन शोकमग्न नदी के तट पर बैठा था। उसके हाथ में वह 'भेषज संस्कार' ग्रन्थ था—जिसमें से वह अपने शोध के लिए व्यवस्था-पत्र लिखा करता था। निराशा से उत्तेजित होकर वह एक-एक पत्र फाड़कर जल में फेंकने लगा। व्याडी से कुछ दूर पर नदी के किनारे प्रवाह की दिशा में एक वेश्या भी बैठी हुई थी। उसने पत्रों को बहते देखकर पानी से बाहर निकाल लिया उन्हें। व्याडी की नजर उस पर तब पड़ी, जब वह पुस्तक के सारे पत्र फाड़कर नदी में फेंक चुका था। तभी वह वेश्या उसके पास आयी और पुस्तक फाड़ने का कारण पूछा।

व्याडी ने सारी बात बतला दी और अन्त में कहा—'घोर असफलता के कारण मुझे इस विद्या से घृणा हो गयी है।'

यह सुनकर वेश्या बोली—'इस कार्य को मत छोड़ो। ऋषियों का ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता। आपकी कामना की सिद्धि में जो बाधा है वह सम्भवतः किसी सूत्र को ढंग से न समझ पाने के कारण है। कोशिश करने पर वह बाधा अवश्य दूर हो जायेगी। मेरे पास काफी धन है। आप वह धन ले लें और पुनः प्रयास करें। सफलता अवश्य मिलेगी।'

प्रोत्साहन पाकर व्याडी के मन में पुनः आशा का संचार हुआ। वह उस वेश्या से धन लेकर पुनः रसायन-विद्या के रहस्यों की खोज में जुट गया। वास्तव में व्याडी से एक औषधि के व्यवस्था-पत्र का एक शब्द समझने में भूल हो गयी थी। उस शब्द का अर्थ यह था कि इसके लिए तेल और नर-रक्त दोनों की आवश्यकता है। वह शब्द रक्तामल था, जिसका अर्थ उसने लाल आमलक यानी आँवला समझा। जानते हैं, इस भूल का क्या परिणाम हुआ? जब व्याडी ने औषधि का प्रयोग किया तो उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। तब बेचैन होकर वह विविध औषधियाँ पकाने लगा। इस क्रिया में अग्निशिखा उसके सिर से छू गयी और उसका सिर जल गया। इसलिए उसने अपनी खोपड़ी पर बहुत-सा तेल डाल लिया और उसको मला। फिर वह किसी काम के लिए भट्ठी से उठकर बाहर जाने लगा। उसके सिर के ऊपर छत से एक कील बाहर को निकली हुई थी। उसका सिर उसमें लगा और रक्त बहने लगा। पीड़ा होने के कारण वह नीचे की ओर देखने लगा। उससे तेल के साथ मिले रक्त की कुछ बूंदें उसकी खोपड़ी के ऊपरी भाग से देगची में गिर पड़ीं। लेकिन व्याडी ने उन बूंदों को गिरते हुए नहीं देखा। फिर जब देगची में रसायन पक गया तो उसने और उसकी

पत्नी ने परीक्षा करने के लिए रसायन को अपने शरीरों पर मल लिया। इस क्रिया की आश्चर्यजनक प्रतिक्रिया हुई। जानते हैं क्या हुआ, वे दोनों वायु में उड़ने लगे।"

× × ×

"इसके बाद 'आकाशगामिनी विद्या' के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण यह था कि इससे सम्बन्धित साहित्य नष्ट हो गया। हिन्दुकुश पर्वत-श्रेणी को पार कर बर्बर असभ्य आक्रमणकारी यहाँ आये। उन्होंने मन्दिरों और विश्वविद्यालयों के अथाह धन और ज्ञान को लूटा और दुर्लभ पुस्तकों तथा प्राचीन ग्रन्थों को जलाकर नष्ट कर डाला। सबसे अधिक क्षति का सामना नालन्दा विश्वविद्यालय को करना पड़ा। पूर्व-मध्यकाल में केवल यही एक विश्वविद्यालय बचा था, जहाँ अनेक प्रकार की प्राचीन और रहस्यमयी विद्यायें जीवित थीं। आचार्य गौणपाद, अनंगवज्र, गोरखनाथ, चर्पटीनाथ, नागसेन आदि सिद्ध उस युग के असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् थे। बाणभट्ट के अनुसार सिद्ध तपस्वियों का साधनास्थल 'श्रीपर्वत' था, जो वर्तमान नागार्जुनकोंडा (आन्ध्र प्रदेश) के निकट नरहल्ल पर्वत है।"

चक्रपाणि ने बतलाया—"आज भी हिमालय की सुरम्य घाटियों, गिरि-गुहाओं और दुर्गम स्थानों में प्राचीन विद्याओं के गौरव से मण्डित अनेक सिद्ध पुरुष निवास करते हैं। सिद्ध पारद द्वारा उन्होंने शरीर को काल के बन्धनों से मुक्त कर लिया है। आकाशगामिनी विद्या द्वारा वे इच्छानुसार यत्र-तत्र विचरण करते रहते हैं। सामान्यतः उन्हें देख पाना सम्भव नहीं है। किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि कुछ पुण्यात्मा लोगों को उनके दर्शन हुए हैं। उन्होंने उन्हें प्रत्यक्ष आकाशमार्ग से गमन करते हुए देखा है।"

यह सुनकर मैंने कहा—"आठ-दस वर्ष पहले हालीउड की अभिनेत्री शर्ले मैक्मीलन एक बार भूटान आदि पर्वतीय प्रदेशों की यात्रा पर गई थीं। उन्होंने अपनी यात्रा से सम्बन्धित संस्मरण में लिखा है कि उन्होंने आकाश में पीतवस्त्रधारी एक लामा को उड़ते हुए देखा था। उस आश्चर्यजनक दृश्य को देखकर उनके मुख से अनायास निकल पड़ा था—'काश ! आज न्यूटन और आइन्स्टीन यहाँ होते। शायद वे अपने गुरुत्वाकर्षण से सम्बन्धित लम्बे-चौड़े शोध-ग्रन्थों को फाड़कर फेंक देते'।" फिर मैंने कहा—"यह एक सशक्त प्रमाण है कि आकाशगामिनी विद्या अभी भी जीवित है।"

× × ×

आकाश-गमन-गुटिका

चक्रपाणि महाशय निस्सन्देह विद्वान् थे। आकाशगामिनी विद्या का जो ऐतिहासिक विवरण और सांस्कृतिक स्वरूप का जो वर्णन उनसे सुनने को मिला था वह निश्चय ही मेरे लिए अतिमूल्यवान् था।

मेरे यह पूछने पर कि 'आकाशगमन-गुटिका' क्या है ? तो इस विषय में चक्रपाणि ने बतलाया कि "बारहवीं और चौदहवीं शताब्दी के बीच चिकित्सा-शास्त्र में कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी गयीं। इन रचनाओं में 'पारद से ऐसी गुटिका' के निर्माण की विधियाँ भी लिखी हैं--जिससे आकाश-गमन यानी आकाश-विचरण की सिद्धि मिल जाती है। वास्तव में ये तमाम पुस्तकें प्राचीन विद्याओं की स्मृतिमात्र हैं, जिन्हें संकलित करना रचनाकारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। कुछ प्राचीन विधियाँ अभिज्ञात हैं। यदि उन्हें सही ढंग से सिद्ध कर लिया जाय तो आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो सकती है।"

खेचरी-गुटिका

थोड़ा थमकर चक्रपाणि ने आगे कहा—"ऐसी ही एक विधि आठवीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य के गुरु द्वारा 'रस-तन्त्र', अध्याय १९ में लिखी गई है, जो इस प्रकार है—'सर्वप्रथम पारद को धूगबंधी बनाये। हीरा, माणिक्य, नीलम, मोती और मरकत—इन पाँच रत्नों का उसमें क्रमशः जारण-मारण करे। फिर सुवर्णबीजयुक्त पारद के साथ अभ्रक सत्त्व, स्वर्णमाक्षिक सत्त्व तथा कान्तपाषाण सत्त्व मिलाकर 'गुटिका' बनाये।' इसे 'खेचरी-गुटिका' कहते हैं। यह गुटिका मुख में धारण करते ही अपना प्रभाव दिखाती है। वह मनुष्य सुर, असुर, मनुष्य और सिद्धगण सभी का पूज्य हो जाता है। यह क्रिया कठिन अवश्य है, क्योंकि 'खेचरी-गुटिका' बनाने की विधि ग्रन्थ में सूत्ररूप में है। गुरु के बिना उसे सफलतापूर्वक कर पाना शायद ही सम्भव हो सके।

"पारद को धूमबंधी बना पाना भी साधारण बात नहीं है। फिर सत्त्वों की जारण-मारण क्रियाएँ भी कोई नहीं जानता। यदि पुस्तकों की सहायता से ये क्रियाएँ की भी जायँ—तब भी मार्गदर्शक और अनुभवसिद्ध गुरु की आवश्यकता बनी ही रहेगी। यदि विद्वान् और विनम्र रसशास्त्री अपने विवेक की सहायता से तथा कठोर परिश्रम करे—तो इस क्रिया को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं।"

यह सब सुनकर मुझे ऐसा लगा कि चक्रपाणि महाशय ऐसी ही कोई न कोई गुटिका के निर्माण की विधि अवश्य ही जानते होंगे। इस सम्बन्ध में पूछने पर उन्होंने बतलाया कि "खेचरी-गुटिका के निर्माण की एक और विधि भी है। काले धतूरे के बीजों के आठ तोले तेल में टंक (आधा छटाक) शुद्ध पारे को सात दिन तक लगातार घोटे। जब पारा जौ के आकार का हो जाय तो उड़द के चूने को गीला कर उसमें पारे को भलीभाँति बन्द कर दे। ऊपर से धागे से बाँधकर धूप में उसे सुखाये। उसके बाद सरसों के एक सेर तेल में उसे पकाये। जब सारा तेल जल जाय तो उसे शीतल छाया में रख दे। इसके बाद उसे लेकर जलांशहीन दूध से भरे घड़े में रख दे। जब वह गुटिका सारे दूध को सोख ले—तब घड़े से निकालकर काले बकरे के मुख में रख दे। बकरे के

मुख में भयानक जलन होने लगेगी। फिर उसी प्रकार की जलन हृदय और पेट में भी होने लगेगी। बकरा अशान्त और व्याकुल हो उठेगा। जब वह मर जाय तो उसके पेट से—गुटिका को निरापद जानकर बाहर निकाल ले और अपने मुख में धारण करे। वह गुटिका यौनरोग, मुखरोग, कर्कटरोग आदि समस्त भयंकर प्राणघातक रोगों को तत्काल नष्ट कर देती है। शरीर यौवनसम्पन्न, स्वस्थ और आकर्षक हो जाता है। इतना ही नहीं, वह सौ योजन यानी चार सौ मील तक बिना किसी रुकावट के आकाश-मार्ग से कहीं भी जा सकता है। यदि बकरे के स्थान पर मुर्गे का प्रयोग किया जाय तो गुटिका के प्रभाव से मनुष्य अन्तर्धान भी हो सकता है। अपने यौवन को अक्षुण्ण भी बनाये रख सकता है। यदि इसी प्रकार बकरे और मुर्गे के स्थान पर तीतर का प्रयोग किया जाय तो मनुष्य आकाश-मार्ग से संचरण, विचरण और गमन करनेवाले सिद्धों, योगियों और यहाँ तक कि यक्ष, गन्धर्वों तथा दिव्यशरीरधारी महापुरुषों को भी देख सकता है। लेकिन यह कार्य योग्य गुरु की देखरेख में होना चाहिए। यह विधि थोड़ी कम कठिन है। जिस पुस्तक से इसे चुना गया है, वह प्रामाणिक तकनीकी की पुस्तक है, इसलिए इस खेचरी-गुटिका की सत्यता में सन्देह नहीं।"

खेचरी-मुद्रा

"योग में एक खेचरी-मुद्रा भी है। जिन्हें खेचरी-मुद्रा सिद्ध रहती है, वे भी आकाशगमन करने में समर्थ होते हैं। हिमालय पर एक गुप्त आश्रम है। नाम है ज्ञानगंज मठ। उसमें निवास करनेवाले योगियों को खेचरी-मुद्रा सिद्ध है। वे इच्छानुसार आकाश-भ्रमण करते हैं। उनके लिए कोई सीमा नहीं है।"

चक्रपाणि महाशय गाँजे का दम लगाकर मुँह से धुआँ निकालते हुए बोले—"तुम तो जानते ही होगे कि सम्पूर्ण जगत् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वों के संयोग से बना है। समस्त वस्तुएँ दो प्रकार की हैं—जड़ और चेतन। चेतन वस्तुओं में एक अनिवार्य बात यह है कि उनमें पाँचों मूलतत्त्व किसी न किसी अनुपात में विद्यमान रहते हैं तथा उनका अनुपात बदलता रहता है। जड़ वस्तुओं में ये पाँचों मूलतत्त्व एक साथ प्रायः नहीं पाये जाते। यदि किसी वस्तु में मिलते भी हैं तो उनका अनुपात बदलता नहीं। यदि ऐसी विधि ज्ञात हो जाय कि पाँचों मूलतत्त्व रखनेवाली जड़ वस्तु में तत्त्वों का अनुपात बदला जा सके तो जड़ वस्तु चेतन प्राणी की तरह व्यवहार कर सकती है। इस परिकल्पना को पारद पर साकार करने का प्रयास किया गया।"

"क्यों ?" मैंने प्रश्न किया।

"इसलिए कि इस दुर्लभ पदार्थ पारद में पाँचों तत्त्व मौजूद हैं। अन्य पदार्थों का इस पर चमत्कारी प्रभाव पड़ता है। ऋषियों ने सोचा कि प्रकृति जब पाँच मूलतत्त्वों

से बनी है तो पृथ्वी पर भी ऐसे पाँच पदार्थ अवश्य होंगे—जिनमें अलग-अलग पाँचों तत्त्वों के गुण हों। कठोर परिश्रम के द्वारा ये पाँच पदार्थ भी खोज ही लिये गये। आकाशतत्त्व के सारे गुण 'अभ्रक' में पाये गये। पाँचों पदार्थों को पारद के साथ मिलाकर परीक्षा की गयी तो पता चला कि वही पारद अब अत्यन्त विचित्र और चेतना जैसी रहस्यमयी शक्तियों से परिपूर्ण हो गया है। उदाहरणार्थ, जब ऋषियों ने पारद से आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त करनी चाही तो उन्हें मालूम हुआ कि पारद में आकाश-तत्त्व यानी अभ्रक का योग विशेष रूप से करना पड़ता है। यानी जैसे गुण चाहिए वैसे ही गुणवाले पदार्थ का एक विशेष योग, मतलब मेल, बस।

"फिर क्या था, रहस्य का दरवाजा खुल गया और उसी पारद से आठों सिद्धियाँ और नौ निधियाँ प्राप्त कर ली गयीं जो किसी योगी को कठोर साधना और घोर परिश्रम करने पर भी नहीं मिल पातीं।"

× × ×

चक्रपाणि ने दूसरी बार चिलम में गाँजा भरा और फिर कस खींचा। उसके बाद कहना शुरू किया—"इस प्रसंग में तुम्हें मालूम होना चाहिए कि भेषज-शास्त्र और रसायन-शास्त्र के विषय अत्यन्त कठिन, जटिल और साथ ही रहस्यमय हैं। दैवी शक्ति की कृपा, अनुकम्पा, सहायता और प्रेरणा के बिना उनमें गति अथवा सफलता प्राप्त करना सन्दिग्ध है। जिस दैवी शक्ति के द्वारा इन रहस्यमयी विद्याओं में गति एवं सफलता प्राप्त होती है और प्राप्त होती है सिद्धि उसे तन्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में 'वटयक्षिणी' की संज्ञा दी गयी है। भारतीय रसायन-शास्त्र के इतिहास का अध्ययन करने पर पता चलता है कि नागार्जुन को वटयक्षिणी की सिद्धि प्राप्त थी। उनके समय में 'पारद' अत्यन्त व्यापक और महत्त्वपूर्ण शब्द था। मैंने हेमबीज की चर्चा तुमसे की थी अभी। वास्तव में हेमबीज एक रससिद्ध व्यक्ति का नाम है। वह व्यक्ति सिद्ध रसायनशास्त्री था। वह पारद की सहायता से सोना बनाने में पूर्ण दक्ष था। इसलिए उसके नाम पर इस विद्या को 'हेमवती विद्या' कहा जाने लगा। वह व्यक्ति जिस क्रिया से सोना बनाता था वह क्रिया थी हेमबीज। क्रिया के नाम पर ही उस व्यक्ति को भी हेमबीज कहा जाने लगा। समझ गये न ? नागार्जुन की ख्याति 'रसविद्या' के पण्डित के रूप में भारत के बाहर तिब्बत और चीन में भी फैली हुई थी। वैसे तो वे विदर्भ के ब्राह्मण थे। लेकिन बाल्यावस्था में ही वे बौद्ध धर्म स्वीकार कर भिक्षु हो गये। वे बहुत समय तक नालन्दा विश्वविद्यालय में मुख्य अधिष्ठाता भी थे। खैर।"

रसेश्वर-दर्शन

चक्रपाणि ने कहा—"व्यापकता के कारण पारद को 'रस' का पर्याय ही समझा जाने लगा। लोग उसे 'रस' शब्द से भी सम्बोधित करने लगे। काफी लम्बे अर्से तक

रसायन-पारद का शास्त्र रहा, जिसका आश्रय लेकर रसेश्वर-दर्शन का आविर्भाव हुआ। शैव दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय रसेश्वर-दर्शन का भी अनुयायी है, जिसका सिद्धान्त यह है कि जीवन-मुक्ति की प्राप्ति का उपाय तभी सफल है, जब कि दिव्य शरीर हो। व्याधिग्रस्त शरीर से न साधना हो सकती है और न तो ब्रह्म का साक्षात्कार ही सम्भव है। इसके लिए शरीर को रोगरहित, व्याधिरहित, दिव्य और दृढ़ होना आवश्यक है। इसीका नाम 'पिण्डस्थैर्य' है। एकमात्र यह कायसिद्धि पारद द्वारा ही सम्भव है। रसेश्वर-दर्शन में पारद को शंकर का 'वीर्य' और अभ्रक को पार्वती के 'रज' के रूप में स्वीकार किया गया है। इन दोनों के संयोग से जो भस्म तैयार होता है, वह शरीर को दिव्य, रोगरहित बनाने में सर्वथा समर्थ है। शरीर के भीतर प्राण और बाहर पारद—इन दोनों के उचित प्रयोग से ही योगीगण अक्षय यौवनसम्पन्न, कालजयी और दिव्यशरीरी होते हैं।

"प्राण का नियमन प्राणायाम से और पारद का उपयोग उसके भस्म से होता है। इन दोनों का उपयोग सिद्ध योगीजन अपने शरीर को दिव्य बनाने के लिए करते हैं। पारद की तीन अवस्थाएँ हैं—मूर्च्छित, मृत और बद्ध। पारद का पर्याय रस है और वही रस ईश्वर है। उस रस को १८ प्रकार के संस्कारों द्वारा सिद्ध करना पड़ता है। इसी उपयोगिता के कारण रस को ईश्वर कहा जाता है। रसेश्वर-दर्शन का यही सिद्धान्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दर्शन से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी रस का उल्लेख है। उसमें रस को ब्रह्म का प्रतीक बतलाया गया है। नागार्जुन का 'रस-रत्नाकर', गोविन्द भगवत्पाद का 'रस-हृदय', विष्णुस्वामी की 'साकार-सिद्धि' तो वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन फिर भी रसेश्वर-दर्शन से सम्बन्धित साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।"

× × ×

लामा की गुटिका और बटयक्षिणी

इतना सब सुन लेने के बाद अचानक मैं सोचने लगा कि उस रहस्यमय लामा ने मुझे ऐसी ही कोई गुटिका दी थी, जिसकी सहायता से मैंने रात के समय उस आकाश-चारिणी योगिनी को आकाश-गमन करते हुए देखा था। रहा नहीं गया मुझसे। मेरा दुर्भाग्य था कि चक्रपाणि महाशय को सारी कथा सुना दी मैंने आदि से अन्त तक और यह भी बतला दिया कि किस उद्देश्य से वक्रेश्वर आया हूँ मैं। सब कुछ ध्यान से सुन लेने के बाद चक्रपाणि महाशय एकबारगी हो-हो कर हँसे। फिर चिलम की राख झाड़ते हुए बोले—"उसी गुटिका के कारण ही इतनी दूर से चलकर यहाँ आया हूँ और पारद के गूढ़ तथा रहस्यमय विषयों के सम्बन्ध में इतनी विस्तृत चर्चा भी की मैंने। तुम नहीं जानते। जानोगे भी कैसे? उस गुटिका में एक महागुण यह भी है कि

वह जहाँ और जिसके पास रहेगी—वहाँ उसके पास हम जैसे लोगों को आकर्षित करेगी।"

थोड़ा रुककर चक्रपाणि महाशय ने आगे कहा—"तुम्हें यह भी जानकर घोर आश्चर्य होगा कि जो लामा तुम्हें मिले थे और जिन्होंने तुम्हें यह गुटिका दी थी, वे महाशय तिब्बत के सिद्ध योगाश्रम सिकियांग मठ के एक सिद्ध लामा योगी थे और जिस आकाशचारिणी योगिनी की खोज में तुम इस श्मशान में भटक रहे हो वह और कोई नहीं—उन्हीं लामा योगी की शिष्या है।"

"ऐं! क्या कहा आपने—वह शिष्या है उन लामा योगी की?" सकपकाकर आश्चर्यभरे स्वर में बोला मैं—"मगर······मगर आप कौन हैं? आपने तो अपना पूरा परिचय अभी तक नहीं दिया मुझे।"

"मैं चक्रपाणि हूँ। इससे अधिक तुम्हें जानने की आवश्यकता नहीं।"

अपने प्रश्न के उत्तर में मुझे केवल इतना ही सुनाई दिया। फिर सिर घुमाकर चारों तरफ देखा—कमरे में चक्रपाणि महाशय नहीं थे। एकाएक उनका अस्तित्व कहाँ लुप्त हो गया—समझ में नहीं आया। उस छोटे-से कमरे में शान्त वातावरण में केवल चिलम के धुएँ की गन्ध बिखरी हुई थी।

हे भगवान्! कौन था वह रहस्यमय साधु-भेषधारी व्यक्ति? कहाँ से आया था? और फिर पलक झपकते गायब हो गया वह। क्या सचमुच उस रहस्यमयी गुटिका में आकर्षण-शक्ति है? क्या वास्तव में उसी गुटिका के आकर्षण के वशीभूत होकर वह यहाँ आया था? तभी कुछ कौंध-सा गया मेरे मस्तिष्क में। तुरन्त झोली में टटोलकर देखा। गुटिका गायब थी। क्या वे ही महाशय तो नहीं ले गये उसे? लेकिन···गोली तो बक्से में बन्द थी। तो फिर···इसके आगे मुझसे न कुछ सोचा गया और न तो कुछ विचारा ही गया। जड़वत् न जाने कब तक अन्धकार में डूबे हुए आकाश की ओर शून्य में निहारता रहा।

पूरी रात नींद नहीं आयी। भोर के समय थोड़ी देर के लिए झपकी लगी और उसी अवस्था में एक अपूर्व सुन्दरी युवती को देखा मैंने। अद्‌भुत सौन्दर्य था उसका। विलक्षण आभा से दप्-दप् कर रहा था उस सुन्दरी का मुखमण्डल। बड़े-बड़े नेत्र—गुलाब की पंखुड़ियों जैसे रक्ताभ होंठ—घनी भौंहें—ऊँचा ललाट और उस ललाट पर—केशर का त्रिपुण्ड्र—गले में नौ रत्नों की माला—उन्नत उरोज—क्षीण कटि—घनी स्याह केश-राशि। गौरवर्ण शरीर पर पीत वर्ण की रेशमी साड़ी। युवती अपने एक हाथ में स्वर्ण-कलश लिये हुए थी और दूसरे हाथ में लिये थी कमल-पुष्प। मैंने देखा, वह देवबाला-सी रूपसी मेरी ओर देखते हुए मन्द-मन्द मुस्करा रही थी। फिर उसके रक्ताभ होंठ हिले। वाणी फूटी—"पहचाना, मैं कौन हूँ?"

"नहीं, मैं नहीं जानता आप कौन हैं ?" किसी प्रकार उत्तर दिया मैंने।

"मैं वटयक्षिणी हूँ। मेरा निवास यक्ष-लोक में है। गुटिका के आकर्षण के वशीभूत होकर मैं आई थी तुम्हारे पास। लेकिन वह गुटिका तो अब तुम्हारे अधिकार में है ही नहीं। यदि होती तो तुम्हें अवश्य एक अमोघ सिद्धि प्रदान करती मैं।"

इतना कहकर अन्तर्धान हो गई वह युवती और उसीके साथ मेरी तन्द्रा भी भंग हो गई। अचकचाकर उठ बैठा मैं बिस्तर पर। सोचने लगा—क्या वास्तव में वह युवती वटयक्षिणी ही थी ? कौन-सी अमोघ सिद्धि देनेवाली थी वह मुझे। काश, वह गुटिका होती मेरे पास !.........

× × ×

भैरवी से भेंट

दूसरे दिन भी गुटिका गायब हो जाने के कारण मन दुःखी और विषण्ण था। माँ का दर्शन करने के बाद श्मशान की ओर नहीं गया। नदी की ओर चल पड़ा मैं। वहाँ भी एक बड़ा दैवयोग मेरी प्रतीक्षा कर रहा था, जिसकी कल्पना तक नहीं की थी मैंने। सामने ही एक विशाल पीपल के पेड़ के नीचे दोनों पैर फैलाए वक्रेश्वर श्मशान की वह भैरवी बैठी हुई थी कालरात्रि की तरह। चमचमाता हुआ त्रिशूल भी वहाँ पड़ा था। सामने मिट्टी के तीन-चार पात्र भी पड़े थे। उस रहस्यमयी भैरवी ने पहले ही मुझे देख लिया था। नेत्र से नेत्र मिलते ही वह तनकर और पल्थी मारकर बैठ गई और अपलक मेरी ओर निहारने लगी। उस समय उसकी आँखें दावानल की तरह धधक रही थीं। चेहरे का भाव भी कठोर था। साक्षात् श्मशानकाली-सी लग रही थी वह उस समय। एक बार उसने धीरे से पलकें झपकायीं और फिर झुककर अपनी दृष्टि स्थिर कर दी।

मैं भी खड़ा हो गया। क्षणभर के लिए सोचा कि भाग जाऊँ तो अच्छा रहेगा। मगर भैरवी की आँखों ने ही मानों मुझे रोक दिया। सोचा, भागूँ क्यों ? दिन के समय यह नारी मेरा क्या बिगाड़ लेगी ? शायद भागने की चिन्ता से ही मेरा भय बढ़ गया था। चित्त भी विक्षिप्त-सा हो गया था। भैरवी ने कुछ देर तक मेरी ओर ताककर—उँगली उठाकर—मुझे अपने पास बुलाया। मैं उसके सामने जाकर खड़ा हो गया।

"बैठो।" भैरवी शान्त थी और गम्भीर भी। उसकी चितवन में गहरापन था, पर तीक्ष्णता नहीं थी। तीन हाथ की दूरी पर बैठ गया मैं। मिट्टी का पात्र दिखाते हुए भैरवी ने पूछा—"पीओगे ?"

"क्या है इसमें ?"

"कारण-वारि यानी मदिरा।"

मैंने सिर हिलाया, यानी नहीं।

होंठों के बीच व्यंग्य की हल्की-सी रेखा उभर आयी रमणी के। उसने हाथ बढ़ाकर छोटा पात्र उठा लिया और उसमें भरे तरल पदार्थ का कुछ अंश—बिना मुँह लगाये—ऊपर से गले में डाल लिया। घूँट निगलने के साथ ही उसका सारा शरीर झनझना उठा। आँख, मुँह सिकोड़कर उसने उस झनझनाहट को शान्त होने दिया। रमणी के अंगों का सुप्त यौवन मानों एक बार हिल-डुलकर शान्त हो गया।

"परसों रात आसन छोड़कर इस तरह भाग क्यों गये ?"

शान्त मन से मैंने उल्टा प्रश्न किया—"तुम मुझे इतना भयभीत क्यों कर रही हो पिछले चार-पाँच दिनों से ?"

भैरवी के मुख पर मुस्कराहट की अतिसूक्ष्म रेखा दिखाई दी। पुरुष को मानों उसी रेखा के बन्धन में बाँध रखा हो।

"मैं एक विशेष उद्देश्य लेकर यहाँ आया था। मगर पूरा नहीं हो रहा है।"–शान्त मन से बोला मैं।

"क्या उद्देश्य है ?"

मैं कुछ बोला नहीं। उत्तर न पाकर भैरवी की लाल-लाल आँखों ने मेरे चेहरे पर एक बार चक्कर काटा। बोली—"उद्देश्य नहीं बतलाया तुमने ?"

मैंने इस बार भी उत्तर नहीं दिया।

भैरवी ने छोटा-सा पात्र फिर उठाया। तरल पदार्थ गले के नीचे उतारा। शरीर में फिर एक झनझनाहट उठी। फिर बोली—

"तुम्हारी आयु कितनी है ?"

इस बार मैंने उत्तर दिया—"बस, यही पच्चीस-तीस के लगभग होगी।"

सच है या झूठ—यह जाँच करने के लिए ही मानों भैरवी की गम्भीर आँखों ने मुझे एक बार फिर नीचे से ऊपर तक देखा।

"मेरी तो सौ से भी ऊपर है। अब तुम्हारा भय कुछ कम हुआ ?"—वह बोली।

उसकी आँखों में कौतुक की छटा थी। मुझे मानों विश्वास नहीं हुआ। विश्वास करना और भी कठिन था। क्योंकि छोटे पात्र का तरल पदार्थ एक बार फिर गले से उतरकर खाली हो गया और भैरवी के शरीर से फिर एक बार झनझनाहट उठी। आँचल सरक गया और उसीके साथ स्तन और अनावृत हो गये। नवयुवतियों जैसे पुष्ट और कठोर स्तन। भैरवी की आयु जो भी हो—मेरा भय कम न होकर बढ़ा ही।

"कहाँ रहते हो ?" दूसरी तरह का प्रश्न था। स्वर भी और तरह का था।

"बनारस।"

"यानी काशी ?"

"हाँ।"

"घर में कौन-कौन है ?"

"सब कुछ है। भरा-पूरा परिवार। मगर मेरा अपना कुछ भी नहीं है। मैं अकेला हूँ। अपने-आपमें डूबा हुआ बिल्कुल एकाकी।" मेरे मुँह से अपने-आप उत्तर निकल रहा था। एक झटके से बोल गया मैं सब।

"यहाँ किसलिए आये हो ?"

चुप रह गया मैं।

"आकाशचारिणी योगिनी से मिलने आये हो न ?"

एकबारगी चौंक पड़ा मैं। कौन थी वह ? डाकिनी-योगिनी-कापालिनी या और कुछ······। मेरा उद्देश्य कैसे जान गयी वह ?

सिर हिलाकर जताया—"हाँ।"

"क्या हुआ ? आकाशचारिणी से भेंट हुई ?"

"नहीं। अभी नहीं हुई। उसीके लिए तो यहाँ इस महाश्मशान में भटक रहा हूँ मैं।" यह कहने के बाद न जाने कैसी अनुभूति हुई मुझे। उसके बाद निष्कपट भाव से शेष बातें भी बतला दीं मैंने। भैरवी ने स्थिर भाव से ध्यानपूर्वक सब सुना। उसके बाद भी वह शान्त और निश्चल रही। मगर दृष्टि मानों बहुत दूर चली गई थी। कुछ देर बाद बोली—"आकाशचारिणी से मिलना चाहता है ?"

"हाँ ! उसीके लिए तो इतनी दूर से आया हूँ मैं।"

मेरी ओर देखकर हँसने लगी भैरवी। फिर उसने हाथ बढ़ाकर—मिट्टी का बड़ा पात्र—मानों किसीके हाथों से छीन लिया और बहुत-सा तरल पदार्थ गले के नीचे उतार लिया। मगर इस बार पहले जैसी झनझनाहट नहीं उठी। देह भी हिली-डुली नहीं।

स्तब्ध रह गया मैं। कितना कारण पीयेगी ?

भैरवी ने खाली पात्र नीचे रखा। हाथ के उल्टे तरफ से मुँह पोंछते हुए उसने मेरी तरफ घूरकर देखा। क्षणभर में ही उसकी दृष्टि बदल गयी थी। दोनों आँखों से जैसे आग निकल रही थी। फिर डूबे स्वर में गरज उठी—"दूर हो जाओ—भाग जाओ यहाँ से—चला जा यहाँ से।"

घबरा उठा मैं। मेरा बाह्य ज्ञान जैसे लुप्त होता जा रहा था, मगर चेतनारहित नहीं हुआ था और उसी स्थिति में देखा—भैरवी नहीं है। उसके स्थान पर एक तन्वंगी युवती बैठी मुस्करा रही थी मेरी ओर देखकर। अभिसारिका नायिका जैसी वह युवती अतिलावण्यमयी और सुन्दर थी।

क्या वह आकाशचारिणी थी ?

किसी दीपशिखा-सा जलता रूप और यौवन। अट्ठारह से अधिक आयु नहीं थी

युवती की। माँग में सिन्दूर और ललाट पर सिन्दूर का लम्बा टीका। गले में सोने का हार और स्फटिक की माला। गोरी-गोरी कलाइयों में शंख के वलय।

"कौन हो तुम ?" हठात् पूछ बैठा मैं।

"वही, जिसकी खोज में हो तुम। जिससे मिलने के लिए आये हो काशी से चलकर वक्रेश्वर श्मशान में। वही हूँ मैं, यानी आकाशचारिणी योगिनी ……।"

"एँ ! तुम्हीं हो वह ?"

"हाँ रे ! मैं ही हूँ वह, जिसका परिचय भवतोष ने तुझे दिया था। तेरा कलेजा काहे को फट रहा है अब ? और सुन पगले, मेरे तिब्बत-निवासी सिकियांग मठ के सिद्ध योगी गुरु से तुझे गुटिका मिली थी—जिसकी शक्ति से तुमने मुझे आकाशमार्ग से जाते हुए देखा था। समझे ?"

सच्चे योगी और साधकों को पहचानने की दृष्टि

यह सब सुनकर विश्वास नहीं हुआ मुझे। मेरे मन के भाव को समझ गयी भैरवी। उपेक्षित स्वर में बोली—"जब योगी और साधकों को जानने, समझने और पहचानने की दृष्टि नहीं है तो क्यों नाहक इतना परेशान हो रहा है ? क्यों इतनी दौड़-धूप कर रहा है ? जा, घर वापस जा, विवाह-शादी कर, बाल-बच्चे पैदा कर और आराम से जीवन व्यतीत कर। इन सबके चक्कर में पड़ने की क्या आवश्यकता ? जा, भाग जा यहाँ से।"

× × ×

ठीक ही तो कह रही थी भैरवी। पहले हमें वह दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए—जिससे हम वास्तविक योगी और सच्चे साधकों को पहचान सकें। वह दृष्टि बिना स्वयं योग-साधना के मार्ग पर चले—प्राप्त नहीं हो सकती। बाहर से योगी और भोगी में कोई भेद या अन्तर नहीं दिखलाई देता। एक पागल में और एक साधक में भी कोई भेद स्पष्ट नहीं होता। मगर भीतर भारी अन्तर होता है। जमीन और आसमान का अन्तर। विरक्ति, निर्लिप्तता और अनासक्तता ही दोनों के मध्य अन्तर पैदा कर देती है। भैरवी का अन्तिम वाक्य सुनकर बड़ी ही ग्लानि हुई मन में। आँखों में आँसू ढुलक आये। गला भी भर आया। अवरुद्ध स्वर में बोला—"माँ ! पहचानने में भूल हो गई मुझसे। क्षमा कर दो न माँ !" फिर थोड़ा आगे बढ़कर झुक गया और दोनों हाथों से उस महान् साधिका और आकाशगामिनी विद्यासिद्ध योगिनी के चरणों को पकड़ लिया। आँसुओं में डूबी हुई दृष्टि से देखा—एलोकेशी माँ तारा जैसा लगा मुख माँ भैरवी का। वह मेरी ओर देखकर हँस रही थी और उस हँसी में एक अद्भुत स्नेह गल-गलकर झर रहा था। नेत्रों में करुणा और ममता का असीम सागर भी लहरा रहा था। मगर यह

क्या ! सहसा अपने स्थान से लुप्त हो गई महामाया भैरवी । अभी-अभी तो थी ! कहाँ गई ? लगा, जैसे हवा में विलीन हो गयी हो वह ।

× × ×

भवतोष बाबू का कथन अचानक स्मरण हो आया मुझे । वह आकाशगामिनी महा-योगिनी है । वह रूप बदल सकती है । हवा में गायब हो सकती है । आकाश में उड़ सकती है । सचमुच वक्रेश्वर श्मशान की वह आकाशचारिणी योगिनी ही थी—जिससे मिलने के लिये मैं इतनी दूर से चलकर आया था ।

वह अविश्वसनीय अद्‌भुत दृश्य

दूसरे ही दिन अमावास्या थी । सायंकाल से ही महाश्मशान में धूं-धूं कर कई चिताएँ एक साथ जल रही थीं । मैं माँ का दर्शन करने के बाद महाश्मशान की परिक्रमा कर नवमुण्डी महाआसन की ओर चल पड़ा । रास्ता सुनसान था । मन विषण्ण था मेरा । आसन की वेदी पर जाकर बैठ गया । साँझ की स्याह कालिमा धीरे-धीरे रात्रि की निबिड़ता में बदल चुकी थी । चित्त को एकाग्र कर अपने विषण्ण मन को शान्त करने का प्रयास करने लगा । उसी समय अपने निकट किसीके लम्बी-लम्बी सांस लेने की आवाज सुनाई पड़ी मुझे । कौन ? सिरा घुमाकर देखा और देखते ही सारा शरीर एकबारगी रोमाञ्चित हो उठा मेरा । बाघिन जैसी जलती हुई आँखें मेरी ओर घूर रही थीं । सहसा मदिरा का तीव्र भभका उठा और हवा में घुल-मिल गया । समझते देर न लगी मुझे । माँ भैरवी थीं । मुझसे कुछ ही फासले पर वह बैठी हुई थीं । चिता की लाल-पीली लपटों के हल्के प्रकाश में माँ भैरवी का शान्त और गम्भीर मुख-मण्डल चमक रहा था । अपलक निहार रही थी जलती हुई चिता की ओर वह । भैरवी के अलावा वहाँ और कोई नहीं था । वातावरण में एक अबूझ-सी खिन्नताभरी उदासी बिखरी हुई थी । माँ भैरवी को देखकर अपने समीप, विह्वल हो उठी मेरी आत्मा एकबारगी । मगर जैसे ही उठकर उनके करीब जाने लगा कि तभी मैंने देखा कि एक लम्बी-चौड़ी काठी की मानवाकृति वहाँ प्रकट हुई । उसके शरीर का रंग बिल्कुल काला था । कमर में लाल रंग की लुंगी लपेटे थी वह । धीरे-धीरे वह आकृति स्पष्ट हुई । वह कोई कापालिक संन्यासी था । उसका सिर मुड़ा हुआ था और काफी बड़ा भी था । गले में मुण्डमाला लटक रही थी । हाथ में काफी लम्बा और चमचमाता हुआ त्रिशूल लिये था वह कापालिक । एकाएक उसके भयानक चेहरे पर चिता की लपटों का हल्का-सा प्रकाश पड़ा । एकबारगी चौंक पड़ा मैं और उसीके साथ मेरे मुंह से निकल पड़ा—'अरे ! ये तो चक्रपाणि महाशय हैं ।' हाँ, वे चक्रपाणि महाशय ही थे । पहचानने में मुझसे भूल नहीं हुई थी । भ्रम भी नहीं हुआ था । मैं आगे सोचूं और समझूं कि तभी मैंने देखा कि माँ भैरवी अपने स्थान से उठीं और चक्रपाणि महाशय को अपने साथ

लेकर पंचवटी की ओर बढ़ गईं। अपने-आपको रोक न सका। मैं भी उनके पीछे चल पड़ा चुपचाप। पंचवटी के निकट पहुँचकर आश्चर्य से मेरी आँखें खुली की खुली रह गईं। मैंने विस्फारित नेत्रों से देखा—वे दोनों एक साथ हवा में लहराये और फिर धीरे-धीरे ऊपर उठने लगे और देखते ही देखते शून्य में विलीन हो गये। स्तब्ध, जड़वत् देखता रहा मैं उन्हें गहन अन्धकार में समाते हुए। तभी अपने कन्धे पर किसीके स्पर्श का अनुभव हुआ। चौंककर पीछे देखा—भोलाराम खड़े थे। धीरे से फुसफुसाकर बोले—"जानते हो कौन था वह ?"

"हाँ, जानता हूँ—चक्रपाणि थे"—हौले से उत्तर दिया मैंने।

"धत् ! तुम्हें धोखा हुआ है। वह कापालिक ताराचंद अवधूत था, भैरवी का..."

"अच्छा ! लेकिन उसने तो अपना नाम चक्रपाणि बतलाया था मुझे।"

मेरी बात सुनकर हो-हो कर हँसने लगे भोलाराम ! गहन अन्धकार में डूबे हुए उस घोर निस्तब्ध वातावरण में उनके हँसने की आवाज काफी देर तक गूँजती रही।

पारद-सिद्धि में वैज्ञानिक दृष्टि

एक प्रकार से मेरी यह विलक्षण और अविश्वसनीय कथा यहीं समाप्त हो जाती है। लेकिन उसके बाद भी आकाशगामिनी विद्या के सिद्ध योगियों और आकाशचारिणी योगिनियों की खोज में सालों हिमालय की हिमाच्छादित घाटियों और तिब्बत के दुर्गम स्थानों में भटकता रहा मैं, जिसकी अपनी अलग, विचित्र और रोमाञ्चकारी कथा है। खैर !

यह निर्विवाद सत्य है कि आकाशगामिनी विद्या की सिद्धि के मूल में दो चीजें हैं—पहली है योग और दूसरी है पारद। जहाँ तक पारद का सम्बन्ध है—कहने की आवश्यकता नहीं—उसके द्वारा आकाशगमन की व्याख्या कर पाना बहुत कठिन है। ऋषियों का तरीका कुछ सीमा तक—रसायन, नाभिकीय, भौतिकी तत्त्व-विज्ञान यानी मेरा फिजिक्स का मिला-जुला रूप था। फिर भी क्वाण्टम भौतिकी के आधार पर अंशतः इसे समझा या जाना जा सकता है। क्वाण्टम यान्त्रिकी के अनुसार पारद के परमाणु के नाभिक में प्रोटान ८० और न्यूट्रान १८० होते हैं। यह एक ऐसा तत्त्व है—जिससे आगे के तत्त्वों से नाभिक उत्तरोत्तर बड़ा होता जाता है और पीछे के तत्त्वों से नाभिक मजबूत होता जाता है। अब यदि पारद के परमाणुओं का संयोग अभ्रक जैसे धन-विद्युतीय पदार्थ से कर दें तो अभ्रकीय और पारद के परमाणुओं के बीच दो बल काम करेंगे। एक तो हटावबल और दूसरा आणविक बल। इस प्रकार पारद बद्ध हो जायेगा और अग्नि का उस पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। अब अगर पारद के साथ चुम्बक पत्थर तथा सोने, ताँबे आदि के परमाणुओं का संयोग कराया जाय तो प्रबल खिंचाव के कारण कुछ इलेक्ट्रान नाभिक के भीतर पहुँच

जाते हैं और पारद के भौतिक गुणों में बदलाव आ जाता है। ये अतिरिक्त कण नाभिक के भीतर पहुँचकर प्रोटान और न्यूट्रानों के अनुपात को बदलते हैं। जब यह अनुपात १५. से अधिक हो जाता है तो पारद 'रेडियो एक्टिव' बन जाता है। इस प्रकार पारद का नाभिक सूक्ष्म गामा किरणों के उत्सर्जन का एक स्थायी स्रोत बन जाता है। अतः जब पारद का नाभिक ऊर्जा के स्रोत की भाँति भी व्यवहार करे तो अभ्रक के परमाणुओं द्वारा विद्युतीय हटाव का अनुभव भी करें तो इन दोनों विपरीत बलों के कारण उसका जड़त्व समाप्त हो जाता है तथा उसमें संलग्न वस्तुओं का जड़त्व शून्य करने की क्षमता भी आ जाती है।

इस तरह पारद से आकाशगमन की क्रिया पूर्ण होती है। प्राचीन तथा आधुनिक दोनों दृष्टिकोणों से विचार करके यही निष्कर्ष निकलता है कि पारद की सहायता से आकाशगमन सम्भव है। प्राचीन ग्रन्थों में दिया गया आकश-यात्राओं का वर्णन भी कल्पना नहीं है। यह वास्तव में एक सत्य एवं पूर्णतः वैज्ञानिक तकनीक है।

●

रहस्यमय तान्त्रिक कृष्ण काली मण्डल

मारण पात्र के अन्तर्गत अब मैं जो अपनी विलक्षण और चमत्कारपूर्ण अनुभव-कथा सुनाने जा रहा हूँ उसका प्रारम्भ लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व होता है—जब मैं योगाभ्यास के लिए उपयुक्त शान्त और एकान्त स्थान की खोज में था। एक दिन दशाश्वमेध घाट पर मेरे एक सुपरिचित तान्त्रिक मित्र मिल गये। नाम था ताराशंकर भट्टाचार्य। वह काली के उपासक और भक्त थे। अपनी तान्त्रिक साधना के लिए उन्होंने कई दुर्गम स्थानों की यात्रा भी की थी।

मैंने भट्टाचार्य महाशय से अपने मन की बात बतलायी। तुरन्त मेरी समस्या हल हो गई। उन्होंने मुझे बतलाया कि ब्रह्मपुत्र और पद्मा के संगम के समीप एक गाँव है कालीपाड़ा। गाँव में पद्मा के किनारे देवी एकांगनशा का अति प्राचीन मन्दिर है। मन्दिर के पुजारी उनके परिचित हैं। विभिन्न प्रकार के फूलों, फलों के वृक्षों, वनस्पतियों तथा पहाड़ों से घिरा वह स्थान अति सुरम्य, रमणीक और शान्त है। योगाभ्यास के लिए निश्चय ही वहाँ का वातावरण उत्तम है। वे स्वयं वहाँ कुछ समय रह चुके थे। उन्होंने पुजारीजी के नाम एक पत्र भी लिखकर दे दिया मुझे।

एक सप्ताह के अन्दर ही कालीपाड़ा के लिए प्रस्थान हो गया मेरा। पूरे पाँच दिनों की यात्रा के पश्चात् पहुँचा मैं कालीपाड़ा। देवी एकांगनशा का मन्दिर खोजने में कोई खास परेशानी नहीं हुई। बिल्कुल पद्मा के किनारे–थोड़ा हटकर था मन्दिर। पुजारीजी बंगदेशीय थे। सज्जन, विनम्र और सहृदय। आयु बस यही साठ के लगभग। उन्होंने पत्र पढ़ते ही तुरन्त मन्दिर से सटे एक कमरे में मेरे ठहरने की उचित व्यवस्था कर दी।

भट्टाचार्य महाशय ने स्थान के बारे में जो कुछ बतलाया था मुझे, उससे कहीं अधिक शान्त और रमणीक लगा वह। मीलों तक दूसरा कोई गाँव नहीं था। कोई आबादी नहीं थी। एक ओर घने जंगलों का सिलसिला और दूसरी ओर छोटी-छोटी पहाड़ियों की श्रृंखला। बीच में कल-कल निनाद करती हुई पद्मा की चौड़ी शुभ्र धारा। मन्दिर के ठीक सामने थोड़ी दूर पर पद्मा के किनारे श्मशान था, जिसके एक ओर पक्का घाट था और घाट से सटे ही यमराज का एक छोटा-सा जीर्ण-शीर्ण मन्दिर था। मन्दिर के पीछे पत्थर का एक काफी लम्बा-चौड़ा चबूतरा था—जिसके समीप गूलर और पीपल के कई वृक्ष खड़े थे।

कभी-कदा साँझ के समय मैं उसी चबूतरे पर जाकर बैठ जाता था। वृक्षों की छाया में और पद्मा के तट पर बड़ी शान्ति मिलती मुझे। पीपल की डालों पर बँधे यमघण्टों को देखकर जीवन और जगत् की निस्सारता पर गालों पर हाथ धरे घण्टों विचार करता रहता मैं।

एक दिन मैं ऐसे ही विचारों में डूबा हुआ बैठा था। साँझ की स्याह चादर धीरे-धीरे फैलती जा रही थी श्मशान-भूमि पर। सहसा विचार भंग हुआ। आँखें ऊपर उठीं, देखा तो सामने काषाय वस्त्रों में लिपटा एक व्यक्ति खड़ा मेरी ओर अपलक देख रहा था।

कौन था वह व्यक्ति ?

साँझ की सुरमई में पहले तो उसका रूप बड़ा अस्पष्ट लगा मुझे, पर जरा ध्यान से देखने पर आकृति एकदम स्पष्ट हो गई। लम्बा, दुबला, जीर्ण-शीर्ण-सा शरीर, तीखी नाक, भावहीन-सी विस्फारित आँखें, कोरों पर गहरी स्याही, विवर्ण रक्तहीन-सा मुख! न जाने कैसी दृष्टि से देख रहा था वह व्यक्ति। मुझे थोड़ा डर-सा लगा।

वह बड़ी देर तक मानों दुविधाभरी आँखों से मेरी ओर ताकता रहा। फिर क्षीण हँसी हँसकर बोला—"घबराइये मत। मैं तान्त्रिक संन्यासी कृष्ण काली मण्डल हूँ। इस स्थान से मेरा बहुत लगाव है। इसलिए टहलता हुआ इधर चला आता हूँ कभी-कभी।" फिर थोड़ा आत्मस्थ होकर उसने पूछा—"आप काशी से चलकर आये हैं न ?"

"जी हाँ!"

तान्त्रिक संन्यासी ने मेरा उत्तर सुनकर जोर से साँस छोड़ी।

उसके विबर्ण मुख की ओर ताककर मैंने पूछा—"आप कहाँ रहते हैं ?"

वह हँसा—"आपने देखा नहीं, यह पूरा इलाका निर्जन और सुनसान है। यहाँ कोई नहीं रहता। केवल मैं हूँ। केवल मैं। समझ गये न!"

मुझे विस्मय हुआ। यह पागल-वागल तो नहीं है!

वह शायद मेरे मनोभाव को समझ गया। कौतुकभरे स्वर में बोला—"आप मुझे सनकी समझ रहे हैं क्या ? मैं पहले देवी के मन्दिर में ही रहता था—जिस कमरे में इस समय आप हैं—उसी कमरे में मैं रहता था। इस कमरे में मैंने अपने जीवन के पूरे तीस वर्ष व्यतीत किये हैं।"

मुझे आश्चर्य हुआ। "मैं काशी से आया हूँ। मन्दिर के कमरे में रहता हूँ। यह सब कैसे जान गया यह तान्त्रिक संन्यासी ?" मैंने भीत दृष्टि से उसकी ओर देखा। वह एकटक—बिना पलक झपकाये मेरी ओर विषण्ण भाव से देख रहा था। जीर्ण क्लान्त मुख ...... पर उसकी दृष्टि में अजीब-सा सम्मोहन भरा हुआ था जैसे। उसके बाद उस तान्त्रिक संन्यासी से प्रायः रोज ही भेंट होने लगी—कभी उसी चबूतरे पर, कभी श्मशान में, तो कभी यमराज के मन्दिर में! कभी-कदा वह मेरे कमरें में भी आ जाया करता था। मगर तभी आया करता था जब पुजारीजी कहीं बाहर गये रहते।

तान्त्रिक संन्यासी की उपस्थिति मुझे बड़ी अनोखी लगती। कभी-कभी उसके बात करने और हँसने का ढंग भी बड़ा विचित्र लगता मुझे। एक दिन दोपहर के समय मेरे कमरे में आया वह। मैंने उसकी ओर देखा। अजीब-सी वेदना थी उसके क्लान्त, विवर्ण मुख पर। सूनी-सूनी आँखों में दुःख की छाया तैर रही थी। आते ही बुझे हुए स्वर में कहने लगा—"आप शुरू से ही मेरे विषय में जानने-समझने के लिए व्याकुल हैं न ? आज मैं अपने बारे में सब कुछ बतलाने के लिए ही आया हूँ आपके पास। अधिक समय नहीं लगेगा इसमें। बड़ी अनोखी और विचित्र कथा है मेरे जीवन की। आपको निश्चय ही यह बड़ी विस्मयजनक और रहस्यमय लगेगी।"

सहसा तान्त्रिक संन्यासी की आँखें मशाल की तरह दप् से जल उठीं और फिर देखते ही देखते बुझ गयीं। फिर उसने जो व्यथाभरी कथा सुनायी—वह निश्चय ही अलौकिक और रहस्यमयी थी!

अद्‌भुत साधन-कथा

तान्त्रिक संन्यासी ने कहना शुरू किया—"मेरे माता-पिता कौन थे यह मैं नहीं जानता। मैं कहाँ का रहनेवाला हूँ यह भी नहीं जानता। जब मैंने होश सम्हाला

तो अपने को साधु-संन्यासियों की टोली में पाया। उन्हींकी छत्रछाया में पल-पुसकर बड़ा हुआ। अठारह वर्ष की उम्र तक उसी टोली में रहा। इतनी कम उम्र में ही टोली के साथ मैंने अनेक देवस्थानों और तीर्थों की यात्रा कर ली। उसके बाद जीवन के छह वर्ष खुलना के एक नेपाली तान्त्रिक के साथ बीता। ये छह वर्ष मेरे जीवन के विचित्र अध्याय थे। इस अवधि में मेरे जीवन की दिशा ही बदल गयी। खुलना का वह नेपाली तान्त्रिक उच्चकोटि का साधक था इसमें सन्देह नहीं। उसे कई प्रकार की दुर्लभ तान्त्रिक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। कभी वह विषधर सर्प का रूप धारण कर रेंगने लगता था तो कभी शेर-भालू बनकर जंगल में घुस जाता था। एक बार तो वह मेरी आँखों के सामने हो पक्षी का रूप धारण कर आकाश में उड़ गया था। उसने मुझे तन्त्र-मन्त्र की बहुत सारी गुप्त विद्याएँ बतलायीं। उनकी साधना और सिद्धि भी करायी। ज्योतिष के भी अनेक रहस्य बतलाये। थाड़े ही समय में तन्त्र-मन्त्र और ज्योतिष में पारंगत हो गया मैं। फिर उसने मुझे अपने गुरु से मिलवाया। गुरु कापालिक संन्यासी थे। उनकी आयु बहुत थी। नाम था ब्रह्मेश्वरानन्द। वे मुझे अपना शिष्य बनाकर हिमालय ले गये। हिमालय के एक अज्ञात स्थान पर उनका मठ था। वह मठ काफी बड़ा था और था अलौकिक शक्तियों का केन्द्र। साधारण लोग तो उस दुर्गम स्थान पर पहुँच ही नहीं सकते। मठ की भौगोलिक स्थिति भी नहीं बतलायी जा सकती। मठ में अनेक साधक-साधिकाएँ थीं। उन सबकी आयु बहुत अधिक थी। लेकिन देखने में सभी युवा प्रतीत होते थे। कोई किसीसे बातचीत नहीं करता था। सभी प्रायः मौन ही रहते थे। भूख-प्यास बहुत कम लगती थी। नींद भी जल्दी नहीं आती थी।

"निश्चय ही उस रहस्यमय मठ का सम्बन्ध किसी रहस्यमय लोक-लोकान्तर से था। कई बार मैंने मठ में ऐसे प्राणियों को देखा था—जो किसी भी दृष्टि से मानव नहीं थे। उनका रूप-रंग, गति-मति और वेश-भूषा देखकर ऐसा लगता था कि वे भूलोक के नहीं, बल्कि किसी अन्य लोक के निवासी हैं। उनकी भाषा केवल ब्रह्मेश्वरानन्द ही समझ पाते थे।

"मठ के साधकों को साधना में सहायता करने के लिए इसी प्रकार उस रहस्यमय अज्ञात लोक से भैरवियाँ भी आया करती थीं। मगर उनका प्राकट्य मानवी रूप में होता था। उनके रूप और सौन्दर्य की कल्पना मनुष्य कदापि नहीं कर सकता। उच्चकोटि की तान्त्रिक साधना में भैरवी का स्थान अति गरिमामय और अति महत्त्वपूर्ण है। बिना भैरवी के सहयोग के साधन-मार्ग में सफलता सन्दिग्ध है। भैरवी के अभाव में कुछ भी सम्भव नहीं। आपको मेरी कथा अवश्य विचित्र और अविश्वसनीय लगती होगी। मगर सत्य सत्य ही है। मठ में समय का पता नहीं चलता था। कब दिन हुआ और कब रात हुई। इसी कारण मैं कितना समय मठ में रहा—इसका अनुभव मुझे

नहीं हुआ। मेरी साधना को देखते हुए मेरे गुरु ने मेरे लिये भी एक भैरवी की व्यवस्था कर दी। वह भैरवी भी उसी अज्ञात लोक से सम्बन्धित थी। लेकिन बन्धु, मैं यह भूल गया कि जो भैरवी मेरी साधना में सहयोगिनी है—वह एक ऐसी अमानवीय सत्ता है—जो मानव-शरीर के बन्धन में कभी नहीं बँध सकती। मैं यह भी भूल गया कि मठ के प्रबल आकर्षण के वशीभूत होकर यह भैरवी अपनी प्रबल मानवेतर इच्छा-शक्ति के बल पर स्थूल नारीरूप में अवतरित हुई है। इसकी पार्थिव काया मनुष्य की नहीं, बल्कि इसीकी इच्छा-शक्ति की देन है।"

पलभर रुककर तान्त्रिक संन्यासी ने फिर कहना शुरू किया—"तान्त्रिक साधना विकट साधना है। तान्त्रिक साधना का मतलब है शक्ति-साधना। एक ऐसी शक्ति की साधना—जिसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। समझ गये न आप। कुण्डलिनी शक्ति का जागरण और षट्चक्र-भेदन तान्त्रिक साधना का एकमात्र मुख्य विषय है। लेकिन बिना बिन्दु-सिद्धि के कुण्डलिनी शक्ति का जागरण सम्भव नहीं।"

बिन्दु-साधना और सिद्धि

"बिन्दु-सिद्धि क्या है ?" मेरे इस प्रश्न के उत्तर में तान्त्रिक संन्यासी ने बतलाया कि "तान्त्रिक साधना की बहुत-सी दिशाएँ हैं। इस साधना का मुख्य लक्ष्य है–'बिन्दु-सिद्धि'। बिन्दु किसे कहते हैं, पहले आपको बतला दूँ। वैसे तो पाँच कोष हैं। लेकिन साधारणतः मनुष्य के तीन कोष—मनोमय कोष, प्राणमय कोष और अन्नमय कोष सक्रिय रहते हैं। शेष दो कोष सुप्तावस्था में रहते हैं। सक्रिय तीनों कोष क्रम से मनोमय शरीर, प्राणमय शरीर (जिसे सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं) और अन्नमय शरीर यानी स्थूल भौतिक शरीर –के केन्द्र हैं। तीनों शरीरों के 'बीज' इन्हीं तीनों कोषों में हैं। अब आपको आगे मालूम होना चाहिए कि मनोमय कोष का सारांश 'मन' है। प्राणमय कोष का सारांश 'ओजस्' है और अन्नमय कोष का सारांश वीर्य या शुक्र है। तन्त्र में इसीका नाम 'बिन्दु' है। बौद्ध तान्त्रिक लोग इसीको बोधिचित्त के नाम से सम्बोधित करते हैं। मनुष्य के तीनों कोष चञ्चल और अस्थिर रहते हैं। मन भी, प्राण भी और बिन्दु भी। जब तक तीनों चञ्चल और अस्थिर हैं—तब तक गूढ़ साधना का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। मार्ग में आगे गति सम्भव नहीं। तन्त्र की प्रारम्भिक साधना इन्हीं तीनों की साधना है और इन साधनाओं में भैरवी का सहयोग सापेक्ष है। भैरवी के अभाव में साधना अनुष्ठित नहीं हो सकती। भैरवी के सहयोग से सर्वप्रथम बिन्दु पर चित्त को आरोपित करना पड़ता है, फिर प्राण पर और अन्त में मन पर। आरोपण की जो प्रक्रिया है—वह समाधि है, जिसकी चर्चा आगे करूँगा।

"तन्त्र की यह बिन्दु-साधना वैदिक-युग की रहस्य-साधना है। बिन्दु-साधना के तीन क्रमिक चरण हैं। प्रथम चरण में विभिन्न यौगिक एवं तान्त्रिक क्रियाओं के बल

पर भैरवी के सहयोग से बिन्दु स्थिर होता है। दूसरे चरण में बिन्दु का शोधन और तीसरे चरण में बिन्दु की प्रतिष्ठा होती है। वैदिक-युग में ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम में रहस्य-साधना का स्थान अपना महत्त्व रखता था। पहले आश्रम का लक्ष्य था बिन्दु-शोधन और दूसरे आश्रम का लक्ष्य था बिन्दु-प्रतिष्ठा। उस समय सभी प्रकार से बिन्दु-क्षोभ निषिद्ध था। क्योंकि चञ्चल अस्थिर बिन्दु अशुद्ध माना जाता है। और अशुद्ध बिन्दु के क्षुब्ध यानी पतित होने पर प्राकृतिक नियम के अनुसार वह अधोगति की ओर उन्मुख होता है। इसीका नाम है च्युति या पतन—जिसका फल है—एकमात्र मृत्यु। समझ गये न? संशोधित और प्रतिष्ठित बिन्दु—भैरवी के सहयोग से अधोगति के बजाय ऊर्ध्व गति की ओर उन्मुख होता है—जिसकी उपलब्धि है—'अमरत्व लाभ।' 'ऊर्ध्वरेता तपस्विन:' वैदिक-युग का यह वाक्य सभी को ज्ञात है।

"वैदिक-युग की रहस्य-साधना तन्त्र-युग की बिन्दु-साधना और बौद्ध-युग की 'रस-साधना' वास्तव में एक ही चीज है। हीनयान-मार्ग में बोधि-चित्त को 'वज्रमणि' कहते हैं।"

थोड़ा थमकर वह तान्त्रिक संन्यासी आगे कहने लगा—"मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्—यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है। 'ऊर्ध्वरेता' की अवस्था का लाभ करने के लिए 'बिन्दु' का ऊर्ध्वगामित्व होना आवश्यक है। ऊर्ध्वरेता की अवस्था में साधक का अन्त:स्रोत सदैव ऊर्ध्वगामी रहता है। तान्त्रिक-साधना की यही दिव्य अवस्था है। वैदिक-युग में गृहस्थाश्रम में नवपरिणीता धर्मपत्नी का सहयोग इस साधना में लिया जाता था। 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' इस वचन का आन्तरिक तात्पर्य यही है। उस समय पारिवारिक जीवन रस-साधना यानी रहस्य-साधना के अनुकूल था। आधार-भेद से नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए यह साधन आवश्यक नहीं होता था। संयम और कठोर ब्रह्मचर्य के मार्ग से चलने से ही रस-साधना में, रहस्य-साधना में अथवा बिन्दु-साधना में सिद्धि-लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं। बौद्धों का महासुख साधन इस गुप्त रस-साधन का प्रकारभेद मात्र है। औपनिषद् साधन-भूमि में पंचाग्नि विद्या का नाम प्रसिद्ध है। वास्तव में उसका भी तात्पर्य रस-साक्षात्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

× × ×

तान्त्रिक संन्यासी तन्त्र का इतना गूढ़ ज्ञान रखता है, यह मैंने सोचा तक न था। उसने आगे कहा—"जो लोग काम-कला-रहस्य से परिचित होंगे—वे ही बिन्दु-साधना के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। काम-कला मूल भित्ति है बिन्दु-साधना की। एक बात बतला दूँ मैं आपको—वास्तव में 'तन्त्रयोग' कामयोग है। तन्त्र-युग में नवपरिणीता धर्म-पत्नी का स्थान भैरवी ने ले लिया। लेकिन फिर भी पत्नी का महत्त्व साधना में बराबर बना रहा। साधना की गुह्यता की दृष्टि से एक भैरवी-दीक्षा है और दूसरी है महाभैरवी-दीक्षा। पहली दीक्षा स्वकीया नायिका अथवा पत्नी को दी जाती है और

दूसरी दीक्षा परकीया नायिका को दी जाती है। तन्त्र में परकीया नायिका का अपना विशिष्ट स्थान और महत्त्व है। कृष्ण की राधा भी तो परकीया नायिका ही थी। भैरवी दीक्षाप्राप्त स्वकीया नायिका के सहयोग से बिन्दु-शोधन और महाभैरवी दीक्षाप्राप्त परकीया नायिका के सहयोग से बिन्दु-प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न होता है। मगर बन्धु ! मेरा यह दोनों कार्य उसी भैरवी द्वारा सम्पन्न हो गया, जिसके फलस्वरूप मुझे दिव्य भाव की उपलब्धि हुई। दिव्य भाव यानी दिव्य अवस्था—तन्त्र की एक विशेष अवस्था है। इस अवस्था में जिस आनन्द की अनुभूति होती है—वह परम आनन्द है और है बौद्धों का महासुख। मैं उस परम आनन्द में मग्न होकर एक प्रकार से समाधि में लीन रहने लगा। मेरे गुरुदेव मुझ पर अति प्रसन्न थे। मगर मुझसे एक भारी गलती हो गयी।"

"कौन-सी गलती ?"—मैंने पूछा।

अपने दोनों हाथों की उँगलियों को आपस में फँसाकर फिर अलग करते हुए वह तान्त्रिक संन्यासी आगे बोला—"मैं उस भैरवी पर मुग्ध हो गया बन्धु ! उसकी अनुपम मोहक रूप-छटा मेरे मन में बस गयी। वह अतिलावण्यमयी थी। उसकी मुस्कराहट अनुपम थी—मीठी, मधुर, स्निग्ध और मन को लुभानेवाली। उसके प्रति मेरा आकर्षण बराबर बढ़ता ही गया और अन्त में प्रेम का रूप धारण कर लिया उसने।

"मानव-जगत् और मानव-शरीर व मानव-जीवन में भी भारी आकर्षण हैं। सभी मानवेतर प्राणी इस जगत्, इस शरीर और इस जीवन को प्राप्त करने के लिए बराबर लालायित रहते हैं। शायद उसी आकर्षण के व्यामोह में पड़कर भैरवी भी मुझ पर मुग्ध हो गयी और अन्त में वह भी मुझसे प्रेम करने लगी।

"हम दोनों का प्रेम शरीर और मन के तल का नहीं, आत्मा के तल का प्रेम था, जिसकी कल्पना भौतिक धरातल पर नहीं की जा सकती। उसकी अनुभूति को भी शब्दरूप नहीं दिया जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति के लिए वाणी भी मूक हो जाती है। मैं मठ में रहकर अनेक दुर्लभ तान्त्रिक विद्याओं में पूर्ण पारंगत हो गया। जब मैं मठ से चलने लगा तब एक ओर तो मुझे इन उपलब्धियों से प्रसन्नता थी, दूसरी ओर भैरवी के बियोग की पीड़ा और वेदना भी थी। प्रस्थान के क्षणों में वह मेरे पास आयी। मेरी आँखों में आँसू थे, किन्तु वह मुस्करा रही थी। उसने सहज स्वर में कहा—'घबराओ मत। दुःखी होने की भी आवश्यकता नहीं। अगोचर रूप से, अदृश्य भाव से मैं सदैव तुम्हारे साथ हूँ। जीवन-यात्रा में सदैव मेरी सहायता और सहयोग मिलता रहेगा तुम्हें। मैं तुम्हें सिद्ध हूँ। जब स्मरण करोगे, तब पार्थिव या अपार्थिव रूप में उपस्थित हो जाऊँगी तुम्हारे सामने।'

"तान्त्रिक साधना में इसीको 'भैरवी-सिद्धि' कहते हैं। मुझे भैरवी सिद्ध हो गई थी। मैंने अपने तन्त्र-बल और भैरवी की सहायता से यश, कीर्ति, मान, प्रतिष्ठा, धन, ऐश्वर्य—सब कुछ चरम सीमा तक प्राप्त किया और उसका उपभोग भी किया। मगर अपने चरित्र की रक्षा बराबर मैं करता रहा। क्योंकि योगी और साधकों के लिए एकमात्र चरित्र ही बल है। मेरी अदृश्य सहयोगिनी ने भी कहा था—'जिस दिन तुम अपने चरित्र-बल को गँवा दोगे, उसी दिन मुझे भी खो बैठोगे हमेशा के लिए।' "

"फिर गलती किस बात की हुई ?" मैंने जरा उत्सुक होकर पूछा।

वह कुछ देर तक खिड़की के बाहर शून्य में ताकता रहा। फिर बोला—"सहसा मेरे जीवन में एक अकल्पनीय घटना घट गयी। लोगों का भविष्य जाननेवाला मैं स्वयं अपना भविष्य न जान सका। इसीको कहते हैं नियति! उसने मेरे जीवन की अमृतमयी धारा में सहसा ही विष घोल दिया बन्धु! जिसका परिणाम यह हुआ कि घोर विरक्ति भर गयी मुझमें। अभिशप्त हो गया मेरा जीवन। सर्वस्व त्यागकर संन्यास ले लिया मैंने।"

कहते-कहते तान्त्रिक संन्यासी की आँखें आग की तरह जलने लगीं। चेहरा लाल हो गया। थोड़ा मौन रहकर उसने जैसे एक अमानवीय चेष्टा से अपने-आपको सँभाल लिया। फिर बोला—"चलिये, शेष कथा पद्मा के किनारे एकान्त में बैठकर सुनाऊँगा।"

दुपहरी ढल चुकी थी। पुजारीजी के आने का भी समय हो गया था। रास्ते में हम दोनों मौन रहे। जब नदी के किनारे पहुँचे तो वहाँ श्मशान में दो-तीन चिताएँ जल रही थीं। तान्त्रिक संन्यासी काफी देर तक निहारता रहा–जलती हुई चिताओं की ओर। फिर एकाएक आगे की कथा शुरू कर दी उसने। कहने लगा—"मैं उन दिनों कलकत्ता में था। नित्य की भाँति अपना-अपना भविष्य जानने के लिए लोगों की भीड़ लगी हुई थी। उसी भीड़ में एक सुन्दर युवती भी थी। जब उसकी बारी आयी तो मैंने पूछा—'कहिये, क्या पूछना है आपको ?'

"युवती ने एक बार चारों तरफ देखा और फिर धीरे से कहा—'बस, मैं आपको इसलिए कष्ट देने आयी हूँ कि मेरे भाग्य में क्या लिखा है ? जरा अच्छी तरह देखकर बतला दें। आपकी जो भी दक्षिणा होगी—दूँगी मैं।'

"मैंने युवती को अपने निकट आने का संकेत किया। वह खिसककर मेरे बिल्कुल निकट आ गयी और सोने की चूड़ियों से भरा अपना एक कोमल हाथ निःसंकोच मेरी ओर बढ़ा दिया उसने।

"मैंने पूछा—'क्या नाम है आपका ?'

'कविता, कविता नाम है मेरा।'

"नाम सुनकर मैंने सहज भाव से उसकी ओर देखा। निश्चय ही वह किसी कवि की कल्पनामयी कविता जैसी ही थी। मैंने कविता की गुलाब के फूल जैसी कोमल कलाई को चुपचाप थाम लिया। कब तक पकड़े रहा—पता नहीं—फिर उसे छोड़ता हुआ बोला—'मैं आपकी हस्तरेखा देखकर नहीं, आपके मस्तक की रेखा देखकर भविष्य बतलाऊँगा।' फिर मैंने अपनी दृष्टि कविता के चाँद जैसे चेहरे पर टिका दी। कब कितना समय व्यतीत हो गया—हम दोनों को पता न चला।

"अचानक कविता के कपाल-पटल पर अन्त में जो दृश्य उभरा—उसको देखकर मैं एकदम विचलित हो उठा। हे भगवान्! मैंने यह क्या देखा? अकालमृत्यु, भयंकर—अति भयंकर मृत्यु के लक्षण। मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि कविता जैसी सुन्दरी, सरल, पवित्र युवती का भविष्य इतना अन्धकारमय है? उसका भावी जीवन अपने-आपमें इतना मर्मान्तिक मृत्यु का अमंगल लपेटे हुए है।

"कविता ने शायद मेरे चेहरे के भावों को पढ़ लिया। अनिश्चय से काँपते स्वर में उसने पूछा—'महाशय! आपने मेरे मस्तक की रेखा को देखकर क्या-क्या जाना? और क्या-क्या समझा?'

"मगर मैं सत्य बात बतला न सका। बतलाने में मन ने मुझे मना कर दिया। आत्मा ने भी बाधा दी। मैंने उल्टी बात बतलायी। चेहरे पर यथासम्भव प्रसन्नता लाते हुए कहा—'सब ठीक है। मंगलमय है। भविष्य सुन्दर और सुखद है।'

'आयु कितनी है?'—कविता ने मेरी ओर देखते हुए पूछा।

'बहुत है। पूर्ण आयु समझिये।'

'लेकिन कालीघाट के ज्योतिषी रमापद बाबू ने तो हाथ देखकर कहा था कि असमय में मेरी मृत्यु होगी यानी अकालमृत्यु······।'

'ठीक ही कहा था। अगर······'

"उत्सुकतापूर्वक बीच में ही कविता पूछ बैठी—'अगर क्या?' मैंने कविता के सुन्दर मुख की ओर देखा। उसकी कजरारी आँखों में चमक थी। जवाकुसुम जैसे गालों पर लावण्य के कण बिखरे थे। देखकर मेरा हृदय करुणा से भर गया एकबारगी। मैंने शब्दों में ममता उड़ेलते हुए कहा—'अगर कोई आपको भरपूर चाहे, आपको भरपूर प्रेम करे और प्रतिदान के रूप में आप भी उससे उतना ही प्रेम कर सकें तो···—।'

"यह सुनकर कविता के चेहरे पर प्रसन्नता छा गयी और लाल हो आये चेहरे को आँचल से पोछने लगी। क्यों पोछने लगी—वही जाने। जाते समय उसने एक बार पलटकर भरपूर दृष्टि से मेरी ओर देखा और धीरे से मुस्करा दी।

"न जाने क्यों मैं हौले से पूछ बैठा—'मैं तान्त्रिक हूँ। आपको मुझसे भय तो नहीं लग रहा है न ?'

"मुस्कराकर कविता ने उत्तर दिया—'नहीं ! अब नहीं लग रहा है।' मैंने पूछा—'कब से ?' कुछ क्षण मौन रहकर अस्फुट स्वर में कविता ने कहा—'जब से आपने मेरा हाथ थामा है।' फिर वह खिलखिलाकर एकबारगी हँस पड़ी। बड़ी ही मोहक हँसी थी वह।

"मैं मानो अघा-सा गया। फिर कविता के इस मधुर शब्द को हृदय में सँजोये दूसरे का भविष्य जानने में लग गया।

"कलकत्ते में चार-पाँच महीने रहा। कविता प्रायः रोज ही मेरे यहाँ आने लगी। हम दोनों एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होते चले गये। मैं कविता से प्रेम करने लगा। एक दिन कौन-सा ऐसा क्षण था और कौन-सा संयोग था ऐसा कि सहसा कविता को अपने आलिंगन में ले लिया और उसके रक्तिम, कोमल होंठों पर अपना होंठ रख दिया मैंने। उसने कोई विरोध नहीं किया और फिर न जाने कब मैं अपना आपा खो बैठा। दूसरे ही क्षण एक-दूसरे के मन, प्राण और शरीर एकाकार हो गये। अब तक मुझे अशरीरी नारी का प्रेम मिला था, किन्तु उस समय मन, प्राण और आत्मा के सुख के साथ-साथ नारी-शरीर का भी सुख मिला, जिसकी अनुभूति में खो-सा गया मैं।"

× × ×

चिताएँ बुझ चुकी थीं। साँझ की सुरमई फैल गयी थी धरती पर। यमराज के मन्दिर का टूटा घण्टा टन्-टन् कर बजने लगा था। आरती हो रही थी काल के प्रतिनिधि की। तान्त्रिक संन्यासी ने थोड़ा ठहरकर अपनी कथा आगे सुनानी शुरू की—

"एक दिन कविता ने बतलाया कि रात के समय उसे भय-सा लगता है। जैसे कोई नारी-छाया चुपचाप उसके आसपास घूम रही है।' कभी-कभी वातावरण में कोई विचित्र-सी गन्ध भी फैल जाती है। तब वह पूरी रात सो नहीं पाती। मुझे समझते देर न लगी। वह भैरवी की ही छाया थी। सहसा मुझे उसके अन्तिम शब्द याद हो आये—जिस दिन तुम अपने चरित्र को गँवा बैठोगे—उसी दिन मैं भी तुम्हारा साथ छोड़ दूँगी हमेशा-हमेशा के लिए। मैं भैरवी को गँवाना नहीं चाहता था। वह मेरी बहुत बड़ी अमानवीय शक्ति थी। उसीके बल पर मैंने इतना सब कुछ प्राप्त किया था। किसी भी मूल्य पर उसको मैं अपने-आपसे अलग नहीं होने देना चाहता था।

"मैंने कविता के सामने दूसरे ही दिन विवाह का प्रस्ताव रख दिया। ऐसा लगा मानो इसके लिए वह पहले से ही तैयार थी। उसने तुरन्त मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उसी मास की पूर्णिमा को हम दोनों विवाह-सूत्र में बँध गये।

"जीवन अचानक इस मोड़ पर घूम जायेगा—मैं क्या जानता था ? मैंने क्या यह सोचा था कि इस संसार में जिसका अपना कोई नहीं है—उसीका इस नगर में सबसे अधिक अपना कोई हो जायेगा।

"मैं कविता को लेकर ढाका आ गया। स्थायी रूप से ही ढाका में रहने का विचार कर लिया था मैंने। बड़े सुख से जीवन व्यतीत हो रहा था। विवाह करके मैंने अपने चरित्र को बचा लिया था। इससे भैरवी मेरे हाथ से निकल तो न सकी, फिर भी उसकी शक्ति मेरे लिए अवश्य कम हो गयी। मधुर कोमल सम्बन्ध में भी थोड़ा अन्तर आ गया था। मगर मैंने कविता के प्रेम के सामने इसकी विशेष चिन्ता नहीं की।

"ढाका में ढाकेश्वरी देवी का सिद्धपीठ है। वहाँ का वातावरण आध्यात्मिक लगा मुझे और मैंने कविता को भैरवी-दीक्षा देकर उसके सहयोग से अपनी आगे की साधना शुरू कर दी।" एक लम्बी साँस लेकर तान्त्रिक संन्यासी बोला—"बस बन्धु ! यही गलती हो गयी मुझसे। मुझे कविता को भैरवी नहीं बनाना चाहिए था। दीपावली की महानिशा वेला में कविता की सहायता से एक विशेष साधना का आयोजन किया था मैंने। क्या मेरी वह आयोजना सफल हुई ? नहीं। उस दिन सायंकाल के समय एक आवश्यक कार्य से श्मशान की ओर जाना पड़ गया मुझे। कविता घर पर थी और साधना के लिए सामग्री की व्यवस्था में जुटी थी। उसकी सहायता के लिए मेरा शिष्य रघुनाथ भी था। मैं थोड़ी देर से वापस लौटा। रास्ते में रघुनाथ घबराया हुआ मुझे मिला।

" 'क्या बात है रघुनाथ ! तुम इतने घबराये हुए क्यों हो ?' मैंने पूछा।

"मेरे पूछने पर रुआँसे स्वर में बोला रघुनाथ—'गुरुजी !' इतना कहकर रोने लगा वह। फिर किसी तरह अपने को सँभालकर आगे बोला—'माताजी को काली नागिन ने डस लिया है। वह पूजा-घर में बेहोश पड़ी हुई हैं।'

"यह सुनकर मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। साथ ही छाती धड़कने लगी। मैं तीर की तरह भागा। पूजा-घर में जाकर देखा—कविता जमीन पर पड़ी हुई थी। सारा शरीर काला पड़ गया था उसका। वह मर चुकी थी। मेरा साथ छोड़कर हमेशा के लिए वहाँ चली गयी थी जहाँ से कोई वापस नहीं लौटता। कविता की निर्जीव काया पर काफी देर तक सिर धुनता रहा मैं। दीपावली की रात का सारा अन्धकार मेरे जीवन में उतर आया था। समझते देर न लगी मुझे।"

"क्या ?"

"काली नागिन के रूप में भैरवी ने ही डसा था कविता को। पत्नी रूप को तो वह सहन कर गयी थी। लेकिन उसका भैरवी रूप सहन न कर सकी वह।"

इतना सुना चुकने के बाद वह रहस्यमय तान्त्रिक संन्यासी सहसा मौन साध गया और एकटक श्मशान में जलती हुई चिता की ओर देखने लगा। उस समय उसके मुख पर असीम वेदना, पीड़ा और व्यथा के मिले-जुले भाव एक साथ तैर रहे थे।

× × ×

रात का पहला पहर गुजर चुका था। चौथ का पीला चाँद जंगलों के झुरमुट की ओट से झाँकने लगा था। चारों ओर सांय-सांय हो रहा था। पद्मा के किनारे की झाड़ियों में छिपे झींगुरों का अनवरत क्रन्दन शुरू हो गया था। सहसा यमराज के मन्दिर के पीछे से समवेत स्वर में सियारों के रोने की आवाज आयी। उसी समय तान्त्रिक संन्यासी ने बुझे हुए स्वर में आगे कहना शुरू किया—

"बन्धु! प्रश्न यह उठता है कि क्या सचमुच भैरवी नागिन का रूप धारण कर सकती है? क्या हिमालय में ऐसे रहस्यमय गुप्त तान्त्रिक मठ हैं? क्या ऐसे मठों में दूसरे लोक की आत्माएँ नारीरूप धारण करके भैरवी के वेष में आती हैं? क्या तन्त्र-मन्त्र में ऐसी अलौकिक शक्ति होती है?

"आप कहेंगे कि नहीं जानता। किन्तु बन्धु! भारतीय संस्कृति का इतिहास कहता है कि तान्त्रिक विद्या असत्य नहीं है। आज के विज्ञान की दृष्टि से दूर भी अनेक ऐसे सत्य विद्यमान हैं, जिनकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। उनकी खोज में विज्ञान कभी भी सक्षम नहीं हो सकता। मैंने ऐसे ही सत्यों को देखा है और उनका अनुभव भी किया है।"

× × ×

उस समय मेरे मन में अनेक प्रकार के भाव और अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ उठ रही थीं, जिनमें संशय की ही मात्रा अधिक थी। शायद मेरे संशय को तान्त्रिक संन्यासी समझ गया। बोला—"क्या आपको मेरी कथा की सत्यता पर संशय अथवा सन्देह है? क्या मेरी बातों को कल्पना समझ रहे हैं आप?"

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।"

संन्यासी एकबारगी हो-हो कर हँसने लगा। बड़ी ही विचित्र हँसी थी। शायद मेरी दुर्बलता पकड़ी गयी थी। चिता से उठ रही लाल-लाल लपटों का हल्का पीला प्रकाश उस समय उसके मुख पर पड़ रहा था। सहसा किसी अतीन्द्रिय ज्योति से उसकी आँखें दप् से जल उठीं और उसीके साथ उसके पाण्डु मुख पर एक अमानवीय भाव भी तैर गया। फिर भी बड़े ही शान्त और निर्विकार स्वर में वह बोला—"कविता से भले ही मेरा सारा सम्बन्ध टूट गया, लेकिन बन्धु! उस भैरवी से और उस अलौकिक तान्त्रिक मठ से—मेरा आज भी अगोचर सम्बन्ध है। प्रत्येक वर्ष दीपावली की महानिशा में वह भैरवी इसी श्मशान में मिलने के लिए आती है मुझसे।"

"क्या कहा आपने ?"

"हाँ ! बन्धु ! सत्य कह रहा हूँ। यदि आप उसे देखना चाहें तो देख सकते हैं।"

"अगर देखना सम्भव है तो मैं अवश्य दीपावली तक यहाँ रुकूँगा।"—मैंने कहा।

"अवश्य रुकिये।"

"मगर दीपावली को तो अभी पूरे दस दिन शेष हैं। मैं चाहता हूँ कि इस अवधि में आप मुझे बिन्दु-साधना के गूढ़ और गोपनीय रहस्यों से भलीभाँति परिचित करा दें। मैं इस बात से पूर्ण रूप से अवगत हूँ कि तन्त्र के जितने भी गुह्य आयाम हैं—उन सबके मूल में एकमात्र बिन्दु-साधना ही है। इस रहस्यमयी साधना के विषय में कहीं भी प्रचुर और पूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं है और न तो कोई बतलानेवाला ही है। अगर किसी साधक को उसका ज्ञान और अनुभव प्राप्त भी है तो वह उसे प्रकाशित करना नहीं चाहता। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपको इस गोपनीय साधना का सांगोपांग ज्ञान और अनुभव दोनों ही उपलब्ध हैं। यदि आपने मेरे अनुरोध की उपेक्षा कर दी तो निश्चय ही इस गम्भीर विषय पर कोई भी प्रकाश डालनेवाला नहीं मिलेगा मुझे।"

तान्त्रिक संन्यासी से टाला न गया मेरा अनुरोध। मुस्कराकर स्वीकृति से सिर हिला दिया उसने। फिर पूरे दस दिनों की अवधि में बिन्दु-साधना से सम्बन्धित जिन गूढ़, गोपनीय और रहस्यमय विषयों पर चर्चा हुई, उन पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उनके कतिपय मुख्य अंश पर ही संक्षिप्त में प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है।

सात शरीर और सात चक्र

दूसरे दिन सायंकाल, निश्चित समय पर वह तान्त्रिक संन्यासी आ गया। मैं यमराज के मन्दिर के चबूतरे पर पहले से ही बैठा इन्तजार कर रहा था उसका। आते ही वह कहने लगा—"आप बिन्दु-साधना के रहस्यों से परिचित होना चाहते हैं न। मगर इसके पहले आपको कुछ समझना होगा।

"तन्त्र अद्वैत-मार्ग का शास्त्र है। तान्त्रिक साधना, द्वैत से अद्वैत की यात्रा है। तन्त्र का मुख्य साधना-विषय है कुण्डलिनी-योग। कुण्डलिनी-योग और बिन्दु-योग—दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार कुण्डलिनी-साधना और बिन्दु-साधना भी एक ही है। केवल बाह्य दृष्टि से थोड़ा भेद जान पड़ता है।

"तन्त्र का गुप्त उपदेश यह है कि बिना दीक्षा के सत्य ज्ञान का उदय सम्भव नहीं है और बिना अभिषेक के उस ज्ञान के अन्यत्र संचार की सामर्थ्य भी उपलब्ध नहीं होती। इसलिए जिसका यथार्थ पूर्णाभिषेक नहीं हुआ है—वह गुरुपद में आसीन होने के योग्य नहीं है।"

"अभिषेक क्या है ?" मेरे इस प्रश्न के उत्तर में तान्त्रिक संन्यासी ने कहा—"अभिषेक-तत्त्व एक गम्भीर और गहन रहस्य है, जिसका उद्घाटन न उचित है और न तो सम्भव ही है।

"जैसा कि मैंने कहा, कुण्डलिनी-योग तन्त्र-साधना का एकमात्र विषय है। कुण्डलिनी-योग के अनुसार सत्य की खोज जीवन के—अस्तित्व के रहस्यों की खोज है। जीवन है—जगत् है—अस्तित्व है—होश है—इन्द्रियाँ हैं—बुद्धि है—यानी सब कुछ है—लेकिन इन सबके होते हुए भी जीवन के सत्य से मनुष्य अज्ञात और अपरिचित है। जीवन का यह अज्ञान और यह अपरिचय मनुष्य के लिए पीड़ादायी है। अभी तक जीवन के प्रवाह में मनुष्य विकास की जिस स्थिति में पहुँचा है—वह वास्तव में अपर्याप्त और अधूरा है। विराट् की सम्भावना की तुलना में मनुष्य एक बीजमात्र है। लेकिन बन्धु, उस बीज में सुप्त रूप से बहुत कुछ छिपा हुआ है। उसी 'बहुत कुछ' को प्रकाश में लाना कुण्डलिनी-योग का लक्ष्य है।"

× × ×

"मनुष्य के अस्तित्वगत अन्तर्विकास व अन्तर्यात्रा की जो प्रक्रिया जानी, समझी गयी और खोजी, पहचानी गयी उसीसे 'धर्म' का निर्माण हुआ है। जैसे विज्ञान ने पदार्थ जगत् और स्थूल जीवन के रहस्यों की खोज की है, उसी प्रकार एक अस्तित्व-गत, अन्तरात्म जगत् व अन्तश्चेतना जगत् की भी खोज की गयी है जिसके पराविज्ञान को 'धर्म' ने विकसित किया है। इसी खोज को धर्म 'साधना' कहता है और उसकी अन्तःप्रक्रियाओं को कहता है योग। समझ गये न ? योग के जितने भी आयाम हैं—उनमें कुण्डलिनी-योग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुआ हैं। कुण्डलिनी की अन्तर्यात्रा स्थूलतम आधार से शुरू होकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होती हुई—सूक्ष्मातिसूक्ष्म का भी अतिक्रमण कर परमसत्य तक मनुष्य को पहुँचाती है। कुण्डलिनी-साधना अपने विकास की ऊँचाइयों में योग के अनेक आयामों को और विभिन्न प्रक्रियाओं को अपने में समाहित कर लेती है। इसीलिए इस साधना को सिद्धयोग-महायोग नाम भी दिया गया है। सच पूछा जाय तो कुण्डलिनी-साधना अथवा बिन्दु-साधना आन्तरिक रूपान्तरण और जागरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया है।"

× × ×

"कुण्डलिनी-योग की यात्रा छह शरीर और छह चक्रों के भेदन की यात्रा है। इस यात्रा में प्रथम चार शरीर और चार चक्र की साधना को 'बिन्दु-साधना' कहते हैं। इसलिए कि प्रथम चार शरीर और चार चक्र की साधना का आधार एकमात्र बिन्दु होता है। उसके बाद साधना का आधार होती है आत्मा।"

"पंचकोष के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है इस प्रसंग में ?"

"पंचकोष उन तत्त्वों के कोष हैं—जिनके द्वारा छह शरीरों का निर्माण होता है। अन्नमय कोष का सारांश वीर्य, शुक्रधातु अथवा शुक्रबिन्दु है और है रजोबिन्दु। प्राणमय कोष का सारांश ओजस्, तेज, कान्ति, लावण्य, आभा, प्राण आदि है। इसी प्रकार मनोमय कोष का सारांश मनस्तत्त्व अथवा मन है। अन्नमय कोष से स्थूल शरीर और भाव शरीर का—प्राणमय कोष से सूक्ष्मशरीर का—मनोमय कोष से मनःशरीर का—विज्ञानमय कोष से आत्मशरीर का तथा आनन्दमय कोष से ब्रह्मशरीर का निर्माण होता है। कुण्डलिनी-योग के अनुसार शुक्रबिन्दु पुरुषतत्त्व है और रजोबिन्दु स्त्रीतत्त्व है। शिव और शक्ति विश्व के मूलाधार तत्त्व हैं। शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व का पर्याय पुरुष-तत्त्व और स्त्री-तत्त्व हैं। शिव प्रकाश है और शक्ति है स्फूर्ति। प्रकाशरूप शिव-तत्त्व जब स्फूर्तिरूप शक्ति-तत्त्व के साथ सामंजस्य भाव स्थापित करता है—तो बिन्दुरूप धारण करता है। इसी प्रकार स्फूर्तिरूप शक्ति-तत्त्व जब प्रकाशरूप शिव-तत्त्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित करता है तो 'नादरूप' धारण करता है। आगे बिन्दु और नाद आपस में संयुक्त होकर मिश्रित रूप धारण करते हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि इसी मिश्रित रूप का नाम 'काम' है। यह मिश्रित रूप देवपरक और देवीपरक दोनों है। उसमें दोनों तत्त्वों का तादात्म्य है।

"शिवतत्त्व का वर्ण श्वेत है और शक्तितत्त्व का वर्ण है रक्त। इन दोनों वर्ण-बिन्दुओं के मिश्रित रूप को 'कला' की संज्ञा दी गयी है। पुनः इन वर्णबिन्दुओं के साथ उस मिश्रबिन्दु के साहचर्य से एक अतिविलक्षण तत्त्व का निर्माण होता है, जिसे 'कामकला' कहते हैं। इस प्रकार इन चार प्रकार की शक्तियों से सृष्टि प्रारम्भ होती है। इस सम्बन्ध में कवि कालिदास का निम्न श्लोक अत्यन्त मार्मिक है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥"

× × ×

"उपर्युक्त 'कामकला', जो मिश्रित बिन्दु है वह तन्त्रशास्त्र में पराशक्ति अथवा कुण्डलिनी-शक्ति के रूप में परिकल्पित है। अब मैं आपको सात शरीरों के सम्बन्ध में बतलाऊँगा। स्थूलशरीर, भावशरीर, सूक्ष्मशरीर, मनःशरीर, आत्मशरीर, ब्रह्मशरीर और निर्वाणशरीर—ये सात शरीर हैं। इन सातों शरीरों के जो अपने केन्द्र हैं—योग की भाषा में उन्हें चक्र कहते हैं। वे सातों चक्र—नाड़ीगुच्छ के रूप में मेरुदण्ड में स्थित हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन तीन महत्त्वपूर्ण नाड़ियों द्वारा वे सातों चक्र एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। बिन्दु-साधना का सम्बन्ध प्रथम चार चक्र और चार शरीर से है। पुरुष और स्त्री का जो भेद है वह चौथे मनःशरीर तक ही है। उसके बाद वह भेद समाप्त हो जाता है। फिर न कोई रहता है पुरुष और न तो फिर कोई रहती है स्त्री।

"जैसा कि मैंने कहा है—बिन्दु-साधना में प्रथम चार शरीर का महत्त्व और उसकी उपयोगिता है। साधना का साधन है वे चारों शरीर, मगर आपको मालूम होना चाहिए कि पुरुष के चारों शरीर केवल पुरुष के ही नहीं हैं। स्त्री के भी चारों शरीर केवल स्त्री के ही नहीं हैं। पुरुष का पहला और तीसरा शरीर तो पुरुष का है और दूसरा व चौथा शरीर स्त्री का है। इसी प्रकार स्त्री का पहला और तीसरा शरीर तो है स्त्री का और दूसरा व चौथा शरीर है पुरुष का। समझ में आया न आपके ?

"पुरुष का पहला और तीसरा शरीर ऋणात्मक (– VC) है और दूसरा व चौथा शरीर धनात्मक (+ VC) है। इसी प्रकार स्त्री का पहला और तीसरा शरीर धनात्मक (+ VC) है और दूसरा व चौथा शरीर ऋणात्मक (– VC) है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो पुरुष आधा पुरुष और आधा स्त्री है। और स्त्री भी आधी स्त्री है और आधी पुरुष है। न पुरुष ही पूर्ण है अपने स्थान पर और न तो स्त्री ही है पूर्ण अपने स्थान पर। दोनों ही अपूर्ण हैं।"

"दोनों पूर्ण कब होते हैं ?" प्रश्न किया मैंने।

"पुरुष का आधा शरीर और स्त्री का आधा शरीर आपस में मिलकर पूरा एक शरीर बनता है। वह शरीर पुरुष का भी हो सकता है और स्त्री का भी।"

× × ×

बहिर्मिलन और अन्तर्मिलन

"पुंलिंग-शरीर में ऋणात्मक और स्त्रीलिंग-शरीर में धनात्मक विद्युत्-धारा होती है। इन दोनों प्रकार की विद्युत्-धाराओं का मूलस्रोत एकमात्र कुण्डलिनी-शक्ति ही है। दोनों धाराएँ एक-दूसरे के विपरीत गुण-स्वभाव की हैं। लेकिन जब पुरुष का आधा शरीर और स्त्री का आधा शरीर आपस में संयुक्त होते हैं और उनका मिलन होता है तो दोनों विद्युत्-धाराओं की एक इकाई (एक यूनिट) बनती है। एक सर्किल बनता है और बनता है एक आवर्तन।"

"आपका 'मिलन' शब्द से क्या तात्पर्य है ?"

"यहाँ 'मिलन' शब्द का प्रयोग 'सम्भोग' अथवा 'सहवास' के लिए किया गया है। 'मिलन' दो प्रकार का है—बहिर्मिलन और अन्तर्मिलन। जब पुरुष का पहला शरीर और स्त्री का पहला शरीर आपस में संयुक्त होते हैं तो उसे 'बहिर्मिलन' कहते हैं। मिलन की यह पहली दिशा है। और यह दिशा प्रकृति की दिशा है। क्योंकि इससे प्रकृति का कार्य होता है, जिसका परिणाम है सन्तानोत्पत्ति। मगर यह उपलब्धि तभी सम्भव है—जब कि दोनों धाराओं का प्रवाह समान होगा। यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि ऋणात्मक विद्युत् का प्रवाह शुक्रबिन्दु में और धनात्मक विद्युत् का प्रवाह रजोबिन्दु में होता है और जिस केन्द्र में इकाई बनती है वह केन्द्र है मूलाधार चक्र।"

"अन्तर्मिलन किसे कहते हैं ?"

"स्त्री-पुरुष के दूसरे, तीसरे और चौथे शरीर के मिलन को अन्तर्मिलन कहते हैं। जैसे बहिर्मिलन प्रकृति की दिशा में है, उसी प्रकार अन्तर्मिलन है परमात्मा की दिशा में। पहला है भोग की दिशा और दूसरा है योग की दिशा। एक है प्रवृत्ति का मार्ग और दूसरा है निवृत्ति का मार्ग। पहला बन्धन है और दूसरा है मुक्ति यानी मोक्ष।"

बिन्दु-साधना के चार चरण और भैरवी तथा महाभैरवी

"मूलाधार चक्र पृथ्वीतत्त्वप्रधान होने के कारण स्थूल शरीर के निर्माण का केन्द्र है। स्त्री-पुरुष के स्थूल शरीर के मिलन से जो विद्युत्-ऊर्जा इस चक्र में उत्पन्न होती है, उसीके परिणामस्वरूप स्थूल शरीर का बीज निर्मित होता है। बिन्दुयोग का एकमात्र लक्ष्य है इसी बहिर्मिलन का आश्रय लेकर अन्तर्मिलन की दिशा में उन्मुख होना। सूक्ष्म में प्रवेश करने के लिए स्थूल का ही आश्रय लिया जाता है। अस्तु।"

तान्त्रिक संन्यासी थोड़ा रुककर आगे बतलाने लगा—"बिन्दु-साधना के मुख्यतः चार चरण हैं। स्त्री-पुरुष के प्रथम शरीर का मिलन साधना के प्रथम चरण का विषय है। प्रथम चरण की इस साधना-भूमि में विशेष योग-तान्त्रिक क्रियाओं द्वारा पारद की तरह चंचल और अस्थिर शुक्रबिन्दु और रजोबिन्दु—दोनों स्थिर हो जाते हैं। उनके पतित होने की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। योग की भाषा में इसी स्थिर अवस्था को बिन्दुप्रतिष्ठा कहते हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि बिन्दुप्रतिष्ठा तभी सम्भव है—जब कि वह पूर्णतया संशोधित हुई रहती है और इसके लिए एक गुह्य योग-तान्त्रिक क्रिया की आवश्यकता पड़ती है।"

"वह 'गुह्यक्रिया' क्या है ?"

"उस पर प्रकाश डालने की अनुमति नहीं है।"

× × ×

"साधना के दूसरे चरण में पुरुष का दूसरा शरीर—जो स्त्री का होता है और स्त्री का दूसरा शरीर—जो पुरुष का होता है—संयुक्त होते हैं। इस अन्तर्मिलन की अवस्था में दोनों विद्युत्-धाराओं का केन्द्र होता है स्वाधिष्ठान चक्र। इस केन्द्र में दोनों धाराओं के संयोग से जो ऊर्जा उत्पन्न होती है उसके प्रभाव से दोनों स्थिर अथवा प्रतिष्ठित बिन्दु ऊर्ध्वगामी होते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जिस मार्ग से स्त्री-पुरुष के बिन्दुओं का पतन होता है—उसी मार्ग से उनका उत्थान भी होता है।"

× × ×

"साधना के तीसरे चरण में पुरुष का तीसरा शरीर—जो पुरुष का होता है और स्त्री का तीसरा शरीर—जो स्त्री का होता है—संयुक्त होते हैं। इस अन्तर्मिलन की

अवस्था में दोनों विद्युत्-धाराओं की इकाई का केन्द्र होता है मणिपूरक चक्र। उसमें उत्पन्न ऊर्जा के प्रभाव से—जैसे दूसरे चरण में दोनों बिन्दुओं की मूलाधार से स्वाधिष्ठान तक की यात्रा होती है—उसी प्रकार इस तीसरे चरण में दोनों की यात्रा होती है—स्वाधिष्ठान से मणिपूरक तक।"

× × ×

"साधना के चौथे चरण में पुरुष का चौथा शरीर—जो स्त्री का होता है और स्त्री का चौथा शरीर—जो पुरुष का होता है—संयुक्त होते हैं। अन्तर्मिलन की इस अवस्था में दोनों विद्युत्-धाराओं की इकाई का केन्द्र होता है अनाहत चक्र। इस चक्र में जो ऊर्जा उत्पन्न होती है उसके प्रभाव से दोनों बिन्दुओं का उत्थान मणिपूरक से अनाहत तक होता है। साधना के इस अन्तिम चरण में बिन्दुयोग का एक अति महत्त्वपूर्ण लक्ष्य पूरा होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति योग-तन्त्र की अतिमूल्यवान् उपलब्धि समझी जाती है। इसका कारण अतिशय महत्त्वपूर्ण है और वह यह कि अनाहत चक्र मनःशरीर से सम्बन्धित चक्र है और मनःशरीर की घटना है कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण। अनाहत चक्र में जो विद्युत्-ऊर्जा उत्पन्न होती है—वह अन्य केन्द्रों की ऊर्जाओं से कई गुना अधिक शक्तिशालिनी होती है। उसीकी प्रचण्ड ऊष्मा से प्रसुप्त कुण्डलिनी जागृत हो उठती है।"

शक्तिपात[1]

"कुण्डलिनी-योग में शक्तिपात-दीक्षा का भारी महत्त्व है। इस सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?"—प्रश्न किया मैंने।

"शक्तिपात-दीक्षा में तीन शब्द हैं। पहला है 'शक्ति' जिसका अभिप्राय 'कुण्डलिनी-शक्ति' से है। दूसरा शब्द 'पात' है। 'पात' का अभिप्राय है कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण। तीसरा शब्द है 'दीक्षा', जिसका अभिप्राय है—एक ऐसी गुह्यक्रिया—जिसके द्वारा कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण होता है।

"शक्तिपात-दीक्षा सभी के लिए सम्भव नहीं है। क्योंकि यह अतिगुह्य दीक्षा है। सद्गुरु द्वारा यह दीक्षा उसी व्यक्ति को प्राप्त होती है—जिसने कभी किसी जन्म में चार शरीर तक बिन्दु-साधना की तो अवश्य है—लेकिन शक्ति का जागरण नहीं हुआ है। अथवा उस सीमा पर नहीं पहुँच सका है—जहाँ 'जागरण' सम्भव है। सद्गुरु ऐसे व्यक्ति की खोज में बराबर रहते हैं और साक्षात्कार होते ही उसे दीक्षा प्रदान करते हैं, जिसके फलस्वरूप 'सद्गुरु' की ऊर्जा की ऊष्मा से उस व्यक्ति की 'शक्ति' जागृत हो जाती है।"

---

१. इस सम्बन्ध में विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य—'कुण्डलिनी-साधना-प्रसंग'—ले० अरुणकुमार शर्मा।

बिन्दु-उत्थान की उपलब्धियाँ

"तन्त्र-मार्ग शक्ति का मार्ग है और शक्ति-मार्ग आत्मा का मार्ग है। इसी प्रकार योग-मार्ग शिव का मार्ग है और शिव-मार्ग है शरीर का मार्ग। शिवरूपी शरीर शक्ति-रूपी आत्मा के साक्षात्कार का एकमात्र साधन है। एक है आधार और दूसरा है आधेय। एक साधन है और दूसरा है साध्य। लेकिन योगपरक तन्त्र-साधना के सभी मार्गों में दीक्षा की अपनी गरिमा है और है अपना महत्त्व। बिना दीक्षा के कुछ भी सम्भव नहीं। बिन्दु-साधना-मार्ग के लिए भी ऐसा ही समझना होगा। इसकी साधना-भूमि में सद्‌गुरु साधक को योजनिका-दीक्षा और उसकी नवपरिणीता पत्नी को क्रम से भैरवी और महाभैरवी की दीक्षा प्रदान करते हैं। अगर महाभैरवी की दीक्षा के समय किसी कारणवश सद्‌गुरु उपस्थित नहीं हुए तो ऐसी अवस्था में स्वयं साधक को महाभैरवी-दीक्षा प्रदान करने का अधिकार है।"

"यहाँ मेरी एक जिज्ञासा है और वह यह कि यदि नवपरिणीता पत्नी में साधना की दृष्टि से भैरवी बनने की योग्यता न हो, उसमें अनुकूल लक्षण का अभाव हो तो ऐसी स्थिति में.....।"

मेरा वाक्य पूरा न हो पाया, बीच में ही बोल पड़ा वह तान्त्रिक संन्यासी—"ऐसी स्थिति में जिस परकीया कुमारी स्त्री में योग्यता और लक्षण हो—उसे साधना-भूमि स्वीकार कर लिया जाता है सद्‌गुरु के आदेश से। मगर सद्‌गुरु आदेश तभी प्रदान करते हैं—जब नवपरिणीता पत्नी में योग्यता और लक्षण न हो। या फिर उस अवस्था में देते हैं—जब कि पत्नी का किसी कारणवश अभाव हो। सम्भवतः आप मुझसे यह भी जानना चाहेंगे कि साधना-भूमि में 'स्त्री' की आवश्यकता का अनुभव क्यों होता है?"

"हाँ। यह भी मेरी एक जिज्ञासा है।"—मैंने कहा।

"समयाभाव के कारण मैं इस विषय पर थोड़ा-सा ही प्रकाश डालूँगा। बिन्दुयोग के जितने भी उद्देश्य हैं, उनमें एक उद्देश्य 'पूर्णता-लाभ' भी है। आपको मालूम होना चाहिए कि स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक-दूसरे के अभाव में अपूर्ण हैं। जब तक वे अपूर्ण रहेंगे—तब तक उनकी 'त्रिपुटी' का नाश न होगा और वे अपने-अपने अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से बार-बार जन्म लेते रहेंगे। उनकी पूर्णता के दो आधार हैं। पहला है जागतिक तथा दूसरा है आध्यात्मिक। हमारी संस्कृति में 'प्रणय' और 'परिणय' ये दो शब्द अतिमहत्त्वपूर्ण और अतिमूल्यवान् हैं। पहला 'प्रेम' का पर्याय है और दूसरा है 'विवाह' का पर्याय। 'विवाह' एक सामाजिक और धार्मिक 'कृत्य' तो है, लेकिन उसमें अध्यात्म की भी सुगन्ध है। सामाजिक नियमों के अनुसार और धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर 'परिणय-सूत्र' में बँधना 'विवाह-संस्कार' है। आध्यात्मिक दृष्टि से यहाँ 'परिणय' शब्द विवाह के अतिरिक्त अपना एक विशिष्ट अर्थ

रखता है जिसका संकेत 'प्रणय' की ओर है। परिणय[1]-सूत्र में बँधने का एकमात्र कारण यह है कि वह आध्यात्मिक अद्वयानन्द को प्राप्त करने का तात्कालिक भौतिक साधन है। इससे 'त्रिपुटी' का नाश हो जाता है। यह स्त्री-पुरुष के 'पूर्णत्वलाभ' का जागतिक आधार है। लेकिन फिर भी वह सन्दिग्ध है। इसलिए कि स्त्री-पुरुष में पूर्ण सामञ्जस्य, पूर्ण तादात्म्य और साथ ही पूर्ण सामरस्य का होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। साधना द्वारा अन्तर्मिलन की जिस व्यवस्था के सम्बन्ध में मैं आपको बतला रहा हूँ—वह है—'पूर्णत्वलाभ' का आध्यात्मिक आधार।"

× × ×

"मैं अब आपको बिन्दु-उत्थान की उपलब्धियाँ क्या हैं, इस सम्बन्ध में बतलाऊँगा। इस संसार में सब कुछ है, लेकिन शान्ति और आनन्द ये दो वस्तुएँ नहीं हैं। जिसे हम शान्ति समझते हैं वह वास्तविक शान्ति नहीं है। जिसे हम आनन्द समझते हैं, वह भी वास्तविक आनन्द नहीं है। बिन्दुयोग का दूसरा उद्देश्य है शान्ति और आनन्द की उपलब्धि : वैसे दोनों की हल्की-सी झलक और हल्की-सी अनुभूति निद्रा और सम्भोग की अवस्था में प्राप्त अवश्य होती है। लेकिन वह प्रतीकमात्र है। वास्तविक शान्ति कहीं उपलब्ध होती है तो 'समाधि' में और वास्तविक आनन्द कहीं उपलब्ध होता है तो बिन्दु के ऊर्ध्वगमन की अवस्था में। योग के अनुसार 'आनन्द' पाँच प्रकार का है—सहजानन्द, परमानन्द, नित्यानन्द, दिव्यानन्द और ब्रह्मानन्द। इनसे सम्बन्धित पाँच प्रकार की विभिन्न समाधियाँ भी हैं।"

सहजानन्द

"मूलाधार चक्र से स्वाधिष्ठान चक्र पर्यन्त तक की बिन्दु-यात्रा की अवस्था में जिस आनन्द की अनुभूति होती है—उसे सहजानन्द कहते हैं। बिन्दु की पतितावस्था में जिस क्षणिक आनन्द की अनुभूति होती है उससे इस सहजानन्द की अनुभूति दसगुनी अधिक होती है।"

परमानन्द

"स्वाधिष्ठान से मणिपूर चक्र पर्यन्त तक की ऊर्ध्वमुखी बिन्दु-यात्रा की अवस्था में जिस आनन्द की अनुभूति होती है—उसे 'परमानन्द' कहते हैं। सहजानन्द से इस आनन्द की अनुभूति बीसगुनी अधिक होती है।"

नित्यानन्द

"मणिपूर से अनाहत चक्र पर्यन्त तक की ऊर्ध्वमुखी बिन्दुयात्रा की अवस्था में जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसे नित्यानन्द कहते हैं। परमानन्द से इस आनन्द की अनुभूति पचासगुनी अधिक होती है।"

---

1. They are wedded to the movement.

दिव्यानन्द और ब्रह्मानन्द

"अनाहत से विशुद्धारण्य चक्र पर्यन्त तक की बिन्दुयात्रा में जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसे दिव्यानन्द कहते हैं। नित्यानन्द से इस आनन्द की अनुभूति पचहत्तरगुनी अधिक होती है। इसी प्रकार विशुद्धारण्य से आज्ञाचक्र पर्यन्त तक की बिन्दुयात्रा में जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसे 'ब्रह्मानन्द' कहते हैं। इसे पूर्णानन्द भी कहते हैं।"

चिदानन्द और सच्चिदानन्द

"आज्ञाचक्र से सहस्रार चक्र पर्यन्त तक की बिन्दुयात्रा अति महत्त्वपूर्ण है। योग की दृष्टि से उसकी उपलब्धि अतिमूल्यवान् समझी जाती है। इस यात्रा में ब्रह्मानन्द उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ क्रमशः चिदानन्द और सच्चिदानन्द में परिवर्तित हो जाता है। सच्चिदानन्द चरम पराकाष्ठा का आनन्द है। वास्तव में ये दोनों आनन्द ब्रह्मानन्दानुभूति के ही गहनतम से भी गहनतम रूप हैं।"

× × ×

"अधोमुख बिन्दु का पतन तो त्वरित होता है। लेकिन ऊर्ध्वमुखी बिन्दु का एक चक्र से दूसरे चक्र पर्यन्त उत्थान अत्यन्त मन्दगति से होता है। अब जरा समझने की बात है कि जिस क्षणिक आनन्द को पाने के लिए संसार पागल है, उन्मत्त हैं और पशु बन जाता है—उसी आनन्द को एक योगी और अथवा एक साधक अपने साधना-बल पर स्थायी रूप से न जाने कितना गुना अधिक प्राप्त कर लेता है। ऐसे ही 'आनन्द' को परमेश्वर का स्वरूप बतलाया गया है। तात्पर्य यह कि परमेश्वर आनन्दस्वरूप हैं। और उस स्वरूप का गहनतम बोध उस अवस्था में होता है।"

रात गहरा गयी थी। चौथ का चाँद पहाड़ो के पीछे छिप गया था। वातावरण में और अधिक नीरवता गहरा गयी थी। तान्त्रिक संन्यासी शून्य में ताकते हुए बोला—"आज बस, यहीं तक। कल फिर चर्चा होगी।" इतना कहकर वह उठा और अँधेरे में न जाने कहाँ गायब हो गया।

स्वयं के स्त्री-पुरुष-शरीर का अन्तर्मिलन

साँझ का समय था। मेरे पहले ही आकर बैठ गया था यमराज के मन्दिर के चबूतरे पर वह तान्त्रिक संन्यासी। मुझे देखते ही बोल पड़ा—"आज आपको तन्त्र का एक गूढ पक्ष बतलाऊँगा। मनुष्य की सारी वासनाओं अथवा मूल प्रवृत्तियों पर गहराई से विचार किया जाय तो उन सबको तीन मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है—वित्तैषणा, दारैषणा और लोकैषणा। इन तीनों में दारैषणा प्रमुख है क्योंकि इसमें सब अन्तर्भूत हैं। 'दारैषणा' का सार आकर्षण है और आकर्षण स्त्री-पुरुष-संयुति में पर्यवसित होता है। आकर्षण मिथुनजन्य है। तन्त्र में जिसे आदिशक्ति कहा गया है—उसका

स्वरूप 'काम' है। काम यानी सहचर की कामना। वह सहचर स्त्री या पुरुष होता है। मनुष्य की जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं—उन सभी का लक्ष्य एकमात्र आनन्द प्राप्त करना है। आनन्द सभी कामना और वासना का प्राण है। आनन्द ही सभी कार्यों की प्रेरणा-शक्ति है। इसी पर अस्तित्व, वृद्धि और नाश आदि निर्भर हैं। इसका स्थूल और प्रत्यक्ष अनुभव 'सम्भोग' में होता है। सम्भोग का आनन्द जीवन में पराकाष्ठा का आनन्द है। जितने भी आनन्द हैं उन सबको तान्त्रिक साधना शास्त्र, सम्भोग का ही रूपान्तरण-समझता है। दारैषणा अथवा कामैषणा-सम्बन्धी आनन्द की खोज सार्वभौम है। अखिल मानस जगत् इसी दारैषणा अथवा कामैषणा से ओतप्रोत है। सम्पूर्ण मानस जगत् इसी कामशक्ति में लिप्त है। यही सभी वासनाओं का 'बीज' है। इसीसे सभी वासनाएँ और प्रवृत्तियाँ जाग्रत होती हैं और इसीमें लीन भी होती हैं। बच्चों के कोमल हृदय स्पन्द में, कामुक के तीव्र-से ज्वर में, भक्त के हृदयस्पर्शी भक्ति-स्रोत में, कवि की विश्व-मोहिनी विपंचिका में, इसी वासना की मंजुल हृदयद्रावी ध्वनि फूट निकलती है। यह विश्व-वासना है और विश्व-वासना की 'मूर्ति' 'स्त्री' है।

"भूमि पर हम गिरते हैं और जब उठना होता है तो जमीन का ही सहारा लेकर उठते हैं। जो वस्तु गिरानेवाली होती है वही उठानेवाली भी सिद्ध होती है। बाह्य विषयों के भोग द्वारा तृप्त होने के बाद ही व्यक्ति साधक बन सकता है। भौतिक विषयों का अनुभव आवश्यक है, लेकिन साधनरूप में।"

"आपका मतलब समझा नहीं"—मैंने कहा।

"मतलब स्पष्ट है। विश्ववासना और उस विश्ववासना की मूर्ति 'स्त्री' का सहारा लेकर ही बिन्दु-साधना की यात्रा शुरू होती है। उसकी मूलभित्ति यही दोनों हैं। बिन्दु-साधना की पहली यात्रा की चर्चा अब तक की मैंने। अब मैं आपको उसकी दूसरी यात्रा के विषय में बतलाऊँगा।

"यह भी अन्तर्मिलन की ही यात्रा है। लेकिन दोनों में भिन्नता है और भिन्नता यह है कि इस यात्रा में पुरुष और स्त्री को एक-दूसरे के आश्रय की आवश्यकता नहीं पड़ती। दोनों का साधना-मार्ग स्वतन्त्र होता है। दोनों अपने ही विपरीत शरीर के साथ संयुक्त होते हैं।"

"समझा नहीं"—जरा सहिष्णु होकर बोला मैं।

"समझाता हूँ बन्धु! इतना आतुर न हो। इतना कौतूहल ठीक नहीं।" तान्त्रिक संन्यासी ने थोड़ा रुककर आगे कहना शुरू किया—"अन्तर्मिलन की इस साधना-यात्रा में पुरुष का पहला शरीर और दूसरा शरीर संयुक्त होकर विद्युत् की पहली इकाई पहले केन्द्र में बनाते हैं। फिर दूसरा और तीसरा शरीर संयुक्त होकर विद्युत् की दूसरी इकाई दूसरे केन्द्र में बनाते हैं। उसके बाद तीसरा शरीर चौथे शरीर से संयुक्त होकर विद्युत्

की तीसरी इकाई तीसरे केन्द्र में बनाते हैं। इसी प्रकार स्त्री के भी सम्बन्ध में समझना चाहिए।

"पुरुष और स्त्री के मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूरक इन तीनों चक्रों यानी केन्द्रों में बननेवाली विद्युत् इकाइयाँ अति रहस्यमयी हैं। उनसे उत्पन्न होनेवाली विद्युत्-ऊर्जाओं की ऊष्माएँ अत्यन्त प्रबल और प्रखर होती हैं, जिसके प्रभाव से जागृत कुण्डलिनी का उत्थान और क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर—इन तीन चक्रों का भेदन होता है।"

× × ×

कुण्डलिनी-जागरण-उत्थान और चक्र-भेदन के विषय में मुझे सर्वथा नयी जानकारी मिली थी। 'कुण्डलिनी' से सम्बन्धित पुस्तकों में किसी भी लेखक अथवा विचारक ने इतना स्पष्ट कहीं कुछ नहीं लिखा है। सभी जगह गोलमोल भाषा का प्रयोग किया गया है।

रात आधी गुजर चुकी थी। तान्त्रिक संन्यासी दूसरे दिन मिलने के लिए कहकर चला गया। वह कहाँ रहता था? कहाँ से आता था और रात की गहन कालिमा में अचानक कहाँ गायब हो जाता था? आज तक मैं समझ न सका था।

दूसरे दिन तान्त्रिक संन्यासी कहने लगा—"इस अन्तर्मिलन की अवस्था में केन्द्रों में बननेवाली विद्युत्-इकाइयाँ बड़ी ही अद्भुत हैं। सांसारिक दृष्टि से बर्हिमिलन की अवस्था का आनन्द क्षणिक है। लेकिन वियोग का दुःख काफी लम्बा है और उस दुःख से फिर मिलन की आकांक्षा जन्म लेती है। मगर फिर भी मिलन क्षणिक ही होता है और वह मिलन फिर लम्बे दुःख का कारण बनता है। मगर मैंने जिस अन्तर्मिलन की चर्चा की है—उसमें असीम आनन्द की अन्तर्धारा निर्बाध गति से और स्थायी रूप से प्रवाहित होने लग जाती है। यह आनन्द अन्य आनन्द और उसके प्रकार से भिन्न है। योग की दृष्टि में यह आनन्दानुभूति उच्चतम ध्यान का अति महत्त्वपूर्ण आधार है। साधक का चित्त स्वयं, बिना किसी प्रयास के इस अनुभूति में एकाग्र होकर मग्न हो जाता है। अन्त में चित्त ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है—जिसे योग 'धर्ममेघ' समाधि कहता है, जिसकी उपलब्धि है परम शान्ति। पहले अन्तर्मिलन की उपलब्धि है आनन्द और दूसरे अन्तर्मिलन की उपलब्धि है शान्ति।

"यहाँ एक बात बतला दूँ आपको, वह यह कि अन्य जितनी भी समाधियाँ हैं—वे अपने निश्चित समय पर भंग हो जाती हैं, लेकिन धर्ममेघ समाधि कब भंग होगी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इस समाधि में योगी और साधकगण सौ से पाँच सौ वर्ष तक रह जाते हैं। कोई-कोई तो हजार वर्ष तक भी रह जाते हैं। हिमालय की गिरि-कन्दराओं में इस प्रकार के योगी और साधक आज भी समाधिस्थ बैठे हुए हैं न जाने कब से?"

पूर्णत्व-लाभ

"यह दूसरा 'अन्तर्मिलन' तन्त्र के लिए अति महत्त्वपूर्ण रहा है। तन्त्र की कई ऐसी गुह्य और गोपनीय साधनाएँ हैं—जो इसी अन्तर्मिलन की सम्भावनाओं और उपलब्धियों पर निर्भर हैं। मध्ययुग में—जिसे तन्त्र का युग कहा जाता है—इस अन्तर्मिलन को लेकर कई महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये गये। सच पूछा जाय तो उन प्रयोगों के गूढ़ तत्त्वों और रहस्यमयी तान्त्रिक क्रियाओं को भलीभाँति न समझ सकने के कारण ही जनसाधारण में तन्त्र और उसकी साधनाओं के प्रति भ्रान्त धारणाएँ फैलीं और कलुषित भावनाओं का जन्म हुआ।

"मध्ययुग तन्त्र का स्वर्णयुग था। वास्तविक तन्त्र-युग ५०० ई० से ९०० ई० तक माना जाता है, जब कि डॉ० गोपीनाथजी कविराज १२०० ई० तक मानते हैं। इस युग की चार मुख्य विशेषताएँ रही हैं—देवी के रूप में शक्ति के महत्त्व की वृद्धि, मन्त्र-प्रयोग-वृद्धि, कुण्डलिनी योग में विश्वास की वृद्धि और पंचमकारोपासना की प्रभाव-वृद्धि। कहने की आवश्यकता नहीं—इन चारों वृद्धियों का श्रेय इसी अन्तर्मिलन को ही है। जैसे-जैसे अन्तर्मिलन की दिशा में उन्नति होती गयी—वैसे ही वैसे—चारों विशेषताओं के महत्त्व में भी वृद्धि होती गयी, जिसके फलस्वरूप उसी काल में शाक्त-सम्प्रदाय से सम्बन्धित ६३ तन्त्र, ३२७ उपतन्त्र और उनके यामल, डामर, संहितादि की रचना हुई। इसी प्रकार शैव-सम्प्रदाय के ३२ तन्त्र, १२५ उपतन्त्र और उनके यामल, डामर, पुराणादि की भी रचना हुई। इनके अतिरिक्त वैष्णव-सम्प्रदाय के ७५ तन्त्र, ६०५ उपतन्त्र और उनके यामल, डामर, संहितादि की भी रचना हुई। इतना ही नहीं, बौद्ध, जैन, पाशुपत, कापालिक, पांचरात्र और भैरव आदि २२ आगमों के लगभग ५०० तन्त्रों तथा इतने ही उपतन्त्रों का भी आविर्भाव हुआ उस युग में। कहने की आवश्यकता नहीं, इन समस्त महत्त्वपूर्ण तन्त्रों के आविर्भाव के मूल में 'अन्तर्मिलन' ही एकमात्र है।

"इस दिशा में योग-तन्त्रपरक 'बहिर्मिलन' का भी कम महत्त्व नहीं है। तन्त्र में 'पंचमकारोपासना' का अपना गरिमामय और महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस रहस्यमयी और गोपनीय तान्त्रिक उपासना का आधार 'बहिर्मिलन' ही है। पीठोपासना, मन्त्रोपासना, मुण्डासन-सिद्धि, दैवी राज्य से सम्बन्ध, भावराज्य की सूक्ष्मात्माओं से सम्पर्क, मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र की सिद्धि के अतिरिक्त मारण, मोहन, वशीकरण आदि षट्कर्म साधन इसी बहिर्मिलन द्वारा ही सम्भव है। खैर, अब इस प्रसंग को यहीं छोड़ें। मेरे पास समय बहुत कम है। इसलिए मुख्य-मुख्य बात ही बतलाऊँगा आपको।" तान्त्रिक संन्यासी इतना कहकर थोड़ी देर मौन रहा। फिर कहने लगा—"दूसरे 'अन्तर्मिलन' की जितनी भी उपलब्धियाँ हैं—उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है 'पूर्णत्वलाभ'। पूर्णत्वलाभ का मतलब

है 'स्त्री' और 'पुरुष' का अपने-आपमें 'पूर्ण' होना। पुरुष है तो 'पूर्ण पुरुष' हो। स्त्री है तो 'पूर्ण स्त्री' हो। आप तो जानते ही हैं कि चार शरीरों में दो पुरुषतत्त्वप्रधान और दो स्त्रीतत्त्वप्रधान होते हैं। पुरुष के चारों शरीर अपने से विपरीत शरीर से संयुक्त होते हैं—तो एक नये पुरुष का जन्म होता है, जिसे 'पूर्ण पुरुष' कहेंगे। इसी प्रकार स्त्री के चारों शरीर अपने से विपरीत शरीर से संयुक्त होते हैं—तो एक नयी स्त्री का जन्म होता है जिसे 'पूर्ण स्त्री' कहा जायेगा। साधारण लोगों को पूर्ण स्त्री और पूर्ण पुरुष का कोई अन्दाज नहीं हो सकता, क्योंकि सभी पुरुष और सभी स्त्रियाँ अपने-आपमें आधे-अधूरे हैं। जिस समय स्त्री-पुरुष के अपने ही विपरीत शरीर अन्तर्मिलन की अवस्था में संयुक्त होते हैं—उस समय स्त्री और पुरुष को अपने-आपमें परम सन्तोष, परम सुख और परम तृप्ति का अनुभव होता है। वह अनुभव अखण्ड होता है। फिर न स्त्री को पुरुष की और न तो पुरुष को स्त्री की ही आवश्यकता रह जाती है। उनके लिए बहिर्मिलन का कोई मूल्य या महत्त्व नहीं रह जाता। कोई अर्थ नहीं रह जाता। लेकिन एक बात अवश्य है, वह यह कि ऐसे पूर्ण स्त्री-पुरुष का बहिर्मिलन अवश्य सम्भव है—मगर दूसरे अर्थों में।"

सीता और मीरा अपने-आपमें पूर्ण 'स्त्री'

"यह मैं आपको बतला ही चुका हूँ कि मनःशरीर तक ही स्त्री-पुरुष का भेद है। द्वन्द्व है। द्वैतभाव है। पूर्णत्वलाभ होते ही स्त्री-पुरुष आत्मशरीर को उपलब्ध हो जाते हैं। फिर स्त्री के लिए संसार में न कोई पुरुष रह जाता है और न तो रह जाती है पुरुष के लिए कोई स्त्री ही। स्त्री या पुरुष होने का भाव समाप्त हो जाता है हमेशा के लिए। और हमेशा के लिए समाप्त हो जाता है द्वन्द्व अथवा द्वैतभाव। सर्वत्र अद्वैतभाव का विस्तार हो जाता है। 'पूर्णत्वलाभ' के पश्चात् बिन्दुयोग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है 'अद्वैतलाभ'।"

"मेरी दो-एक जिज्ञासाएँ हैं। मैं उनका समाधान चाहता हूँ।"—मैंने कहा।

"बतलाइये, कौन-सी जिज्ञासा है?"

"पहली यह कि पुरुष की तरह स्त्री को भी समान रूप से सब कुछ साधना-मार्ग में उपलब्ध होता है। लेकिन स्त्री में कुण्डलिनी तो होती नहीं, फिर उसका किस चीज का जागरण और उत्थान होता है? इसी जिज्ञासा से सम्बद्ध एक और जिज्ञासा है, वह यह कि स्त्रियों में क्या षट्चक्र होता है पुरुषों की तरह?"

"हाँ, षट्चक्र होता है।"—तान्त्रिक संन्यासी बोला—"कुण्डलिनी तो नहीं होती, लेकिन कामशक्ति तो होती है पुरुषों की तरह। कुण्डलिनी-शक्ति, बिन्दुशक्ति 'कामशक्ति' के ही पर्याय हैं।"

कुण्डलिनी-शक्ति

"कुण्डलिनी के विषय में लोगों में बड़ी भ्रान्त धारणा है। यह बात ठीक है कि भ्रान्ति के निवारण के लिए समय-समय पर बराबर प्रयास किया गया, लेकिन प्रयुक्त होनेवाली भाषा इतनी जटिल और दुरूह रही कि साधारण लोग 'अभिप्राय' को समझ सकने में असफल रहे। आपको मालूम होना चाहिए—चेतना और शरीर का जो मिलन-बिन्दु है (मूलाधार चक्र) उस पर वह शक्ति है—जिसे 'आत्मशक्ति' कहते हैं। आत्म-शक्ति की जो ऊर्जा है उसकी अभिव्यक्ति शुक्रबिन्दु और रजोबिन्दु में होती है। उसके दो रूप हैं—जब वह अधोन्मुख होकर प्रवाहित होती है तो 'कामशक्ति' बन जाती है और वही जब साधना-बल पर ऊर्ध्वमुख होकर प्रवाहित होने लग जाती है तो कुण्डलिनी शक्ति बन जाती है। स्त्री-पुरुष की दृष्टि से भेद यही है कि स्त्री में वह अपनी दोनों अवस्थाओं में 'कामशक्ति' ही बनी रहती है। कुण्डलिनी संज्ञक नहीं होती।

"अब और कौन-सी जिज्ञासा है ?"

"पाँचवें आत्मशरीर की उपलब्धि क्या है ?"

पाँचवें आत्मशरीर की उपलब्धियाँ

"आत्मशरीर की पहली उपलब्धि तो अद्वैत-लाभ ही है। जो आत्मशरीर को उपलब्ध होता है उसकी निद्रा हमेशा के लिए समाप्त हो जाती है। वह सतत जागता ही रहेगा। हर अवस्था में और हर समय वह जाग्रत रहेगा। अगर सोयेगा भी तो उसका शरीर ही सोयेगा। उसके भीतर सतत कोई जागता रहेगा। तीसरी उपलब्धि है 'मैं कौन हूँ' का उत्तर प्राप्त होना। आत्मशरीर को उपलब्ध व्यक्ति को पहली बार इस बात का पता चलता है कि वह कौन है ? कहाँ से आया है और कहाँ जायेगा ? चौथी उपलब्धि है 'मैं' का मिट जाना।"

"समझा नहीं मैं।"

" 'मैं', 'हूँ' अहंकार का बोधक है। पाँचवें आत्मशरीर को जिसने प्राप्त कर लिया है—उसका अहंकार तो मिट जाता है, 'मैं' का भाव भी मिट जाता है। लेकिन 'हूँ' का भाव नहीं मिटता है। 'मैं हूँ' इसमें दो चीजें हैं—'मैं' तो अहंकार है और 'हूँ' अस्मिता है—यानी होने का बोध। मैं तो मिट जाता है। मगर—'होना' रह जाता है—'हूँ' रह जाता है—अस्मिता रह जाती है। एक प्रकार की यह समाधि की अवस्था समझी जायेगी। समाधि में केवल 'अस्मिता' रहती है, 'मैं' का बोध समाप्त हो जाता है।"

पूर्ण स्त्री-पुरुष का बहिर्मिलन

"आपने पूर्ण स्त्री और पूर्ण पुरुष के बहिर्मिलन की सम्भावना की चर्चा की थी। मेरी इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा है कि उससे कौन-सा आध्यात्मिक लाभ होता है ?"

"आध्यात्मिक लाभ की बहुत सारी सम्भावनाएँ हैं, समझे न। अजन्ता, एलोरा की गुफाओं में उत्कीर्ण चित्र और कोणार्क के मन्दिर की पाषाण-मूर्तियाँ इसी बहिर्मिलन का प्रतिनिधित्व करती हैं। सच पूछा जाय तो 'तन्त्र' का सम्पूर्ण अस्तित्व इसी बहिर्मिलन पर निर्भर है। तन्त्र ने इस बहिर्मिलन को लेकर कई महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये जिस कारण मध्ययुग के बाद उसे काफी परेशानी और उलझनों का सामना करना पड़ा। उसकी चरम सीमा तक बदनामी भी हुई। क्योंकि हम समझ न सके कि वह क्या कर रहे हैं? हमारी समझ के बाहर की बात थी। बाहर होना स्वाभाविक भी था। क्योंकि अगर एक पूर्ण स्त्री और एक पुरुष बहिर्मिलन की अवस्था में हैं तो वह हमारे लिए सम्भोग ही होगा। सम्भोग ही समझेंगे हम उसे। हम सोच भी नहीं सकेंगे कि वास्तव में यह हो क्या रहा है? लेकिन तन्त्र-साधना-भूमि की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। यह घटना साधक के लिए अतिमूल्यवान् और सहयोगी है। यह एक नये मिलन का सूत्रपात है। यह बिन्दुयोग की चौथी और अन्तिम यात्रा है। पूर्ण स्त्री और पूर्ण पुरुष के इस बहिर्मिलन की अवस्था में जिस रस और जिस आनन्द का अनुभव होता है—उसका सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। मिलन की इसी भूमि में आत्मानुभूति और आत्मसाक्षात्कार होता है। इसी सन्दर्भ में आपको मैं एक अति महत्त्वपूर्ण बात बतलाता हूँ। वह यह कि इस अवस्था में स्त्री-पुरुष की विद्युत्-ऊर्जाओं का एक वर्तुल बनता है—जो आगे चलकर वलयाकार प्रकाश-पुञ्ज में परिवर्तित हो जाता है। मगर वह दिखलाई नहीं पड़ता। वह अव्यक्त होता है। लेकिन उसमें देवात्माओं को आकर्षित करने की अपूर्व क्षमता होती है। आपको मालूम होना चाहिए कि उसी आकर्षण के वशीभूत होकर पूर्ण स्त्री के माध्यम से उच्चकोटि की देवात्माएं लोककल्याण के लिए मानव-शरीर ग्रहण करती हैं।"

× × ×

"अब तक न जाने कितने स्त्री-पुरुष पूर्णत्वलाभ किये होंगे, बतलाया नहीं जा सकता। यहाँ मैं उदाहरण के रूप में सीता और मीरा की चर्चा करूँगा, जिनको हम 'सती' की संज्ञा देते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि जिनकी दृष्टि किसी परपुरुष पर नहीं उठती। जो परपुरुष की ओर आकर्षित नहीं होतीं। किसी परपुरुष से प्रेम नहीं करतीं। गुह्य विद्या की दृष्टि में सती का मतलब है कि जिसके पास 'स्त्री' होने का भाव ही नहीं है। जिसके पास अब स्त्री ही नहीं बची है कि किसी परपुरुष पर दृष्टि उठाये, परपुरुष की ओर आकर्षित हो या किसी परपुरुष से प्रेम करे।

"अगर कोई स्त्री किसी साधारण पुरुष के प्रेम में भी तन-मन से, प्राण से, विचार से, भाव से और आत्मा से पूर्णतया समर्पित हो जाय तो उसे बिन्दु-साधना की इतनी लम्बी यात्रा करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। स्वयं वह चारों शरीरों का अतिक्रमण

कर पाँचवें आत्मशरीर को उपलब्ध हो जायेगी। जिसने यह अनुभव किया था, उसने कहा था—पति 'परमेश्वर' है। पति को 'परमेश्वर' कहने का उनका मतलब पुरुष को 'परमेश्वर' बनाने का नहीं था। लेकिन उनके लिए 'पति' के माध्यम से आत्मशरीर का दरवाजा खुल गया था। बिना किसी साधना के उन्हें आत्मशरीर उपलब्ध हो गया था। पूर्णत्व की स्थिति उपलब्ध हो गयी थी। अद्वैत-लाभ हो गया था। इसलिए 'पति' को 'परमेश्वर' कहना कोई अनुचित बात नहीं थी। पति को परमेश्वर के रूप में स्वीकार करना कोई भूल न थी। क्योंकि जो साधक को बड़ी मेहनत और परिश्रम से उपलब्ध होता है—वह उनको 'प्रेम' से ही प्राप्त हो गया था। साधना से भी ऊपर 'प्रेम' है। इसलिए जितने भी 'योग' हैं—उनमें 'प्रेमयोग' भी है। 'प्रेम' स्वयं अपने-आपमें एक पूर्ण योग है।

"अब जैसे सीता हैं। सीता को हम सती की श्रेणी में रखते हैं। प्रेम में उनका समर्पण-भाव बड़ा ही अनूठा था। राम के प्रेम में वह पूर्ण समर्पिता थीं। समर्पण की दृष्टि से वह पूर्ण थीं। उनका समग्र समर्पण था। यही कारण था कि बिना किसी साधना के उन्होंने पाँचवें शरीर को प्राप्त कर लिया था। रावण उनका स्पर्श तक न कर सका था। आँख उठाकर देख भी न सका था। वास्तव में रावण था अपूर्ण पुरुष और जब कि सीता थी पूर्ण स्त्री। पूर्णत्वप्राप्त स्त्री की तेजस्विता, प्रखरता थी उनमें। सीता के लिए रावण का कोई अर्थ नहीं था। कोई मूल्य या महत्त्व भी नहीं था। लेकिन फिर भी उन्होंने अग्नि-परीक्षा देने से इन्कार नहीं किया। यदि इन्कार कर देतीं तो उनकी 'सती' की मर्यादा और हैसियत समाप्त हो जाती। सीता राम से कह सकती थीं कि आप भी तो अकेले थे। अवश्य आयी होगी आपके भी जीवन में कोई न कोई स्त्री। परीक्षा मेरी अकेली की ही क्यों? मेरे साथ आपकी भी परीक्षा होनी चाहिए। लेकिन सीता के मन में यह प्रश्न ही नहीं उठा। अगर एक बार भी प्रश्न उठाया होता तो फिर अग्नि से गुजरती तो अवश्य ही जल जातीं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनका समर्पण पूर्ण था। कोई दूसरा पुरुष नहीं था सीता के लिए।"

× × ×

"क्या पुरुष के लिए प्रेम में पूर्ण समर्पण की सम्भावना नहीं है? क्या वह बिना किसी साधना के 'स्त्री' की तरह प्रेम में पूर्ण समर्पित होकर पाँचवें शरीर को उपलब्ध नहीं हो सकता?" मैंने प्रश्न किया।

"नहीं, पुरुष के लिए यह सम्भावना कठिन है। असम्भव ही समझें। क्योंकि पुरुष के पास समर्पण-चित्त नहीं है। आक्रामक चित्त है उसके पास। वह आक्रामक है, समर्पक नहीं। इसलिए मनुष्य किसीको भी पूर्ण रूप से प्रेम नहीं कर पाता। उसका प्रेम भी अपूर्ण ही होता है! समर्पक चित्त ही पूर्ण रूप से प्रेम करने में समर्थ होता है,

आक्रामक चित्त नहीं। क्योंकि आक्रमण के लिए बहुत सी चीजों की आवश्यकता पड़ती है, समर्पण के लिए नहीं। समर्पण में केवल व्यक्ति ही जिम्मेदार होता है। अन्य किसी भी चीज की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती। पूर्ण समर्पण के लिए किसीको किसीसे कुछ पूछना नहीं पड़ता। लेकिन यदि आक्रमण करना है तो आक्रमण का जो परिणाम होगा उसमें आक्रामक के साथ-साथ अगला व्यक्ति भी जिम्मेदार होगा। आक्रमण और समर्पण में यही अन्तर है।''

× × ×

"सीता की तरह जो स्त्री चारों शरीर के रहते हुए जिससे पूर्ण समर्पण-भाव से प्रेम करती है, वह उसके पाँचवें शरीर उपलब्ध होने पर परमात्मस्वरूप हो जाता है। क्योंकि चाहे वह पति हो या प्रेमी उसीके प्रति पूर्ण समर्पण-भाव से प्रेम करने पर ही तो वह चार शरीरों का अतिक्रमण कर पाँचवें शरीर को उपलब्ध हुई होती है। इसलिए वह परमेश्वर है।''

× × ×

"मीरा से तो आप परिचित ही होंगे। मीरा और सीता में कोई विशेष अन्तर नहीं है। एक का समर्पण 'प्रेम' का समर्पण था और दूसरे का समर्पण 'भक्ति' का समर्पण था। भक्ति में पूर्ण समर्पिता होने के कारण मीरा भी बिना किसी साधना के चार शरीर का अतिक्रमण कर पाँचवें शरीर को उपलब्ध हो गयी थीं। उनके लिए भी संसार में कृष्ण के सिवाय दूसरा कोई पुरुष नहीं था। एक बार मीरा वृन्दावन गयीं। कृष्ण के मन्दिर में पहुँचीं। मन्दिर के पुजारी ने कहलवा दिया कि मन्दिर में स्त्री का प्रवेश निषिद्ध है। वह स्त्रियों को देखता नहीं। देखना नहीं चाहता वह। लेकिन मीरा मजीरा बजाती हुई मन्दिर में प्रवेश कर गयीं। पाँचवें शरीर को उपलब्ध पूर्ण स्त्री थीं वह। उन्होंने पूर्ण समर्पण-भाव से कृष्ण की भक्ति की थी। इसलिए वह परमात्मा हो गये थे मीरा के लिए। मन्दिर में रोका गया मीरा को। तब मीरा ने कहा 'बड़ी ही अद्भुत घटना है। बड़ी ही विचित्र बात है। आश्चर्य भी कम नहीं है। मेरे लिए तो इस संसार में केवल एक ही पुरुष है—और वह है कृष्ण। यह दूसरा पुरुष कहाँ से आ गया? मैं तो अब उसे देखना चाहती हूँ। कौन है वह दूसरा पुरुष?'

"पुजारी ने जब यह सुना तो भागा-भागा आया और मीरा के चरणों पर गिर पड़ा। बोला—'जिसके लिए संसार में एक ही पुरुष बचा हो अब उसको स्त्री कहना भारी मूर्खता है'।''

× × ×

"आपके कहने का सारांश यह है कि स्त्री साधना-मार्ग से चलकर भी पूर्णत्व लाभ कर सकती है और प्रेम में पूर्ण समर्पिता होकर भी। लेकिन पुरुष के लिए एक ही मार्ग है। और वह है साधना का मार्ग।''

"हाँ, आपने ठीक समझा ।

"पूर्ण स्त्री और पूर्ण पुरुष के लिए न कोई पुरुष रह जाता है और न तो रह जाती है कोई स्त्री ही संसार में । सारा भेद-भाव समाप्त हो जाता है पाँचवें शरीर के तल पर । केवल 'ऊर्जा' रह जाती है । पुरुष की आक्रमण-ऊर्जा और स्त्री की समर्पण-ऊर्जा । पुरुष और स्त्री के स्थान पर बस ये ही दोनों ऊर्जायें रह जाती हैं । पुरुष और स्त्री की संज्ञा समाप्त हो जाती है । तुम्हें मालूम होना चाहिए कि ये दोनों ऊर्जायें भारतीय संस्कृति और साधना की अतिविलक्षण और अतिअद्‌भुत चीजें हैं । पुरुष की आक्रमण-ऊर्जा स्त्री की समर्पण-ऊर्जा से मिलकर जहाँ एक ओर योग की विभिन्न प्रक्रियाओं के रूप में विकसित हुई वहीं दूसरी ओर स्त्री की समर्पण-ऊर्जा पुरुष की आक्रमण-ऊर्जा से मिलकर 'भक्ति' और प्रेम की बहुत-सी प्रक्रियाओं के रूप में विकसित हुईं । इस अवस्था में आक्रमण बन जाता है 'योग' और समर्पण बन जाता है 'भक्ति अथवा प्रेम' । दोनों ऊर्जाएँ दूध और पानी की तरह आपस में मिलकर अद्वैत की जो स्थिति उत्पन्न करती हैं वही है 'योग', वही है 'भक्ति' और वही है 'प्रेम' । इसीलिए अन्य योगों की तरह भक्ति और प्रेम को भी 'योग' कहा गया । जितने भी 'योग' हैं उनमें भक्तियोग और प्रेमयोग भी है ।"

× × ×

रात आधी से ज्यादा गुजर चुकी थी । शायद स्वाति नक्षत्र लग गया था । आकाश में काले भूरे बादल छाये हुए थे । हवा में हल्की ठण्डी थी । लगा, किसी भी क्षण पानी बरसने लगेगा । तान्त्रिक संन्यासी उठ खड़ा हुआ । मैं भी उसके साथ उठकर खड़ा हो गया । चलते समय उसने बड़े ही विषण्ण मन से कहा—"कल आना । थोड़ा-बहुत और बतला दूँगा आपको । परसों दीपावली है । परसों के बाद मेरा फिर मिलना न होगा । दीपावली की रात हम दोनों के मिलन की अन्तिम रात होगी ।"

"क्या आप हमेशा के लिए इस स्थान को छोड़कर अन्यत्र कहीं जा रहे हैं ?"

"हाँ, ऐसा ही समझिये ।" अँधेरे में डूबे शून्य की ओर ताकते हुए बोला वह तान्त्रिक संन्यासी—"बहुत दूर जा रहा हूँ । वहाँ, जहाँ से किसीका वापस लौटना सम्भव नहीं ।"

"समझा नहीं । क्या कहना चाहते हैं आप ?"

मेरा प्रश्न निरुत्तरित रह गया । देखा, वह तान्त्रिक संन्यासी अँधेरे में गायब हो चुका था ।

× × ×

दूसरे दिन अधिक बातें न हो सकीं । काफी देर मौन रहने के बाद तान्त्रिक सन्यासी बोला—"मेरे पास समय कम रह गया है । मैं आपको बिन्दु-साधना के मूल तत्त्व के

विषय में संक्षिप्त में बतलाऊँगा। मैं आपको बहुत कुछ बतलाना चाहता था, मगर क्या करूँ, विवश हूँ।"

समय का अभाव और विवशता···तान्त्रिक संन्यासी की बातें कुछ रहस्यमयी लगीं मुझे। मगर कुछ बोला नहीं मैं।

उसने कहना शुरू किया—"तुम्हें मालूम होना चाहिए कि तान्त्रिक साधना 'आदि-शक्ति' की साधना है और आदिविकास मैथुनविषयक है। कहने का मतलब है—आनन्द के लिए हैं और है रति के लिए। यही विश्व-वासना है। अधिकार की इच्छा भी इसी विश्व-वासना का वेग ही समझा जाता है। जिस वेग से 'काम' अपने को अन्य मार्गों में अभिव्यक्त करता है—वही लोकैषणा है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो समाज में व्यक्ति का सम्बन्ध मैथुन-सम्बन्ध ही है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो सोर नियम, चैत्त नियम, वैषयिक प्रीति आदि जितने सामाजिक सम्बन्ध हैं—सबमें काम-शक्ति ही प्रधान है। यहाँ तक कि देवता, गुरु, भगवान् आदि के प्रति भी यदि कोई सम्बन्ध है तो वह भी आकर्षणात्मक, कामात्मक है और है मैथुनात्मक। रौद्रात्मक, विसर्गात्मक, रजात्मक और आक्रामक-प्रवृत्ति पुरुष है। शान्त्यात्मक, आदानात्मक, सहनात्मक और समर्पक प्रवृत्ति स्त्री है। यही नियम सर्वत्र व्याप्त है। अनुकूल परिस्थिति में, शारीरिक संप्रयोग में, सम्भोग में, अन्य परिस्थितियों में, मानसिक और आत्मिक सम्भोग में वही आदिशक्ति ही परिणत होती है। विषय हैं और विषयी है, दोनों का आकर्षण है। जानते हैं, बाज सबसे अधिक प्रेम कबूतर से करता है। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है—जो प्रेम की पराकाष्ठा में भिन्नता का नाश नहीं चाहता। सच बात तो यह है कि अद्वयानन्द में अहंता बाधक है। अमिथुनी भाव में आनन्द का उद्रेक है। इसीकी प्रत्यक्ष व्यावहारिक दशा स्त्री-पुरुष संप्रयोग है। तन्त्र के अनुसार सारे विश्व में निवृत्ति अपने को प्रवृत्ति के मार्ग में स्थापित करना चाहती है। उसके द्वारा भेद का वरण केवल अभेद-सिद्धि के लिए होता है। यही महामाया है। अज्ञान है और इसी अविद्या में सभी जीव भ्रमण कर रहे हैं। मिथुन के नाश के लिए यदि कोई साधन है, तो वह मैथुन ही है। द्वन्द्व का नाश द्वन्द्व से ही सम्भव है। द्वन्द्व के मार्ग से हमें अद्वैत की ओर चलना पड़ेगा। 'द्वैत' का आश्रय लेकर अद्वैत की स्थिति को उपलब्ध होना होगा। वासना का अवलम्बन ग्रहण कर साधना-मार्ग में अग्रसर होना होगा। जैसा कि मैंने कहा है—जमीन पर गिरने पर उस जमीन के सहारे ही उसका त्याग किया जा सकता है। तन्त्र का यही साधना-पक्ष है और है दार्शनिक पक्ष भी।"

दीपावली की अँधेरी रात और वह रोमाञ्चकारी अविश्वसनीय दृश्य

दूसरे दिन दीपावली थी। सबेरे से ही स्वाति के काले-भूरे बादल छाये हुए थे आकाश में। पूरा दिन तान्त्रिक संन्यासी से अब तक हुई विषय-चर्चा पर ही चिन्तन-

मनन करता रहा मैं। साँझ होते ही मैं पहुँच गया श्मशान में। एक लाश न जाने कहाँ से आकर अटक गयी थी श्मशान के किनारे पानी में। काली कृष्ण मण्डल अर्ध-विक्षिप्त-सा आया और मेरी ओर बिना देखे लाश को पानी से निकालने लगा। लाश किसी युवती की थी। श्मशान का भयंकर वातावरण और भी गहरा गया। पीपल के नीचे बैठे कुत्ते आपस में अकारण लड़ने लगे। पेड़ की डाल पर बैठा गिद्ध अपने परों को फड़फड़ाकर न जाने किधर उड़ गया अँधेरे में। दीपावली की वह काली अँधेरी रात और वह निशा बेला कभी भी भुलायी न जा सकेगी मुझसे।

निर्जन सुनसान इलाका—उजाड़, बीहड़, धूसर। वातावरण में चारों तरफ गहरी निस्तब्धता छायी हुई थी। बादलों से अटकर काला पड़ गया था आकाश। गहन निःश्वास जैसी हाहाकार करती हवा नदी के तट की झाड़ियों और झुरमुटों को कँपाये दे रही थी। सहसा श्यामल आकाश में जलती हुई बिजली चमक उठी। सारा विस्तार एक क्षण के लिए प्रखर आलोक से उद्‌भासित हो उठा। उसी क्षणिक प्रकाश में मैंने देखा—वह तान्त्रिक संन्यासी युवती की लाश के ऊपर झुका हुआ था। सहसा उसकी आवाज मुझे सुनाई दी। वह शायद मुझसे ही कह रहा था—"हर दीपावली की रात्रि में इसी प्रकार कोई न कोई लाश चली आती है यहाँ, मेरे लिए। निश्चय ही वह महा-भैरवी ही मेरी साधना के निमित्त लाश की व्यवस्था करती है। अब मैं जैसा कहूँ वैसा ही करियेगा आप। समझ गये न?"

"हाँ। समझ गया।"—मैंने उत्तर दिया।

तान्त्रिक संन्यासी कृष्ण काली मण्डल अब लाश के ऊपर आसन लगाकर बैठा और एकाग्र चित्त से किसी मन्त्र का जप करने लगा था। वह लाश पशु-पक्षियों का आहार न बनकर एक भयंकर तान्त्रिक संन्यासी की साधना का आसन बन गई थी अब। लाश का सिर पीछे की ओर लटका हुआ था। उसकी आँखें फैली हुई थीं। मुँह भी थोड़ा-सा खुला हुआ था। शरीर बिल्कुल नग्न था। क्योंकि तान्त्रिक संन्यासी ने उसका कफन उतार-कर अपनी कमर में लपेट लिया था। सहसा श्मशान के पीपल के पेड़ पर चोंच रगड़ता कोई पक्षी कर्कश स्वर में चीख उठा।

तान्त्रिक संन्यासी ने पहले ही मुझे सारी बातें समझा दी थीं। उसका संकेत पाकर मैंने तुरन्त घी के पाँच दीपक जलाकर लाश के सिरहाने रख दिये। फिर मुर्गे का मांस और शराब की भरी बोतल और एक खोपड़ी भी सामने रख दी। तान्त्रिक संन्यासी ने थोड़ा-सा मांस खाया, फिर खोपड़ी में उडेलकर थोड़ी-सी शराब पी। इसके बाद शेष मांस और शराब लाश के खुले मुख में डाल दी। दूसरे ही क्षण पूरी लाश जोर-जोर से हिलने लगी अपने स्थान पर। मेरा मन भयमिश्रित विस्मय से भर उठा। ऐसा लगा, मानों लाश किसी भी क्षण उठकर बैठ जायेगी।

मेरा अनुमान सत्य निकला। तान्त्रिक संन्यासी को पीछे की ओर ढकेलकर सहसा वह लाश उठकर इस प्रकार बैठ गयी—मानों वह भी जीवित प्राणी हो। वास्तव में वह जीवित ही लग रही थी उस समय। उसके चेहरे पर विचित्र-सी शान्ति और तेजोमयी आभा थी। वह अपलक उस तान्त्रिक संन्यासी की ओर निहार रही थी।

उस निबिड़ गीली स्याह रात में लाश की यह विचित्र स्थिति और उसका रूप देखकर मेरी चेतना जैसे लुप्त होने लगी। मगर फिर भी सँभाले रहा मैं अपने-आपको। हवा से काँपते दीपक के मन्द आलोक में मैंने देखा--युवती की लाश…नहीं… नहीं… अब उसे लाश नहीं कहना चाहिए। वह तो पूरी तरह जीवित थी। बिल्कुल सजीव और चैतन्य। १८-२० वर्ष की सुन्दर रमणी लग रही थी वह। चम्पा जैसा रंग था शरीर का और उस चम्पई रंग के सुगठित शरीर पर लिपटी हुई थी गुलाबी रंग की रेशमी साड़ी। उन्नत उरोज—उद्दाम यौवन से तरंगित देह-यष्टि--पीठ पर बिखरे हुए शैवाल जैसे काले घने बाल—दीपक के मन्द आलोक में जगमग करता उज्ज्वल रूप—कुसुम कोमल गालों पर बिखरे लावण्य के कण—रतनारी आँखें--कवि की कल्पना से परे अप्रतिम सौन्दर्य। देवकन्या जैसी उस यौवना को देखकर विस्मित होना स्वाभाविक था मेरा।

युवती की बाँकी छवि देखकर ऐसा लगा कि जैसे वह इस संसार से परे किसी अनजाने लोक की कन्या हो। मेरा अनुमान सत्य निकला। वह भैरवी थी, तान्त्रिक संन्यासी कृष्ण काली मण्डल की भैरवी।

आपा खोकर भैरवी की ओर न जाने कब तक अपलक निहारता रहा मैं। भैरवी का रूप, यौवन और उसकी बाँकी छवि मेरे उष्ण रक्त में घुलती जा रही थी जैसे।

काँपते प्राणों से भर नजर देखा तान्त्रिक संन्यासी ने भैरवी की ओर। कैसी सम्मोहक छवि थी। भैरवी की आँखों में विचित्र-सा सम्मोहन उतर आया था। रक्तिम होंठ फड़क रहे थे। जवाकुसुम जैसे गालों पर आग की लपट खेल रही थी जैसे।

"तुम आ गई। पूरा एक वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ती है मुझे।"—काँपते प्राणों से भर नजर देखते हुए बोला तान्त्रिक संन्यासी।

"मुझे भी तो प्रतीक्षा करनी होती है।"—भैरवी ने उत्तर दिया। उसके स्वर में आक्रोश था! "अब किसीको प्रतीक्षा नहीं करनी होगी, न तुम्हें और न तो मुझे। आज तुम्हें लेने आयी हूँ मैं। मेरे साथ चलना होगा तुम्हें।"—उसी आक्रोशभरे स्वर में बोली वह।

"नहीं, अभी नहीं! अभी मैं नहीं जाऊँगा।"—तान्त्रिक संन्यासी प्रकम्पित स्वर में—जरा दूर हटते हुए बोला।

पुरवा हवा की साँय-साँय रौरव शोर उत्पन्न कर रही थी। धीमे उजाले में श्मशान का पिशाच जैसा लगा मुझे वह तान्त्रिक संन्यासी।

"नहीं, चलना ही पड़ेगा तुम्हें।" भैरवी की रतनारी आँखें भावशून्य हो गयीं। वे जल उठीं जैसे। एक अतीन्द्रिय ज्योति थी जैसे उसमें उस समय।

आँखें गड़ाकर देखने की कोशिश की मैंने और फिर जैसे सुषुम्ना तक एक हिम-प्रवाह दौड़ गया। कौन-सी घटना घटनेवाली है इस श्मशान में। आतंक और संशय से बुरी दशा हो रही थी मेरी। एकाएक भैरवी का चेहरा कठोर हो गया। इस्पात जैसा रंग उतर आया उस पर। बोली—"अब तुम्हें नहीं छोड़ूँगी······" उसके चेहरे की कठोरता दूसरे क्षण एक पैशाचिक मुस्कान में बदल गयी। उसके दोनों हाथ तान्त्रिक संन्यासी की गर्दन की ओर बढ़ने लगे और दूसरे ही क्षण उसकी जैतून की-सी उँगलियाँ सँड़सी की तरह गर्दन को कसने लगीं। तान्त्रिक संन्यासी ने बुझी-बुझी निगाह से भैरवी की ओर देखते हुए भय और आतंक के मिले-जुले स्वर में कहा—"यह यह··· क्या कर रही हो तुम··· ?" फिर स्वर-भंग हो गया उसका। भयातुर कण्ठ से उसने कुछ कहना चाहा आगे—किन्तु फटे गले से गो-गो का विलाप ही निकला। एक अस्पष्ट-सा प्राण कँपा देनेवाला चीत्कार कर वह कटे वृक्ष की तरह जमीन पर गिर पड़ा। भय की अधिकता से उसके प्राण तत्काल निकल गये। विकट अट्टहास कर उस भयानक रात में–भैरवी न जाने कहाँ विलीन हो गयी शून्य में।

मेरे प्राण हिम हो गये जैसे। शिराओं, उपशिराओं में रक्त-प्रवाह रुकता-सा जान पड़ने लगा। दूसरे ही क्षण मैं चिल्लाता—ठोकरें खाता—अँधेरे में जमीन पर गिरता और फिर सम्भलकर उठता हुआ भागा—पर श्मशान के पीपल के पास ही चेतनाशून्य होकर गिर पड़ा और फिर जब चेतना लौटी तो सबेरा हो चुका था। एक व्यक्ति मेरे ऊपर झुका हुआ मेरे मुँह पर पानी के छींटे डाल रहा था। वह शायद अपने सम्बन्धियों के साथ कोई शव जलाने के लिए श्मशान में आया था।

चेतना लौटने पर मैंने उस व्यक्ति से पूछा—"वह तान्त्रिक संन्यासी कहाँ गया ?"

"यहाँ तो कोई साधु-संन्यासी नहीं है बाबूजी।"

एकाएक याद आया, वह तो मर गया था, उसकी लाश होनी चाहिए, यहीं कहीं। श्मशान में पागलों की तरह इधर-उधर कई बार चक्कर लगाया, लेकिन लाश कहीं नहीं मिली उसकी। हार-थककर मन्दिर में पहुँचा तो देखा कि पुजारीजी मेरे लिए व्याकुल हो रहे थे। मुझे देखते ही बोल पड़े—"पूरी रात कहाँ थे शर्माजी आप ? आधी रात से आपको खोज रहा हूँ मैं। यह बड़ा ही बीहड़ इलाका है। पग-पग पर जंगली जानवरों का खतरा बना रहता है। मैंने समझा कहीं ··" पुजारीजी का वाक्य पूरा होता, उसके पहले ही मैं बोल पड़ा–तान्त्रिक संन्यासी कृष्ण काली मण्डल के साथ नदी की ओर चला गया था।

इसके अलावा पुजारीजी को और कुछ बतलाना उचित नहीं समझा मैंने।

लेकिन पुजारीजी ने आश्चर्य और अविश्वास के मिले-जुले भाव से मेरी ओर देखा। फिर निकट आकर पूछने लगे—"किस तान्त्रिक संन्यासी के साथ गये थे ?"

"अरे! आप कृष्ण काली मण्डल को नहीं जानते ? वही जो इसी मन्दिर में पहले रहते थे। इधर उनसे मेरी घनिष्ठता हो गयी थी। वे प्रायः रोज ही दोपहर के समय मुझसे मिलने चले आया करते थे।"

मेरी बात सुनकर पुजारीजी एकदम से चौंक पड़े। उनके चेहरे पर भय, आतंक, विस्मय का मिला-जुला भाव फैल गया। कुछ क्षण तक वह मेरी ओर इस प्रकार देखते रहे जैसे मेरी बातों पर विश्वास ही नहीं हो रहा हो। आखिर पूछ ही बैठे—"आपने जो कुछ कहा, वह सब सत्य है न शर्माजी ?"

"जी हाँ। क्यों ? मैं भला आपसे झूठ क्यों बोलूंगा ? मुझसे उनकी तन्त्र के गूढ़ प्रसंगों पर काफी चर्चा भी हुई। निश्चय ही वह तन्त्र के उद्‌भट विद्वान् हैं, इसमें सन्देह नहीं।"

"मगर···मगर·· कृष्ण काली मण्डल तो···"

पुजारीजी की हिचकिचाहट से मैं चौंका।

"क्या हुआ कृष्ण काली मण्डल को ?"

"वह इस मन्दिर में रहते अवश्य थे, किन्तु अब तो वह इस संसार में हैं नहीं। उनको शरीर छोड़े लगभग तीस वर्ष हो गये। तभी से मैं यहाँ इस मन्दिर में हूँ।"

"ऐं! यह क्या कह रहे हैं आप ?"

"जैसे आपकी बात सत्य है उसी प्रकार मेरी भी यह बात अपने-आपमें पूर्ण सत्य है। शर्माजी! आप और मैं दोनों अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। आपने जो कुछ देखा, सुना और अनुभव किया वह सब उस तान्त्रिक संन्यासी की अतृप्त आत्मा की अविश्वसनीय लीला थी।" फिर थोड़ा रुककर पुजारीजी आगे बोले—"कृष्ण काली मण्डल ने इसी श्मशान में पूरे दस वर्ष तक किसी गुह्य तन्त्र की कठोर साधना की थी। साधना में उन्हें सफलता और सिद्धि प्राप्त हुई या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन एक दिन महाशय श्मशान में मृत पाये गये थे। शायद दीपावली की ही रात थी वह। तभी से उनकी अतृप्त आत्मा इस इलाके में भटक रही है। हे भगवान्! उसे कब मिलेगी शान्ति और कब होगा उसका उद्धार ?"

पुजारीजी खड़ाऊँ पहनकर खट्-खट् करते मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़कर भीतर चले गये।

लड़खड़ाता-सा मैं अपने कमरे में पहुँचा। बिस्तर पर तकिया के नीचे टटोलकर देखा—लाल कपड़े में बँधी पाण्डुलिपि और लिफाफा ज्यों का त्यों रखा हुआ था। सौ-सौ के दस नोट भी लिफाफे में ज्यों के त्यों पड़े हुए थे। सचमुच मेरे सामने एक

अविश्वसनीय सत्य था, एक चमत्कारपूर्ण सत्य, जिसके साक्षी थे सौ-सौ के दस नोट और तन्त्र की वह दुर्लभ पाण्डुलिपि जो आज भी मेरे पास पड़ी हुई है।

वह दुर्लभ पाण्डुलिपि कृष्ण काली मण्डल की थी। उन्होंने उसे देते हुए मुझसे बड़े ही विनम्र स्वर में कहा था—"यह मेरी अमूल्य आध्यात्मिक सम्पत्ति है। मेरे साधनानुभव संगृहीत हैं इस पाण्डुलिपि में। यदि सम्भव हो तो इसे प्रकाशित करा दीजियेगा। हो सकता है, साधना-मार्ग के पथिकों के लिए यह प्रकाशस्तम्भ सिद्ध हो।" फिर एक दिन उस तान्त्रिक संन्यासी ने इसी प्रकार उन रुपयों को भी देते हुए अत्यन्त विगलित स्वर में कहा था, "मेरी आत्मा की शान्ति के लिए—मेरी आत्मा के कल्याण के लिए—मेरी आत्मा के उद्धार के लिए काशी में आप साधु-संन्यासियों को भोजन करा दीजियेगा।..."

कहने की आवश्यकता नहीं, मैंने वैसा ही किया। उनकी इच्छा पूर्ण कर दी। उस रहस्यमय तान्त्रिक संन्यासी की आत्मा को शान्ति मिली कि नहीं, उसका कल्याण हुआ कि नहीं और उसका उद्धार हुआ कि नहीं, भगवान् जानें।

मनीषी राखालचन्द्र भट्टाचार्य और साधक राधामाधव भिषग्रत्न

कृष्ण काली मण्डल की रहस्यमयी कथा सुनकर आपको अवश्य आश्चर्य हुआ होगा, सम्भव है, अविश्वास की भी भावना उत्पन्न हुई हो आपके मन में। लेकिन मेरे लिए वह घटना न आश्चर्यजनक और न तो रही अविश्वसनीय ही। इसलिए कि मेरे जीवन का बहुत-सा भाग ऐसी ही अतृप्त आत्माओं के संसर्ग और सान्निध्य में व्यतीत हुआ है। सच पूछा जाय तो मुझे अब तक प्रकृष्ट विज्ञान के क्षेत्र में जितना जो उपलब्ध हुआ है, उसका अधिकांश श्रेय ऐसी ही अतृप्त, सन्तप्त और व्याकुल आत्माओं को है। उन्हींके द्वारा योग-तन्त्र के गूढ़ और गोपनीय रहस्यों से परिचित हुआ मैं। लीजिये, एक ऐसी ही विलक्षण कथा और सुनिये।

पूरे तीन वर्ष तक 'योगी और तान्त्रिकों के रहस्यमय देश तिब्बत' में रहकर वहाँ के सिद्ध लामाओं की शव-साधना जैसी रहस्यमयी और गोपनीय गुह्य विद्या का अध्ययन करने के पश्चात् जब मैं वापस लौटा तो पश्चिम बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान्, मनीषी महामहोपाध्याय पण्डित राखालचन्द्र भट्टाचार्य स्मृतिरत्न[1] से परिचय हो गया कलकत्ता

१. आपके सम्बन्ध में 'परलोक-विज्ञान' पुस्तक में विस्तृत चर्चा की गयी है—लेखक।

के एक सांस्कृतिक समारोह में। कलकत्ता में उनका अपना काफी बड़ा मकान था। मकान तीन मंजिला था। उसमें भवतारिणी काली का एक भव्य मन्दिर भी था। तान्त्रिक विधि से माँ महामाया जगत्तारिणी की पाषाण-प्रतिमा की स्थापना पंचमुण्डी-आसन पर की गयी थी। प्रतिमा जागृत थी, इसमें सन्देह नहीं। सुनने में आया था कि कभी किसी समय उच्च तान्त्रिक साधना में सिद्धि-लाभ के लिए यदा-कदा नरबलि भी हुआ करती थी मन्दिर में, माँ महामाया कालरात्रि के सम्मुख। एकबारगी रोमाञ्चित हो उठा था मेरा सारा शरीर प्रतिमा के सम्मुख पहली बार खड़े होने पर। पण्डित राखालचन्द्र भट्टाचार्य स्मृतिरत्न, वेद, शास्त्र, पुराण, उपनिषद्, दर्शन आदि के तो उद्भट विद्वान् थे ही, तान्त्रिक साधना के भी पूर्ण मर्मज्ञ थे। उनका स्वानुभव भी अपूर्व था। कई प्रकार की तान्त्रिक सिद्धियाँ उनको उपलब्ध थीं। न जाने कितने दुःखी, सन्तप्त और पीड़ित जन उनकी तान्त्रिक सिद्धि से लाभान्वित हुए थे। प्रथम साक्षात्कार में ही प्रभावित हो गया था मैं पण्डित राखालचन्द्र भट्टाचार्य स्मृतिरत्न महोदय से।

लम्बी-चौड़ी काठी का शरीर—गौर वर्ण–साधना के तेज से दीप्त मुखमण्डल–बड़े-बड़े रक्ताभ नेत्र–चौड़ा ललाट और उस चौड़े ललाट पर लाल सिन्दूर का बड़ा-सा गोल टीका–गले में रुद्राक्ष और स्फटिक की मालाएँ—कन्धे तक झूलते सिर के घुंघराले काले बाल, दाढ़ी-मूँछ सफाचट–स्वस्थ शरीर पर श्वेत-धवल रेशमी वस्त्र, पैरों में खड़ाऊँ—आयु यही साठ-पैंसठ के लगभग। उन्हें देखकर किसी प्राचीन ऋषि-मुनि की याद आ जाती थी।

× × ×

राखालबाबू कलकत्ता के 'आगमानुसन्धान समिति' के अध्यक्ष थे। 'आगमानुसंधान समिति' वह समिति है जिसने अनेक दुर्लभ तान्त्रिक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। 'प्राच्यज्ञान अनुसंधान केन्द्र' से भी सम्बन्धित थे राखालबाबू, जिसकी स्थापना 'ओरियन्टल लर्निंग रिसर्च सेन्टर' के नाम से कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर जान उडरफ ने कलकत्ता में की थी। उडरफ साहब वेद और तन्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही, प्रसिद्ध लेखक भी थे। उन्होंने आर्थर एवेलन के नाम से तन्त्रशास्त्र के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अंग्रेजी में लेखन और प्रणयन किया था। उनकी 'शक्ति एण्ड शाक्त' और 'सर्पेन्ट पावर' अति महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। सच तो यह है कि 'तन्त्र' के क्षेत्र में उडरफ साहब ने जितना प्रशंसनीय कार्य किया है, उतना शायद ही किसी भारतीय विद्वान् ने इस शताब्दी में किया होगा।

× × ×

राखालबाबू के माध्यम से जिन विद्वानों, बुद्धिजीवियों और अध्यात्मवादियों से मेरा परिचय हुआ, उनमें एक 'मिस डेविडनील' भी थीं। मिस नील फ्रान्सीसी महिला

थीं। बर्फ जैसा शरीर का रंग, नीली आँखें, सुनहले बाल, मझोला कद और वेशभूषा बौद्ध भिक्षुणियों जैसा।

मिस नील एक घुमक्कड़ महिला थीं। योग-तन्त्र के अतिरिक्त, भूत, प्रेत और काला जादू आदि में उनकी विशेष रुचि थी। अपनी इसी रुचि से प्रेरित होकर उन्होंने एक बार नहीं, पाँच बार जीवन-मरणदायिनी हिमयात्रा की थी, जिसका रोचक वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक 'माई जर्नी टू ल्हासा' में किया है। अपनी पाँचवीं बार की यात्रा में मिस नील पूरे पन्द्रह वर्षों तक तिब्बत में रहीं। बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर लामाओं से 'योग' सीखा और उसकी साधना भी की उन्होंने। 'माई जर्नी टू ल्हासा' के बाद उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है 'विद् मिस्टिक एण्ड मेजीशियन्स इन टिबेट'। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने तिब्बती लामाओं की तान्त्रिक सिद्धियों के अलावा उनकी विलक्षण यौगिक क्रियाओं का भी आश्चर्यजनक वर्णन किया है।

उस समय मिस नील के साथ एक लामा योगी भी थे। नाम था लामा युत्सुंग। लामा युत्सुंग तवांग मठ के निवासी एक योगी पुरुष थे। जब मिस नील और लामा युत्सुंग को ज्ञात हुआ कि मैंने भी तिब्बत की हिम-यात्रा की है और वहाँ पूरे तीन वर्ष रहकर उच्चकोटि के मानवेतर शक्तिसम्पन्न योगियों और साधकों का दर्शन-लाभ किया है, इसके अतिरिक्त अनेक गुप्त एवं रहस्यमयी तान्त्रिक विद्याओं का अध्ययन भी किया है तो वह एकबारगी आश्चर्यचकित-सी रह गयीं। लामा युत्सुंग ने तो मुझे तवांग मठ आने का निमन्त्रण ही दे डाला।

इसी प्रकार जब एक दिन राखालबाबू को ज्ञात हुआ कि मैं योग-तन्त्र के जटिल, दुरूह और गम्भीर विषयों पर व्यक्तिगत रूप से शोध एवं अन्वेषण-कार्य कर रहा हूँ और इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तान्त्रिक मठों एवं सिद्धाश्रमों की खोज के साथ-साथ गुप्त रूप से संचरण-विचरण करनेवाले सिद्ध योगियों और प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न भाव से निवास करनेवाले तन्त्र-साधकों से साक्षात्कार करना, उनके साधना-सम्बन्धी विचारों और अनुभवों से भी अवगत होना मेरा लक्ष्य है और इसी लक्ष्य को लेकर मैंने अठारह हजार फुट ऊपर स्थित हिमाच्छादित तिब्बत की जीवन-मरणदायिनी हिमयात्रा भी की है—तो अतिप्रसन्न हुए महाशय। कुछ क्षण तक मेरी ओर देखते रहे, फिर बोले—"तुम्हारा कार्य और लक्ष्य अति महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय है, इसमें सन्देह नहीं। बिना पूर्वसंस्कार और बिना दैवी प्रेरणा के यह सब सम्भव नहीं।" फिर थोड़ा रुककर कहने लगे—"योगविज्ञान, तन्त्रविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, नक्षत्रविज्ञान, कालविज्ञान, वायुविज्ञान, स्वरविज्ञान, क्षणविज्ञान और परलोक-विज्ञान—ये नौ प्रकृष्ट विज्ञान हैं। लेकिन इन सभी विज्ञानों का मूल स्रोत एकमात्र 'वेदविज्ञान' है।

"वेद-विद्या का दूसरा नाम सृष्टि-विद्या है। सृष्टि-विद्या की दृष्टि से विश्व में दो ही मूल तत्त्व हैं—पहला है देव-तत्त्व और दूसरा है भूत-तत्त्व। देव-तत्त्व को शक्ति-तत्त्व भी कहते हैं। देव अथवा शक्ति सूक्ष्म और अदृश्य है। भूत दृश्य और स्थूल है। बिना शक्ति के किसी भी भूत की पृथक् सत्ता सम्भव नहीं। मूलभूत शक्ति-तत्त्व एक और अखण्ड है। 'तन्त्र' इसीको आदिशक्ति अथवा परमा शक्ति कहता है। विश्व-दृष्टि से इस मूलभूत शक्ति को 'प्रजापति' कहा जायेगा। प्रजापति के दो रूप हैं—पहला है अनिरुक्त और दूसरा है निरुक्त। तन्त्र इन दोनों रूपों को 'परा' और 'परा-परा' कहता है। एक अमूर्त है और दूसरा है मूर्त। एक परोक्ष है और दूसरा है प्रत्यक्ष। एक ऊर्ध्व है और दूसरा है अधः। एक है तत् और दूसरा है एतत्। जो एतत् है उसे ही 'इदं सर्वम्' कहते हैं। जो विश्वातीत रूप है वह 'तत्' है और जो विश्वात्मक रूप है वह 'इदं सर्वम्' है। प्रजापति का एक रूप अजायमान और दूसरा रूप बहुधा विजायते है। कहने की आवश्यकता नहीं, वेद का यह सिद्धान्त योग और तन्त्र की मूल भित्ति है।"

थोड़ा रुककर शून्य में ताकते हुए राखालबाबू आगे बोले—

"सत्य क्या है और असत्य क्या है—इनके भेदों को पहचान लेना ही ज्ञान है और है प्रज्ञा। किसे कहें 'हैं' और किसे कहें कि 'नहीं हैं'—इन दोनों के बीच भेद-रेखा खींच लेना ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। क्या है 'स्वप्न' और क्या है 'यथार्थ'—इसके अन्तर को समझ लेना ही 'मुक्ति' का मार्ग है। एकमात्र योग ही ऐसा शास्त्र है—जिसके द्वारा यह सम्भव है।"

अध्यात्म के प्रति राखालबाबू के अपने सिद्धान्त थे, अपने विचार थे और थे अपने अनुभव। मैंने पूछा—"आपकी दृष्टि में योग का स्वरूप क्या है?"

योग का स्वरूप

राखालबाबू ने बतलाया कि "सारे अनर्थ और सारे बन्धनों का एकमात्र कारण चित्त की चंचलता है। निदिध्यासन की प्रक्रिया का नाम 'योग' है। योग का उद्देश्य है—चंचल चित्त को एक ऐसी अवस्था में ले जाना जिसमें वह ज्ञान का निर्बाध साधन बन सके। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में मुख्य बाधाएँ हैं चित्त की वह शक्तियाँ जिनको इन्द्रिय कहते हैं—शरीररूपी स्थूल यन्त्र से काम लेने पर बाध्य हैं—इसलिए बहुत से विषयों को ग्रहण नहीं कर पातीं। शरीर विवश है, इन्द्रियाँ भी सीमा में बँधकर विवश हैं—इसलिए उनकी यह विवशता पूर्ण दार्शनिक ज्ञान के लिए बाधक है। लेकिन जगत् के व्यवहार की दृष्टि से उपयोगी है। शरीर इसलिए बना है कि उसके द्वारा हमारी इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं की तृप्ति हो। इन सबके लिए परिमित अथवा सीमाबद्ध इन्द्रिय-शक्ति ही

उपयुक्त है। यदि वासनाएँ और शारीरिक आवश्यकताएँ यही रहें और इन्द्रियाँ निर्बाध हो जायँ तो जीवन-निर्वाह असम्भव हो जायेगा। यदि स्त्री-पुरुष अपनी आँखों से एक-दूसरे के शरीर के भीतर होनेवाली क्रियाओं को देख सकें तो क्या वे कभी भी दाम्पत्य जीवन-सम्बन्ध के लिए प्रवृत्त हो सकेंगे ? क्या वे दोनों एक-दूसरे से सुखी रह सकेंगे ? जो मनुष्य खाने-पीनेवाले पदार्थों के भीतर स्थित जीवों को देख सके तो वह क्या अपनी भूख-प्यास मिटा सकता है ? जो विषय संवित् रूप में किसी प्रकार मन में प्रवेश भी कर पाते हैं तो उनका यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। क्योंकि चित्त स्वयं उसको अपने रंग में रँग देता है। किसी विषय पर चित्त को स्थिर कर पाना कठिन होता है—चित्त का स्वभाव ही परिणाम है। समुद्र की लहरों की भाँति चित्त में बराबर प्रज्ञान उठते रहते हैं। एक आता है और दूसरा जाता है। एक का आविर्भाव, दूसरे का अभाव बराबर होता रहता है। इस प्रवाह में कोई विषय ठहर नहीं सकता, प्रत्येक प्रज्ञान का अपना अलग विषय होता है। यदि बाहरी विषयों से हटकर चित्त अपने स्वरूप और अपने भीतर संचित वासनाओं, संस्कारों और स्मृतियों को प्रत्यक्ष करना चाहता है-तब भी कठिनाई पड़ती है। उधर बाहर के विषय इन्द्रिय-द्वार को खटखटाते रहते हैं, इधर चित्त का प्रवाह किसी एक भीतरी विषय पर स्थिर नहीं हो पाता। वासनाएँ बराबर सत्य पर पर्दा डालती रहती हैं। नग्न सत्य का सामना करने में भय लगता है। चित्त का विकास भी साधारण जीवन-यात्रा के भौतिक भोगों के अनुकूल हुआ है। जो इसके ऊपर उठना चाहता है—उसीके लिए इसमें बन्धन प्रतीत होता है। योग का उद्देश्य इन समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना है। उसके अभ्यास से इन्द्रियों का सीमा-भंग हो जाता है। इन्द्रियाँ शरीर के स्थूल बन्धन को तोड़कर अपने से सम्बन्धित विषयों को पूर्ण रूप से अथवा सम्यक् रूप से ग्रहण कर सकने में समर्थ हो जाती हैं। चित्त में एकतानता आती है। अर्थात् यद्यपि वह अपना परिणमनशील स्वभाव नहीं छोड़ता, परन्तु एक विषय पर यथेच्छ काल तक लगाया जा सकता है। ऐसा हो सकता है कि जिन प्रज्ञानों का अभिभव और प्रादुर्भाव हो—उनके विषय में समानता हो, उसमें एकाग्रता आती है। कहने का तात्पर्य यह कि सर्वार्थता की अवस्था का—जिसमें एक साथ कई विषय उपस्थित रहते हैं—क्षय होकर एकार्थता की अवस्था आती है—जिसमें एक काल में एक ही विषय चित्त में रहता है। पहले के संस्कारों का इस प्रकार निरोध हो जाता है कि अर्थमात्र निर्भास हो अर्थात् अहंकार की तूलिका से अछूता वस्तु-स्वरूप बुद्धि के सामने आये। तुच्छ विकृत भोग-लिप्सा और वासनाओं पर विषय प्राप्त होती है। निकृष्ट काममय 'स्व' का मोह छूट जाता है और दृढ़ता के साथ सत्य का साक्षात्कार करने की शक्ति प्राप्त होती है। चित्त की इस अवस्था को, जब वह स्वच्छ, निर्मल हो जाता है, समाधि कहते हैं।"

पुनर्जन्म

"पुनर्जन्म के विषय में आपकी क्या धारणा है ?" इस प्रश्न के उत्तर में राखाल महाशय बोले—"सभी चेतन एक-से नहीं हैं। जीव-जीव में भेद है। भेद इस बात में है कि सभी चित्त एक-से नहीं हैं। चित्तों की योग्यताओं और उनकी सहज वासनाओं में भेद है। इसलिए एक ही परिस्थिति में दो व्यक्तियों का ज्ञान, भोग और कर्म एक-सा नहीं होता। अगर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें तो यह भेद समझ में आ जायेगा।

"अपने जीवन-काल अथवा आयुष्य-काल में मनुष्य को हजारों प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। प्रत्येक प्रज्ञान नष्ट हो जाता है। परन्तु उसका प्रभाव अगले 'प्रज्ञान' पर पड़ता है। इस प्रकार एक प्रज्ञान से दूसरे प्रज्ञान को जो प्राप्त होता है—उसीका नाम संस्कार है। प्रज्ञानों का तो लोप हो जाता है, वे नष्ट हो जाते हैं, लेकिन संस्कार नष्ट नहीं होते। उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में बराबर बना रहता है। कुछ संस्कारों को हम अपनी स्मृतियों द्वारा पुनः जगा सकते हैं। परन्तु अधिकांश इतने नीचे दबे रहते हैं कि फिर उनका सामने आना असम्भव होता है। लेकिन फिर भी चित्त पर उनका प्रभाव पड़ता रहता है। इस प्रकार अपने जीवन-काल में मनुष्य बहुत-से नये-नये संस्कार इकट्ठा कर लेता है। सभी मनुष्य एक-सी परिस्थिति में नहीं पड़ते, इसलिए सभी की अनुभूतियाँ भी एक-सी नहीं होतीं। संस्कार एक-से नहीं होते। संस्कारों का चित्त पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए यदि जन्म-काल में दो चित्त एक-से रहे हों, तब भी मरण-काल तक पहुँचते-पहुँचते उनमें अन्तर पड़ जाता है। हमने यहाँ अनुभूति शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। उसके अन्तर्भूत जीव के ऊपर बाहरी जगत् की क्रिया और बाहरी जगत् पर जीव की प्रतिक्रिया, दोनों हैं। उभयतः उसके संस्कारों के संचित कोष में वृद्धि होती रहती है।

"शरीर भोग का साधन है, परन्तु वह नाशवान् है, क्षयिष्णु है। बहुत दिनों तक काम नहीं देता। परन्तु भोग की आवश्यकता तो बनी रहती है। इसलिए जीवात्मा एक शरीर के बेकाम हो जाने पर शरीरान्तर में जाता है। नये शरीर में भी वह पुराने संस्कारों का भण्डार साथ लाता है। इसीलिए सब चित्त एक-से नहीं होते। यदि दो जीव किसी एक ही जाति के शरीर में हैं तो यह स्पष्ट है कि उनके चित्तों में बहुत कुछ सादृश्य है, परन्तु इस सादृश्य के पीछे पिछले शरीर में संचित किये हुए संस्कारों के वैषम्य भी हैं। इसलिए वासनादि में भेद होता है। जगत् अनादि है इसलिए जीव के असंख्य शरीर हो चुके हैं। जगत् अनन्त हैं इसलिए असंख्य शरीर होंगे। सभी जीव एक-सी योग्यता लेकर नहीं आते। सबके भोग-प्राप्ति के अवसरों में जन्म से ही वैषम्य होता है। कोई स्वस्थ होता है, कोई रोगी, कोई सम्पन्न, कोई दरिद्र और कोई सुसंस्कृत

घर में जन्म लेता है, कोई दरिद्र और अशिक्षित घर में, कोई दीर्घायु होता है, कोई अल्पायु, कोई हँसते-खेलते जीवन व्यतीत करता है तो कोई कुत्ते की तरह रोते-रोते। कर्म-सिद्धान्त इस वैषम्य को समझने में सहायता करता है।"

× × ×

राखालबाबू आगे कहते हैं—"गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का यह श्लोक 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ......' इस दिशा में अति महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण कहते हैं, 'वस्त्रों की भाँति ...... जीर्ण हो गये वस्त्रों की भाँति आत्मा शरीर का त्याग कर नये शरीर को ग्रहण करती है। क्या कभी हमने वस्त्र की तरह शरीर को अनुभव किया है ? नहीं। हमने तो अपने को शरीर की तरह अनुभव किया है। शरीर के सारे व्यापार का अनुभव हमें लेकर होता है। हमसे अलग होकर नहीं होता। शरीर से हमारा तादात्म्य गहरा है। ऐसा नहीं लगता कि हम और शरीर दो हैं। ऐसा लगता है, 'शरीर ही हम हैं। कभी आँख बन्द कर हमने यह देखा है कि शरीर की आयु तो पचास वर्ष हुई, हमारी कितनी आयु है ? क्या कभी आँख बन्द करके चिन्तन किया कि शरीर का रंग गोरा है, हमारा रंग कैसा है ? कभी हमने यह विचार किया है कि शरीर का मुख ऐसा है, हमारा मुख कैसा है ? कभी शरीर में दर्द हो रहा है तो आँख बन्द करके क्या खोजबीन की है कि हमें दर्द हो रहा है या हम-से कहीं दूर हो रहा है ?

"कृष्ण के कथनानुसार शरीर का बोध वस्त्र की भाँति है। लेकिन वस्त्र ऐसा है कि जिससे हम चिपक गये हैं। इतनी गहराई से चिपक गये हैं और इतनी गहराई से तादात्म्य स्थापित हो गया है जन्म-जन्मान्तर का कि 'हम शरीर ही हैं' यह बोध समाप्त नहीं होता कभी किसी अवस्था में। जब तक शरीर और हमारे बीच अन्तर उत्पन्न न होगा तब तक कृष्ण का वाक्य समझ में नहीं आयेगा।"

राखालबाबू कहते हैं—"असत्य वह है, जिसे हम माने हुए हैं। लेकिन माने हुए असत्य वास्तविक सत्य को छिपा देते हैं। हम अपने शरीर को माने हुए हैं—यह हमारी मान्यता है और हम बाल्यावस्था से सीखते हैं और यह मान्यता भीतर प्रवेश करती चली जाती है। शरीर सुन्दर होता है तो हम मानते हैं कि हम सुन्दर हैं। शरीर स्वस्थ होता है तो हम मानते हैं कि हम स्वस्थ हैं। फिर यह प्रतीति और यह स्मृति घनीभूत होती चली जाती है। सघन होती चली जाती है। फिर शरीर वस्त्र नहीं रह जाता, बल्कि हम वस्त्र हो जाते हैं।"

× × ×

"हम अपने शरीर को बाहर से जानते हैं, भीतर से नहीं। भीतर से जानने-समझने का कभी प्रयत्न ही नहीं करते। जब तक हम शरीर को बाहर से ही देखते रहेंगे,

तब तक वह जीर्ण वस्त्र की भाँति दिखाई नहीं पड़ेगा। हम आँख बन्द कर भीतर से एहसास करें कि शरीर कैसा है—'इनर लाईनिंग' कैसी है ?

"इसके सम्बन्ध में उपनिषद् का यह श्लोक भी यही कहता है—'मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमय वपुः।···' यह शरीर माता-पिता के मैल से उत्पन्न हुआ है और मल-मांस से ही भरा हुआ है ···कभी शरीर को भीतर से देखने का प्रयास करें तो यह 'सूत्र' समझ में आ जायेगा। शरीर के निकट रहने का हमारा जो मन है—वह शरीर के सम्बन्ध में हमारे अज्ञान के कारण ही है। हमें पता ही नहीं कि शरीर हमारा क्या है ?"

× × ×

"शरीर की व्यर्थता और असारता समझकर—उसे मल-मूत्र और गन्दगी का भण्डार जानकर—जैसे-जैसे हम उससे दूर होते जायेंगे—वैसे ही वैसे हम परमात्मा के निकट पहुँचते जायेंगे। शरीर के जितने निकट, परमात्मा से उतने दूर। शरीर से जितने दूर, परमात्मा से उतने निकट। परमात्मा एक छोर है और शरीर है दूसरा छोर, बीच में हैं हम। शरीर की वस्तुस्थिति से परिचित होते ही हमारी चेतना भीतर की यात्रा पर निकल पड़ती है। शरीर के वास्तविक स्वरूप का बोध होते ही शरीर पर हमारी पकड़ ढीली पड़ जाती है। पकड़ बराबर ढीली हो सके, इसलिए इस बोध को बराबर तीव्र करते रहना आवश्यक है।

"मृत्यु पर चिन्तन, शरीर की वस्तुस्थिति पर मनन, शरीर का जो भीतरी रूप है उसे आँख के सामने कर लेना—ध्यान की विधियाँ हैं। इनसे हमारी चेतना भीतर की ओर सरकने लग जाती है और वह सरकना सहज हो जाता है, उसके लिए चेष्टा नहीं करनी पड़ती। अगर हम शरीर को बिना समझे भीतर की तरफ जाना चाहते हैं तो अति कठिनाई होगी, क्योंकि मन तो शरीर से लगा रहेगा, जुड़ा ही रहेगा।

"लेकिन" राखालबाबू थोड़ा हँसते हुए बोले—"लोग बुढ़ापे में भी युवावस्था का चिन्तन करते हैं। शरीर भी अपनी वास्तविकता और सत्यता को प्रकट कर देता है तो मन से उसे ढाँकते रहते हैं। चमड़ी भी साथ नहीं देती तो आँखें बन्द कर लेते हैं और भीतर जो जवानी बीत गई है उसका रस लेते रहते हैं।

"वृद्ध जन जवानी का रस लेता है तो समझना चाहिए कि वह शूद्र ही मरेगा और जब युवा भी बुढ़ापा आने के पूर्व ही शरीर की वस्तुस्थिति को समझ लेता है तो समझिए कि वह ब्राह्मण होकर मरेगा। मरता हुआ व्यक्ति भी जब जीवन की ही वासना लिए रहता है तो समझिए कि वह शूद्र है और पूर्ण युवावस्था में भी व्यक्ति जब मृत्यु को देखने लगता है और उसका चिन्तन करने लगता है तो समझिए कि उसमें ब्राह्मण का जन्म हो गया है।"

संसार में कैसे जीना चाहिए ?

"संसार में कैसे जीना चाहिए ?" मेरे इस प्रश्न के उत्तर में राखालबाबू बोले—"अपने जीवन को ऐसे व्यतीत करें—जैसे नदी की धारा में बहता हुआ पत्ता। तैरने का प्रयत्न न करें। तैरेंगे तो डूबेंगे। Just float. Do not swim. मुर्दा तैर नहीं सकता इसलिए वह डूब भी नहीं सकता। आप संसार की ओर से बिल्कुल मुर्दा हो जाइये। फिर जो होगा उसे होने दें। क्योंकि जो होना है वह तो होगा ही। कठिनता पूर्वक और समस्याओं से जूझते हुए जीना भी कोई जीना है ? क्या करेंगे आप नेपोलियन, सम्राट् अशोक और सिकन्दर बनकर ? एक क्या मिलेगा गांधी और लिंकन के आदर्शों में जीवन व्यतीत करके ? सबके सब दुःख और कष्ट में जीये। कष्ट में मरे। विश्व-विजेता नेपोलियन जब पराजित हुआ और उसे बन्दी बना लिया गया तो उस महान् योद्धा ने दुःखी होकर—सिर पर हाथ फेरते हुए विगलित स्वर में कहा था—'मानव परिस्थितियों का दास है।' कहने का मतलब यह कि आप जहाँ हैं और जैसे हैं, श्रेष्ठ हैं। सुखी हैं। अपनी परिस्थितियों के सौन्दर्य को देखिये, परखिये, समझिये, पहचानिये और जीवन से मिले सुख के लिए परमात्मा को हर पल धन्यबाद दीजिये। यदि आप स्वस्थ हैं और ध॰ का अभाव है जीवन में तो भी आनन्द की बात है। क्या यह कम बात है कि आप एक स्वस्थ सुन्दर शरीर के स्वामी हैं। क्या दो-चार लाख रुपये लेकर आप अपनी दोनों आँखें फुड़वाने के लिए तैयार होंगे ? क्या अन्धे होकर जीना पसन्द करेंगे ? नहीं न ? यदि आप धनवान् हैं और सन्तान नहीं है तो भी परमात्मा को धन्यवाद दीजिये कि आपको धन का अभाव नहीं है। जरा आँख उठाकर देखिये, जिन्हें कई-कई दिनों तक भोजन नहीं मिलता। यह भी सम्भव है कि आपकी पत्नी सद्स्वभाव, सच्चरित्र की न हो। कर्कश हो। आपसे प्रेम न करती हो। इसके लिए भी परमात्मा को धन्यवाद देना चाहिये। इस प्रकार की पत्नी मोह और माया-जाल में नहीं फँसती और आपको बराबर परमेश्वर का स्मरण कराती रहती है। तुलसीदास को महाकवि तुलसी बनाने का श्रेय यदि किसीको है तो उनकी पत्नी के कर्कश शब्दों को ही है। गुलाब का फूल राजभवन में खिले या हिमालय के वीरान सुनसान पहाड़ों पर—क्या अन्तर पड़ता है उसके सौन्दर्य और सुगन्ध में ? वही सौन्दर्य, वही सुगन्ध और वही मस्ती। ऐसे ही आप भी हो जाइये—सहज, सरल, सुलभ, मस्त।"

× × ×

"क्या पूर्ण सुख इस शरीर में, इस संसार में, इस मन में सम्भव है ? नहीं, नहीं, पूर्ण सुख तो आपकी आत्मा परमात्मा के ही राज्य में प्राप्त कर सकता है। जितना मिला है, वही क्या कुछ कम है ? आपको सोचना चाहिये कि आपको जितना जो मिला है, उसके योग्य भी नहीं थे आप। जो कुछ मिला है उसके लिए आपको धन्यवाद देना चाहिए परमात्मा को। यह भावना बराबर बनाये रखें, देखेंगे, जीवन में आनन्द की

वर्षा होने लगेगी। इसका अर्थ यह नहीं कि आप सन्तुष्ट होकर ही बैठ जायँ। वरन् धैर्य और उत्साह के साथ जीवन में आगे बढ़ने का बराबर प्रयास करें। निराश मत होइये। जो मिले ठीक, जो न मिले वह भी ठीक। जहाँ प्रेम है वहाँ शान्ति है और जहाँ शान्ति है वहाँ परम आनन्द का साम्राज्य है।"

राखालबाबू के सम्पर्क में पूरे दो वर्ष रहा मैं। कहने की आवश्यकता नहीं—इस अवधि में उन्होंने इस प्रकार मेरी कई जिज्ञासाओं का समाधान किया और अध्यात्म से सम्बन्धित अनेक जटिल प्रश्नों का उत्तर भी दिया।

एक बार ज्योतिष और आयुर्वेद से सम्बन्धित विषयों पर चर्चा होने पर राखालबाबू बोले—"तन्त्रों में एक तन्त्र औषधि-तन्त्र भी है। तुम इसमें भी क्यों नहीं शोध और खोज कार्य करते ? औषधि-तन्त्र पर विशेष रूप से किसी विद्वान् का ध्यान नहीं गया है अब तक। यह विषय अछूता ही रहा है। अगर सफलता मिल गयी तो समझो, तुम्हारे जीवन की यह बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।"

यह सुनकर मैंने कहा–"शोध और खोज कार्य के लिए प्रचुर सामग्री भी तो चाहिए ?"

"इसकी चिन्ता तुम मत करो। मेरे पुस्तकालय में तुम्हें औषधि-तन्त्र से सम्बन्धित विषयों की प्राचीन पुस्तकों के अतिरिक्त दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ भी मिल जायेंगी—जो अपने-आपमें मूल्यवान् और अतिशय महत्त्वपूर्ण हैं। इतना ही नहीं, मैं तुम्हें एक ऐसे महापुरुष का भी परिचय दूँगा–जो ज्योतिष के तो प्रकाण्ड विद्वान् हैं ही, इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के भी पूर्ण मर्मज्ञ हैं। ज्योतिष और आयुर्वेद दोनों का ही तान्त्रिक दृष्टि से अध्ययन किया है उन्होंने।"

राधामाधव भिषगरत्न

"क्या नाम है उक्त महाशय का ?"—मैंने पूछा।

"राधामाधव भिषग्रत्न।" राखालबाबू बोले—"भिषग्रत्न महाशय तुम्हें अवश्य शोध और खोज की दिशा में मार्गदर्शन करेंगे, इसमें सन्देह नहीं। दुर्लभ जड़ी-बूटियों का विशेष ज्ञान है उन्हें। और उसी ज्ञान के बल पर उन्होंने काफी यश-कीर्ति अर्जित की। पूरे पश्चिम बंगाल में उनकी प्रतिष्ठा है। मेरा उनसे अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। कभी वह कलकत्ता में ही रहते थे, लेकिन इस समय पिछले दस-बारह वर्ष से सपत्नीक पंचमढ़ी में कहीं निवास कर रहे हैं महाशय। पहले कुछ समय तक पत्र-व्यवहार होता रहा हम दोनों के बीच। लेकिन इधर अत्यधिक समय से वह भी बन्द है।"

"बंगाल छोड़कर इतनी दूर मध्यप्रदेश कैसे पहुँच गये महाशय ?"—मैंने पूछा।

"दुर्लभ और अज्ञात जड़ी-बूटियों की खोज में भिषग्रत्न महाशय प्रायः शिलांग, त्रिपुरा और आसाम के घने जंगलों और पहाड़ी तलहटियों का चक्कर लगाया करते थे।

कभी-कभी वे इसी उद्देश्य से पंचमढ़ी, बस्तर और रीवा के जंगली इलाकों और दुर्गम घाटियों की भी यात्रा कर लिया करते थे। एक बार पत्नी को पंचमढ़ी की प्राकृतिक छटाओं का अवलोकन कराने ले गये तो बस, वहीं के होकर रह गये बन्धु !"—राखाल-बाबू ने उत्तर दिया।

× × ×

"ढाका के एक गाँव में जन्म लिया था राधामाधव भिषग्रत्न ने। गाँव काफी बड़ा और समृद्धिशाली था। भिषग्रत्न महाशय पूरे गाँव के श्रद्धाभाजन थे। एक व्यक्ति में इतने सारे गुणों का समावेश बहुत कम ही दिखाई पड़ता है। इस कारण गाँव के लोग देवता की तरह पूजते थे उन्हें। नित्य उषःकाल में उठकर स्नान करना, फिर फूल चुनना और उसके बाद पूजन। ये कार्य वे प्रतिदिन ऐसे नियमपूर्वक करते थे कि जैसे घड़ी देख-देखकर सुनिश्चित समय पर इनमें से प्रत्येक काम निबटा रहे हों। मध्याह्न के भोजन के पश्चात् वे ज्योतिषशास्त्र लेकर बैठा करते थे। अपराह्ण में वे अपने निजी बगीचे में जाकर काम करते थे। बागवानी में भी निपुण थे वे। दो प्रकार के पेड़ों की कलमें लगाकर कई नये फल वे अपने बाग में उत्पन्न किया करते थे। फल ही नहीं, फूलों का भी शौक था उन्हें। सायंकाल गायन-वादन की चर्चा होती थी। गाते भी बुरा नहीं थे और जैसा गाते थे उससे कई गुना अधिक अच्छा बजा लेते थे। सितार बजाने में विशेष ख्याति थी उनकी। ज्योतिर्विज्ञान और आयुर्विज्ञान के सम्मिश्रण से वे चिकित्सा करते थे। डाक्टरों से निराश हुए कई असाध्य रोगों के मरीजों को उन्होंने समय-समय पर अच्छा किया था। सबसे अधिक आश्चर्य की वस्तु थी उनकी जेबघड़ी। किसी भी रोगी के घर से बुलावा आता तो तुरन्त वे अपनी घड़ी देखकर तय किया करते थे कि रोगी उन्हें देखने जाना चाहिए या नहीं। कई बार ऐसा भी हुआ कि घड़ी देखकर ही उन्होंने कह दिया था कि वे मरीज देखने नहीं जायेंगे। रोगी के आत्मीय-स्वजनों के बहुत आग्रह-अनुरोध करने पर उन्होंने यह भी कहा था—जाकर ही क्या होगा ? हमारे पहुँचने से पहले ही रोगी का देहान्त हो चुका होगा। एक बार ऐसा हुआ भी था। रोगी के आत्मीय किसी तरह भी विश्वास न कर पाये थे कि जिसे वे अभी-अभी घर पर छोड़कर आये थे, उसका इतनी जल्द देहान्त भी हो सकता था। उन सबने बहुत जिद की थी। तब वे जाने को भी राजी हो गये थे। पर जैसे ही उन लोगों की कार फाटक के अन्दर घुसी थी मकान से रोने-पीटने की आवाजें सुनाई पड़ी थीं।

पृथ्वी की दैनिक गति के साथ प्रकृति की गति का क्या सम्बन्ध है ? इसका पता वे अपनी जेबघड़ी देखकर ही लगा लेते थे। ऐसा ही कुछ कारण वे बताया करते थे, परन्तु जनसाधारण के लिए तो उनका यह सिद्धान्त नितान्त दुर्बोध था। वे यह भी कहा करते थे कि मानव की दृष्टि-शक्ति निरवच्छिन्न नहीं है। उसके बीच-बीच में अन्तर

होता है और उसीकी सहायता लेकर बाजीगर इन्द्रजाल की सृष्टि करते हैं। इन सबको मिलाकर अपनी घड़ी देखकर वे प्रकृति की गति तथा नीति कैसे समझा करते थे, यह तो वे ही जानें। पर लोगों का विश्वास यह था कि एकान्त साधना तथा गम्भीर गवेषणा के फलस्वरूप विश्व-नीति के जो तत्त्व वे जान गये थे—वे जनसाधारण की जानकारी से सर्वथा परे थे।

"बहरहाल, भिषग्रत्न महाशय पूर्वी और पश्चिमी आदर्शों के समन्वय थे। पूर्वी आदर्शों के अनुसार ज्ञान की स्पृहा तथा निष्ठा उनमें थी और पश्चिमी आदर्शों की श्रेष्ठता को भी वे अमल में लाते थे। फिर भी न तो एकदम कट्टरपन्थी और न ही पाश्चात्य शिक्षा पर ही उन्हें बहुत अधिक अभिमान था।

"भिषग्रत्न महाशय को एक ही पुत्र था। नाम था शशांकशेखर। इकलौता बेटा था। विलायत से डाक्टरी की बहुत बड़ी डिग्री लेकर आया था वह। भिषग्रत्न महाशय पुत्र के लिए एक अष्टधातु का तावीज तैयार करने में लगे थे। तावीज तैयार होने पर एक दिन वे बेटे के कमरे में गये और उसे तावीज देते हुए बोले—'एक विशेष कारण से यह तावीज तुम्हें दिन-रात अपनी बायीं बाँह में धारण करना होगा। इसे कभी उतारना मत।' और उन्होंने स्वयं उसके बायें हाथ में तावीज बाँध दिया। लेकिन अधिक दिनों तक तावीज बाँधे न रख सका शशांक। हाथ खाली देखकर भिषग्रत्न महाशय ने टोका—'कहाँ गया तावीज ?'

शशांक बोला—'उतारकर रख दिया है।'

'क्यों ?'

'हमेशा पहने रहने से असुविधा होती थी, इसलिए।'

"भिषग्रत्न महाशय गम्भीर हो गये। बोले—'पर मैंने तो वह तावीज तुमसे दिन-रात ही बाँधे रहने को कहा था।'

"सिर झुकाये खड़ा रहा शशांक, कुछ बोला नहीं।

"भिषग्रत्न महाशय बिना कुछ कहे वहाँ से हट गये। किन्तु वहाँ से हट आने से ही क्या होता था ? ग्रहों के अप्रतिहत प्रभाव का अनुभव उन्हें अंग-प्रत्यंग में होने लगा। उनकी समझ में आ गया कि मानव के प्रयत्न, ग्रह-नक्षत्रों की शक्ति के आगे कितने तुच्छ-से थे। अस्थिर मन से पत्नी के पास पहुँचे। पत्नी उस समय गृह-कार्य में व्यस्त थीं। उन्होंने पत्नी से कहा—'मैंने शशांक को एक तावीज रात-दिन पहने रहने के लिए दिया था। किन्तु उसने उतारकर रख दिया है। तुम जाकर उसे समझा दो कि वह उस तावीज को हर समय पहने रहे, नहीं तो घोर अमंगल की आशंका है।'

"उनकी पत्नी अवाक् होकर उनके चेहरे की ओर ताकती रही। जीवन में पहली बार उन्होंने पति को विचलित होते देखा था।

"फिर जब उन्होंने शशांक को समझाया और जिद की तो उसने फिर तावीज पहन लिया। पर चन्द दिन ही। एक हफ्ता बीतते-न बीतते शशांक ने फिर तावीज खोलकर रख दिया।

"भिषग्रत्न महाशय को जैसे ही यह बात मालूम हुई उन्होंने इस बार पुत्रवधू को सतर्क कर दिया। लावण्य रोकर शशांक से बोली—'क्योंजी, कैसी मति मारी गई है तुम्हारी? तुम बाबूजी की बात क्यों नहीं मानते? अगर तुमने अब तावीज उतारा तो मैं अन्न-जल त्याग दूंगी। पत्नी के कहने पर शशांक ने फिर तावीज पहन लिया। कुछ दिन बीत गये। सब ठीक रहा। किन्तु हमेशा दूसरे के मन की बात नहीं रख सकता कोई। फिर एक दिन तावीज उतार डाला शशांक ने।

"इस बार शशांक के मित्रों से अनुरोध कराया भिषग्रत्न महाशय ने। बारम्बार के अनुरोध-उपरोध से यह हुआ कि मन-ही-मन विद्रोही हो उठा शशांक। सो मित्रों की एक न सुनी उसने, उल्टा उनका मजाक ही उड़ाया।

"भिषग्रत्न महाशय ने अन्तिम प्रयत्न किया। शशांक को बुलाकर उन्होंने गम्भीर स्वर में पूछा—'तो यह तावीज नहीं ही पहनोगे तुम?' शशांक चुप खड़ा रहा। 'पहन लेते तो अच्छा था। इसमें तुम्हें असुविधा ही क्या है?'

'कपड़े-वपड़े पहनने में दिक्कत होती है और भारी-भारी-सा भी लगता रहता है।'

"भिषग्रत्न महाशय के चेहरे की मांसपेशियाँ सिकुड़ गयीं। उनके चेहरे पर कठोरता आ गयी। जरा देर चुप रहकर वे बोले— अब समझ में आ गया कि शास्त्रों में क्यों कहा गया है कि 'नियति' को भला कोई रोक सकता है?" 'तो अब इस दीवार पर तुम यह भी लिखकर रख लो कि आज से ठीक तीन महीने बाद रात के ठीक चार बजे तुम इस संसार से कूच कर जाओगे।" और भिषग्रत्न महाशय वहाँ से हट आये।

"खिड़की के उस पार खड़ी लावण्य भी ससुर की बातें सुन रही थी। उनकी अन्तिम बात सुनकर वह मूर्च्छित हो गयी। इस परिवार ने अगले तीन महीने कैसे काटे, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक दबी हुई वेदना खड्ग की तरह जैसे हर समय उनके सिर पर झूलती रही। माँ के चेहरे पर से हँसी जैसे एकबारगी पुछ गयी। लावण्य का स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरने लगा। भिषग्रत्न महाशय अपना सारा समय ज्योतिष और आयुर्वेद की पुस्तकों के मनन-चिन्तन में व्यतीत करने लगे। भोजन आदि नित्य-नैमित्तिक कर्मों के लिए ही वे एक-दो घण्टे अपने कमरे से बाहर दिखाई पड़ते, बस। ऐसा सुखी परिवार जैसे विगत युग के किसी चिड़चिड़े ऋषि के शाप से एकाएक ही नीरस और निरानन्द हो उठा। निःशब्द रहकर जैसे सब लोग आसन्न दुर्घटना की प्रतीक्षा करते रहे और जिसे लेकर इतना सिर-दर्द था—उसे जैसे कोई चिन्ता ही नहीं थी।

"तीन महीने बीत गये। वह निश्चित दिन आ पहुँचा। उस दिन भी प्रातःकाल नित्य की भाँति भिषग्रत्न महाशय ने स्नान किया। उनके चेहरे पर पत्थर जैसी कठोरता थी। इन तीन महीनों से वे अपने-आपको एक भयावह धक्का सहने के लिए तैयार करते आ रहे थे, यह उनके चेहरे से बिल्कुल स्पष्ट था। सारे दिन वे पूजा करते रहे। माँ ने उस दिन अन्न-जल भी ग्रहण नहीं किया। बिस्तर पर ही लेटी रहीं। लावण्य ने रोते-रोते भोजन बनाया और पति को परोसा। दिन बीत गया और साँझ की स्याह कालिमा भिषग्रत्न महाशय के सुन्दर बगीचे पर फैल गयी। घर में सन्नाटा छाया रहा जैसे निस्तब्धता के दिगन्तप्रसारी सागर में डूबा हुआ हो वह घर। मकान के पिछवाड़े एक अशोक वृक्ष की डाल पर बैठा एक चक्रवाक पक्षी करुणस्वर में रोता रहा।

"भिषग्रत्न महाशय ने दो मिरासियों को पहले से ही खबर दे रखी थी। शाम होते ही वे दोनों मिरासी भी आ पहुँचे। वे दोनों 'सर्प-विद्या' में पूर्ण माहिर थे। शशांक के बगलवाले कमरे में भिषग्रत्न महाशय दोनों मिरासियों के साथ उपस्थित रहे। अपनी पत्नी को बुलाकर उन्होंने कहा—'तुमने उसे गर्भ में धारण किया था। अतः तुम उसके दरवाजे की देहरी पर बिस्तर लगाकर सोओ।'

"दोनों मिरासी हँसकर बोले—'पण्डितजी, तोड़-जोड़ तो सब है, मगर रोगी कहाँ है?' भिषग्रत्न महाशय ने हँसकर कहा—'रोगी अभी कोई नहीं है। मगर चार बजे सबेरे होगा। उसी समय के लिए प्रस्तुत रहना है हम सबको। आप लोग सतर्क और बराबर चौकन्ने रहिये।'

"शशांक यह सब सुनकर मन्द-मन्द हँसा। वह दुरन्त निशा सबके बीच से होकर आगे बढ़ती गयी। अलग-अलग लोगों के मन में अलग-अलग भाव थे। कृष्णपक्ष की एक तिथि थी। जाड़े की शुरुआत थी। बाहर गहन अन्धकार का साम्राज्य था। बाग के पेड़-पौधे निःशब्द खड़े थे।

"पहले की सुनी हुई लखीन्दर और बेहुला की कहानी लावण्य को याद आने लगी। कैसी भयानक प्रतीक्षा थी।"

× × ×

"शशांक गहरी नींद में सोया हुआ था निश्चिन्त। उसकी खाट की पाटी पर सिर टिकाये लावण्य तन्द्रिल अवस्था में बैठी हुई थी। देहरी पर माँ भी बैठी ऊँघ रही थीं। गाँव के मन्दिर में टन्-टन् कर चार का घण्टा बजा। सभी सतर्क और चौकन्ने हो गये। एक मिरासी ने भिषग्रत्न महाशय से कहा—'चार तो बज गये। शशांक पूरी तरह स्वस्थ है अभी।' भिषग्रत्न महाशय बोले—'शशांक का जन्म अपने मामा के घर में हुआ था। सम्भव है, वहाँ उसके जन्म का समय देखने में एकाध मिनट की देर-दार हो गयी हो। आप लोग पन्द्रह मिनट और प्रतीक्षा कीजिये, लेकिन सतर्क भी रहिये।'

"रात के अन्तिम प्रहर में काफी ठंडक हो गयी थी। सभी लोग अलसाये हुए थे। चारों तरफ गहरा सन्नाटा था। जैसे वह भयानक निस्तब्धता किसी आतंककारी व्यापार की प्रतीक्षा कर रही थी। एकाएक उस सन्नाटे को चीरकर एक नारी-कण्ठ की हृदय-वेधी आर्त पुकार सुनाई पड़ी—'बाबूजी ! मैं लुट गयी। हाय मैं मर गयी ! बाबू ······ जी ······' और वह मर्मस्पर्शी चीत्कार जैसे वायुमण्डल को आलोड़ित करके, आकाश की छाती को चीरकर बार-बार ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगी।

"लावण्य की आवाज सुनकर सब लोग कमरे में घुस आये। अपनी रामरामी लपेटते हुए भिषग्रत्न महाशय ने आगे बढ़कर देखा—'शशांक का सारा शरीर काला पड़ गया था। वह अस्फुट स्वर में कराह रहा था। उसके पैर की उँगली में न जाने किधर से आकर विषधर ने डस लिया था। दोनों मिरासियों से उन्होंने कहा—'अब सँभालिये अपने मरीज को।'

"मिरासियों ने अपने ढंग से जाँच-पड़ताल की और उपचार भी किया। लेकिन शशांक को फिर होश न आया। मृत्यु से संघर्ष करके भी सर्प-विद्या के मर्मज्ञ दोनों मिरासी शशांक को बचा न पाये। सूर्योदय के पहले ही लावण्य विधवा हो गयी। माँ की गोद भी सूनी हो गयी। शशांक को तक्षक नाग ने डसा था, जिसका काटा पानी तक नहीं माँगता।

"जब शशांक को श्मशान ले जाया गया—उस समय भी राधामाधव भिषग्रत्न महाशय अपने कमरे के बाहर नहीं निकले। जिस अज्ञात शक्ति के दुर्लंध्य विधान को प्राण-पण से प्रयत्न करने पर भी वे रोक नहीं पाये थे, सम्भवतः उसीके दुर्भेद्य रहस्य का आविष्कार करने में डूबे रहे।

"लावण्य भी अधिक दिनों तक जीवित नहीं रही। पति-शोक में वह भी एक दिन वहीं चली गयी जहाँ शशांक गया था। पुत्र के बाद पुत्र-वधू—असह्य पीड़ा—असह्य वेदना और दुःख सहन न कर सके भिषग्रत्न महाशय। एक दिन गाँव छोड़ दिया उन्होंने हमेशा के लिए और पत्नी को लेकर कलकत्ता चले आये।"

× × ×

यह पीड़ामयी सारी कथा राखालबाबू ने ही सुनायी थी मुझे—जिसे सुनकर व्याकुल हो उठी थी मेरी आत्मा। असीम जिज्ञासा और कौतूहल की सृष्टि हो गयी थी मेरे मन में भिषग्रत्न महाशय के प्रति। उनसे मिलने के लिए व्यग्र हो उठा मैं एकबारगी।

राखालबाबू के पुस्तकालय में ५-६ हजार पुस्तकों का दुर्लभ संग्रह था। सोचा, पहले राधामाधव भिषग्रत्न महाशय का दर्शन-लाभ कर लूँ, तब पुस्तकों और पाण्डुलिपियों का अध्ययन करूँ। कहने की आवश्यकता नहीं, उसी सप्ताह राखालबाबू से

उनका पता-ठिकाना लेकर बम्बई मेल से रवाना हो गया मैं पंचमढ़ी के लिए। चलते समय उनके नाम एक पत्र भी लिखकर दे दिया था राखालबाबू ने।

× × ×

राधामाधव भिषग्रत्न से भेंट

पूरे तीस घण्टे की लम्बी यात्रा के बाद जब मैं 'पंचमढ़ी बस स्टैण्ड' पर उतरा — उस समय दिन के तीन बजे थे। सावन-भादों का महीना था। आकाश में काले-भूरे बादल छाये हुए थे। मौसम बड़ा सुहावना था। जिस स्थान का पता मेरे पास था, वह स्थान 'बस स्टैण्ड' से लगभग ४-५ मील दूर था। वहाँ तक जाने के लिए विधवा की माँग की तरह सूनी सड़क थी एक। सवारी का कोई साधन नहीं था। इसलिए बगल में झोला लटकाये पैदल ही चल पड़ा मैं उसी सड़क पर। दोनों ओर हरे-भरे वृक्षों की सघन पंक्तियाँ थीं। वृक्षों की ओट से कभी-कदा पंचमढ़ी का हिल स्टेशन भी झाँक लेता था और जब हरीतिमा का क्रम कुछ विशृंखल-सा हो जाता तो आँखों के सामने—साँवरे-सलोने बादलों के टुकड़े आ जाते जो पहाड़ों के शिखरों का स्पर्श करते हुए उड़े जा रहे थे हवा की लय पर।

थोड़ा आगे बढ़ने पर घने जंगलों का सिलसिला शुरू हो गया। वन-प्रान्त के ऊपर साँझ की स्याह कालिमा फैलने लगी थी। पंचमढ़ी में सूरज बहुत जल्दी अपना मुँह छिपा लेता है। मैंने जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाना शुरू किया। आकाश की छाती पर तैरते हुए बादलों को देखकर मुझे आशंका हो रही थी कि पता नहीं कब मौसम अपना रुख बदल दे। मैंने अपनी रफ्तार तेज कर दी। मगर वही हुआ—जिसका मुझे भय था। देखते ही देखते श्यामल आकाश अट गया काले-भूरे बादलों से। रह-रहकर बिजली चमकने लगी और साथ ही बादल भी गरजने लगे। फिर एकदम घनघोर वर्षा होने लगी। पहाड़ी हवा साँय-साँय कर रही थी। जंगल के वृक्ष पागलों की तरह झूम रहे थे। मैं घबरा गया। घबराना स्वाभाविक ही था मेरा। अपरिचित पहाड़ी मौसम, अनजानी जगह और ऐसी भयंकर वर्षा। मुझे कुछ हो जाता तो शायद खोजने पर भी मेरी लाश न मिलती किसीको। दिशाहीन, लक्ष्यहीन, काले अँधेरे के बीच भागता रहा—भागता रहा मैं। थोड़ी देर बाद लगा कि अब दौड़ा न जायेगा मुझसे।·····और शायद इसी अनजाने अरण्य-प्रान्त में जल-समाधि हो जायेगी मेरी। तभी कड़कड़ाकर बिजली चमकी। छाती के भीतर कुछ खाली-खाली-सा प्रतीत हुआ। उस भयानक गर्जना के क्षण लगा, जैसे वर्षा का जल वस्त्रों को गीला कर शरीर के चमड़े की परत भेदता हुआ भीतर तक प्रवेश कर गया है। श्मशान के प्रेत की तरह मैं इधर-उधर भटकता रहा था उस बीहड़ इलाके में। अँधेरे में धरती और आकाश मिलकर एकाकार हो गये थे। गहन अन्धकार का अन्तहीन समुद्र····बीच-बीच में दप्-दप् करते जुगनुओं की रुपहली

चमक और हहराती वर्षा में उद्दाम वासना लिये नये पानी की भीनी-भीनी महक। पता नहीं उस रात जोश-होश खोकर मैं उस अरण्य-प्रान्त में कब तक भटकता रहा।

सहसा मेरी दृष्टि सामने की ओर उठ गयी। अन्धकार के काले पर्दे के उस पार न जाने क्या चमकता हुआ दीखा। ऐसा लगा, मानो वहाँ कोई रहता हो। पीछे का अन्धकार वैसा का वैसा ही था घना और चिपचिपा। और उसी घने चिपचिपाहटभरे अन्धकार में मेरी सुषुप्तिभरी दृष्टि ने जैसे कुछ चीजों को पहचान लिया। लगा, जैसे खूब वृक्षों से घिरी ईंटों की बनी एक चहारदीवारी हो और उसके भीतर पीले रंग का इकतल्ला छोटा-सा मक़ान। अवश, क्लान्त चित्त में बारिश का शोर—अँधेरे में दानव की तरह खड़े वृक्षों पर सिर पटकती हवा के चीत्कार और झींगुरों की झंकार ने मिल-जुलकर एक विचित्र-सा हाहाकार भर दिया था। फिर सहसा उन्मत्त हवा पर तैरते हुए श्रीकृष्ण की गीता के श्लोक कानों में गूंज उठे—'एवमुक्तो ·····हृषीकेशो ····· गुडाकेशेन··· भारत ···' मैं स्तब्ध-सा खड़ा रह गया। इतनी रात गये इस अन्धकाराच्छन्न निर्जन प्रान्त में कौन पाठ कर रहा है गीता का ? और उसी समय श्यामल आकाश का वक्ष चीरती-सी बिजली चमकी। जलते पारे जैसी तीखी रेखा—ओर-छोर-हीन आसमान के एक कोने से दूसरे कोने तक कौंध गयी। हजारों मैग्नीशियम के तारों जैसे प्रखर आलोक से उद्भासित हो उठा विस्तार। देखा तो पानी से तर एक इकतल्ले छोटे-से मकान के दरवाजे के सामने खड़ा था मैं। वातावरण को मथती हुई विद्युत्-वाणी फिर गरजकर शान्त हो गयी। गीतापाठ भी समाप्त हो गया।

आगे बढ़कर जोर से आवाज दी—'अरे भाई, कोई है ?' बारिश का इकरस शोर। अँधेरे की छाती पर जुगनुओं के जलते-बुझते रहने का खेल। गहन गर्जना से धरती को कँपाती हुई फिर बिजली कौंधी।

'अरे भाई ! कोई रहता है यहाँ ?'

अंधकार में धुंधले उजाले का दायरा एक बार फिर कसमसाया और सिमटकर फैला और फिर फैलता ही गया। लगा, जैसे कोई हाथ में लालटेन लिए हुए आ रहा है। आँखों में विस्मयभरे एकटक सामने देखता रहा मैं।

काठ का छोटा-सा दरवाजा खोले जाने की आहट हुई। म्लान उजियारे और मद्धिम रोशनी में मकान के भीतर का थोड़ा-सा भाग दिखाई दिया। फिर लालटेन लिये एक हाथ बाहर निकला, उसके पीछे एक अस्पष्ट-सा चेहरा गौर से देखने पर शरीर की रेखाएँ स्पष्ट हो गयीं—मझोला कद, गौरवर्ण, इकहरी देह, तीखी नाक, भावहीन, लेकिन ज्योतिर्मयी आँखें, दप्-दप् करता चेहरा, गले में रुद्राक्ष की माला, सिर के अधपके बाल, खिचड़ी दाढ़ी और बदन पर रामरामी का दुपट्टा और ढीली-ढाली धोती।

न जाने कैसी दृष्टि से देख रहा था वह वृद्ध ? डर-सा लग आया।

"कौन हैं आप ?"—अस्फुट स्वर में पूछा उस वृद्ध ने ?

मैंने अपना नाम बताकर कहा—"कलकत्ता से चलकर आया हूँ। श्री राधामाधव भिषग्रत्न के मकान की खोज में पूरे चार घण्टे से इस अरण्य में भटक रहा हूँ।"

"ओह ! ···· तुम्हें राखालचन्द्र भट्टाचार्य ने भेजा है ?"

"जी हाँ। और आप······?"

"घबराइये नहीं, जिससे मिलने आप पंचमढ़ी आये हैं, वह आपके सामने ही खड़ा है।"

"आप····· आप ही भिषग्रत्न महाशय हैं ?"—मैंने आश्चर्यचकित होकर हकलाते हुए पूछा।

"हाँ भाई, मैं ही हूँ।"

म्लान उजियारे में ही झुककर श्रद्धापूर्वक चरण-स्पर्श किया मैंने उस महापुरुष का।

"ठीक है, ठीक है। आओ, भीतर आओ।" स्वर में कोमलता थी और था अपनापन भी।

चहारदीवारी से घिरा केले का छोटा-सा बगान था और मकान के सामने फूलों की क्यारियाँ थीं—जिनमें रातरानी, जूही और मल्लिका के फूल खिले हुए थे। मकान में छोटे-बड़े कुल चार कमरे थे। एक कमरे में ठसाठस तमाम पुस्तकें भरी हुई थीं। दूसरे कमरे में राधाकृष्ण की मूर्ति स्थापित थी—जिस पर चढ़े फूल मुरझाकर सूख गये थे।

भीतर घुसते ही भिषग्रत्न महाशय ने आवाज दी—"कृष्णप्रिया, ओ कृष्णप्रिया ··।"

दूसरे ही क्षण ६०-६५ वर्षीया एक वृद्ध महिला पीछेवाले कमरे से निकलकर सामने आ खड़ी हुईं। गौर वर्ण, मझोला कद, श्वेत केशराशि, हाथों में सोने की चूड़ियाँ और शंख के वलय, माँग में सिन्दूर की लाल रेखा, मस्तक पर दपदपाता हुआ लाल सिन्दूर का ही बड़ा-सा गोल टीका, शरीर पर लाल रंग के चौड़े पाड़ की रेशमी साड़ी। सिर उठाकर उस वृद्धा की ओर देखते हुए भिषग्रत्न महाशय बोले—"यह शशांक की माँ हैं कृष्णप्रिया।" फिर उन्होंने इशारे से कुछ कहा। तुरन्त वह भीतर चली गयीं। और जब कुछ ही देर बाद वापस लौटीं तो उनके हाथ में भोजन की थाली थी। उस समय मुझे बहुत जोरों की भूख लगी थी। चलते समय कलकत्ता में ही भोजन किया था मैंने।

भोजन में सभी कुछ था—पूड़ी, कचौड़ी, दो तरह की सब्जियाँ, रायता, अचार, दही, सन्देस और एक कटोरी में खीर भी। इतनी जल्दी, इतना स्वादिष्ट व्यञ्जन कैसे तैयार हो गया, आश्चर्य हुआ मुझे।

न्यायालय में गीता की शपथ क्यों ?

मेरे आने का उद्देश्य न जाने कैसे भिषग्रत्न महाशय को ज्ञात हो गया, मेरी समझ में नहीं आया। राखालबाबू की दी हुई चिट्ठी मैंने थमा दी उन्हें। पढ़कर हँसे महाशय, बोले कुछ नहीं।

आयुर्वेद, ज्योतिष और तन्त्रशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही भिषग्रत्न महाशय, इसके अतिरिक्त धर्म, दर्शन और योग में भी उनकी गहरी गति थी। गीता में जितने योग हैं—उनके तो वे मर्मज्ञ ही थे। अब तक की बातचीत से यह समझते देर न लगी थी मुझे। ज्योतिष और औषधि-तन्त्र पर विस्तृत चर्चा होने के पश्चात् गीता से सम्बन्धित अपनी कुछ जिज्ञासा का समाधान करना चाहा मैंने। न जाने कैसे यह भी समझ गये भिषग्रत्न महाशय। थोड़ा हँसकर बोले—"न्यायालय में गीता की शपथ क्यों दिलायी जाती है, यही समझना चाहते हैं न आप ?"

यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे। वास्तव में सर्वप्रथम इसी सम्बन्ध में जानने की प्रबल उत्सुकता थी मेरे मन में। धीरे-से सिर हिलाकर बोला—"हाँ! आपका कहना ठीक है। किसी बात की सत्यता सिद्ध करने अथवा प्रमाणित करने के उद्देश्य से गीता पर ही क्यों हाथ रखवाया जाता है ? रामायण, उपनिषद्, वेद, पुराण आदि भी तो धर्मग्रन्थ हैं। उन पर क्यों नहीं रखवाया जाता ?"

"इसका बहुत बड़ा कारण है"—भिषग्रत्न महाशय बगल में रखे चाँदी के डिब्बे से दो बीड़ा पान मुँह में डालते हुए बोले—"राम भले ही मर्यादा पुरुषोत्तम हों, परम आदरणीय हों, श्रद्धेय हों, अनुकरणीय हों, लेकिन वे पूर्णावतार नहीं हैं। आंशिक अवतार हैं। उपनिषद् के ऋषि भले ही परम ज्ञानी हों, तत्ववेत्ता हों, लेकिन अवतार नहीं हैं। वेद भी भले ही ज्ञान का भण्डार हो, लेकिन वह किसी अवतारी पुरुष की रचना नहीं है। ऐसा ही पुराणों के विषय में भी समझना चाहिए। वे एक प्रकार के इतिहास हैं। यदि परमात्मा है और वह पृथ्वी पर पूर्ण रूप से अवतरित हो, तो जानते हैं—वह लगभग कृष्ण जैसा होगा। यही कारण है कि वे हमारे देश के सभी वर्ग के लोगों के हृदय को अधिक-से-अधिक स्पर्श कर पाये हैं। इसके भी कई कारण हैं। एक तो पूर्ण अवतार का अर्थ होता है 'मल्टी डायमेंशनल' यानी बहु आयामी—जो मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व को स्पर्श करता हो। जहाँ तक 'राम' का प्रश्न है वह 'वन डायमेंशनल' हैं। एक आयामी हैं।

"हर्बर्ट मरक्यूस ने एक पुस्तक लिखी है 'वन डायमेंशनल मैन'। राम एक आयामी हैं, एकसुरे हैं, एक ही स्वर है उनमें। स्वभावतः एक आयामी, एकसुरे और एक ही स्वरवाला आदमी केवल उसी जैसे व्यक्ति के लिए प्रीतिकर हो सकता है। सभी के

लिए प्रीतिकर नहीं हो सकता वह। महावीर, बुद्ध आदि भी एक आयामी, एकसुरे और एक ही स्वरवाले महापुरुष हैं। इसलिए वे लोग भी समस्त मानव-जाति के लिए प्रीतिकर, पूजनीय और श्रद्धेय नहीं हो सकते। एक वर्गविशेष के लिए हो सकते हैं। सभी के लिए नहीं हो सकते हैं।

"कृष्ण मल्टी डायमेंशनल हैं। बहुआयामी हैं। कृष्ण जैसा आदमी धरती पर खोजना अत्यन्त कठिन है। कृष्ण में प्रेम, स्नेह, श्रद्धा और विश्वास करने योग्य सारे तत्त्व विद्यमान हैं। सभी लोग, सभी वर्ग के लोग, सभी प्रकार के लोग अपनी-अपनी दृष्टि से जो चाहें वह पा सकते हैं कृष्ण में। चोर भी कृष्ण से प्रेम कर सकता है। नाचने-गानेवाला भी प्रेम कर सकता है। वेश्या भी प्रेम कर सकती है। सज्जन भी प्रेम कर सकता है। दुर्जन भी प्रेम कर सकता है। साधु और असाधु भी प्रेम कर सकता है। सैनिक भी प्रेम कर सकता है। गोपियों के साथ नृत्य करनेवाला भी प्रेम कर सकता है। कृष्ण एक 'आर्केस्ट्रा' के समान हैं, जिसमें बहुत सारे वाद्य हैं और वे सभी वाद्य बज रहे हैं। जिसे जो वाद्य पसन्द हो, वह उससे प्रेम कर सकता है और इसलिए सम्पूर्ण कृष्ण को प्रेम करनेवाला आदमी अभी तक संसार में पैदा न हो सका। अब तक जिसने भी प्रेम किया है, उनमें चुनाव करके किया है।

"सूरदास को बालकृष्ण से प्रेम है। वे गोपियों के कृष्ण से डरते हैं। उनको बाल-कृष्ण ही अच्छे लगते हैं, उनके लिए वे ठीक हैं। केशवदास को युवा कृष्ण के प्रति अनुराग है, प्रेम है। उस कृष्ण से प्रेम है—जो शरद्-पूर्णिमा की रात्रि में गोपियों के साथ तन्मय होकर कदम्ब की छाया में नृत्य कर रहा है। जिसकी कोई मर्यादा नहीं है, अमर्यादित है, अराजक है। केशवदास की सारी कविता ऐसे ही कृष्ण की कविता है। यशोदा को नटखट कृष्ण से प्रेम है। गोपों को माखन-चोर कृष्ण से प्रेम है। गोपिकाओं को प्रेमी कृष्ण से प्रेम है। राधा को वंशी बजानेवाले कृष्ण से प्रेम है। अर्जुन को सखा, मित्र और शुभचिन्तक कृष्ण से प्रेम है। सम्पूर्ण रूप से कृष्ण को चाहनेवाला और प्रेम करनेवाला संसार में कोई नहीं है। सम्पूर्ण रूप से चाहनेवाला और प्रेम करनेवाला वही आदमी हो सकता है—जो कृष्ण की ही तरह बहुआयामी होगा। साधारणतः आदमी एक आयामी होता है। उसके व्यक्तित्व का एक 'ट्रैक' होता है, जिस पर वह चलता है। इसलिए इस देश में हर प्रकार के आदमी के लिए कृष्ण प्रीतिकर हैं। बुरा से बुरा आदमी उनसे प्रीति कर सकता है और भला से भला भी।

"ध्यान रखिये, न्यायालय में सच्चरित्र, सज्जन, सत्पुरुष आदमी को जाना नहीं पड़ता। वे जाना ही नहीं चाहते। कभी-कदा उन्हें जाना भी पड़ता है तो बुरे, दुश्चरित्र, दुर्जन, कपटी आदमी के कारण ही जाना पड़ता है। वे ही उन्हें ले जाते हैं। वैसे वे जानेवाले नहीं।

"वास्तव में न्यायालय दुर्जन, दुश्चरित्र, कपटी, छली, प्रपंची और असत्यवादी लोगों का स्थान है। ऐसा आदमी अगर राम से प्रेम करता होता तो न्यायालय में आता ही नहीं—जो न्यायालय में आ गया है—राम की सौगन्ध उसको खिलाना नासमझी है। उसे कृष्ण की सौगन्ध अवश्य खिलाई जा सकती है। न्यायालय में आकर भी आदमी कृष्ण को प्रेम करता हुआ हो सकता है। कृष्ण का हृदय विशाल है, समुद्र की तरह अथाह है। शराबी, जुआड़ी, कामी, व्यभिचारी, चोर, कपटी, दुश्चरित्र, दुर्जन, छली, प्रपंची—सभी के लिए उनके हृदय का द्वार खुला है हमेशा। ऐसे हृदयवाला आदमी खोजना कठिन है। ऐसे आदमी संसार में बहुत ही कम जन्म लेते हैं। राम में ऐसी बात नहीं है। उनका हृदय इतना विशाल और अथाह नहीं है। उनके हृदय का द्वार एक ही वर्ग के लिए खुला है। मनुष्य के व्यक्तित्व को स्पर्श करने का क्षेत्र कृष्ण के पास सर्वाधिक है। अधिक-से-अधिक लोग उनसे स्पर्शित हो सकते हैं। आपको संसार में कोई ऐसा आदमी नहीं मिलेगा—जिसको कृष्ण आलिंगन करने से इन्कार कर दे और कहे कि 'तू' हमारे लिए नहीं, हट। वे सभी के लिए हैं। सभी उनके हैं। किसीको अपने से अलग नहीं कर सकते। सभी से वे प्रेम करते हैं। और यही कारण है कि 'गीता' सभी के लिए उपयोगी है। सभी के लिए पूजनीय और श्रद्धेय है।

"गीता के प्रति न्यायालय की अन्धश्रद्धा है, अन्धविश्वास है, अन्धभक्ति है?"—यह भी आप पूछ सकते हैं। इसके उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इस जगत् में सत्य से भी बड़ा सत्य प्रेम है और जिसके प्रति प्रेम है—उसके प्रति असत्य होना कठिन है। सच बात तो यह है कि जिसके प्रति प्रेम है, हम उसीके प्रति सत्य को पाते हैं। जीवन में हम सत्य का दर्शन वहीं करते हैं—जहाँ हमारा प्रेम है। अगर प्रेमी के पास भी आप सत्य नहीं पाते हैं तो समझिये प्रेम में धोखा है। वास्तविक प्रेम नहीं है वह। पति-पत्नी एक-दूसरे से छोटी-मोटी बातें छिपाते हों, सत्य न बोल पाते हों—कोई बड़ी बात नहीं है। चलता है ऐसा। लेकिन दोनों में से किसीको क्रोध आ रहा हो और क्रोध को भी छिपाता हो—तो समझिये दोनों में प्रेम की कमी है। दोनों का प्रेम एक-दूसरे के प्रति पूरा नहीं है। प्रेम पूरी तरह से नग्न कर देता है। पूरी तरह उघाड़ देता है। अन्धविश्वास भी कारण नहीं है। प्रेम की रग को पकड़ना आवश्यक है। तभी सत्य बुलवाया जा सकता है। यह भी हम नहीं जानते कि न्यायालय को प्रेम के सम्बन्ध में कुछ मालूम है या नहीं। पता हो, इसमें सन्देह है। लेकिन इतना तो मनस्शास्त्र कहता है कि अगर हम प्रेम की रग को पकड़ लें, तो आदमी के सत्य बोलने की सम्भावना सर्वाधिक है। बोलेगा कि नहीं, यह दूसरी बात है। लेकिन अधिकतम सम्भावना यही है—जहाँ प्रेम की रग को हम पकड़ लेते हैं और जहाँ प्रेम

नहीं है वहाँ अधिकतम असत्य की सम्भावना है, क्योंकि सत्य का कोई कारण नहीं रह जाता है।"

× × ×

"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

गीता के इस श्लोक के विषय में आपकी क्या दृष्टि है ? क्या विचार है ?"—मैंने पूछा।

"मेरी दृष्टि और मेरा विचार इस श्लोक के सम्बन्ध में जानकर आधुनिक मन को भारी धक्का लगेगा।"—भिषग्रत्न महाशय पान की पीक निकालकर दूसरा पान मुँह में डालते हुए बोले—"इच्छा होगी कि यह सूत्र न होता तो अच्छा था। क्योंकि इस सूत्र के अनुसार स्त्री, वैश्य, शूद्र के अतिरिक्त सभी पाप-योनिवालों को कृष्ण अपने शरण में बुलाकर परम गति को उपलब्ध करायेंगे। परम गति और वह भी पाप-योनिवालों को, केवल शरण में जाने मात्र से...... बहुत ही विचित्र बात है। सूत्र के शब्दों की ठीक से व्याख्या में प्रवेश करना आवश्यक होगा तभी इस तथ्य को भलीभाँति समझा जा सकेगा।

"मनुष्य की आत्मा एक है, लेकिन मन अनेक हैं। उसकी परम स्थिति भी एक है पर उसकी बीच की स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। मनुष्य का विभाजन—जो भारतीय बुद्धि ने किया, वह पहला विभाजन है—स्त्री और पुरुष में। लेकिन इसका ध्यान रहे। 'स्त्री' का अर्थ है 'स्त्रैण'। पुरुषों में भी ऐसे लोग हैं—जो स्त्री जैसे हैं—स्त्रैण हैं। स्त्रियों में भी ऐसे व्यक्तित्व हैं—जो पुरुष जैसे हैं—पौरुषेय हैं।"

गीता का वर्ण-विज्ञान

"गुह्य विज्ञान के आधार पर आत्मा की जो लोग खोज कर रहे हैं उनके लिए 'स्त्रैण' का अर्थ है—ऐसा व्यक्तित्व, जो कुछ भी करने में समर्थ नहीं है—जो केवल प्रतीक्षा कर सकता है, लेकिन यात्रा नहीं कर सकता। जो राह देख सकता है, लेकिन खोज नहीं कर सकता।

"स्त्री-पुरुष का जो सम्बन्ध है—उसमें पुरुष खोज करता है और स्त्री प्रतीक्षा करती है। पहल भी पुरुष करता है और स्त्री उस पहल की बाट जोहती है। प्रेम में स्त्री प्रतीक्षा करती है, राह देखती है—और अगर कोई स्त्री प्रेम में पहल स्वयं करती है तो वह आक्रामक सिद्ध होगी, वेश में मालूम होगी। इसी प्रकार पुरुष प्रतीक्षा करता है और पहल नहीं करता है अथवा आक्रमण नहीं करता है तो वह 'स्त्रैण' समझा जायेगा।

"गुह्य विज्ञान के अनुसार प्रत्येक पुरुष साठ प्रतिशत पुरुष है और चालीस प्रतिशत स्त्री है। इसी प्रकार स्त्री साठ प्रतिशत स्त्री है और चालीस प्रतिशत पुरुष है। पुरुष में भी दोनों यौन हैं और स्त्री में भी। केवल मात्रा का अन्तर है। इस संसार में कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो शत-प्रतिशत पुरुष हो। कोई ऐसी स्त्री नहीं है—जो शत-प्रतिशत स्त्री हो। यह है भी उचित। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का जन्म स्त्री और पुरुष से मिलकर होता है। इसलिये दोनों के तत्त्व उसमें प्रवेश कर जाते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों के जीवाणुओं से मिलकर ही व्यक्ति का जन्म होता है। जो अन्तर है—वह मात्रा का है और वह निरपेक्ष नहीं—सापेक्ष है।

"कृष्ण जब यह कहते हैं कि स्त्रियाँ भी मुझे उपलब्ध हो जाती हैं—तो इसका अर्थ यह है कि जो आक्रामक नहीं है, जो चल नहीं सकता है और जो केवल प्रतीक्षा कर सकता है, वे भी मुझे प्राप्त कर लेते हैं। हे अर्जुन! जिसके मन में आक्रमण का भाव नहीं है। जो परमात्मा की खोज में भी आक्रामक नहीं हो सकते—वे भी मुझे प्राप्त कर लेते हैं। जो जरा-सा भी चल नहीं सकते, वे भी मुझे स्मरणमात्र से उपलब्ध हो जाते हैं। जिसकी प्रतीक्षा है—उसकी खोज करनी पड़ेगी—यह पुरुष-चित्त का लक्षण है। जिसकी खोज है, उसकी प्रतीक्षा करनी होगी यह स्त्री-चित्त का लक्षण है।

"कृष्ण फिर कहते हैं—वैश्य और शूद्र भी। ये दोनों शब्द भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि मैंने आपसे कहा—आत्माएँ एक हैं, लेकिन मन अलग-अलग है, इसलिए हमारे शरीर भी अलग-अलग हैं। क्योंकि शरीर की रचना मन के द्वारा होती है। मन के द्वारा ही हम शरीर को पाते हैं। इस आधार पर भारत ने चार प्रकार के व्यक्तित्व विभाजित किये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन चारों का सम्बन्ध आपके जन्म से नहीं है। अगर सम्बन्ध है तो आपके व्यक्तित्व के ढाँचे हैं। ये चारों शब्द व्यक्तित्व के प्रतीक हैं, परिचायक हैं। पहले शूद्र को ही लीजिये। शूद्र उस व्यक्ति को कहते हैं, जो अपने शरीर को महत्त्व देता है और शरीर के ही आसपास रहता है। शरीर ही उसका सब कुछ है। शरीर ही उसका परमात्मा है। उसके व्यक्तित्व का केन्द्र शरीर है। शरीर दुःखी है तो वह दुःखी है। शरीर सुखी है तो वह सुखी है। सारा सुख उपलब्ध हो जाय, मगर शरीर की माँग पूरी न हो तो उसके जीवन में व्यथा और सन्ताप है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि सभी लोग जन्म से शूद्र होते हैं। बात बिल्कुल सही है। सभी व्यक्ति जन्म से शरीर के आसपास जीते हैं। संक्षिप्त में—जो 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मानकर चलता है—वह शूद्र है। तो कृष्ण कहते हैं कि—शूद्र भी—अगर अनन्यभाव से मेरा स्मरण कर लें तो वे भी मुक्त हो जाते हैं। 'शूद्र' चित्त की निम्नतम दशा है—उसके लिए भी कृष्ण कह रहे हैं कि उस दशा में भी उस अन्धकार में पड़ा हुआ भी

अगर कोई मेरा स्मरण करे तो वह भी मुझे उपलब्ध हो जाता है। मेरा 'स्मरण' ही मेरी उपस्थिति बन जाती है उसके लिए।

"वैश्य दूसरी कोटि है। जैसे शूद्र शरीर के आसपास जीता है, वैसे ही वैश्य मन के आसपास जीता है। शूद्र की वासना और कामना बहुत स्थूल होती है। लेकिन वैश्य की वासना और कामना मानसिक होती है, सूक्ष्म होती है। वैश्य धन, वैभव, मान, प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति आदि के लिए जीता है। उन सबसे मिलनेवाला 'रस' मन को मिलनेवाला 'रस' है। उस रस के लिए वैश्य अपने शरीर को भी गँवाने को तैयार हो जायेगा, जब कि शूद्र, इस 'रस' के लिए कभी भी शरीर को गँवाने को तैयार न होगा। वैश्य के लिए 'धन' और शूद्र के लिए 'शरीर' अपना मौलिक मूल्य रखता है। यही कारण है कि शूद्र शरीर से स्वस्थ और मन से रुग्ण रहता है, जब कि वैश्य शरीर से अस्वस्थ और मन से प्रफुल्ल और प्रसन्न रहता है। शूद्र का ईश्वर शरीर है और वैश्य का ईश्वर है धन। शरीर में जीनेवाला शूद्र प्रकृति के सम्पर्क में रहता है और संवेदनशील होता है। इसके ठीक विपरीत वैश्य धन में जीने के कारण प्रकृति के सम्पर्क और संवेदना से दूर होता है। लेकिन एक बात है—और वह यह कि वैश्य परमात्मा की ओर उन्मुख होता है। पूजा, उपासना, भक्ति आदि की भावना उसमें अधिक मात्रा में होती है। इसलिए कि शरीर और आत्मा के बीच की यात्रा में मन के पड़ाव को पार करना आवश्यक है। मन से गुजरना ही पड़ेगा। शूद्र को भी आत्मा की यात्रा में कभी न कभी वैश्य होना ही पड़ता है।

"सभी लोग शूद्र की तरह जन्मते हैं जिनमें से कुछ ही लोग वैश्य तक पहुँच पाते हैं और मर जाते हैं। वैश्य के लिए शरीर से अधिक 'मन' मूल्यवान् है। मन का रस शरीर के रस से अधिक मूल्यवान् है उसके लिए। भोजन का आनन्द, काम-वासना का सुख सब व्यर्थ है वैश्य के लिए मन के रस के सामने। उसके लिए तो धन-वैभव ही मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन, वैश्य, जो 'मन' के रस में जीता है, मन को ही महत्त्व देता है, जिसके लिए धन-वैभव ही सब कुछ है—अगर वह भी मेरा स्मरण करे तो मैं उसे उपलब्ध हो जाऊँगा।

"तीसरी कोटि क्षत्रिय की है। क्षत्रिय का अर्थ है जो शरीर और मन दोनों से उठकर आत्मा में जीता है। जिसके लिए शरीर और मन का कोई मूल्य नहीं है। आत्मगौरव का ही मूल्य है। वह क्षत्रिय है। क्षत्रिय के लिए आत्मसम्मान, आत्मप्रतिष्ठा और आत्मगौरव ही सब कुछ है। इसके लिए वह धन, वैभव, शरीर, मन और मान-प्रतिष्ठा, यश-कीर्ति आदि सबका त्याग कर सकता है। सबको गँवा सकता है। लेकिन उसके लिए अपने आत्मसम्मान अथवा आत्मगौरव को गँवाना असम्भव है।

"चौथी कोटि है ब्राह्मण की। ब्राह्मण का अर्थ है जो आत्मा को भी पार कर जाय और ब्रह्म में जीये। ब्राह्मण के लिए शरीर, मन और आत्मा का कोई मूल्य नहीं है।

यदि मूल्य है तो ब्रह्म का, परमात्मा का। वह ब्रह्म के आसपास जीता है। वही उसके लिए सब कुछ है।

"ये चार मानस-प्रकार हैं। कृष्ण कहते हैं—पहले दो प्रकार के लोग स्मरण-भाव से मुझे उपलब्ध तो हो ही जाते हैं। बाद के दो प्रकार के लोगों का कहना ही क्या ? अगर वे मेरा स्मरण करें तो वे भी मुझे उपलब्ध हैं हीं।"

वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य

"इन चार प्रकार के मानस के आधार पर हजारों वर्ष पूर्व भारत ने एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया था—मन के प्रकार को जन्म से जोड़ने का प्रयोग। प्रयोग अभूतपूर्व था, लेकिन असफल हो गया। वह प्रयोग यह था कि क्या यह नहीं हो सकता कि प्रत्येक व्यक्ति को जन्म भी इस भाँति मिले कि जन्म से ही अपने मन और अपनी चेतना के ढाँचे के अनुकूल पैदा हो सके।

"एक मृत व्यक्ति की आत्मा नये जीवन की खोज में भटकती है। हर कहीं आकस्मिक रूप से जन्म नहीं होता। आत्मा अपने अनुकूल गर्भ को खोजती है। जब मिलता है, तभी जन्म लेती है। 'जन्म' में दो घटनाएँ घटती हैं—माता-पिता द्वारा गर्भ का निर्माण और उस निर्मित गर्भ में आत्मा का प्रवेश। आत्मा का गर्भ में प्रवेश–समस्त कर्मों का फल है। आत्मा द्वारा गर्भ की खोज—सचेतन नहीं है—अनकांशस है—अचेतन है। आत्मा की अचेतन खोज का मतलब है—जैसे जमीन पर बहा हुआ पानी गड्ढे को खोज लेता है—लेकिन वह सचेतन रूप से नहीं खोजता है—वह स्वभावानुसार गड्ढे की ओर बहता है। पानी का गड्ढे की खोज अचेतन है, स्वाभाविक है। ठीक वैसे ही प्रत्येक आत्मा अचेतन में अपने लिए गर्भ की खोज करती है—भले ही इसके लिये उसे लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़े। और गर्भ मिलते ही तत्काल उसमें प्रवेश कर जाती है। अचेतन में मृत्यु होती है और अचेतन में ही जन्म भी होता है। इसीलिए ये दोनों घटनाएं किसी भी व्यक्ति की स्मृति में अंकित नहीं होतीं।

"भारत ने यह प्रयत्न किया कि चारों प्रकार की आत्माओं के लिए अलग-अलग वर्ग ही नियत कर दिया जाय। अपने-अपने वर्ग में आत्माएँ जन्म लें। शूद्र के वर्ग में शूद्र की आत्मा, वैश्य के वर्ग में वैश्य, क्षत्रिय के वर्ग में क्षत्रिय और ब्राह्मण के वर्ग में ब्राह्मण की ही आत्मा जन्म ले। इस प्रकार भारतीय समाज चार वर्गों यानी चार भागों में विभक्त हो गया। हालांकि यह प्रयोग बहुत कठिन था उस समय। खैर, चार भागों अथवा चार वर्गों में बाँटने का प्रयोजन यह था कि शूद्र से शूद्र, वैश्य से वैश्य, क्षत्रिय से क्षत्रिय और ब्राह्मण से ब्राह्मण ही विवाह करें। यह बराबर होता रहे। पचास पीढ़ियाँ गुजरने के बाद—दो ब्राह्मणों के विवाह से जो गर्भ निर्मित होगा—

वह गर्भ किसी ब्राह्मण आत्मा को आकर्षित करने में अधिक उपयुक्त होगा, बजाय और किसी गर्भ के। अगर यह सम्भव है तो बिल्कुल तर्कयुक्त और वैज्ञानिक है।

"लेकिन जैसे सभी नये प्रयोगों में खतरा पैदा होता है, वैसे ही इस प्रयोग में भी खतरा पैदा हुआ। प्रयोग तो सफल नहीं हुआ--मगर भारतीय समाज चार वर्णों में, चार जातियों में और चार शत्रुओं में अवश्य टूट गया, विभक्त हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण--जिनका मन के आधार पर और चेतना के ढाँचे पर वर्गीकरण किया गया था--उनके व्यक्तित्व का विचार न रहा, जाति का लक्षण हो गया। चारों जातियों के प्रतीक और लक्षण बन गये, जिसका परिणाम अत्यधिक भयंकर सिद्ध हुआ।

"ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेनेवाला व्यक्ति भले ही शूद्र के आचरण, व्यवहार, योग्यता और व्यक्तित्व का हो--देश और समाज के सिर पर बैठने लग गया। धर्म का ठेकेदार बनने लग गया। देवताओं, मन्दिरों और तमाम पूजा-साधना स्थलों पर अपना अधिकार जमाने लग गया। अन्य तीनों वर्णों पर शासन करने लग गया। दूसरी ओर ऐसे ही शूद्र के परिवार में जन्म लेनेवाला व्यक्ति--भले ही ब्राह्मण के आचरण, व्यवहार, योग्यता और व्यक्तित्व का हो–दुतकारा जाने लगा, अछूत समझा जाने लगा--उसका अपमान और उसकी उपेक्षा होने लगी। वह अवहेलना का पात्र बन गया। उसके लिए मन्दिर में स्थान नहीं, पूजा, अर्चना में अधिकार से वंचित। उसके लिए समाज में तिरस्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहा।

वास्तव में हमारे देश के मनीषियों ने एक अद्‌भुत सूत्र खोजा था। और वह अद्‌भुत सूत्र यह था कि प्रत्येक आत्मा को हम उसके जीवन के चुनाव में भी मार्ग-निर्देश कर सकें। आत्मा ऐसे ही भटककर कहीं भी—किसी भी तरह पैदा न हो। हम उसे सुनिश्चित मार्ग दे सकें, व्यवस्थित स्थान और वातावरण दे सकें, ताकि अधिक-से-अधिक उपयोग थोड़े-से जीवन का किया जा सके।"

पान की पीक निकालकर पान का दूसरा बीड़ा मुँह में डालते हुए भिषग्रत्न महाशय बोले—"ऐसा समझो जैसे व्यक्ति पिछले जन्म में ब्राह्मण था। उसने ब्राह्मणत्व की ऊँचाई पा ली थी। लेकिन इस जन्म में उसकी आत्मा को शूद्र के परिवार में जन्म लेने का अवसर मिला। उसने जन्म ले लिया। यहाँ अब यह समझने की बात है कि क्या उस ब्राह्मण आत्मा को शूद्र के परिवार में ब्राह्मण की पूरी शिक्षा उपलब्ध हो सकेगी ? उसे 'ब्राह्मण' का पूरा वातावरण मिल सकेगा ? हो सकता है वह पचास वर्ष का हो जाय—तब इस योग्य हो—जिस योग्य कि वह ब्राह्मण के परिवार में जन्म लेकर पाँच वर्ष में हो जाता। उसके पैंतालीस वर्ष व्यर्थ ही नष्ट हो जायेंगे।

"भारतीय मनीषियों की यह चिन्ता थी कि समय कम-से-कम उपयोग में लाया जा सके और अधिक-से-अधिक परिणाम सामने आ सके और व्यक्ति में जो गहनतम तत्त्व छिपा है वह भलीभाँति प्रकट हो सके। उसे माता-पिता भी, परिवार भी, वातावरण भी—सब कुछ ब्राह्मण का मिले। शूद्र को शूद्र मिल सके, वैश्य को वैश्य मिल सके और क्षत्रिय को क्षत्रिय ही मिल सकें। इसलिये जातियाँ विभाजित हुईं।

"वह महान् प्रयोग सफल तो नहीं हो सका, बल्कि 'शोषण' का रूप धारण कर लिया उसने। शूद्र शोषित हो गया और ब्राह्मण उसकी छाती पर बैठ गया। क्षत्रिय ने हाथ में तलवार ले ली और लोगों पर प्रभुता कायम कर ली। वैश्य धन इकट्ठा करके बैठ गया। शूद्र बेचारा गाँव के बाहर निकाल दिया गया। चारों वर्गों में एक-दूसरे के प्रति शत्रुता का इस प्रकार बीजारोपण हो गया। जो लाभ होनेवाला था, वह तो नहीं हुआ—उल्टे नुकसान ही हुआ। नुकसान यह हुआ कि यदि शूद्र के परिवार में कोई पैदा हो गया तो उसके विकास का कोई उपाय ही नहीं रहा।

"पिछले पाँच हजार साल में—अगर डॉ० अम्बेडकर को छोड़ दें तो शूद्रों में एक भी विचारवान् और बुद्धिमान् आदमी पैदा न हो सका और वे डॉ० अम्बेडकर भी हमारे कारण पैदा नहीं हुए। वही एक आदमी है जिसको ब्राह्मण की हैसियत का कहा जा सकता है। इसलिए वे ब्राह्मणों से नाराज थे जो स्वाभाविक भी था। महाभारत-काल के बाद न जाने कितने शूद्रों की प्रतिभाएं खो गयीं और कितने शूद्र जैसे ब्राह्मण देश और समाज की छाती पर छाये चले गये और कितना गहन नुकसान हुआ इससे इसका कोई लेखा-जोखा नहीं।

"कहने की आवश्यकता नहीं कृष्ण के समय यह प्रयोग गतिमान् था—प्रयोग चल रहा था—प्रयोग की आधारशिलाएँ रखी जा रही थीं। आज इस प्रयोग का क्या परिणाम सामने आया है—इसका कृष्ण को पता नहीं। जो वैज्ञानिक हिरोशिमा और नागासाकी के विध्वंस के पहले ही मर गये परमाणु बम बनाकर—उनको पता भी नहीं है। वे इसी खुशी में मरे हैं कि वे मनुष्य-जाति को एक महान् शक्ति देकर बिदा हो रहे हैं। अभागे तो वे वैज्ञानिक हैं—जिन्होंने अपने सामने इन्सानियत को जलते हुए देखा—अपनी ही खोज का यह परिणाम देखा। खैर!

"कृष्ण कहते हैं—शूद्र हो—वैश्य हो—स्त्री हो—कोई भी हो—मेरी शरण में आकर परमगति को उपलब्ध हो जाते हैं। यहाँ कोई निन्दा का स्वर नहीं है। यहाँ तथ्य की सूचना है कि जो शरीर के पास, मन के पास जी रहे हैं। जो शरीर और मन को ही सब कुछ समझनेवाले हैं—वे भी मेरी शरण में आकर मुझे उपलब्ध हो जाते हैं।

"यहाँ 'शरण' का मूल्य है। आप क्या हैं, इसका मूल्य नहीं है। आप कौन हैं, इसका कोई महत्त्व नहीं है। आप अच्छे हैं कि बुरे हैं, योगी हैं कि भोगी हैं, पापी हैं

कि पुण्यात्मा हैं, दुर्जन हैं कि सज्जन हैं—इन सबका यहाँ कोई भी महत्त्व नहीं है। महत्त्व है 'शरण' का। अगर शरण में जाने की आपमें क्षमता है तो आप परमात्मा को अवश्य उपलब्ध हो जायेंगे। शरण का मतलब है अहंकार रहित व्यक्तित्व। जहाँ शरणागति भाव है—वहाँ अहंकार का अभाव है।"

× × ×

मैंने विषय बदला—"सुना है कि आपने तांत्रिक साधना भी की है?"

"हाँ, की है"—भिषग्रत्न महाशय थोड़ा विषण्ण भाव से बोले—"बिना तन्त्र के ज्योतिष, आर्युवेद सब निष्प्राण हैं। तांत्रिक शक्ति से ही वे प्राणवान् होते हैं।"

"क्या आप अपनी तांत्रिक साधना की कथा सुनायेंगे?"

मेरा प्रश्न सुनकर एकाएक उनका चेहरा विकृत हो गया। थोड़ी देर चुप रहे, फिर कहने लगे—"आप आ गये, बड़ा अच्छा हुआ। मेरा समय पूरा हो गया है। आपको अपनी साधना की कथा सुनाकर हम दोनों पति-पत्नी इस भटकते हुए जीवन से हमेशा के लिए छुटकारा पा लेंगे। पिछले १०-१२ वर्षों से इसी अरण्य प्रदेश में हूँ मैं, समझे न?" फिर दीर्घ श्वास लेते हुए आगे बोले—"जो कथा आपको सुनाने जा रहा हूँ, वह किसीको भी मालूम नहीं है। पत्नी को भी नहीं। क्योंकि विवाह के पूर्व की है सारी कथा। खैर, तंत्र-मंत्र के प्रति बचपन से ही आर्कषित था मैं। इधर-उधर से खोज-खाजकर तांत्रिक पुस्तकें पढ़ा करता था बराबर, जिसके परिणामस्वरूप तांत्रिक साधना में रुचि उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी। सोचा, तांत्रिक साधना कर सिद्धि प्राप्त कर लूँगा और उस सिद्धि के बल पर जी भरकर संसार के सारे सुख और ऐश्वर्य का उपभोग करूँगा मैं। इतना ही नहीं, तांत्रिक साधना के बल पर किसी शक्तिशाली आत्मा को अपने वश में करके ज्योतिष, आयुर्वेद जैसे शास्त्रों के रहस्यों और उनकी तमाम गोपनीयताओं से भी परिचित होने की अभिलाषा थी मेरे मन में। तांत्रिक सिद्धि-लाभ और शक्तिशाली आत्मा को वश में करने के पश्चात् फिर भला मेरी बराबरी कौन करेगा? मेरा मनमयूर नाच उठा इस कल्पना से। मेरी लालसा बराबर बढ़ती ही गयी। लेकिन उस समय मुझे क्या पता था कि भोग की भावना से तांत्रिक साधना करने के चक्कर में सिद्धि मिलनी तो दूर रही—धीरे-धीरे मुझे अपना सर्वस्व गँवा देना पड़ेगा।

"उस समय मेरी अवस्था १८-२० वर्ष से अधिक नहीं थी। आखिर एक दिन घर-बार छोड़-छाड़कर मैं निकल पड़ा गुरु की खोज में। बिना गुरु के तांत्रिक साधना में सफलता कभी भी नहीं मिलती। सुना था कि वक्रेश्वर के श्मशान में एक तांत्रिक साधु रहते हैं। वे श्मशान में नंगे लेटे रहते हैं। कभी किसीने भोजन दे दिया तो खा लिया, अन्यथा वैसे ही रह जाते हैं। मुर्दे का मांस, लता, पत्र तथा विष तक खाने में उन्हें एतराज नहीं था। कोई अरुचि नहीं थी। वह इतने वीतराग थे। पहले तो मुझे दर्शन ही नहीं हुआ। लगातार पन्द्रह दिनों तक धरना देने के बाद जाकर मुझे दर्शन

मिला। विशाल काया, पैनी आँखें, सिर पर जटाजूट और पागलों जैसी हरकतें। मगर पागल नहीं थे वह। मुर्दे की खोपड़ी में खिचड़ी खा रहे थे महाशय। मेरी आँखों के ही सामने एक दिन वे सियार का रूप धारण कर जंगल में घुस गये। ऐसे ही एक रात कुत्ते के रूप में श्मशान के कुत्तों के साथ मिलकर भूँकने लगे। आखिर मैं जिसकी तलाश में था वह मुझे अचानक मिल गये थे। किन्तु सबसे बड़ी समस्या यह थी कि उनको गुरु बनाया कैसे जाय ? वे महाशय किसी भी तरह हाथों पर चढ़ते ही नहीं थे। कुछ कहने पर और कुछ बोलने पर श्मशान की अधजली लकड़ी उठाकर मारने दौड़ते थे। एक दिन खूब रोने-गिड़गिड़ाने पर मेरी पूरी कथा सुनी उन्होंने। मगर कथा पूरी होते ही उन्होंने मुझे वह डाँट पिलायी कि बस, आँखें लाल कर और घूरते हुए मुझसे बोले—'भला चाहता है तो सीधे घर वापस लौट जा। यह सब चक्कर छोड़। दो-चार किताबें पढ़कर तांत्रिक गुरु की खोज में निकला है स्साला ! दो अंगुल की छाती लेकर साधना करने चला है दुष्ट ! यह तेरा काम नहीं, समझा ! जान चली जायेगी। फिर भोग की लालसा, कामना से जो लोग साधना करने जाते हैं—उनका लोक-परलोक दोनों खराब हो जाता है। तूने रामकृष्ण परमहंस की कथा नहीं पढ़ी ? एक दिन उन्होंने माँ से कहा—'माँ', मुझे अष्टसिद्धि दें। मैं अष्टसिद्धि चाहता हूँ।' माँ ने कहा—'कल सबेरे तुझे इसका जवाब मिल जायेगा।' दूसरे दिन सबेरे दरवाजा खोलते ही उन्होंने देखा कि एक लड़की उधर ही मुँह करके शौच करने बैठी है। परमहंसदेव बौखला उठे। लौटकर उन्होंने अपने मन को खूब मारा। आया समझ में ? साधना कोई ऐसी-वैसी बात नहीं है। कोई छोटी-मोटी चीज नहीं है। घर लौट जा। शादी-ब्याह कर। भगवान् का स्मरण कर या फिर अपने कुलगुरु से दीक्षा ले ले।'

"मैं काफी रोया। काफी गिड़गिड़ाया। मगर बाबा को फिर भी मुझ पर दया नहीं आयी। लेकिन बन्धु ! मैंने भी पीछा नहीं छोड़ा। वहीं अड़ा रहा बिना कुछ खाये-पीये। बस, गुप्त रूप से उन पर नजर रखे रहा बराबर, इसलिए कि शायद असली क्रिया का कोई सुराग मिल जाय। समझा आपने ? आखिर इतने दिनों से इस चक्कर में भाड़ थोड़े ही झोंक रहा था मैं। एक दिन की बात है। एक साधक और एक भैरवी श्मशान में बाबा से मिलने आये थे। आये थे चुपके से ही, लेकिन मेरी नजर से बचना मुश्किल था। आधी रात के समय उन लोगों की कई बार मण्डली बैठी। भैरवी की नग्न पूजा हुई। मदिरा-मांस का भोग लगा। फिर मंत्र-जप शुरू हुआ। मैं मौन साधे चुपचाप देखता रहा। बस, फिर क्या था ? मुझे लगा कि मैं सब कुछ सीख गया हूँ। लौटकर घर नहीं गया। घर में था ही कौन ? साधना के लिए त्रिपुरा चला गया। वहाँ त्रिपुराभैरवी के मन्दिर में अपना आसन जमाया और साधना शुरू कर दी मैंने। फिर पूरे ११ साल कठोर तंत्र-साधना की वहाँ। आखिर सिद्धि प्राप्त करके ही छोड़ा। फिर

उस सिद्धि की सुगन्ध फैलते देर न लगी। नाम, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि सब अर्जित तो किया ही, रुपया भी कम नहीं कमाया। आपको पहले ही बतला चुका हूँ—ज्योतिष शास्त्र और आयुर्वेद शास्त्र—दोनों बिना तंत्र के पंगु हैं। मैंने अपनी तांत्रिक सिद्धि के बल पर इन दोनों शास्त्रों से खूब लाभान्वित हुआ। आप तो जानते ही हैं। मेरे सामने अतीत स्पष्ट था और भविष्य था दृश्यवत्।"

"तभी आपने अपने पुत्र शशांक की मृत्यु की पक्की भविष्यवाणी की थी।"—मैंने कहा।

"हाँ! ठीक समझा आपने। मगर उसके बाद मेरी सिद्धि में कमी आ गयी। मृत्यु का भविष्य जानते हुए भी उसे नहीं बतलाना चाहिये। क्योंकि इससे पुण्यक्षय होता है और साधना, सिद्धि, विद्या, सब कुछ मलिन हो जाती है। ऐसा ही मेरे साथ भी हुआ। खैर! मैंने पिशाचिनी सिद्ध करना चाहा।"

"पिशाचिनी क्या होती है?" मैंने पूछा।

"बड़ी भयंकर तामसिक शक्तिसम्पन्न प्राणी है पिशाचिनी। अगर सिद्ध हो जाय, कब्जे में आ जाय, तो समझिये तंत्र-मंत्र, ज्योतिष, जड़ी-बूटी, रस-रसायन आदि सभी के रहस्यों का दरवाजा खुल गया आपके लिए। मगर इसके लिए मुझे भैरवी की आवश्यकता पड़ी। बिना भैरवी के ऐसी साधना में प्राण जाने का भय रहता है। भैरवी साधक की रक्षा करती है और इसके अलावा शक्ति का माध्यम भी होती है। उसके अभाव में सिद्धि अधिक समय तक ठहरती भी तो नहीं।

"मेरा एक शिष्य था"—पान की पीक निकालते हुए भिषग्रत्न महाशय बोले—"नाम था वीरेन्द्रनाथ घोष। घोष की एक बड़ी बहन थी श्यामला। शादी नहीं हुई थी उसकी। आयु अधिक हो गयी थी, शादी का प्रश्न ही नहीं था। घोष ने श्यामला को इसके लिए सहर्ष मुझे दे दिया। श्यामला भी तैयार हो गयी भैरवी के लिए। उसमें भैरवी के सभी गुण और सभी लक्षण थे।

"साधना के लिए शान्त, एकान्त और अनुकूल स्थान की आवश्यकता थी। इस दृष्टि से पंचमढ़ी चला आया मैं पत्नी को लेकर। यहाँ मकान बनवाया मैंने, क्योंकि कलकत्ता हमेशा के लिए छोड़ आया था। फिर कलकत्ता में रखा ही क्या था मेरे लिए।

"जैसा कि मैंने कहा—श्यामला साधना के योग्य थी। गौर वर्ण, पुष्ट अंग, उन्नत वक्ष, मुक्त केश, बड़े-बड़े नेत्र, रक्ताभ होंठ, चौड़ा ललाट और मधुर वाणी, सब कुछ तो था श्यामला में। दीपावली की महानिशा पूजा के समय गुह्य दीक्षा देकर श्यामला को अपनी भैरवी बना लिया मैंने। मगर बन्धु! उसे भैरवी बनाने के बावजूद सिद्धि मेरे हाथ से निकल ही गयी।"

"वह कैसे?" मैंने सहज भाव से पूछा।

"पिशाचिनी के सिद्ध होने पर श्यामला के शरीर में उसे आवाहन किया"—भिषग्रत्न महाशय थोड़ा विषण्ण भाव से बोले—"दीपावली की ही काली अँधेरी रात थी। मैं इसी कमरे में बैठा साधना कर रहा था। मेरे सामने पद्मासन की मुद्रा में श्यामला बैठी हुई थी आँखें बन्द किये, निर्विकार भाव से। तभी कमरे की जमीन फोड़कर एक समूचा नरकंकाल बाहर निकला और मेरे करीब आकर भिनभिनाते स्वर में कहने लगा—दूर हो जा दूर हो जा···। फिर वह मेरे चारों ओर चक्कर लगाने लगा। मैं बेहद डर गया। मगर यह भी जानता था कि एक बार भी अनियन्त्रित हुआ तो सर्वस्व नाश। फिर जान की खैर नहीं। हमेशा के लिए छुट्टी हो जायेगी। मैं प्राण-पण से चिल्लाकर बोला—'मैं नहीं जाऊँगा, नहीं उठूँगा···तू क्या कर लेगा मेरा ?'

"कमरे में चौमुखा दीप जल रहा था। उसीकी मद्धिम रोशनी में मेरी दृष्टि श्यामला पर पड़ी। मैंने देखा, उसका सारा शरीर जोर-जोर से काँप रहा था। आँखें भी लाल हो रही थीं। निश्चय ही उसकी काया में पिशाचिनी का प्रवेश हो गया था उस समय। फिर विचित्र स्वर में बोली—'बन्द करो अपनी साधना' अनर्थ हो जायेगा··· बन्द करो······।' श्यामला का स्वर विचित्र तो था ही। इसके अलावा रहस्यमय भी लगा मुझे। समझ में नहीं आया कुछ। मुँह बाये श्यामला के अकल्पनीय रौद्र रूप को देखता रहा और तभी चारों ओर चक्कर लगा रहे उस नरकंकाल ने आगे बढ़कर अपनी अस्थिमय उँगलियों से मेरी गर्दन कसकर पकड़ ली। उफ्, कितनी भयंकर थी वह अमानवीय पकड़। मानो लोहे की सँड़सी से मेरी गर्दन दबा दी गयी हो। मैंने छूटने की काफी कोशिश की, किन्तु उस वज्र जैसे हाथ से छूट जाना असम्भव था। मेरी साँस बन्द होने लगी। छाती असहनीय पीड़ा से एकबारगी कड़कड़ा उठी। ऐसा लगा, मानो मेरी नस-नस फटती जा रही है। एक बूँद हवा के लिए तड़फड़ाने लगा मैं। हवा मेरे चारों ओर थी, किन्तु मैं एक बार भी साँस न ले पाया यही नहीं, सँड़सी जैसी वह भयानक पकड़ मेरी गर्दन पर और भी मजबूत होती गयी।"

"फिर क्या हुआ ?" मैंने साँस रोककर पूछा।

"फिर······" हो-हो कर हँसने लगे—भिषग्रत्न महाशय।

"फिर जो होना था वही हुआ।"

"क्या हुआ ?" व्यग्रता से पूछा मैंने।

"तभी से पंचमढ़ी के इस एकान्त निर्जन स्थान में निवास करते हुए पूरे ग्यारह वर्ष हो गये मुझे। न कोई झंझट और न कोई परेशानी। इस स्थान से, इस मकान से जैसे मोह हो गया है मुझे। चाहकर भी छोड़ नहीं पाता हूँ मैं। लेकिन सबसे बड़ा जो दारुण कष्ट था—वह पाप दूर हो गया।"

"कौन-सा था दारुण कष्ट ?"

"किसीको अपनी कथा सुनाने का विचार और वह आपके द्वारा पूरा हो गया। शायद इसीलिए आपका यहाँ आना हुआ था ?"

"म······ म ·· मगर आपको मुक्ति कैसे मिली ?" बोलते हुए अज्ञात आशंका से मेरी आवाज जैसे काँप उठी।

"मुक्ति कहाँ मिली बन्धु !" भर्राये स्वर में भिषग्रत्न महोदय बोले—"जब आँख खुली तो देखा कि इसी कमरे में मेरा शरीर निश्चेष्ट पड़ा हुआ है—और उसके सिरहाने खड़ा हूँ मैं। नरकंकाल का कहीं अता-पता नहीं था। वह मुझे कहीं दिखलाई नहीं दिया। शायद उसका काम पूरा हो चुका था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सब कुछ एकबारगी शान्त हो चुका था।"

"श्यामला का क्या हुआ ? वह कहाँ गयी ?"

"जायेगी बेचारी कहाँ ? वह भी मेरे साथ है, इसी मकान में।"

"मगर वह मुझे दिखाई नहीं पड़ी।"

"बुलाने पर ही आती है, वैसे नहीं।"

यह सब सुनकर भी मुझे वास्तविक रहस्य जानने-समझने में दो-एक मिनट का समय लग ही गया। बोलते समय मेरी जीभ लटपटा गयी—"इसका मतलब क्या है ? क्या आप यह कहना चाहते हैं कि आप और श्यामला उस समय मर चुके थे। क्या आप सब······।"

प्रश्न का शेष अंश एक आकस्मिक आर्तनाद के रूप में बदल गया। ये प्रश्न मैं किससे पूछ रहा था ? कोई भी तो नहीं था मेरे सामने। न भिषग्रत्न महाशय थे और न तो उनकी पत्नी कृष्णप्रिया। बस, अकेला मैं ही बैठा था उस सुनसान कमरे में। मकान में मेरे सिवा और कोई नहीं था। कमरे में सारी चीजें यथावत् रखी हुई थीं। लालटेन भी उसी तरह धुआँ फेंकती हुई जल रही थी। केवल अभी तक पलथी मार-कर सामने बैठे हुए भिषग्रत्न महाशय—जो अपनी कथा सुना रहे थे—नहीं थे और न तो थी उनकी पत्नी ही। व्याकुल होकर इधर-उधर सिर घुमा-घुमाकर मैं देखते हुए बार-बार यही सोचता रहा कि यह सब क्या था ? मगर उस समय मेरी बात का जवाब देता भला कौन ? कौन था वहाँ ? कुछ क्षण बाद अचानक मेरे मस्तिष्क में मूल प्रश्न पुनः उभर आया ··तो क्या ? ये दोनों पति-पत्नी मनुष्य नहीं थे ? दोनों की अशरीरी देहरहित आत्मा उपस्थित थी अब तक मेरे सामने—जो अपनी एक प्रबल इच्छा को पूरी करने के लिए पिछले ग्यारह वर्षों से भटक रही थी इस मकान में। क्या उनको इस दारुण कष्ट से मुक्ति मिल गयी, जिसकी चर्चा अभी-अभी की थी उन्होंने ?

अचानक मेरी नजर दरवाजे की ओर उठ गयी। देखा, वहाँ एक अपरिचित युवती खड़ी मुझे अपनी भरी-भरी आँखों से निहार रही थी अपलक। उसकी आयु तीस-पैंतीस के लगभग रही होगी। उसके चेहरे पर वेदना, पीड़ा और दुःख का मिला-जुला भाव था। आँखों में भी गहरी उदासी थी।

मैं कुछ पूछूँ कि उसके पहले ही वह युवती भर्राये स्वर में बोली—"मैं श्यामला हूँ। मेरा नाम श्यामला है।" हाँ, वह श्यामला ही थी। जो रूप, रंग और हुलिया मुझे भिषग्रत्न महाशय ने बतलायी थी, बिल्कुल वैसा ही रूप-रंग था, वैसी ही थी हुलिया भी उसकी। कहीं कोई वैषम्य नहीं था।

"कहिये! क्या कहना चाहती हैं आप?"

"अपनी कथा सुनाने की इच्छा की पूर्ति कर भिषग्रत्न महाशय अपनी पत्नी के साथ तो मुक्त हो गये। मगर मेरा क्या होगा? मेरी कैसे होगी इस बन्धन से मुक्ति?"

इतना कहने के बाद श्यामला का गला भर आया। थोड़ा रुककर उसी भरे गले से वह आगे बोली—"आप मेरी कुछ सहायता करेंगे?•• •• बोलिये••••••।"

"क्यों नहीं करूँगा। कहिये, कैसी सहायता चाहिए आपको?" न जाने किस आवेश में बोल गया मैं, समझ में नहीं आया।

"आप मुझे अपने साथ काशी ले चलेंगे?"

"काशी•• •• काशी जाकर क्या करेंगी आप?"

"वहाँ मेरे मन को और मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी।"

स्वीकृति से सिर हिलाकर मैंने कहा—"ठीक है।"

और उस 'ठीक है' के साथ ही मुर्दे की सड़ान्ध से भर गया मेरा नासापुट। और दूसरे ही क्षण चारों ओर से समवेत स्वर में हुआ-हुआ करते हुए दर्जनों सियार कमरे के भीतर आकर इकट्ठे हो गये। भय और आतंक के मिले-जुले भाव से भर गया मेरा मन। किसी अनजानी आशंका से अवसन्न हो गया मेरा चित्त। मैं कुछ सोचूँ-समझूँ कि तभी भक् से बुझ गयी जलती हुई लालटेन और चारों तरफ गहरा अँधेरा फैल गया। फिर रुका न गया मुझसे। किसी प्रकार गिरता-पड़ता वहाँ से भागा मैं।

कलकत्ता लौटकर मैंने जब सारी कथा राखालबाबू को सुनायी तो वे एकबारगी स्तब्ध रह गये। पहले तो उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ। वे अभी तक यही समझ रहे थे कि भिषग्रत्न महाशय जीवित हैं और तभी तो उन्होंने मुझे पंचमढ़ी भेजा था।

रहस्यमय तवांग मठ

अरुणाचल प्रदेश का एक छोटा-सा कस्बा 'तवांग', जिसे कभी भी भूल न सकूँगा मैं। चारों ओर पहाड़ों से घिरा हुआ— प्राकृतिक सुषमाओं और अपूर्व मनोहारी छटाओं से भरपूर 'कामेंग' जिला के एक पर्वतीय सुरम्य घाटी की गोद में छिपा हुआ है—तवांग ! ऊँचाई होगी यही लगभग १० हजार फुट।

सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त नाजुक स्थान है तवांग। उससे कुछ ही मील के फासले पर वह स्थान स्थित है—जहाँ भारत, भूटान और तिब्बत की सीमारेखाएँ आपस में मिलती हैं। 'तवांग' पहुँचने के लिए—उस पहाड़ी सड़क से गुजरना पड़ता है जो तेजपुर से शुरू होकर १४००० फुट की ऊँचाई पर सेला दर्रे से गुजरती हुई वहाँ जाती है। यहाँ के स्थानीय निवासी मोम्पा लोग बौद्ध हैं। इन्हें छोड़कर हमारे देश में बहुत ही कम लोग होंगे जिन्होंने 'तवांग' को देखा होगा। अरुणाचल प्रदेश के ऐसे अग्रिम क्षेत्रों में प्रवेश एक 'इनर लाइन परमिट' द्वारा नियन्त्रित रहता है। 'इनर लाइन' वह रेखा है—जिसके आगे किसी भी उस व्यक्ति को जाने की अनुमति नहीं दी जाती—जिसका अरुणाचल प्रदेश में कोई काम नहीं होता।

'तवांग' का नाम संसार के अखबारों में कई बार आ चुका है। पहला अवसर १९५९ में उस समय आया था जब दलाई लामा अपना पीछा करनेवाले चीनियों को चकमा देकर तिब्बत से भाग निकले थे। दलाई लामा ने भारत-तिब्बत सीमा पार करने के बाद तवांग में रुककर विश्राम किया था। उनके यहाँ पहुँचने पर ही संसार को इस घटना का पता चला था।

दूसरी बार तवांग का नाम अक्टूबर १९६२ में चर्चित हुआ था। यह पहला बड़ा कस्बा था, जो चीनियों के अधिकार में चला गया था चीन-भारत-युद्ध में। तवांग पर चीनी अधिकार होने के बाद ही संसार को भारत पर चीनी हमले की गम्भीरता का अनुभव हुआ था।

तवांग अपने विशाल मठ के लिए प्रसिद्ध है। यह मठ पहाड़ की एक चोटी पर स्थित है। उसे चारों ओर मीलों दूर से देखा जा सकता है। इस विशाल बौद्ध मठ को स्थानीय भाषा में 'गोम्पा' कहते हैं। यह मठ ५०० वर्ष पुराना है और पहली नजर में ही ल्हासा के प्रसिद्ध 'पटोला' की याद दिलाता है। वास्तव में पटोला के बाद यह संसार का दूसरा सबसे विशाल मठ है। इसका ढाँचा भी वैसा ही है। इसकी चहारदीवारी के भीतर अनेक घर, दुकानें तथा साधना-स्थल हैं—जहाँ ३०० लामा रहते हैं।

सन् १९६२ में जब 'तवांग' का नाम मैंने अखबार में पढ़ा तो मुझे अचानक लामा युत्सुंग का निमन्त्रण याद आ गया—जिसे उन्होंने लगभग १३-१४ वर्ष पूर्व दिया था कलकत्ता में। निमन्त्रण की याद आते ही व्यग्र हो उठा मैं तवांग जाने के लिए। भारत-चीन-युद्ध समाप्त हो चुका था। किसी बात का भय नहीं था। यात्रा की सारी व्यवस्था कर दूसरे सप्ताह रवाना हो गया मैं तवांग के लिए।

बनारस से गौहाटी, गौहाटी से तिनसुकिया और तिनसुकिया से रागिया। पूरे पाँच दिन की रेलयात्रा। सारा शरीर और मस्तिष्क क्लान्त और अवसन्न-सा हो गया था मेरा। रागिया पहुँचने पर पता चला कि तेजपुर वहाँ से लगभग १०० मील है। ५ बजे सबेरे पैसेंजर ट्रेन मिली। पहाड़ी ऊँचाई, अत्यन्त मन्दगति। अपराह्न ४ बजे के लगभग पहुँचा मैं तेजपुर। छोटा-सा स्टेशन। एक ही बड़े से कमरे में बुकिंग आफिस, गोदाम और स्टेशन मास्टर का निवास।

अरुणाचल में सूरज दो घण्टा पहले ही अस्त हो जाता है और उसके अस्त होते ही गहरा काला अन्धकार फैल जाता है जमीन पर।

स्टेशन मास्टर बंगाली थे, अत्यन्त सज्जन और विनम्र। काशी का निवासी हूँ—यह सुनकर अतिप्रसन्न हुए महाशय। तुरन्त मेरी व्यवस्था कर दी रात्रि में ठहरने के लिए। दूसरे दिन जीप से रवाना हो गया तवांग के लिए। पूरे बारह घण्टे की कठिन यात्रा के बाद तवांग पहुँचा मैं। कस्बे से मठ जाने के लिए जो सँकरा पहाड़ी रास्ता था—वह अत्यन्त दुर्गम था। इसलिए रात्रि कस्बे में ही व्यतीत करनी पड़ी। सबेरे एक लामा से परिचय हो गया। वह भी मठ जानेवाला था। उसीके साथ मैं भी चल पड़ा।

रास्ते में बातचीत का सिलसिला शुरू हुआ। लामा का नाम था युंगछेन। उसने बड़ी विनम्रता से पूछा – "क्या आप पहली बार तवांग आये हैं?"

मैंने स्वीकृति से सिर हिलाते हुए कहा—"जी हाँ। पहली ही बार आना हुआ है मेरा। बड़ी ही शान्ति और सौम्यता का अनुभव हो रहा है मुझे यहाँ। वैसे मैंने हिमालय के अनेक दुर्गम स्थानों की यात्रा की है, तिब्बत भी गया हूँ, लेकिन ऐसी शान्ति और ऐसी सौम्यता कहीं नहीं मिली मुझे।"

मेरी बात सुनकर लामा युंगछेन बोले—"यहाँ जीवन की गति दूसरे ढंग की है—खामोश और मन्द।"

लामा युत्सुंग के गुरु तीन दिन की समाधि में थे। युत्सुंग उनकी देखरेख में थे। इसलिए तुरन्त उनसे मेरी भेंट न हो सकी। लामा युंगछेन ने ही मेरे लिए आवश्यक व्यवस्था की। उनके साथ दो दिन घूमकर मैंने सारा मठ देख डाला। उस विशाल भवन के हर भाग के ऐतिहासिक व पौराणिक कथा पर प्रकाश डालते हुए मेरा ज्ञान बढ़ाते रहे वह। अन्त में वे मुझे एक विशाल कक्ष में ले गये। मैंने देखा कि संसार में जितने

भी विषय हैं—उनमें से प्रत्येक पर वहाँ पुस्तकें थीं। गणित से लेकर दर्शनशास्त्र, जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र से लेकर सैनिक इतिहास तक की पुस्तकें वहाँ उस कक्ष में मौजूद थीं।

× × ×

तीसरे दिन लामा युत्संग से मेरी भेंट हुई। मुझे अचानक देखकर घोर आश्चर्य हुआ उन्हें। प्रसन्न भी कम नहीं हुए। मैंने उन्हें उनके निमन्त्रण की याद दिलायी। सुनकर हँसने लगे महाशय।

सागौन और चीड़ की लकड़ी का बना लामा युत्संग का कक्ष काफी सुन्दर था। सारी आवश्यक सुख-सुविधाएँ उस कक्ष में थीं। पुस्तकें भी कम नहीं थीं। चाइनीज और तिब्बती भाषा में लिखित तन्त्र-मन्त्र और योग की पुस्तकों की जैसे भरमार थी वहाँ।

लामा युत्संग की अवस्था ६० वर्ष के लगभग थी। १० वर्ष की अवस्था में शिक्षा-दीक्षा और साधना के लिए तवांग आये थे वह। उनके गुरु का नाम था—लाम्पाछेन। उनकी आयु बहुत थी, कम-से-कम ४०० वर्ष। योग-तन्त्र की कई गरिमामयी विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त थीं उन्हें। वे साल में एक बार बौद्ध पूर्णिमा की रात्रि में अपने सूक्ष्म शरीर से आकाश-मार्ग द्वारा तिब्बत स्थित चकोरी मठ में जाया करते थे। चकोरी मठ तिब्बत के उन गुप्त और रहस्यमय मठों में है-जिनका अगोचर सम्बन्ध दैवी राज्य से है।

"क्या आपके गुरुदेव का दर्शन सम्भव है ?" मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा युत्संग बोले—"गुरुदेव से आज्ञा लेनी होगी।"

मठ के नीचे एक छोटा-सा तलघर था, जहाँ से एक सुरंगनुमा मार्ग किसी अज्ञात स्थान तक गया हुआ था। वह मार्ग काफी लम्बा था, लगभग २-३ कि० मी० लम्बा। लामा युत्संग मुझे उसी गुप्त मार्ग से उस अज्ञात और रहस्यमय स्थान पर ले गये। वह स्थान एक विशाल गर्भगृह था, जिसमें प्रवेश करते ही मेरी प्राणशक्ति एकाएक बढ़ गयी। मन भी प्रफुल्ल हो उठा।

मैंने देखा—उस गर्भगृह में कई छोटी-छोटी वेदियाँ बनी हुई थीं पत्थर की, जिन पर ध्यान की मुद्रा में सिर झुकाये साधकगण बैठे हुए थे। लगा, जैसे वे हाड़-मांस के नहीं—पत्थर के बने हों। वातावरण में गहरी शान्ति थी। विचित्र-सी निस्तब्धता थी। चारों ओर हल्का-हल्का-सा उषाकाल जैसा प्रकाश फैल रहा था। वह प्रकाश कहाँ से आ रहा था—समझ में नहीं आया।

लामा युत्संग बोले—"यह साधना-स्थल अत्यन्त गुप्त है। जो अधिकारी नहीं हैं—उनके लिए यहाँ प्रवेश पूर्णतया वर्जित है। गुरुदेव का संकेत न प्राप्त हुआ होता तो आपको मैं यहाँ कदापि न लाता।"

"क्या गुरुदेव ने अपने दर्शन की अनुमति दे दी है ?"—मैंने उत्सुक होकर पूछा।

"हाँ ! दे दी है।" फिर थोड़ा रुककर लामा युत्सुंग आगे बोले—"आप जिन लोगों को यहाँ पाषाण-वेदी पर समाधिस्थ बैठे हुए देख रहे हैं—वे लोग एक प्रकार से मृत हैं। जीवन के लक्षण किसीमें नहीं हैं। इस अवस्था में कोई ५० वर्ष से बैठा है तो कोई १०० वर्ष से। किसी-किसीको तो बैठे हुए २०० वर्ष से भी अधिक हो गये।"

यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे। मैंने सिर घुमाकर मृतवत् बैठे उन साधकों की ओर देखा—और आश्चर्य हुआ मुझे। सभी के चेहरे पर एक विशेष प्रकार का तेज था और थी एक विशेष प्रकार की शान्ति भी। कोई भी नहीं कह सकता था कि वे लोग मृत हैं। मैंने आगे बढ़कर एक साधक के शरीर का स्पर्श किया, देखा—बर्फ की तरह शीतल था शरीर। तब विश्वास करना पड़ा मुझे।

लामा युत्सुंग ने बतलाया—"इन सभी लोगों को समाधि की विशेष अवस्था उपलब्ध है। स्थूल शरीर की अपनी एक मर्यादा है और है एक सीमा। उस मर्यादा और उस सीमा में बँधकर साधना के उच्चतम शिखर का स्पर्श नहीं किया जा सकता। इसलिए विशेष अवस्था उपलब्ध इस प्रकार के साधकगण अपने सूक्ष्म शरीर का उपयोग करते हैं। क्योंकि सूक्ष्म शरीर को न कोई मर्यादा है और न तो है कोई सीमा। अब इन्हीं लोगों को लीजिये। इनमें से जिनका शरीर यहाँ ५० वर्षों से सुरक्षित है—वे अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा अन्यत्र कहीं संचरण-विचरण कर रहे होंगे। ऐसे लोग पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य किसी लोक-लोकान्तर में भी बिना किसी बाधा के गमन कर सकने में समर्थ होते हैं। जो लोग ५० वर्ष से अधिक समय से यहाँ समाधिस्थ हैं—उनमें से कुछ जन्म और मृत्यु की यातना से बचने के लिए 'परकाया-प्रवेश' द्वारा किसीके स्वस्थ शरीर के माध्यम से साधना कर रहे होंगे। कुछ ऐसे भी हैं जो परकाया-प्रवेश के झंझट में न पड़कर—साधना के लिए संसार में जन्म ग्रहण कर नवीन शरीर कई बार उपलब्ध किये होंगे। जब उनका लक्ष्य सिद्ध हो जायेगा तो पुनः अपने इस शरीर में प्रवेश कर पुनर्जीवित हो उठेंगे।"

"जब परकाया-प्रवेश द्वारा नवीन स्वस्थ शरीर प्राप्त कर सकते हैं और गर्भ में प्रवेश कर नया जन्म उपलब्ध कर सकते हैं—तो इस अवस्था में अपने पूर्वशरीर में पुनर्जीवित होने की क्या आवश्यकता है इन लोगों को ?" मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा युत्सुंग बोले—"इसलिये कि यह शरीर 'दीक्षा-शरीर' है। गुरु ने विशेष यौगिक क्रिया द्वारा इसे शुद्ध किया है। साधना की दृष्टि से भी इसका भारी महत्त्व है। निर्वाण, कैवल्य, मोक्ष आदि जो कुछ भी है—वह इसी दीक्षित और शुद्ध शरीर द्वारा ही सम्भव है। भले ही साधक को साधना के लिए इससे सुन्दर, स्वस्थ युवा शरीर किसी भी माध्यम से उपलब्ध हो जाय। मगर इस दृष्टि से उसका न कोई मूल्य है और न तो है महत्त्व। समझ गये न आप ?" और फिर उन्होंने सामने पाषाण-वेदी पर समाधिस्थ बैठी

हुई एक साधिका की ओर संकेत करते हुए कहा—"आपको ज्ञात होना चाहिए कि यह साधिका अब तक तीन बार जन्म ले चुकी है संसार में अपनी साधना की पूर्णता के लिए।"

"ऐं, क्या कहा आपने?" मैं चौंककर आश्चर्य के भाव से बोला।

"मैं ठीक कह रहा हूँ। मैं यहाँ के प्रायः सभी साधकों की गतिविधि से परिचित हूँ। इस साधिका के पहले जन्म का विवरण तो मैं नहीं जानता, लेकिन बाद के दो जन्मों के विवरण से थोड़ा-बहुत परिचित हूँ मैं।"

"क्या आप मुझे बतलायेंगे?"

"क्यों नहीं?" लामा युत्सुंग बोले—"दूसरी बार इस साधिका ने शोभा के रूप में जन्म लिया था बंगाल के एक बंगदेशीय परिवार में। १६ वर्ष की अल्पायु में पूर्व-संस्कार के फलस्वरूप ब्रह्मज्ञान उपलब्ध होने पर उस शरीर में पूरे ४५ वर्ष तक साधना की थी इन्होंने।

"तीसरी बार भी इस साधिका ने अभी दो वर्ष पूर्व ही बंगाल के एक बंगदेशीय परिवार में जन्म लिया है। ठीक से नामकरण न होने के कारण उसका नाम नहीं बतला सकता मैं। मगर यह अवश्य जानता हूँ कि अब इसके बाद यह साधिका कोई नया शरीर धारण नहीं करेगी। तीसरे शरीर का त्याग होने पर पुनः अपने इस दीक्षित शरीर में पुनर्जीवित हो उठेगी।"

यह सब सुनकर एकबारगी कुछ कौंध-सा गया मेरे मस्तिष्क में। सोचने लगा—लामा युत्सुंग ने जिस शोभा की चर्चा की है, वह कहीं, वही शोभा माँ तो नहीं है—जो १२-१४ वर्ष पूर्व काशी आयी थीं और साधक-समाज में उच्चकोटि की साधिका के रूप में प्रसिद्ध हुई थीं और जिनसे मेरा काफी दिनों तक आध्यात्मिक सम्बन्ध जुड़ा रहा और जिन्होंने महासमाधि ग्रहण करने के पूर्व मुझसे कहा था—"जिस साधना-मार्ग की धूल पर तुम्हारे चरण-चिह्न अंकित हो रहे हैं उसमें पूर्ण सफलता योग्य नारी के सहयोग से ही सम्भव है। अभी मेरी भी तो साधना पूर्ण नहीं हुई है। इसके लिए मुझे पुनः शरीर स्वीकार करना पड़ेगा अतिशीघ्र / शोक करने की आवश्यकता नहीं, तब मैं तुम्हें भरपूर सहयोग दूँगी साधना-मार्ग में!"

"यह सब तो ठीक है। लेकिन समस्या यह है कि आपसे मेरा सम्बन्ध कैसे जुड़ेगा?"

शोभा माँ हँस पड़ीं। बोलीं—"प्रकृति की लीला अत्यन्त रहस्यमयी है। वह हम दोनों को अवश्य मिला देगी यथासमय। चिन्ता की बात नहीं।"·········और फिर

एक प्रौढ़ गौरांग बंगदेशीय महिला का साधना से दप्-दप् करता चेहरा मेरे मानस-पटल पर घूम गया एकबारगी। वह तेजोमय चेहरा और किसीका नहीं, शोभा माँ का था।

× × ×

कहने की आवश्यकता नहीं, लगभग २० वर्ष बाद सन् १९८१-८२ में शशिमुखी के रूप में उत्पन्न हुई शोभा माँ से अचानक मेरा आध्यात्मिक-सम्बन्ध जुड़ गया अगोचर रूप से—जो अभी तक बना हुआ है। शशिमुखी में वे सभी साधना-तत्त्व विद्यमान हैं—जो कभी शोभा माँ में थे। दुःख इस बात का है कि अधिक समय तक इस शरीर में वह नहीं रह सकेंगी। साधना पूर्ण होते ही अपनी निज काया को स्वीकार कर लेंगी वह।

× × ×

उस लम्बे-चौड़े गर्भगृह के नीचे एक और गर्भगृह था। वहाँ जाने के लिए सँकरी सीढ़ियाँ थीं। लामा युत्सुंग के गुरु और तवांग मठ को अदृश्य रूप से संचालित करनेवाले लाम्पाछेन का साधना-कक्ष था वह।

लामा युत्सुंग ने बतलाया कि गुरुदेव की आयु कितनी है यह बतलाया नहीं जा सकता। लेकिन इतना अवश्य बतलाया जा सकता है कि पिछले ४०० वर्षों से वे अपने साधना-कक्ष में हैं। जो लोग गुप्त रूप से और रहस्यमय ढंग से साधनारत हैं—भले ही वे मठ में हों या मठ के बाहर अन्यत्र कहीं हों—उन्हें अपने सूक्ष्म शरीर, मनोमय शरीर और आत्मशरीर द्वारा बराबर साधना-मार्ग में निर्देशित करते रहते हैं वह। शिष्य-गण भी बराबर उनसे अगोचर रूप से सम्पर्क बनाये रखते हैं।

मेरे यह पूछने पर कि शोभा माँ ने अभी-अभी जन्म लिया है—उन्हें भी आपके गुरुदेव साधना-निर्देश देंगे—तो लामा युत्सुंग ने जवाब दिया—"क्यों नहीं ? साधक हो या हो साधिका—वह किसी भी रूप में और किसी भी अवस्था में किसी भी स्थान पर हो—गुरुदेव स्वयं उससे सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं और साधना-निर्देश प्रदान करते हैं।"

एक सिद्ध लामा योगी का दर्शन

"अब आइये गुरुदेव का दर्शन करायें आपको"—लामा युत्सुंग आगे बढ़ते हुए बोले। मैं उनके पीछे हो लिया। अँधेरे में डूबी हुई सँकरी सीढ़ियाँ उतरकर नीचे पहुँचा। सीढ़ी के बगल में एक छोटा-सा कमरा था—पत्थर की दीवार—पत्थर का फर्श—और पत्थर की छत—भीतर भयंकर शीत। सारा शरीर काँपने लगा ठंड से।

उस छोटे-से कमरे के बीच में एक वेदी थी स्फटिक की। उसी पर पद्मासन की मुद्रा में अर्धसमाधिस्थ बैठे हुए थे महान् सिद्ध योगी लामा लाम्पाछेन। सम्पूर्ण शरीर नरकंकाल जैसा, लेकिन चेहरे पर असीम अलौकिक तेज था। शरीर के चारों ओर नीले और पीले रंग का प्रभा-मण्डल था—जिसका हलका प्रकाश कमरे में चारों ओर

फैल रहा था। मैंने ध्यान से देखा—पूरी काया पारदर्शक थी उस महात्मा की। नस-नाड़ियों मे रक्त और प्राण का प्रवाह बिल्कुल स्पष्ट दिखलाई दे रहा था। हृदय की धड़कन और चेतना की क्रियाशीलता भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी। महात्मा के सिर की जटाएँ पीठ पर से होती हुई पूरे फर्श पर फैली हुई थीं। कमरे के वातावरण में एक हल्की-हल्की-सी सुगन्ध भी थी—जो मेरे मन-प्राण को सम्मोहित किये दे रही थी। वह कैसी सुगन्ध थी—बतला नहीं सकूँगा मैं।

काफी देर तक उस महान् आत्मा के सामने खड़ा रहा मैं। और उस महात्मा की अभय मुद्रा मानों मुझे सान्त्वना देती रही और अधमुँदी आँखें—जिन्होंने संसार के दुःख की तह को पा लिया था, जीवन के सारे रहस्यों से परिचित हो चुकी थी, मुझसे बहुत कुछ कहती रहीं—और मुझे ऐसा महसूस हुआ कि वे पपड़ी पड़े सूखे होंठ—मेरी ओर देखकर मुस्करा रहे हैं—मानों कह रहे हों ऐ! सत्य की खोज में भटकने वाले—जिस मार्ग पर तुम चल रहे हो उससे हम भलीभाँति परिचित हैं। क्योंकि यही हमारा मार्ग था। पर आज उस मार्ग पर कौन चलता है? तुम्हारा पथ भी तो सूना पड़ा है। हमारे-तुम्हारे मार्ग की धूल पर तो शताब्दियों के बाद किसी भूले-भटके के पद-चिह्न मिलते हैं।

मेरी आत्मा ने अपनी वाणी में, अपनी भाषा में कहा—मुझे शक्ति दीजिये, मुझे शान्ति दीजिये शाक्य मुनि के अनुयायी। संसार के रहस्यों से परिचित होना चाहता हूँ प्रभु! भौतिक बन्धनों से मुक्त होना चाहता हूँ भगवन्! अपने लक्ष्य की सिद्धि में सफलता प्राप्त करना चाहता हूँ महात्मन्! और पाषाण-वेदी पर पाषाणवत् बैठे हुए उस महान् योगी के होठों ने बिना हिले और बिना खुले कहा—"तुम्हारी तरह इस संसार में न जाने कितने लोग आये और जब वापस लौटे तो हताश-निराश ही लौटे। तुम्हें बस अपना कर्म करते रहना चाहिए। अपने-आप सब कुछ प्राप्त हो जायेगा ……।"

× × ×

सूक्ष्म शरीर की रचना और उसकी शक्ति

पूरा एक मास रहा मैं तवांग मठ में और इस अवधि में लामा युत्सुंग और मठ के अन्य लामाओं से बौद्ध योग, तन्त्र, मन्त्र, काला जादू, मैली विद्या आदि के अतिरिक्त धर्म और दर्शन पर विस्तार से चर्चा हुई।

लामा युत्सुंग योगी थे इसमें सन्देह नहीं। उनके ज्ञान का भण्डार भी विशाल था। उनका कहना था कि साधना-भूमि में सूक्ष्म शरीर का उपयोग और महत्त्व है, स्थूल शरीर का नहीं। वह तो सूक्ष्म शरीर के ऊपर एक आवरण की तरह है। लेकिन दोनों शरीर दूध और पानी के समान इस प्रकार मिले हुए होते हैं कि उनके अस्तित्व का अलग-अलग बोध करना साधारण रूप से सम्भव नहीं। क्योंकि स्थूल शरीर से हमारा तादात्म्य इतना गहरा है कि 'मैं' और 'स्थूल शरीर' में पृथक्त्व का बोध नहीं होता।

दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। जिस समय दोनों में पृथक्त्व का बोध होगा, दोनों के अस्तित्व अलग-अलग प्रतीत होंगे उसी समय हमें सूक्ष्म शरीर का बोध होगा और उसके अस्तित्व का भी अनुभव होगा। यह बोध और यह अनुभव होते ही हम सूक्ष्म शरीर में जीना शुरू कर देंगे। तब हमें पहली बार स्थूल शरीर की निरर्थकता और व्यर्थता का पता चलेगा और साथ ही सूक्ष्म शरीर के मूल्य व महत्त्व का अनुभव होगा।

स्थूल शरीर की अपनी एक सीमा और मर्यादा है। लेकिन सूक्ष्म शरीर की न कोई सीमा है और न तो है कोई मर्यादा। सूक्ष्म शरीर को उपलब्ध साधक बाह्य रूप से किसी भी प्रकार की साधना, उपासना, जप, पूजा आदि नहीं करता। भले ही लोग उसे नास्तिक और अधार्मिक समझें। मगर वह ऐसा होता नहीं। उसकी सारी साधना और उपासना सूक्ष्म शरीर द्वारा सूक्ष्म जगत् में होती है। लामा युत्संग बोले—"साधना-भूमि में सूक्ष्म शरीर का मूल्य और महत्त्व तो है ही, इसके अतिरिक्त प्रकृति-विज्ञान की दृष्टि में भी कम मूल्य और महत्त्व नहीं है। इसलिए कि जन्म और मृत्यु का एकमात्र कारण 'सूक्ष्म शरीर' ही है। जब तक उसका अस्तित्व है तब तक जीवात्मा को जन्म और मृत्यु से मुक्ति नहीं। प्रकृति-विज्ञान के अनुसार समस्त दृश्य और अदृश्य जगत् सूर्य की सूक्ष्मतम रश्मि-तरंगों से बना है। इन तरंगों में तीन मुख्य तत्त्व हैं—जीवाणु-तत्त्व, शक्ति-तत्त्व और विचार-तत्त्व। आत्मा इन तीनों तत्त्वों का विशिष्ट रूप है। मृत्यु के बाद आत्मा इन्हीं तीनों तत्त्वों के बल पर अपनी स्वकीय प्रेरणा के अनुसार अपने लिए किसी भी शरीर-पदार्थ अथवा स्वरूप का निर्माण कर सकने में समर्थ होती है। वैसे तो योगानुसार शरीर तो कई हैं, लेकिन आत्मा का वाहक रूप जो स्वशरीर है—वह एकमात्र 'सूक्ष्म शरीर' ही है। वह सूक्ष्म शरीर न्यूट्रिन और एस्ट्रल के कणों से निर्मित है, जब कि स्थूल शरीर पदार्थ के सूक्ष्मतम कणों से होता है निर्मित।

"शक्ति-तत्त्व का वाहक आत्मा है और उस तत्त्व की ऊर्जा का वाहक है मन। इसी प्रकार जीवाणु-तत्त्व यानी जीवन-तत्त्व का वाहक है—एस्ट्रल कण। इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं, आकांक्षाओं, उपेक्षाओं, किये गये कर्मों, क्रियाओं, विचारों, भावों और भावनाओं के अतिरिक्त जो सोचा गया है, विचारा गया है तथा अनुभव किया गया है—उन सबके सूक्ष्मतम वैद्युतिक प्रभावों और संस्कारों का वाहक है न्यूट्रिन कण। न्यूट्रिन कण प्रकृति की अद्‌भुत देन है। वे कण अदृश्य, आवेशरहित और इतने हल्के होते हैं कि उनमें मात्रा और भार लगभग 'नहीं' के बराबर होता है। वे कण कहीं भी स्थिर नहीं रह सकते। प्रकाश की गति से सदैव चलायमान रहते हैं। कोई भी भौतिक वस्तु या पदार्थ उनकी गति में बाधक नहीं हो सकता। वे अपनी गति से अन्तरिक्ष में बिना किसी रुकावट या बाधा के कहीं भी आ-जा सकते हैं। जब उनका सम्बन्ध एस्ट्रल कणों से जुड़ता है तो वे किसी भी भौतिक वस्तु के रूप में भी परिवर्तित हो जाते हैं। कहने

की आवश्यकता नहीं, दोनों कणों से निर्मित होने के कारण सूक्ष्म शरीर में भी उनके सारे गुण, धर्म विद्यमान रहते हैं। वह भी बिना किसी बाधा या रुकावट के प्रकाश-गति से कहीं भी आ-जा सकता है। कहीं भी प्रकट हो सकता है। कोई भी रूप धारण कर सकता है। पार्थिव शरीर से अलग होकर स्वतन्त्र रूप से कही भी संचरण-विचरण भी कर सकता है।"

× × ×

"गुह्यविद्या (Occultism) के अन्तर्गत जितने भी विषय हैं, उनमें 'सूक्ष्म शरीर' भी एक विषय है। इस विषय में गुह्यविद्या का एक आश्चर्यजनक सिद्धान्त यह है कि श्रेष्ठतम मानव-शरीर यानी योग-शरीर 'थ्री डायमेन्शन ऑफ स्पेस' और 'वन डायमेन्शन ऑफ टच्यून' के सानुपातिक विप्रत्यय से आकार ग्रहण करता है। इस सिद्धान्त को भलीभाँति समझकर उसके अनुसार आचरण करने की स्थिति प्राप्त होने पर योगी अपने सूक्ष्म शरीर को किसी भी स्थान पर, किसी भी दूरी और परिणाम में प्रकट व पुनर्लय कर सकता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अखिल तथा दीर्घकालीन 'मेडीटेशन' यानी ध्यान' द्वारा स्वदेह की रक्षा हेतु ब्रह्माण्ड-रश्मियों का उपयोग किया जा सकता है। तब उस ब्रह्माण्ड-क्षेत्र—संयुक्त स्थिति में योगी जो भी संयत विचार करेगा—वही ब्रह्माण्ड-रश्मियों द्वारा 'कण्डेन्स' होकर सूक्ष्म अथवा स्थूल आकार ग्रहण कर सकेगा और उसे ज्ञात होगा कि उसका सूक्ष्म शरीर 'ब्रह्म' का एक अनन्त शक्तिमय आविष्कार है। अतः इस सर्वयोग के आचरण में आने पर सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित सभी चमत्कार उसे बच्चों के खेल प्रतीत होंगे।"

"आपका कहना है कि सूक्ष्म शरीर जन्म-मृत्यु का भी कारण है—यह मेरी समझ में नहीं आया"—मैंने कहा।

"जन्म मृत्यु का कारण तो है ही, इसके अतिरिक्त वह आवागमन से मुक्त होने का भी साधन है"—लामा युत्सुंग बोले—"स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर, और आत्मा—इनमें स्थूल शरीर संसार में रहने के लिए है। जब तक स्थूल शरीर है तब तक आपका अस्तित्व भी संसार में है। स्थूल शरीर आपको संसार में आने के लिए उपलब्ध होता है और जब आप संसार से बिदा होने लगते हैं तो वह यहीं छूट जाता है। जन्म और मृत्यु उसकी सीमा है और उसी सीमा में उसका अस्तित्व है। वह अपनी सीमा के बाहर कहीं आता-जाता नहीं। लेकिन सूक्ष्म शरीर के लिए यह बात नहीं है। वह आता है और जाता है। उसका अस्तित्व हर काल में, हर समय और हर अवस्था में बराबर बना रहता है। जहाँ तक प्रश्न आत्मा का है—वह सदा से है। स्थूल शरीर मिलता है माता-पिता की कृपा से, जबकि सूक्ष्म शरीर मिलता है पिछले जन्म से। जब तक आवागमन का चक्कर है—तब तक आत्मा और सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध अटूट है।

आत्मा गर्भ में प्रवेश करती है तो सूक्ष्म शरीर के साथ। स्थूल शरीर द्वारा जन्म लेती है तो सूक्ष्म शरीर के साथ। मृत्यु के बाद अपनी अनन्त यात्रा पर निकलती भी है तो सूक्ष्म शरीर के साथ।

"गर्भ में जब शिशु के सारे अंग-प्रत्यंग निर्मित हो जाते हैं और मस्तिष्क का भी पूर्ण विकास जब हो जाता है और उसके साथ ही साथ मस्तिष्क की समस्त कोशिकाओं का भी जब पूर्ण रूप से निर्माण हो जाता है—तब उस अवस्था में आत्मा अपने स्वशरीर के साथ गर्भ में प्रवेश करती है और प्रवेश के पश्चात् न्यूट्रिन के कण—जिनमें विचार, भाव, इच्छा, कामना, वासना आदि रहते हैं—मस्तिष्क की असंख्य कोशिकाओं में प्रवेश कर जाते हैं। उसके साथ के एस्ट्रल कण मस्तिष्क और उसकी कोशिकाओं को चैतन्य और क्रियाशील कर देते हैं।

"सूक्ष्म शरीर के एक ओर आत्मा है और दूसरी ओर है स्थूल शरीर। बीच में दोनों को मिलानेवाला है सूक्ष्म शरीर। वह सेतु का काम करता है।

"सूक्ष्म शरीर न हो तो स्थूल शरीर ग्रहण नहीं किया जा सकता। अगर सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व स्थूल शरीर की तरह नष्ट हो जाय तो आत्मा के लिए स्थूल शरीर ग्रहण करना असम्भव है। सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व के नष्ट होने पर आत्मा के लिए भौतिक जगत् में आने के लिए कोई साधन नहीं रह जाता। एक प्रकार से वह आवागमन से मुक्त हो जाती है। ऐसी ही आत्मा को विशुद्ध आत्मा कहते हैं। वही आत्मा जब तक अपने स्वशरीर के साथ रहती है तो उसे जीवात्मा कहते हैं।

"सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व का नाश होने पर एक साथ दो घटनाएँ घटती हैं—पहली यह कि गर्भ की यात्रा–स्थूल शरीर की यात्रा—आवागमन का चक्कर—समाप्त हो जाता है। दूसरी यह कि आत्मा का जीवभाव विसर्जित हो जाता है। वह विशुद्ध रूप धारण कर परमात्मा से जुड़ जाती है। परमात्मा से उसका सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आत्मा और परमात्मा के बीच की सारी सीमा मिट जाती है। वास्तव में दोनों के बीच की सबसे बड़ी बाधा एकमात्र सूक्ष्म शरीर ही है। अतः सूक्ष्म शरीर का नष्ट हो जाना—विसर्जित हो जाना ही एकमात्र योग-तान्त्रिक साधना की सबसे बड़ी उपलब्धि है।"

× × ×

शरीर से अलग होने का स्वानुभव

लामा युत्सुंग जब सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे उस समय अचानक मुझे अपने जीवन की एक घटना याद हो आयी। उन दिनों अपने मकान की छत पर बैठकर रात्रि के समय ध्यान करता था। एक दिन ध्यानावस्था में एक महात्मा के

दर्शन हुए मुझे। महात्मा ने कहा—"ध्यान में शरीर की प्रबलता बाधक है। जमीन पर बैठकर ध्यान करने से शरीर बहुत प्रबल होता है। शरीर का निर्माण होता है पृथ्वी तत्त्व से और पृथ्वी पर बैठकर ध्यान करने से शरीर की शक्ति बहुत प्रबल होती है। जो ऊँचाइयों पर, पहाड़ों पर, हिमालय में जानेवाले योगियों की चर्चा है—वह अकारण नहीं है। बहुत वैज्ञानिक है। पृथ्वी से जितनी दूरी बढ़ती है, उतना ही शरीर-तत्त्व का प्रभाव भीतर कम होता जाता है। तुम्हें वृक्ष पर बैठकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।"

दूसरे दिन मैंने एक पीपल के वृक्ष पर छोटा-सा मचान बनवाया और उसी मचान पर बैठकर ध्यान करने लगा। एक दिन ध्यान में इतना लीन हो गया—मुझे पता नहीं—और कब शरीर मचान से नीचे गिर गया—वह भी मुझे पता नहीं। जब शरीर नीचे गिर पड़ा तो चौंककर देखा कि यह क्या हो गया ?

मैं तो वृक्ष के मचान पर ही था और शरीर नीचे गिर गया—कैसा हुआ अनुभव—कहना मुश्किल है। मैं तो मचान पर ही बैठा था और मुझे दिखाई पड़ रहा था कि शरीर नीचे गिर गया है। केवल एक रजत-रज्जु (Silver chord) नाभि से मुझ तक जुड़ा हुआ था। एक अत्यन्त चमकदार शुभ्र रेखा। सब कुछ मेरी समझ के बाहर था कि अब क्या होगा ? कैसे वापस लौटूंगा ? कितनी देर तक वह अवस्था रही होगी पता नहीं—लेकिन अनुभव अपूर्व था।

शरीर के बाहर से पहली बार देखा शरीर को और शरीर उसी दिन से समाप्त हो गया। मृत्यु उसी समय से समाप्त हो गई। क्योंकि एक और शरीर दिखाई पड़ा जो शरीर से भिन्न है। एक और शरीर का—जो सूक्ष्म था—अनुभव हुआ। कितनी देर यह रहा—कहना मुश्किल है। बिल्कुल सबेरे दो औरतें दूध लेकर उधर से निकलीं और दोनों ने मेरे पड़े हुए शरीर को देखा। यह मैं सब देख रहा हूँ मचान से कि वे करीब आकर बैठ गई हैं। उन्होंने सिर पर हाथ रखा और एक क्षण में जैसे तीव्र आकर्षण से मैं वापस अपने शरीर में आ गया और आँखें खुल गयीं।

सूक्ष्म शरीर को वापस लौटाने के लिए स्त्री की आवश्यकता

एक और भी अनुभव हुआ। वह यह कि स्त्री पुरुष के शरीर में विद्युत् परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है और पुरुष स्त्री के शरीर में। मैं यह भी सोचने लगा कि उस स्त्री के स्पर्श से मेरा शरीर में वापस लौटना कैसे सम्भव हो गया ? उसके बाद तो और भी बहुत सारे अनुभव हुए। अन्त में मेरी समझ में आया कि जिन तान्त्रिकों ने समाधि पर और मृत्यु पर सर्वाधिक प्रयोग किये थे—उन्होंने क्यों स्त्रियों को भी अपने साथ बाँध लिया था। गहरी समाधि के प्रयोग में अगर शरीर के बाहर तैजस शरीर यानी सूक्ष्म शरीर चला गया तो बिना स्त्री की सहायता के पुरुष के तैजस शरीर को वापस नहीं लौटाया जा सकता है। या स्त्री का तैजस शरीर अगर बाहर चला गया तो बिना

पुरुष की सहायता के उसे वापस नहीं लौटाया जा सकता। स्त्री-पुरुष के शरीर के मिलते ही एक विद्युत् वृत्त पूरा हो जाता है और जो चेतना अथवा तैजस शरीर बाहर निकल गया है—वह तीव्रता से वापस भीतर लौट आता है। एक बार तो काफी गहरा अनुभव हुआ मुझे। ध्यानावस्था में मेरा सूक्ष्म शरीर काफी दूर निकल गया—पतंग की डोर की तरह रजतरज्जु से दोनों शरीर एक में जुड़े रहे। उस समय मेरा सूक्ष्म शरीर मानसरोवर, मान्धाता और गौरीकुण्ड के ऊपर भ्रमण कर रहा था। लेकिन वहाँ से भी मैं अपने स्थूल शरीर को बराबर देख रहा था। एक ओर तो हिमालय भ्रमण का आनन्द मुझे मिल रहा था और साथ ही दूसरी ओर मन घबरा भी रहा था कि इतनी दूर से वापस लौटना हो भी सकेगा कि नहीं। उसी समय अचानक मुझे अनुभव हुआ कि मेरी आयु २० वर्ष कम हो गयी है। मतलब कि अगर मैं ६० वर्ष जीता तो अब ४० वर्ष ही जी सकूंगा। उस समय मेरी युवावस्था थी पर यह अनुभव होते ही मुझे अपने-आपमें प्रौढ़ता का आभास होने लगा। सिर के बाल भी थोड़े पक गये।

मैंने जब इन सब बातों की चर्चा युत्सुंग से की तो वे बोले—"दोनों शरीर के बीच व्याघात पड़ जाने और तारतम्य टूट जाने के कारण ऐसा सम्भव है। जो कुछ है वह सूक्ष्म शरीर ही है। स्थूल शरीर से अलग हो जाने की अवस्था में उसमें तो किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, लेकिन स्थूल शरीर में तीव्र गति से परिवर्तन होने लगता है। ३३ वर्ष की आयु में शंकराचार्य और ३६ वर्ष की आयु में विवेकानन्द की मृत्यु का एकमात्र कारण यही परिवर्तन है। सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बीच तारतम्य टूट जाने के कारण आयु क्षय होने लगती है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अल्पायु में ही दिवंगत हो जाता है। योगी और साधकों के बीमार अथवा रुग्ण होने का भी यही एकमात्र कारण है। रामकृष्ण परमहंस का अनेक बीमारियों से घिरे रहना और 'रमण' का कैन्सर से मर जाना इसी 'कारण' की ओर संकेत करता है।

"साधना की दृष्टि से सूक्ष्म शरीर में अनेक सुविधाएँ हैं। स्थूल शरीर में वे सुविधाएँ नहीं हैं। जब वे सुविधाएँ उपलब्ध होने लगती हैं तो स्वभावतः स्थूल शरीर उपेक्षित हो जाता है। उसके पोषण की ओर से ध्यान हट जाता है। यह भी एक कारण है। लोगों की धारणा है कि योगी बहुत स्वस्थ होते हैं। लेकिन सचाई बिल्कुल उलटी है। सचाई यह है कि योगी हमेशा रुग्ण रहता है और अल्पायु में मरता है। इसका कारण केवल इतना ही है कि दोनों शरीर के बीच जो तारतम्य और तालमेल है—उसमें विघ्न पड़ जाता है। जब एक बार वह तारतम्य टूटा और उस तालमेल में विघ्न पड़ा तो सूक्ष्म शरीर पूरी तरह कभी भी स्थूल शरीर में प्रविष्ट नहीं हो पाता। लेकिन योगी के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। कोई प्रयोजन और कोई अर्थ भी नहीं रह जाता।"

योग के षट्‌चक्र और सम्बन्धित नाड़ियाँ सूक्ष्म शरीर में

लामा युत्संग ने आगे बतलाया—"योग में जिन षट्‌चक्रों और उनसे सम्बन्धित नाड़ियों की चर्चा की गयी है उनका शरीर-शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए वे चक्र स्थूल शरीर में नहीं मिलेंगे। वे जिस शरीर-शास्त्र से सम्बन्धित हैं—वह अति सूक्ष्म है। उस सूक्ष्म शरीर-शास्त्र का जो ज्ञान रखेगा वही उन चक्रों व उन केन्द्रों का पता लगा सकता है। वे कहाँ हैं और किस स्थान पर हैं—जान-समझ सकता है। वास्तव में वे चक्र, वे केन्द्र और उन सबसे सम्बन्धित नाड़ीजाल सूक्ष्म शरीर में हैं और उस सूक्ष्म शरीर का जो शास्त्र है वह भी सूक्ष्म है। इसलिए उन्हें तभी जाना-समझा जा सकता है—जब उस सूक्ष्म शास्त्र का गहराई से अध्ययन किया जाय। वास्तव में यदि सच पूछा जाय तो वे चक्र शरीरों के केन्द्र हैं—और आत्मा के सम्पर्क-स्थल हैं। सबसे बड़ा सम्पर्क-स्थल नाभि है। नाभि का जो केन्द्र है—वहाँ स्थूल शरीर से आत्मा का सम्बन्ध जुड़ता है। आप देखेंगे, जब कोई घटना अचानक घटती है अथवा सहसा कोई चिन्ता का विषय सामने आ जाता है तो नाभि पर तत्काल उसका प्रभाव पड़ता है। वह अस्त-व्यस्त हो जाती है, क्योंकि वह स्थूल शरीर और आत्मा का सम्बन्ध-क्षेत्र है।

"शरीर की अपनी एक अत्यन्त सूक्ष्म आन्तरिक व्यवस्था है। उस व्यवस्था को जानना एक बिल्कुल ही नये जगत् को जान लेना है जिसका हमें कोई पता नहीं है।"

योग-तान्त्रिक साधना में स्त्री की आवश्यकता क्यों ?

मठ में उस समय एक साधिका आयी हुई थीं। त्रिपुरा में उनका आश्रम था। अच्छी साधिका थीं वह। नाम था योगेश्वरी माँ। आसाम के एक बंगदेशीय मध्यम परिवार में उनका जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही उनमें योग-साधना के लक्षण प्रकट होने लग गये थे, जिन्हें देखकर परिवार के कुलगुरु रमापद चक्रवर्ती घोर आश्चर्य-चकित हुए थे। वे अपने पास रखकर योगेश्वरी माँ को अध्यात्म की शिक्षा देने लगे। थोड़े ही समय में योगेश्वरी माँ को अध्यात्म का गहन ज्ञान हो गया। पूर्व संस्कार के अनुसार वे लगातार कई घण्टों तक ध्यानस्थ बैठी रहती थीं। एक दिन इसी अवस्था में उनको रमापद चक्रवर्ती के गुरु भुवनमोहन गांगुली ने देखा तो एकबारगी वह स्तब्ध रह गये। गांगुली महाशय घोर तान्त्रिक थे। योगेश्वरी माँ को तन्त्र की दीक्षा दी उन्होंने और तन्त्र की गहन साधना के मार्ग पर ले चले उनको। थोड़े ही समय में योगेश्वरी माँ तन्त्र-साधना की एक विशिष्ट अवस्था को उपलब्ध हो गयीं।

"योग-तान्त्रिक साधना-भूमि में स्त्री की आवश्यकता क्यों पड़ती है ?"—मेरे इस प्रश्न के उत्तर में योगेश्वरी माँ ने बतलाया कि "अस्तित्व में चार प्रकार का आकर्षण है।

यदि यह कहा जाय कि एक ही प्रकार के आकर्षण की चार अभिव्यक्तियाँ अथवा चार प्रकार के आयाम हैं तो साधुतर होगा।

"स्त्री-पुरुष के भीतर जो जैविक ऊर्जा से उत्पन्न आकर्षण है वही आकर्षण जीवन का आकर्षण है। दोनों के बीच का आकर्षण, जो संसार में 'यौन' के नाम से जाना जाता है—वह विद्युत् आकर्षण का ही दूसरा जीवन्त रूप है। दोनों की जैविक ऊर्जा—चुम्बकीय रूप में परिवर्तित होकर—जीवन को उपलब्ध हो जाती है तो 'यौन' निर्मित होता है। लेकिन कुछ ऐसी भी अवस्थाएँ हैं—जिनमें मनुष्य 'यौन' से भी प्रभावित नहीं होता। वह प्रभाव, जिनसे 'यौन' का कोई सम्बन्ध नहीं है—उसे ही हम 'प्रेम' कहते हैं। 'प्रेम' 'यौन' से ऊँची अवस्था है। 'प्रेम' एक ऐसा प्रभाव है—जिसमें 'यौन' का आकर्षण नहीं होता।

"पदार्थ भी स्त्री-पुरुष में विभाजित हैं। पदार्थ में भी पुरुष और स्त्रैण बिन्दु हैं। उन दोनों के आकर्षण से ही सारे अस्तित्व का खेल है। पदार्थ के बीच जो आकर्षण है वह 'विद्युत' है। दो शरीर के बीच जो आकर्षण है—वह 'यौन' है। दो 'मन' के जो आकर्षण हैं वह 'प्रेम' है। कवि की—'कविता', साहित्यकार का 'साहित्य', कलाकार की 'कला' और चित्रकार का 'चित्र' इसी मानसिक आकर्षण पर आधारित होते हैं।

"ये तीन भौतिक तल के आकर्षण हैं। चौथा है दो आत्माओं के बीच का आकर्षण—जिसका नाम है श्रद्धा। अन्य आकर्षण निम्नतम हैं। लेकिन यह चौथा आकर्षण परम और श्रेष्ठतम आकर्षण है।

"आपको ज्ञात होना चाहिये कि दो पदार्थों के बीच का जो भौतिक आकर्षण है—वही दो शरीरों के बीच जीवन्त यौन का आकर्षण बन जाता है—वही दो मनों के बीच सचेतन 'प्रेम' बन जाता है और अन्त में वही दो आत्माओं के बीच श्रद्धा भी बन जाता है।

"अगर दो पदार्थ आपस में न मिलें तो अस्तित्व बिखर जाय। अगर दो शरीर आपस में न मिलें तो जीवन बिखर जाय। अगर दो मन आपस में न मिलें तो संसार के सारे सौन्दर्य बिखर जायँ और इसी प्रकार अगर दो आत्माएँ आपस में न मिलें तो परमात्मा के अस्तित्व के होने का कोई उपाय न रह जाय।

"इस युग में दो मनों का और दो आत्माओं का आकर्षण असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसीलिए वास्तविक प्रेम और वास्तविक श्रद्धा का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। अगर यह कहा जाय कि इस समय व्यापक अश्रद्धा का युग है तो अतिशयोक्ति न होगी। न किसीको किसीसे प्रेम है और न तो है किसीकी किसीके प्रति श्रद्धा। बस, समाज में केवल दो ही आकर्षण रह गये हैं, पदार्थ यानी धन-दौलत, पद आदि का आकर्षण और 'यौन' का आकर्षण। इन्हीं दो आकर्षणों के मायाजाल में उलझकर रह

गया है आज का मानव-जीवन। अपने जीवन के इस स्तर से मनुष्य ऊपर उठना ही नहीं चाहता। 'प्रेम' और 'श्रद्धा' का कोई मूल्य और महत्त्व नहीं है उसके लिए।''

× × ×

योगेश्वरी माँ ने कहा—"ये चारों प्रकार के आकर्षण तन्त्र की दृष्टि में अति महत्त्व-पूर्ण हैं। इसलिए कि समस्त तान्त्रिक साधना की मूलभित्ति हैं ये चारों प्रकार के आकर्षण। तन्त्र में तीन 'भाव' और सात 'आचार' हैं—आप उनसे परिचित ही होंगे। प्रथम दो आकर्षणों में जीनेवाला व्यक्ति पशुभाववाला समझा जाता है। तीसरे और चौथे आकर्षण को उपलब्ध व्यक्ति वीर भाव और दिव्य भाववाला समझा जाता है। तान्त्रिक साधना का लक्ष्य है पशुभाव से मुक्ति और फिर क्रम से वीरभाव और दिव्य-भाव की उपलब्धि। प्रकृति के अधीन रहना पशुभाव का द्योतक है। प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करना वीरभाव और इसी प्रकार प्रकृति पर विजय प्राप्त करना दिव्यभाव का है द्योतक। वास्तव में ये तीनों भाव तान्त्रिक साधना के क्रमिक सोपान हैं।

"यह जगत् द्वन्द्वात्मक है यानी मिथुनजन्य है। आकर्षण की जो मौलिक शक्ति है—वह एकमात्र 'काम-शक्ति' है। आकर्षण-शक्ति और काम-शक्ति एक-दूसरे के पर्याय हैं। तन्त्र इसी शक्तिको 'आदिशक्ति' कहता है। तीनों भावों के अनुसार इस 'आदिशक्ति' के तीन रूप हैं—अपरा, परा और परमा। आदिशक्ति के ये तीनों रूप क्रम से क्रिया-शक्ति, बलशक्ति और ज्ञानशक्ति हैं। तन्त्र की सगुणोपासना भूमि में इन्हीं तीनों शक्तियों को महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के रूप में परिकल्पित किया गया है। इन तीनों का अपना-अपना गुण और चरित्र है, जिनसे तन्त्रशास्त्र भरा हुआ है।''

× × ×

"कहने की आवश्यकता नहीं कि तान्त्रिक साधना इसी आदिशक्ति और उसके इन तीनों रूपों की एकमात्र साधना है। तन्त्र-साधना के जितने भी मार्ग हैं और आयाम हैं उन सबका आधार यही शक्ति है। तन्त्र के अनुसार इसी आदिशक्ति का साकार रूप 'स्त्री' है। मूल आदिशक्ति-तत्त्व 'स्त्री-तत्त्व' है। इसी 'स्त्री-तत्त्व' के कारण तान्त्रिक साधना-भूमि में 'स्त्री' का महत्त्व है। 'स्त्री-तत्त्व' में पाँचों तत्त्वों का मिश्रण है।

"वैसे तो 'स्त्री' की आवश्यकता और उपयोगिता तो तान्त्रिक साधना के सभी भागों में है। लेकिन विशेषकर षट्चक्र-साधना यानी कुण्डलिनी-साधना और उस साधना-काल में समाधि को, उपलब्ध अवस्था में 'स्त्री' की विशेष आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि यह साधना सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित साधना है। जैसा कि आप जानते हैं, समाधि अथवा ध्यान की गहरी अवस्था में तैजस यानी सूक्ष्म शरीर प्रायः बाहर निकल जाता है। जिस केन्द्र से वह शरीर बाहर निकलता है—उस केन्द्र का 'स्त्री' द्वारा स्पर्श करने

पर ही वह वापस लौट सकता है, अन्यथा नहीं। उसके वापस लौटने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

"साधना-काल में पार्थिव शरीर की सुरक्षा भी अति आवश्यक है। और यह कार्य भी 'स्त्री' ही करती है। अगर सूक्ष्म शरीर काफी देर बाहर रह जाय तो पार्थिव शरीर की जीव-कोशिकाएँ धीरे-धीरे निस्तेज और निष्क्रिय होने लग जाती हैं। अगर 'स्त्री' निकट है और उसका स्पर्श उपलब्ध है तो उन जीव-कोशिकाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

"आपका सूक्ष्म शरीर कितने समय तक बाहर रहा इसका अनुभव आपको नहीं हो सकता। अगर वह सालों बाहर रहा तो उसके लौटने पर आपको इतना लम्बा समय एक मिनट से अधिक नहीं लगेगा। इसका कारण यह है कि स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् का 'टाइम स्केल' भिन्न है। हम जितने ही सूक्ष्म में जायेंगे उतनी ही काल की गति त्वरित होती जायेगी, तीव्र से तीव्रतम होती जायेगी। आत्मा की चार अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इन चारों अवस्थाओं का टाइम स्केल भिन्न-भिन्न है। काल-विज्ञान के अनुसार सबसे मन्द गति जाग्रत अवस्था में है। काल की और सबसे तीव्र गति है तुरीयावस्था में। तुरीयावस्था यानी समाधि को उपलब्ध एक योगी जितने समय में पूरी पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है, अगर वही परिक्रमा और वही यात्रा जाग्रत अवस्था में की जाय तो पूरा जीवन व्यतीत हो जायेगा। स्वप्न को ही ले लीजिये। यह जाग्रत अवस्था के निकट की अवस्था है। सपने में आप देखते हैं कि आपका विवाह हो गया है। घर बस गया है। नौकरी लग गयी है। बच्चे हो गये हैं। बच्चे बड़े हो गये हैं। शहनाई बज रही है। लड़के का विवाह हो रहा है और तभी आप जग जाते हैं। स्वप्नावस्था से आप जाग्रत अवस्था में लौट आते हैं। घड़ी देखते हैं और पाते हैं कि मुश्किल से एक मिनट बीता है झपकी लगे। आश्चर्य होता है। केवल एक मिनट में इतना लम्बा उपद्रव कैसे हुआ होगा ? आधा जीवन लग जाता है इतना बड़ा उपद्रव करने में। जिस बात में ३०-४० साल लग जाते हैं, वह एक मिनट में कैसे हुआ ? लेकिन बिल्कुल हुआ। वास्तव में 'ड्रीम टाइम' अलग है। उसकी गति जाग्रत अवस्था से तीव्र है। इसलिए एक मिनट के सपने में जीवनभर के सपने का खेल देखा जा सकता है। एक-एक मिनट में पूरा जीवन देखा जा सकता है।"

योगेश्वरी माँ ने कहा—"अन्तर्जगत् के काल का केन्द्र आज्ञाचक्र का तीसरा बिन्दु है—मैं आपके उसी बिन्दु का स्पर्श करती हूँ—फिर स्वयं आप अनुभव करिये समय की गति का।" इतना कहकर उन्होंने मेरे मस्तक पर अपनी तर्जनी उँगली रख दी। उँगली का स्पर्श होते ही न जाने कैसे और कब अन्तर्जगत् में प्रविष्ट हो गयी मेरी चेतना। मैंने अपने-आपको उस अवस्था में गौरीकुण्ड में पाया। गौरीकुण्ड का विशाल हिम

सरोवर मेरे सामने था। गौरीकुण्ड में जमे बर्फ को पिघल-पिघलकर पानी बनते हुए देखना बड़े भाग्य की बात है। शायद मैं भाग्यवान् था कि उस अवस्था में मैंने गौरी-कुण्ड के बर्फ को पिघलते हुए देखा। बड़ा ही मनोरम दृश्य था। बगल की एक गुफा में एक महात्मा भी मुझे दिखलाई पड़े। वे ध्यानस्थ थे। शायद मेरी उपस्थिति का ज्ञान महात्मा को हो गया था। उन्होंने अपनी आँखें खोलकर मेरी ओर देखा और फिर पूछा—'तुम यहाँ कैसे आ गये ? कौन हो तुम ?' मैं कुछ उत्तर देता कि तभी मेरी चेतना लौटकर जाग्रत अवस्था में आ गयी। आँख खोलकर देखा—सामने योगेश्वरी माँ बैठी मुस्करा रही थीं।

मैंने जो कुछ देखा था और अनुभव किया था, उसमें केवल मात्र एक मिनट का समय लगा था। अगर वही गौरीकुण्ड की यात्रा मैं करता तो कम-से-कम एक मास का समय लगता। वह महात्मा कौन थे ? यह पूछने पर पता चला कि महाभारत-काल से वहाँ उस हिम-गुफा में साधनारत हैं। वहाँ मनुष्य के लिए उनका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है।

× × ×

योगेश्वरी माँ ने कहा—"एक अवस्था ऐसी भी है जिसमें समय के अभाव का अनुभव होता है और वह अवस्था है कालातीत अवस्था।

"जीसस से किसीने पूछा—'आपके प्रभु के राज्य में खास बात क्या होगी ?' तो जीसस ने कहा—'समय नहीं होगा वहाँ। यही खास बात होगी।' आपको मालूम होना चाहिए कि आनन्द के क्षण समय नहीं होता। समय समाप्त हो गया होता है। इस सम्बन्ध में संसार के सारे लोग सहमत हैं। महावीर से मुहम्मद तक सभी सहमत हैं कि वह जो क्षण है—आत्मानुभव का—आनन्द का—ब्रह्म का—वह 'टाइमलेस मोमेन्ट' है। वह समयरहित क्षण है। वह कालातीत है।

"जिसे आप टेलीपैथी यानी दूरबोध कहते हैं—उसका 'टाइम स्केल' भी भिन्न है। क्षणभर में वह बात हो सकती है—जिसे लिखने में पूरे दो घण्टे का समय लगेगा। अभी आपने जो कुछ देखा व अनुभव किया है—उसे लिखें तो कितना समय लगेगा ? आप स्वयं समझ सकते हैं। कारण क्या है ? कारण यह है कि जब आपके भीतर कोई घटना घटती है—तब वह 'साइमल्टेनियस' घटती है। जब आप सपना देखते हैं अथवा जब आप समाधि या किसी अन्य विशेष अवस्था में जो कुछ देखते, सुनते और अनुभव करते हैं—तो तब 'युगपत्' घट जाता है और जब आप उसीको लिखते हैं तो उस अवस्था में 'युगपत्' नहीं रह जाता।

"आप अब 'गीता' को ही लीजिये। युद्ध के मैदान में दोनों ओर से शंख बज चुके हैं। युद्ध का समय है और ऐसे समय में गीता का उपदेश कैसे दिया अर्जुन को कृष्ण ने ?

वहाँ उपस्थित किसीने उस उपदेश को नहीं सुना, किसीने नहीं टोका और किसीने यह नहीं कहा कि यह उपदेश का समय नहीं, युद्ध का समय है। वास्तव में गीता का उपदेश अथवा गीता की चर्चा 'टेलीपैथी' थी। वह बाहरी नहीं, भीतरी थी। गीता का संवाद 'अन्तर्संवाद' यानी 'टेलीपैथिक कम्यूनिकेशन' था, जिसमें शब्दों का वैखरी प्रयोग नहीं हुआ था। यदि हम यह कहें कि गीता कृष्ण और अर्जुन के बीच 'मौन संवाद' में घटी थी तो अतिशयोक्ति न होगी। उस मौन संवाद में कितना समय लगा होगा—यह समझना कठिन है। वास्तव में 'टेलीपैथी' के हिसाब से समय का कोई मूल्य नहीं है। इसीलिए युद्ध-भूमि में उपस्थित किसीको गीता के उपदेश का पता न चला था। 'माया' क्या है? और सत्य क्या है? इसीसे समझा जा सकता है। 'जो है' उसे समय के माध्यम से देखने से वह सब 'माया' हो जाता है। और 'जो है' उसे समय के अतिरिक्त समय का 'अतिक्रमण' कर देखने से वह सब 'सत्य' हो जाता है। 'संसार' समय के माध्यम से देखा गया 'सत्य' है, 'सत्य' माध्यम से देखा गया 'संसार' है।"[१]

आदि शंकराचार्य के परकाया-प्रवेश का रहस्य

"आदि शंकराचार्य का नाम तो आपने सुना ही होगा"—योगेश्वरी माँ बोलीं—"वे अद्भुत योगी थे। परकाया-प्रवेश की दुर्लभ सिद्धि सर्वप्रथम उन्हींको प्राप्त हुई थी। उसका उपयोग भी सर्वप्रथम उन्होंने किया था। उनकी 'परकाया-प्रवेश-साधना' इतिहास में अत्यन्त रहस्यमय समझी जाती है। हमारे टाइमस्केल से वे छः मास बाहर रहे। लेकिन सूक्ष्म शरीर के टाइमस्केल से कितनी देर बाहर रहे, यह बतलाना कठिन है। मण्डन मिश्र की पत्नी भारती ने उन्हें झंझट में डाल दिया था। उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए शंकराचार्य को ललकारा था। पुरुष को पराजित करना सरल है। लेकिन स्त्री को पराजित करना बहुत कठिन है। शंकराचार्य ने सोचा, 'ब्रह्म' से सम्बन्धित शास्त्रार्थ होगा। मगर भारती ने ब्रह्म के विषय में कोई बात ही नहीं की। उसने शंकराचार्य से कामशास्त्र से सम्बन्धित प्रश्न किया। शंकराचार्य कठिनाई में पड़ गये। बोले—'मैं निष्णात ब्रह्मचारी हूँ। इसलिए कामशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ मत पूछिये।' भारती ने हँसकर कहा—'अगर आप कामशास्त्र के सम्बन्ध में नहीं जानते तो और क्या जान सकते हैं? जब इतना-सा पता नहीं है तो 'ब्रह्म', 'माया' आदि को भला क्या जानते होंगे? और जिसको आप 'माया' कह रहे हैं उस जगत् की उत्पत्ति कहाँ से है? मैं तो 'कामशास्त्र' पर शास्त्रार्थ करूँगी, क्योंकि वह भी एक परम शास्त्र है।'

"शंकराचार्य ने कहा—'मुझे कामशास्त्र का कोई ज्ञान नहीं है। उस शास्त्र के रहस्य से अपरिचित हूँ मैं। मुझे छः मास का समय दीजिये। उसका ज्ञान प्राप्त कर

१. विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य 'कालपात्र'—लेखक : अरुणकुमार शर्मा।

और उसका रहस्य जानकर आ जाऊँगा। तब आप शास्त्रार्थ करियेगा।' इसके लिए शंकराचार्य को अपना शरीर छोड़कर दूसरे के शरीर में प्रवेश करना पड़ा।

"वे अपने शरीर से भी कामशास्त्र का ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर सकते थे, लेकिन उस शरीर की पूरी धारा अन्तर्प्रवाहित हो चुकी थी। एक बार जो शक्ति अन्तर्भूत हो गयी उसे पुनः बहिर्भूत करना योगी के लिए अत्यन्त कठिन है। कंकड़ छोड़कर हीरा उठा लेना बहुत आसान है—मगर हीरा छोड़कर कंकड़ उठाना बहुत कठिन है। शंकराचार्य ने एक राजा के मृत शरीर में प्रवेश कर कामशास्त्र का ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया। इसमें पूरे छः मास का समय लगा और पूरे छः मास तक उनके शरीर को सुरक्षित रखा गया। वह सुरक्षा बड़ी ही कठिन थी। योगी के सामने परिस्थिति और मनस्थिति—दो स्थितियाँ होती हैं। योग का एक अर्थ में परिस्थिति को दबाकर ममस्थिति को ऊपर लाने का है और सांसारिकता एक अर्थ में परिस्थिति के नीचे मनस्थिति को दबाकर जीने का नाम है। समझ गये न ?

"शंकराचार्य के शरीर की सुरक्षा के लिए योग की विशेष विधि अपनायी गयी। वह विधि अत्यन्त गुप्त थी। आज के योगियों को उसका ज्ञान नहीं है। वह विधि ऐसी है, जिसके फलस्वरूप किसी दूसरे शरीर में प्रविष्ट आत्मा से शरीर का सम्बन्ध बराबर बना रहता है। लेकिन इसके लिए शरीर को बराबर उष्ण रहना चाहिए। शरीर का तापमान नियन्त्रित होना चाहिए। मस्तिष्क की समस्त कोशिकाओं को सजीव रहना चाहिए। सातों चक्रों को भी बराबर प्राण-ऊर्जा मिलती रहनी चाहिए।

"शंकराचार्य के शरीर को एक गुफा में सुरक्षित रखा गया। उनके सात योग्य शिष्य शरीर के चारों ओर गोलाकार रूप में बैठ गये ध्यान की मुद्रा में। उन सबको बराबर सतर्क, चैतन्य और बराबर छः मास तक जागते रहना था। साथ ही यह भाव भी रखना था कि हम श्वास नहीं ले रहे हैं। श्वास गुरुदेव का शरीर ले रहा है। हम नहीं जी रहे हैं। जी रहा है गुरुदेव का शरीर। सातों शिष्यों के शरीर की विद्युत्-धारा—इन भावों के आधार पर—शंकराचार्य के शरीर में दौड़ती रही। सातों शिष्यों के हाथों का स्पर्श शंकराचार्य के सातों चक्रों को प्राप्त होता रहा। स्पर्श के माध्यम से शिष्यों की प्राण-ऊर्जा चक्रों को प्राप्त होती रही। शरीर के सातों चक्रों को शंकराचार्य से जो प्राण-ऊर्जा मिलती थी—वह सातों शिष्य दे रहे थे। आपको मालूम होना चाहिए"—योगेश्वरी माँ थोड़ा रुककर आगे बोलीं—"हम जो प्राण लेते हैं—वह भीतर जाकर सात भागों में विभक्त हो जाता है और विभक्त होकर सातों चक्रों में पहुँच जाता है। अगर प्राण विभक्त होकर चक्रों में न पहुँचे तो जीवन की धारा टूट जायगी। आत्मा और शरीर का सामञ्जस्य समाप्त हो जायगा। फिर एक मिनट आत्मा शरीर में नहीं रह सकती। अगर किसी कारणवश आत्मा बाहर निकल जाय और दूसरा व्यक्ति

चक्रों को प्राण-ऊर्जा देता रहे तो शरीर जीवित रह सकता है। जैसे कि शंकराचार्य का शरीर जीवित रहा और जब वे अपने शरीर में वापस लौटे तो कामशास्त्र का सारा ज्ञान और अनुभव उनके पास था।"

तान्त्रिक प्रयोग में कुँआरी कन्याओं का उपयोग

अनुभवी साधिका थीं योगेश्वरी माँ, इसमें सन्देह नहीं। तान्त्रिक प्रयोग में कुँआरी कन्या के उपयोग के सम्बन्ध में पूछने पर उन्होंने बतलाया कि "तन्त्र-साधना आदिशक्ति यानी कामशक्ति की एकमात्र साधना है। कामशक्ति बराबर चित्त-यन्त्र से बहिर्गत होने का प्रयत्न करती है। कामशक्ति का संयम तथा विनियोग ही जीवन के लक्षण हैं। यदि शक्ति का संचय और विनियोग अनुरूप रहे तो जीवन शान्तिमय होता है। संचय कम और विनियोग अधिक अथवा विनियोग कम और संचय अधिक रहे तो व्यक्ति व्याधिग्रस्त हो जाता है। सांसारिक दृष्टि से किसी न किसी प्रकार विनियोग का मार्ग होना ही चाहिए। लेकिन तन्त्र में यह बात नहीं है। तन्त्र शक्ति के संचय और उसके विनियोग की बात नहीं करता। वह तो कामशक्ति की ऊर्जा के प्रवाह को अन्तर्मुखी करने का उपदेश देता है। क्योंकि वही ऊर्जा विशेष गुह्य क्रियाओं द्वारा परिष्कृत होकर 'कुण्डलिनी-जागरण' और षट्चक्र-भेदन तथा अन्त में सामरस्य-भाव की उपलब्धि का कारण बनती है। कहने का तात्पर्य यह कि उसी परिष्कृत ऊर्जा के ताप से ही प्रसुप्त कुण्डलिनी का जागरण और उसके बाद की सारी साधना सम्भव है।"

योगेश्वरी माँ ने कहा—"वैसे तो तान्त्रिक गुह्य साधना के जितने भी आयाम हैं—उन सभी में 'स्त्री' के विभिन्न रूपों की अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिका है। लेकिन जहाँ तक प्रश्न कामशक्ति की ऊर्जा की धारा को भीतर की ओर प्रवाहित करने तथा गुह्य क्रियाओं द्वारा परिष्कृत करने का कार्य है—उसके लिए 'स्त्री' के कन्यारूप का ही विशेष उपयोग है। इसका कारण वैज्ञानिक दृष्टि से अतिशय महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट है—मध्ययुग तन्त्र का स्वर्ण-काल था। उस समय तन्त्र की कई गुप्त प्रयोगशालाएँ थीं, जिनमें मनुष्य के अन्तःशरीरों पर सर्वाधिक काम किया गया। सच पूछा जाय तो मनुष्य के इतिहास में और मनुष्य के आन्तरिक जीवन के सम्बन्ध में—उस समय जितना तान्त्रिकों ने प्रयोग किया—उतना किसी और ने नहीं किया। उन प्रयोगशालाओं में असाधारण स्त्री की उपस्थिति अनिवार्य थी।"

"असाधारण 'स्त्री' से आपका क्या तात्पर्य है ?"

"आपको मालूम होना चाहिए—जिस कार्य की चर्चा मैंने की है—उसमें 'स्त्री' का नहीं, बल्कि स्त्री के 'मैग्नेटिक फोर्स' का मूल्य और महत्त्व है। समझे न ? 'स्त्री' जितना अधिक पुरुष-संसर्ग में आती है, उतना अधिक उसका 'मैग्नेटिक फोर्स' कम हो जाता है। इसीलिए तन्त्र की प्रयोगशालाओं में कुँआरी कन्या का मूल्य और महत्त्व था।

पुरुष का अधिक-से-अधिक संसर्ग स्त्री के 'मैग्नेटिक फोर्स' की मात्रा को कम कर देता है। उसकी आकर्षण-शक्ति, मतलब कि चुम्बकीय शक्ति क्षीण हो जाती है। स्त्री का 'मैग्नेटिक फोर्स' ही एक ऐसी वस्तु है—जिससे ऊर्जा की धारा अन्तर्मुखी होकर प्रवाहित होती है। इस दृष्टि से तन्त्र में कुँआरी कन्याओं का सर्वाधिक उपयोग और महत्त्व तो रहा ही, इसके अतिरिक्त साधक की बाहर गयी चेतना को भीतर लौटाने के लिए भी उनका उपयोग किया जाता रहा। किसी भी प्रकार उनकी चुम्बकीय शक्ति यानी 'मैग्नेटिक फोर्स' बाहर न हो जाय—इसके लिए उनको अत्यधिक पवित्रता और सतर्कता रखनी पड़ती थी और रखना पड़ता था अत्यधिक संयम भी। जिनको आप सिद्धासन, पद्मासन और सुखासन कहते हैं—वे सारे के सारे आसन मनुष्य की चुम्बकीय शक्ति बाहर न निकले—उसको ध्यान में रखकर निर्मित किये गये हैं।

"शक्ति के प्रवाह के मार्ग हैं हाथ-पैर की उँगलियाँ। आसनों में दोनों हाथों और दोनों पैरों को आपस में जोड़ लेने पर शक्ति का प्रवाह बन्द हो जाता है। एक हाथ से बहती हुई शक्ति दूसरे हाथ में प्रवेश कर जाती है। आसन इसी कार्य के लिए हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि शक्ति-प्रवाह का सबसे बड़ा मार्ग नेत्र हैं। नेत्र के पूरी तरह खुले रहने पर और पूरी तरह बन्द रहने पर—दोनों अवस्थाओं में नेत्र-मार्ग से शक्ति का प्रवाह सर्वाधिक रूप में होता है। अगर नेत्र को आधा खुला रखा जाय तो शक्ति का प्रवाह बन्द हो जाता है। यही कारण है कि योग-तन्त्र में अर्धोन्मीलित नेत्र का भारी मूल्य है।"

× × ×

नग्न-पूजा-भाव और ऊर्जा का रूपान्तरण

योगेश्वरी माँ ने कहा—"जैसे हमारे देश में तन्त्र-प्रयोगशालाएँ थीं, उसी प्रकार यूरोप में एक 'मोनास्ट्रीज' है। उस मोनास्ट्रीज को बने लगभग १४०० वर्ष हो गये। उसमें केवल स्त्रियाँ हैं। आज तक उसमें किसी पुरुष ने प्रवेश नहीं किया। पुरुष के लिए प्रवेश पूर्णतया वर्जित है। उसमें एक बार जो स्त्री प्रवेश करती है वह फिर बाहर नहीं निकल सकती। इसी प्रकार पुरुषों का भी वहाँ 'मोनास्ट्रीज' है, जिसमें स्त्रियों का प्रवेश पूर्णतया वर्जित है। जो पुरुष एक बार भीतर गया तो हमेशा के लिए गया। फिर कभी बाहर निकल नहीं सकता वह। दोनों 'मोनास्ट्रीज' में साधक और साधिका के रूप में सैकड़ों की संख्या में पुरुष और स्त्रियाँ हैं। यह साधारण नहीं, असाधारण संकल्प है। जीते जी मर जाने का है संकल्प। दोनों 'मोनास्ट्रीज' आपस में बिलकुल सटे हुए हैं। दोनों की दीवारें एक हैं। जब किसी साधक की चेतना बाहर निकल जाती है तो उसे लौटाने के लिए स्त्री की आवश्यकता नहीं पड़ती। बस, उसे स्त्रियों के 'मोनास्ट्रीज' की दीवार से सटाकर लिटा दिया जाता है और उसकी चेतना वापस लौट आती है।

स्त्रियों के लिए भी यही बात है। जब कभी किसी साधिका की आत्मा बाहर निकल जाती है तो उसे भी पुरुषों के 'मोनास्ट्रीज' की दीवार से सटाकर लिटा दिया जाता है और उसकी आत्मा वापस लौट आती है। वास्तव में दोनों मोनास्ट्रीज स्त्रियों और पुरुषों की ऊर्जाओं द्वारा 'चार्ज्ड' हैं।"

× × ×

"हमारे देश में जो तन्त्र-प्रयोगशालाएँ थीं—जिनसे गुप्त ज्ञान विकसित हुए—जिनमें प्रयोग की सारी सुविधाएँ थीं और सारी व्यवस्थाएँ थीं—वे लगभग इन्हीं 'मोनास्ट्रीज' के समान थीं। सच पूछा जाय तो उनसे भी उन्नत, विकसित और श्रेष्ठ थीं। वास्तव में जितने प्रकार के 'तन्त्र' हैं और उनसे सम्बन्धित गुह्य साधनाओं के जितने भी विषय हैं, वे सारे के सारे उन्हीं 'तन्त्र-प्रयोगशालाओं' की देन हैं, इसमें सन्देह नहीं। यही एकमात्र कारण है कि उस युग में तन्त्र के जितने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई—उतनी कभी किसी काल में नहीं हुई। ऐसे ही उस काल में तान्त्रिक साधनाओं का जितना विकास हुआ, जितनी तान्त्रिक क्रियाएँ परिष्कृत हुईं, उतनी कभी किसी अवस्था में नहीं हुईं। इसी प्रकार उनसे सम्बन्धित जितने साधना-मार्ग प्रशस्त हुए उतने कभी नहीं हुए। इस प्रसंग में यह भी कहना अनुचित न होगा कि उस काल में उच्चकोटि के जितने तन्त्र-साधक हुए, उतने कभी किसी समय नहीं हुए। लेकिन वे धीरे-धीरे नष्ट हो गये और उन्हींके साथ-साथ नष्ट हो गये प्रायः सारे तन्त्र-ग्रन्थ भी। अब तो वैसे न साधक रह गये हैं और न तो अब रह गयी हैं वैसी साधना-पद्धतियाँ ही। उस समय के रचित तन्त्र-ग्रन्थों के दर्शन तो अब दुर्लभ ही हैं। सच बात तो यह है कि इन सबके लिए जिम्मेदार हमारा नीतिवाद है।"

"कैसे?" मैंने पूछा।

योगेश्वरी माँ ने कहा—"हमारे देश का जो नीतिवाद है और जिसे हम नैतिकता कहते हैं—वह सिवाय नासमझी से भरी हुई बातों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमारे देश के नीतिवादियों ने तान्त्रिकों के क्रिया-कलापों को अनैतिक सिद्ध कर दिया और उनकी समस्त गुह्य साधनाओं को व्यभिचार और भ्रष्टाचार की संज्ञा दे दी। अगर बन्द कमरे में एक नग्न युवती की अनेक साधक मिलकर पूजा करें तो उसे देख-सुनकर एक नीतिवादी व्यक्ति का विचलित होना स्वाभाविक ही है। वह ऐसे कार्य को अनैतिक ही कहेगा। नग्न कुमारी कन्याओं का सामूहिक पूजन, चक्रपूजा की गोपनीय क्रियाओं तथा पंचमकार के सेवन आदि के सम्बन्ध में वह अपनी दृष्टि से सोचे-समझेगा। वह जो करता है स्वभावतः वैसा ही समझेगा भी। वह भला क्या जानेगा कि कितना ऊँचा अध्यात्म-विज्ञान है वह। कितनी गम्भीर और उदात्त हैं वे तान्त्रिक क्रियाएँ। वह जो हैं उसीके अनुसार विचार करेगा। कहने की आवश्यकता नहीं, नीतिवादियों की इसी

धारणा ने इस देश की बहुत बड़ी आध्यात्मिक क्षति की उन प्रयोगशालाओं को नष्ट करके। आपको मालूम होना चाहिए कि अकेले राजा भोज ने लगभग एक लाख तान्त्रिकों की हत्या की। अगर विचारपूर्वक देखा जाय तो वह तान्त्रिकों की हत्या नहीं, बल्कि अध्यात्मशास्त्र के गुह्यतम ज्ञान और उनकी साधनाओं की थी हत्या, जिसके फलस्वरूप इस देश का सारा साहित्य, सारा पाण्डित्य नष्ट हो गया। सारा का सारा प्यूरिटन माइण्ड हो गया नष्ट। अगर उन तान्त्रिकों के प्रयोग सही थे तो हमारी सारी नैतिकता गलत है।

"तान्त्रिकों का यह विशेष अनुभव था कि अगर कोई साधक पूर्ण नग्न युवती के सम्मुख पूज्य भाव से तन्त्र की विशेष प्रक्रिया कर ले तो वह स्त्री के आकर्षण से सदैव के लिए मुक्त हो जायगा। इसी प्रकार कोई साधिका पूर्ण नग्न पुरुष के सम्मुख विशेष प्रक्रियाओं से साधना कर ले तो वह सदैव के लिए पुरुष के आकर्षण से मुक्त हो जा सकती है। वास्तव में यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस पर विचार किया जाय तो समझ में आयेगा कि स्त्री और पुरुष के बीच जो 'मैग्नेटिक फोर्सेस' हैं—वे उनको बाँधने की व्यवस्थाएँ हैं। अगर एक नग्न युवती को—साधना-भूमि में पूज्य भाव से देखने में समर्थ हो जायँ तो वह साधारण घटना नहीं है। अति मूल्यवान् और अति महत्त्वपूर्ण घटना है वह।

"आपको मालूम होना चाहिए कि 'स्त्री' को भोगने के भाव से समर्थ होना हमें प्रकृति ने बनाया है। लेकिन 'स्त्री' को पूज्य भाव से देखने में अगर कोई पुरुष पूर्णतया समर्थ हो जाता है तो उसकी जो 'काम-शक्ति' की ऊर्जा की धारा अब तक बाहर की 'स्त्री' की ओर प्रवाहित होती थी—वह भीतर की 'स्त्री' की ओर प्रवाहित होने लगती है। इसी अवस्था को योग में 'अन्तर्सम्भोग' अथवा 'अन्तर्मिलन' कहते हैं। इस अवस्था में बाहर की स्त्री साधक के लिए मातृरूपा, देवीरूपा और पूज्या हो जाती है। इसलिए कि उसमें जो स्त्री का आकर्षण था और उसके प्रति जो भोग्या-भाव था—वह हमेशा के लिए समाप्त हो गया होता है। अब तक जिस काम-ऊर्जा का प्रवाह बहिर्मुखी था—वह अन्तर्मुखी हो गया होता है। कोई भी शक्ति नष्ट नहीं होती। केवल उसके रूप में परिवर्तन होता है और होता है मार्ग में परिवर्तन। शक्ति तो वही रहती है—जो पहले थी। बाहर की स्त्री जब पूज्या हो जाती है तो साधक की काम-शक्ति की ऊर्जा का प्रवाह उसके ही भीतर स्थित स्त्री-शरीर की ओर उन्मुख हो जाता है। श्री रामकृष्ण परमहंसदेव ऐसी अवस्था को उपलब्ध साधक थे। वासना की दृष्टि से बाहर की स्त्री का कोई मूल्य और महत्त्व नहीं था उनके लिए। जगत् की समस्त स्त्रियों के प्रति उनके चित्त में 'माँ' का भाव था, यहाँ तक कि अपनी पत्नी शारदा के प्रति भी। मतलब यह कि इस परम अवस्था में स्त्री के प्रति भोग-भाव समाप्त हो जाता है।"

तान्त्रिक पूजा की अन्य व्यवस्था

"उस काल में नग्न स्त्री को पूज्य भाव से देखने की विशेष प्रक्रियाएँ थीं, विशेष मनोदशाएँ थीं, ध्यान के विशेष प्रयोग थे, विशेष मन्त्र थे, विशेष शब्द थे और विशेष थे तन्त्र और उन सबके बीच विशेष यौगिक क्रिया करने पर यह परम अवस्था घटित हो जाती थीं। यह ठीक वैसी ही वैज्ञानिक व्यवस्था थी—जैसा आज विज्ञान लेबोरेटरी में कर रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं, वर्तमान में इन सब गुह्य विषयों के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा है, वह सब आधा-अधूरा है। उनका पूरा विज्ञान, पूरी क्रियाएँ और पूरी कुंजी किसी भी तन्त्र-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। बस, इतना ही लिखा रह गया है कि नग्न स्त्री की पूजा करने पर साधक की ऊर्जा भीतर प्रवाहित हो जाती है।

"कुमारी-पूजा, गुह्य-पूजा, अष्टांग-पूजा, योनि-पूजा, चक्र-पूजा आदि पूजाओं का अपना तान्त्रिक महत्त्व है और उनका महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिणाम भी है। इसी प्रकार भैरवी-साधना, पंचमकार-साधना, कपाल-साधना, श्मशान-साधना, चिता-साधना, शव-साधना आदि गोपनीय तान्त्रिक साधनाओं की भी आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हैं। लेकिन इन सबके विषय में कहीं भी किसी भी तान्त्रिक ग्रन्थ में विस्तृत सामग्री उपलब्ध नहीं है। कहीं थोड़ी-बहुत इन गूढ़ विषयों पर पढ़ने के लिए सामग्री प्राप्त होती भी है तो वह मार्ग-भ्रष्ट और दिशा-भ्रम का कारण ही समझ में आती है।"

× × ×

"एक प्रसिद्ध तिब्बती मन्त्र है—'ओम् मणि पद्मे हुम्'। इस मन्त्र का सम्बन्ध शरीर के चार हिस्सों से है। 'ओम्' कण्ठ में गूंजता है। 'मणि' का सम्बन्ध हृदय से है। वह हृदय में गूंजता है। 'पद्मे' का सम्बन्ध नाभि से है। वह नाभि में गूंजता है। इसी प्रकार 'हुम्' का सम्बन्ध काम-केन्द्र से है। वह वहाँ गूंजता है। चारों हिस्सों में गूंज क्रम से होती है। 'अगर' केवल 'हुम्' का प्रयोग बार-बार किया जाय तो काम-केन्द्र की ऊर्जा बाहर की ओर प्रवाहित न होकर भीतर की ओर प्रवाहित होने लग जाती है। इतनी बड़ी चोट लगती है 'हुम्' की। उसके प्रहार से एक ऐसा भी क्षण आता है जब कामुकता हमेशा के लिए समाप्त हो जाती है। इसीलिए इस मन्त्र को महत्त्वपूर्ण माना गया है बौद्ध-तन्त्र में।"

केवल नग्न स्त्री की पूजा के विशेष कारण

"आप हमसे यह पूछ सकते हैं कि ऊर्जा को अन्तर्मुखी बनाने की जितनी व्यवस्थाएँ तन्त्र में हैं, उनमे कोई ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं है कि जिसमें नग्न पुरुष की पूजा स्त्रियाँ करती हों। स्त्री की ही नग्न-पूजा क्यों ?

"यह थोड़ी समझने की बात है। कभी किसी काल में ऐसी कोई तान्त्रिक व्यवस्था नहीं रही, जहाँ पुरुष को नग्न खड़ा किया गया हो और स्त्री पूजा कर रही हो।

इसके भी कारण हैं। यह अनावश्यक है। इसके भी दो-तीन कारण हैं। पहला कारण यह है कि पुरुष के मन में जब भी किसी स्त्री के प्रति आकर्षण होता है—तो वह उसे 'नग्न' करना चाहता है। स्त्री ऐसा नहीं करना चाहती। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। पुरुष स्त्री को नग्न देखना चाहता है। लेकिन स्त्री पुरुष को नग्न देखना नहीं चाहती। इसीलिए सम्भोग-काल में ९९ प्रतिशत स्त्रियाँ नेत्र बन्द कर लेती हैं। पुरुष नेत्र खुला रखता है। अगर स्त्री को पुरुष केवल आलिंगन करता है अथवा उसका चुम्बन भी लेता है तो उस अवस्था में भी वह अपने नेत्र बन्द कर लेती है। नेत्र बन्द करने का कारण है और वह यह कि स्त्री उन परम आनन्द के क्षणों में बाहर नहीं जीना चाहती। वह तो उन महत्त्वपूर्ण क्षणों को अपने भीतर समेट लेना चाहती है। उन्हें आत्मसात् कर लेना चाहती है।

"यही एकमात्र मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि पुरुषों ने तो स्त्रियों की इतनी मूर्तियाँ बनायीं। इतने चित्र बनाये उनके। उनका आश्रय लेकर इतनी कथाएँ और इतनी कविताएँ लिखीं। उनके चरित्रों को लेकर इतने उपन्यास और काव्य लिखे। लेकिन स्त्रियों ने नग्न पुरुषों के प्रति किसी भी प्रकार की उत्सुकता व्यक्त नहीं की। नग्न पुरुष में उसका कोई आकर्षण नहीं है। नग्न स्त्री में पुरुष की उत्सुकता अत्यन्त गहरी है। नग्न स्त्री तो पुरुष के भीतर रूपान्तर का कारण बन सकती है। नग्न पुरुष तो स्त्री को केवल नेत्र बन्द करने का ही कारण बनेगा। इससे अधिक और कुछ नहीं। काम-शास्त्र के अनुसार स्त्री ग्राहक है और पुरुष है आक्रामक। स्त्री कभी भी आक्रामक नहीं हो सकती। वह प्रेम की अभिव्यक्ति भी नहीं करती, क्योंकि यह भी एक प्रकार से 'आक्रा-मण' है। हाँ, वह ऐसी व्यवस्था अवश्य करती है कि पुरुष स्वयं उसके सामने प्रेम-निवेदन करता है और उसके प्रेम-निवेदन के समय में भी स्त्री 'ना' ही करेगी। अगर उसका 'ना' उसकी स्वीकृति का लक्षण है। मतलब उसका 'ना' ही 'हाँ' है। इसमें भी वह 'आक्रमण' में सहयोगी न होगी। प्रकट में 'प्रेम-निवेदन' को अस्वीकार ही करेगी वह। उसके अस्वीकार से पता चलेगा कि वह स्वीकार कर रही है। उसका अस्वीकार स्वीकारात्मक होगा। स्त्री को कामुकता और वासना के जगत् में ले आने के लिए पुरुष को दीक्षा देनी पड़ती है। स्त्री को सहयोग करना पड़ता है। अगर एक पुरुष नग्न स्त्री को देखकर कामुक न हो और अपने भीतर की ऊर्जा में विलीन हो जाय तो यह घटना उस स्त्री के लिए बड़ी मूल्यवान् सिद्ध होगी। पुरुष की भीतर जाती ऊर्जा स्त्री की ऊर्जा को भीतर जाने में सहयोगी हो जाती है। जैसे पुरुष स्त्री को राजी करता है, प्रेरित करता है और विवश करता है कामुकता के मार्ग पर, ऐसे ही पुरुष यदि स्त्री के समक्ष 'अकाम' की ओर गतिमान् हो जाय तो इस अवस्था में भी वह 'दीक्षा' देता है। इसीको 'भैरवी-दीक्षा' कहते हैं। इसीलिए दूसरी व्यवस्था खोजी नहीं गयी। इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।"

योगेश्वरी माँ आगे बोली—"गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—सन्तान-उत्पत्ति का हेतु 'कामदेव' मैं हूँ। कृष्ण के इस वाक्य में गम्भीर रहस्य भरा हुआ है सृष्टि का। समझ गये न आप। जीवन और जगत् दोनों के मूल में एकमात्र काम है। दोनों की उत्पत्ति काम से हुई है। सर्वप्रथम 'काम' ब्रह्मा में उत्पन्न हुआ और ब्रह्मा ने काम से प्रेरित होकर जीवन और जगत् की सृष्टि की। जगत् में जब भी कुछ आविर्भूत होता है तो उसके मूल में 'काम' ही होता है। काम से सन्तान ही उत्पन्न नहीं होती, कविता उत्पन्न होती है, चित्र उत्पन्न होता है, एक मूर्ति उत्पन्न होती है। जहाँ भी कोई व्यक्ति कुछ सृजन करता है तो उसके भीतर जो ऊर्जा, जो शक्ति काम में आती है वह 'काम' ही है। उत्पत्तिमात्र काम है। सृजनमात्र काम है। काम से ही सब उत्पन्न होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि काम में ही सब समाप्त हो जाता है। काम के पार पाया जा सकता है। लेकिन वह पार जाना भी 'काम' के मार्ग से ही होता है। यह सृजन भी काम-वासना के ही मार्ग से होता है।

"काम-वासना क्या है? और यह कामदेव की धारणा क्या है? सम्भवतः इस धरती पर हिन्दू-धर्म ही एकमात्र ऐसा धर्म है, जिसने काम को भी अपनी जीवन-दृष्टि में समाहित किया है। यह बड़े साहस की बात है। क्योंकि सामान्यतया सभी धर्म काम के विरोधी हैं। किसी भी धर्म का महापुरुष अथवा अवतारी पुरुष यह कहने का साहस न कर सका कि 'मैं कामदेव हूँ'। इस सम्बन्ध में सोचना भी असम्भव है। लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण ने इसे बड़ी सहजता से कहा—'मैं कामदेव हूँ'। बड़े साहस की बात इसलिए है कि हम सब केवल काम-वासना के एक ही रूप से परिचित हैं। उसके दूसरे रूप से नहीं।"

"उसका दूसरा रूप क्या है?" प्रश्न किया मैंने।

योगेश्वरी माँ बोली—"मनुष्य के भीतर केवल एक ही ऊर्जा है, जिसे कोई भी नाम दिया जा सकता है। अगर वही ऊर्जा नीचे की ओर प्रवाहित होती है तो 'काम-वासना' बन जाती है और वही ऊर्जा जब ऊपर की ओर प्रवाहित होने लग जाती है तो 'कुण्डलिनी' शक्ति या आत्मशक्ति बन जाती है। हम उसे जो भी नाम देना चाहें दे सकते हैं। ऊर्जा वही है, शक्ति भी वही है, केवल आयाम और दिशा बदल जाती है। वही शक्ति जब नीचे की ओर गिरती है तो 'वासना' हो जाती है। उपर की ओर उठती है तो आत्मशक्ति बन जाती है। नीचे गिरने पर दूसरों को उत्पन्न करती है। ऊपर की ओर उठती है तो स्वयं को जन्म देती है। नीचे की ओर उसे बहना हो तो किसी और को आधार बनाना पड़ता है। ऊपर की ओर उसे बहना हो तो स्वयं को आधार होना पड़ता है। नीचे की ओर प्रवाहित काम-ऊर्जा—जननेन्द्रिय के मार्ग से प्रकृति में लीन

हो जाती है। ऊपर की ओर प्रवाहित वही काम-ऊर्जा सहस्रार में प्रवेश कर ब्रह्म में विलीन हो जाती है।"

दो मुख्य चक्र और दो मुख्य जगत्

"यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो षट्चक्रों में मूलाधार चक्र और आज्ञाचक्र ही मुख्य हैं। इसी प्रकार जितने भी जगत् हैं उनमें भी दो ही जगत् मुख्य हैं। पहला है, अस्तित्व का जगत्, जिसमें सब कुछ चेतना है, चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरा है, विचारों और मनोभावों का जगत्, जिसमें 'मैं' है और 'मैं' से सम्बन्धित है सारा विस्तार। मेरा शरीर, मेरा परिवार, मेरा मकान, मेरा धन, मेरा ऐश्वर्य यानी सब 'मेरे' से सम्बन्धित हैं। अपना और पराया का भाव सर्वत्र है इस जगत् में।

"पहले जगत् को चेतन-राज्य और दूसरे जगत् को भाव-राज्य कहते हैं। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम जितने भी जगत् हैं, वे सब भाव-राज्य के अन्तर्गत हैं। मूलाधार चक्र भाव-राज्य का प्रवेशद्वार है, जब कि आज्ञाचक्र चेतन-राज्य का है प्रवेशद्वार। मूलाधार चक्र का भेदन स्वयं प्रकृति करती है जब कि आज्ञाचक्र का भेदन स्वयं योगी को अपनी साधना के बल पर करना पड़ता है।

"काम-ऊर्जा दो केन्द्रों से विलीन होती है—जननेन्द्रिय यानी मूलाधार चक्र में जो पहला चक्र है, आज्ञाचक्र में जो अन्तिम चक्र है। ये दोनों केन्द्र मनुष्य के व्यक्तित्व के दो छोर हैं। काम-केन्द्र यानी मूलाधार चक्र से मनुष्य प्रकृति से जुड़ा हुआ है और आज्ञाचक्र से वह जुड़ा हुआ है परमात्मा से। लेकिन शक्ति एक ही है।"

आज्ञाचक्र-भेदन और नीलज्योति-दर्शन

"ऊपर की ओर प्रवाहित काम-ऊर्जा (कुण्डलिनी शक्ति) सहस्रार में प्रवेश करने के पूर्व आज्ञाचक्र का भेदन करती है, जिसके फलस्वरूप भ्रू-मध्य में जवाकृति नील-वर्णा ज्योति प्रकट होती है, जिसका दर्शन योगी अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा करता है। यह नीलज्योति वास्तव में योगी का तीसरा नेत्र है। लेकिन जब तक आज्ञाचक्र की भेदन-क्रिया सम्पन्न नहीं हो जाती है तब तक नीलज्योति का प्राकट्य सम्भव नहीं।" (इस विषय में विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य : कुण्डलिनी-साधना-प्रसंग, लेखक—अरुणकुमार शर्मा)

मेरे यह पूछने पर कि आज्ञाचक्र-भेदन की कितनी पद्धतियाँ हैं तो इसके उत्तर में योगेश्वरी माँ ने बतलाया—"अब तक जो चर्चा हुई है वह तान्त्रिक पद्धति है। क्योंकि 'कुण्डलिनी' तन्त्र का विषय है, योग का नहीं। इसके अतिरिक्त तीन पद्धतियाँ हैं। पहली है ध्यानयोग-पद्धति। इस पद्धति के अनुसार ध्यानावस्था में चित्त को एकाग्र कर भ्रू-मध्य में उसे स्थित करने का अभ्यास करना पड़ता है। भ्रू-मध्य में टीका, तिलक

और भस्म लगाने के नियम इसी अभ्यास के निमित्त हैं। मस्तक पर टीके का प्रयोग बहुत ही गहरा प्रयोग है। उसका आधार पूर्ण वैज्ञानिक है। आज्ञाचक्र को चैतन्य करने की दिशा में योग ने जितने प्रयोग किये हैं—उनमें तिलक भी एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। अगर तिलक लगा हुआ है तो आपका बार-बार उस स्थान पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। यह ध्यान जाना ही आज्ञाचक्र को चैतन्य करना है। लेकिन तिलक उचित स्थान पर होना चाहिए, क्योंकि सभी के आज्ञाचक्र का बिन्दु एक ही स्थान पर नहीं होता। किसका किस स्थान पर बिन्दु है यह अनुभवी गुरु ही बतला सकता है।"

× × ×

"दूसरी है हठयोग-पद्धति। इस पद्धति के अनुसार साधक को अपनी दोनों आँखों की पुतलियों को ऊपर चढ़ाने का अभ्यास करना पड़ता है। बराबर अभ्यास के परिणाम-स्वरूप दोनों चढ़ी हुई पुतलियाँ पूरी तरह भीतर प्रविष्ट हो जाती हैं और उस बिन्दु पर आपस में मिलती हैं—जहाँ आज्ञाचक्र है। जिस क्षण वे दोनों पुतलियाँ आपस में निश्चित बिन्दु पर मिलती हैं—उसी क्षण आज्ञाचक्र चैतन्य हो जाता है और चैतन्य होते ही इस जगत् के परे किसी अज्ञात-अपरिचित जगत् का दृश्य शुरू हो जाता है।"

× × ×

"तीसरी है बौद्ध-पद्धति। यह पद्धति एक प्रकार से बाह्य पद्धति है। कुछ लोग इसे तिब्बती-पद्धति भी कहते हैं, क्योंकि जैसे भारतीय योगियों ने तिलक का आविष्कार किया, ठीक वैसे ही तिब्बत ने शल्य-क्रिया का आविष्कार किया। ऐसा तिब्बत ही कर सकता था। क्योंकि तिब्बत ने तीसरे नेत्र पर जितना परिश्रम किया है उतना किसी भी सभ्यता ने नहीं किया है। वास्तविकता तो यह है कि तिब्बत का पूरा-का-पूरा विज्ञान और पूरी समझ जीवन के अनेक आयामों का विज्ञान और समझ है, जो तीसरे नेत्र की ही समझ पर आधारित है।

"तिब्बत में व्यक्ति जब तक समाधि में न जाय तब तक किसी भी बात का पता ही नहीं लगता था। न जड़ी-बूटी का, न मन्त्र-तन्त्र का और न तो किसी प्रकार की गुह्य विद्याओं का। तिब्बत की पूरी सभ्यता ही यह काम करती रही है। वहाँ के लोग समाधिस्थ व्यक्ति से ही दवा पूछेंगे, मन्त्र पूछेंगे, जड़ी-बूटी पूछेंगे, भूत-भविष्य पूछेंगे। सभी प्रकार की बाधाओं का उपचार पूछेंगे। तात्पर्य यह कि तिब्बत-वासियों के लिए उनकी सारी समस्याओं का निदान करनेवाला एकमात्र समाधिस्थ व्यक्ति ही होता है और समाधि में व्यक्ति कैसे जाय—इसके लिए शल्य-क्रिया का विकास हुआ। शल्य-क्रिया द्वारा आज्ञाचक्र के स्थान पर एक विशेष प्रकार की लकड़ी की पतली-सी कील धीरे-धीरे ठोंकी जाती है और जब वह कील भीतर लगभग डेढ़ इञ्च चली जाती है तो उसे उसी अवस्था में छोड़कर ऊपर से किसी औषधि का लेप लगा दिया जाता है।

यह आज्ञाचक्र के भेदन और तीसरे नेत्र के खोलने की बाह्य क्रिया है। इस क्रिया से व्यक्ति समाधि की उस अवस्था में प्रवेश कर जाता है—जहाँ से वह लोगों की सभी प्रकार की समस्याओं का निदान करता है और सभी प्रश्नों का उत्तर देता है। इतना ही नहीं, गुह्य विद्याओं के रहस्यों को भी बतलाता है।"

प्रश्न : "समाधि की वह कौन-सी अवस्था है?"

"मनुष्य का आधा मस्तिष्क सक्रिय रहता है और आधा मस्तिष्क रहता है निष्क्रिय। समाधि की अवस्था में वह उसी आधे निष्क्रिय मस्तिष्क में प्रविष्ट हो जाता है, जिसमें सारे ज्ञान-विज्ञान अचेतनावस्था में विद्यमान हैं।

"आपको एक बात बतला दूँ मैं, वह यह कि बाहर से भेदन में और भीतर के भेदन में काफी अन्तर है। इसलिए भारतीय योगियों ने आज्ञाचक्र को बाहर से भेदन करने का कभी भी प्रयास नहीं किया।"

प्रश्न : "क्यों ?"

"इसलिए कि भीतर से ही भेदन करने पर आधा निष्क्रिय मस्तिष्क सक्रिय हो उठता है। बहुत सम्भावना यह है कि बाहर की शल्य-क्रिया आधे सक्रिय मस्तिष्क की सक्रियता का दुरुपयोग करेगी। क्योंकि व्यक्ति वही का वही है। उसकी चेतना में कोई साधनागत अन्तर तो हुए नहीं है। और उसके मस्तिष्क में नये काम शुरू हो गये। अगर वह व्यक्ति—जिसकी शल्य-क्रिया हुई है—दीवार के पार देख सकता है तो इस बात की भी सम्भावना है कि वह भूमिगत धन को भी बतलायेगा। अगर वह व्यक्ति यह देख सकता है कि उसके आन्तरिक संकेत द्वारा आपको किसी काम के लिए आज्ञा दी जा सकती है, तो इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि वह आपसे अच्छा काम कम और बुरा काम अधिक करवायेगा।

"शल्य-क्रिया भारत में भी हो सकती थी। भारतीय योगियों को इस विषय में सर्वाधिक ज्ञान था। लेकिन उन्होंने उस ज्ञान का कभी भी प्रयोग नहीं किया। इसलिए कि जब तक कि व्यक्ति की चेतना भीतर से भी उतनी विकसित न हो कि नयी शक्तियों का उपयोग करने में समर्थ हो जाय, तब तक उसे नयी शक्तियाँ देना खतरनाक है। वह ऐसा ही है—जैसे बच्चे के हाथ में हम तलवार दे दें। उस तलवार से किसीके मंगल होने की सम्भावना कम है। अमंगल की ही सम्भावना अधिक है। उससे कल्याण की आशा करना दुराशामात्र है। चेतना के तल पर अगर व्यक्ति के भीतर की चेतना विकसित न हो तो उसके हाथ में नयी शक्तियाँ देना खतरनाक है।"

× × ×

"तिब्बत ने आज्ञाचक्र के भेदन और तीसरे नेत्र के जागरण के लिए भौतिक उपकरणों का प्रयोग किया। इसलिए तिब्बत बहुत-सी बातें जान पाया। बहुत से

अनुभव कर पाया। परामानसिक क्षेत्रों और परामनोवैज्ञानिक रहस्यों का ज्ञान जितना तिब्बत को है उतना और किसी सभ्यता को नहीं है, इसे तो स्वीकार करना पड़ेगा। लेकिन फिर भी तिब्बत कोई नैतिक अर्थों में महान् देश नहीं बन पाया, यह बड़ी आश्चर्य की बात है, आश्चर्यजनक घटना है। अलौकिक, पारलौकिक ज्ञान के विषय में उसने बहुत ही आन्तरिक उन्नति की है। लेकिन फिर भी नैतिक अर्थों में वह एक बुद्ध भी पैदा न कर सका। उसका ज्ञान बढ़ा। उसकी योग-तान्त्रिक शक्ति बढ़ी। आश्चर्यजनक बातों का उसे पता लगा। लेकिन उन सबका उपयोग बहुत ही छोटी बातों में हुआ। भारत ने कोई सीधा भौतिक प्रयोग करने की कभी चेष्टा नहीं की। चेष्टा यह की कि भीतर की चेतना को एकत्र करके इतना एकाग्र किया जाय कि चेतना की शक्ति से ही तीसरा नेत्र खुल जाय। उसके ही प्रवाह से खुल जाय, क्योंकि चेतना के प्रवाह को तीसरे नेत्र तक लाना एक बड़ा नैतिक उपक्रम है।" [विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य : योगी और तान्त्रिकों का रहस्यमय देश तिब्बत]

× × ×

प्रश्न : "तीसरे नेत्र की उपलब्धियाँ क्या हैं ?"

"वह स्वयं योग-विज्ञान की सर्वोच्च उपलब्धियों में से एक है। जिस परम योगी का तीसरा नेत्र खुल जाता है तो समझिये उसे बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हो गई, जिसके बल पर वह एक स्थान पर बैठे ही बैठे हजारों मील के दृश्यों को देख सकता है। वहाँ की घटनाओं का अवलोकन भी कर सकता है। [संजय को यही दिव्य दृष्टि प्राप्त थी] इतना ही नहीं, वह सुदूर बैठे किसी भी व्यक्ति के चित्त की दशा को समझ सकता है। उसके विचारों को जान सकता है। अपने विचारों को संप्रेषित कर सकता है। दूसरे के विचारों को ग्रहण कर सकता है। करतलवत् भूत-भविष्य-वर्तमान को देख सकता है। भविष्य में घटनेवाली घटनाओं को देख सकता है। कितना बतलाऊँ मैं आपको कि वह क्या नहीं कर सकता।" [विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य : तीसरा नेत्र]

× × ×

तिब्बत और भारत पर चीनी आक्रमण का रहस्य

एक दिन वार्तालाप के प्रसंग में मैंने लामा युत्सुंग से एक प्रश्न किया—जो बहुत दिनों से मेरे मस्तिष्क में अनुत्तरित पड़ा था। चीनियों के सम्बन्ध में बतलाइये—"जब वे 'तवांग' में आये थे ! क्या आप उस समय की घटनाओं पर थोड़ा प्रकाश डाल सकेंगे ?"

यह सुनकर लामा युत्सुंग और अन्य उपस्थित लामा लोग एकदम से मौन साध गये। लामा युत्सुंग मेरी ओर कुछ देर तक बड़े ही विचित्र ढंग से देखते रहे। फिर धीरे-

धीरे बोले—"आपने मुझसे बहुत ही दिलचस्प प्रश्न किया है। हाँ, उस समय क्या-क्या हुआ था, वह सब मुझे ज्ञात है।" फिर उन्होंने सीधे मेरी आँखों में झाँकते हुए आगे कहा—"जो कुछ मैं कहूँगा, उस पर आपके लिए विश्वास करना शायद कठिन होगा। क्या आप वास्तव में यह बात जानना चाहते हैं ?"

"हाँ ! जो कुछ घटित हुआ उसे जानने-समझने की बड़ी प्रबल इच्छा है। आपके मुख से आँखोंदेखा हाल तो अवश्य जानना चाहता हूँ मैं। इस विषय पर अभी बहुत कुछ लिखा नहीं जा सका है।"

"क्या आपको पता है कि चीनियों ने १९६२ के अक्टूबर में इस देश पर आक्रमण क्यों किया था ?"—लामा युत्सुंग ने मेरी ओर गहरी नजरों से देखते हुए प्रश्न किया।

मैं कुछ उत्तर दूँ, इसके पहले ही महाशय फिर बोल पड़े—

"मैं जानता हूँ कि आप 'कारणों' का अम्बार लगा देंगे। लेकिन ये अनुमानों और शंकाओं पर आधारित हैं। जैसे कहा जाता है कि चीनी हमें सबक सिखाना चाहते थे या नेहरूजी की प्रतिष्ठा पर प्रहार करना चाहते थे अथवा हमारी लोकतान्त्रिक व्यवस्था को आघात पहुँचाना चाहते थे। आदि…आदि लेकिन क्या आपने कभी गौर किया है कि आज तक कोई भी इस प्रश्न का स्पष्ट और साधिकार उत्तर नहीं दे सका है। आज तक यह मामला रहस्यमय ही बना हुआ है—चीनियों ने क्यों हमला किया ? इसके साथ ही आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्होंने एकपक्षीय युद्धविराम घोषित करने के बाद तुरन्त अपनी सेनाएँ क्यों वापस कर लीं। और भी परेशानी में डालनेवाली बात यह है कि 'चाउ-एन-लाई', 'माओत्से तुंग' या 'हुआ कुओफेन' किसी भी चीनी नेता ने अभी तक इस प्रश्न का कोई ठोस उत्तर नहीं दिया है, जबकि उस आक्रमण के तीस वर्ष से अधिक व्यतीत हो चुके हैं।"

लामा युत्सुंग की बातों पर मैंने गम्भीर होकर विचार किया तो वे मुझे ठीक लगीं। १९६२ में चीनियों का आक्रमण और उनकी वापसी आज तीस वर्ष से भी अधिक हो गये हैं, रहस्य ही बनी हुई है।

थोड़ी देर बाद लामा युत्सुंग ने फिर कहा—"इस विशाल मठ में मेरे अतिरिक्त दो-चार ऐसे लामा हैं—जो सही-सही जानते हैं कि १९६२ में चीनियों ने क्यों आक्रमण किया ? उसके बाद वे सहसा वापस क्यों लौट गये ? इस सम्बन्ध में आपसे मैं जो कुछ कहूँगा वह आपको आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय लगेगा।"

मैं सम्भलकर बैठ गया और लामा युत्सुंग की बातें ध्यान से सुनने लगा।

"सर्वप्रथम मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। वह यह कि क्या आपने जेम्स हिल्टन की पुस्तक 'होराइजन' पढ़ी है ?"

मैंने स्वीकृति से सिर हिलाते हुए उत्सुकतापूर्वक उत्तर दिया—"हाँ। दो बार पढ़ी है।"

"तब आपने शंग्रीला घाटी का नाम अवश्य जाना होगा, जहाँ लोग सैकड़ों वर्ष तक निरोग और स्वस्थ रहते हैं, लेकिन वृद्ध नहीं होते। उन पर काल का प्रभाव शनैः शनैः पड़ता है। वे सदैव प्रसन्न और प्रफुल्ल रहते हैं।"

"हाँ।' मैंने उत्तर दिया—"अनुमान किया जाता है कि वह रहस्यमयी घाटी तिब्बत में कहीं है अवश्य। ठीक है न ?"

"हाँ"—लामा युत्सुंग ने एक क्षण रुककर आगे कहना शुरू किया—"तिब्बत में ऐसा स्थान तो है, बेशक हम उसे दूसरे नाम से जानते हैं और वह जेम्स हिल्टन की कल्पना के स्थान से कुछ भिन्न है। लेकिन वह निश्चित रूप से वहाँ है।"

मैंने लामा युत्सुंग को बतलाया कि अपने तिब्बत-प्रवास-काल में मेरी भेंट एक ऐसे योगी से हुई थी—जिसका सम्बन्ध [1]शंग्रीला घाटी के किसी मठ से था। उस योगी से मुझे उस रहस्यमयी घाटी के अनेक तथ्य प्राप्त हुए थे। उस योगी की गतिविधि बड़ी ही विचित्र थी। जब वह चलता था तो ऐसा लगता था, मानों वह जमीन पर नहीं, बल्कि अधर में लटकता हुआ चल रहा है। वह बहुत कम बोलता था। पूरे एक महीने में केवल एक दिन सत्तू और मक्खन थोड़ा-सा खाता था। उसने मुझे बतलाया कि तिब्बत में अनेक ऐसे स्थान हैं जो अत्यन्त रहस्यमय और गुप्त हैं, जहाँ आज भी अनेक दीर्घजीवी तन्त्र-साधक काल पर विजय प्राप्त कर आत्मज्ञान, विश्वज्ञान और विश्वातीत ज्ञान को प्राप्त करने के लिए न जाने कब से योग-तान्त्रिक साधना करते चले आ रहे हैं। उनके पौरुष और शक्ति-सामर्थ्य की कोई इयत्ता नहीं। वे असम्भव से असम्भव कार्य करने में समर्थ हैं।

× × ×

१ शंग्रीला घाटी तृतीय और चतुर्थ आयाम के सन्धि-स्थल पर है। पृथ्वी का वह अत्यन्त रहस्यमय और अलौकिक स्थान है वह घाटी। डॉ० गोपीनाथजी कविराज की पुस्तक 'मनीषी की लोकयात्रा' में चर्चित और उनके गुरुदेव स्वामी विशुद्धानन्दजी परमहंसदेव का दीक्षा-स्थान 'ज्ञानगंज मठ' उसी घाटी में स्थित है। यही नहीं, इसके अतिरिक्त भी वहाँ उस रहस्यमयी घाटी में कई साधना-मठ, योगाश्रम और सिद्धाश्रम हैं—जो चर्मचक्षु से परे हैं और जिनमें उच्च कोटि के योगी, कालजयी साधक और मानवेतर शक्तिसम्पन्न सिद्धगण निवास करते हैं, जिनका विस्तृत सचित्र वर्णन मैंने अपनी पुस्तक 'योगी और तान्त्रिकों का रहस्यमय देश तिब्बत' में किया है। —लेखक

इसी प्रसंग में मैंने लामा युत्सुंग को यह भी बतलाया कि तिब्बत-यात्रा के मेरे जो उद्देश्य थे—उसमें उस गुप्त स्थान की खोज भी था। मैं जानता था कि उस रहस्यमय गुप्त स्थान और वहाँ साधनारत उच्चकोटि के कालजयी साधकों को कोई अपनी आँखों से देख नहीं सकता। यदि संयोगवश कोई भूला-भटका व्यक्ति वहाँ तक पहुँच भी गया तो उस अपूर्व स्थान की अलौकिक मोहक छटा देखकर अपने-आपको भूल जाता है। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि वही व्यक्ति जब दुबारा जाना चाहता है तब वह सही स्थान पर नहीं पहुँच पाता है। फलस्वरूप ऐसे दर्शक जब कभी मैदानी इलाके में आकर कुछ आश्चर्यजनक कथा सुनाते हैं—तब लोग साधारणतः उन्हें गप ही समझते हैं। क्योंकि दुबारा उस स्थान पर भोगोलिक ज्ञान न होने के कारण वे किसीको ले जा नहीं पाते। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी घटनाएँ भारतीयों और तिब्बतियों के साथ ही नहीं, बल्कि कई विदेशियों के साथ भी घटी हैं। खैर!

× × ×

"शंग्रीला घाटी ठीक-ठीक कहाँ है?"—मैंने लामा युत्सुंग से पूछा।

"यह कोई नहीं जानता सिवाय उसके जो वहाँ रहते हैं।" थोड़ा रुककर लामा युत्सुंग ने रहस्यमय ढंग से मुस्कराते हुए कहा—"चीनी वर्षों से उस स्थान का पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं। वास्तव में तीस वर्ष पहले १९५० ई० में चीनियों ने तिब्बत पर अधिकार किया था—उसी समय उन्हें शंग्रीला घाटी के विषय में जिज्ञासा हुई थी। मेरा यह व्यक्तिगत विचार है कि केवल उस स्थान का पता लगाने के लिए ही चीनियों ने तिब्बत पर अधिकार किया था। लेकिन अभी तक वे उस स्थान को खोज नहीं पाये हैं। वह ऊँचे-ऊँचे हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों से घिरी एक छोटी-सी सुरम्य और रमणीक घाटी है। पिछले तीस वर्षों से चीनी अपने टोही विमानों को उसकी खोज में बराबर भेजते रहे हैं। लेकिन घाटी का पता लगाने में उन्हें सफलता नहीं मिली।"

"आप कैसे जानते हैं कि अभी तक उन्हें सफलता नहीं मिली?"—मैंने पूछा।

लामा युत्सुंग फिर मुस्कराकर बोले—"जिस दिन उस स्थान का पता वे लगा लेंगे—सभी चीनी नेता वहीं पहुँच जायेंगे। समझे न आप! फिर पीकिंग में कोई नजर नहीं आयेगा। १९६० में चीनी उस घाटी का पता लगाते-लगाते रह गये थे।"

"वह कैसे?" मैंने उत्सुक होकर पूछा।

वह रहस्यमय लामा

"हुआ यह कि उस घाटी का एक लामा यात्रा करते हुए ल्हासा पहुँचा। चीनियों ने उसे पकड़ लिया। वह काफी बूढ़ा लग रहा था, लेकिन उसका स्वास्थ्य अच्छा था। चीनी डॉक्टरों और वैज्ञानिकों ने उसकी परीक्षा की और बतलाया कि उसकी आयु ५०० वर्ष थी। लेकिन उसकी शारीरिक स्थिति ४० वर्ष की आयु के सामान्य स्वास्थ्य-वाले व्यक्ति के समान थी। चीनियों ने उससे बहुत कुछ पूछा, यन्त्रणा भी दी और हर

प्रकार से उसे डराया-धमकाया, पर उसने अपनी घाटी का पता उन्हें नहीं बतलाया। माओत्से-तुंग घाटी का पता पाने के लिए सबसे अधिक उत्सुक और लालायित थे। वह वहाँ जाकर रहना चाहते थे। बात यह है कि वह कई सौ वर्ष और जीवित रहना चाहते थे, क्योंकि उन्हें डर था कि उनकी मृत्यु के बाद चीन में उनकी क्रान्ति खत्म हो जायेगी।

"माओ ने एक ऐसी योजना बनायी—जिसके बारे में उनका विचार था कि वह सफल हो जायेगी। उन्होंने आदेश दिया कि उस लामा को छोड़ दिया जाय। छूटने पर लामा निश्चित ही ल्हासा से भागकर अपनी घाटी में जायेगा। लेकिन लामा वहाँ से घाटी के लिए प्रस्थान करने के बजाय सीमा पार करके भारतीय प्रदेश में प्रवेश कर अन्ततः इसी मठ में आ गया। उसने घाटी का एक स्केचनुमा नक्शा बनाया था। उसने बताया कि वह नक्शा दलाई लामा को देगा। अगस्त १९६२ को वह तवांग पहुँचा था। लेकिन वह कुछ कर सके कि उसके पहले ही चीनियों ने भारत पर आक्रमण कर दिया।"

"क्यों आप यह कहना चाहते हैं कि चीनियों ने केवल उसी लामा को पकड़ने के लिए ही भारत पर आक्रमण किया था?"

"और नहीं तो क्या?"—लामा युत्सुंग ने कहा—"स्पष्ट है—अन्यथा वे कैसे वापस जा सकते थे?"

फिर मैंने पूछा—"लेकिन 'दालांग' और 'अक्साई चीन' जैसे क्षेत्रों में जो लड़ाई हुई—उसके बारे में आप क्या कहेंगे? यदि 'तवांग' में ही उस लामा को पकड़ना चाहते थे, तो अन्य स्थानों पर आक्रमण करने की क्या आवश्यकता थी?"

लामा युत्सुंग तख्त पर हाथ पटकते हुए बोले—"यह आवश्यक था शर्माजी! क्या आप नहीं जानते, नहीं समझते? चीनियों ने जब 'तवांग' पर हमला कर दिया तो प्रत्याक्रमण के बचाव के लिए दूसरे क्षेत्रों में भी युद्ध करना आवश्यक था। आयी बात दिमाग में?"

लामा युत्सुंग की यह बात मुझे तर्कसंगत लगी। "क्या वे लामा को पा सके?" मैंने पूछा।

"नहीं। उन्होंने सिर हिलाते हुए उत्तर दिया। जब हम लोगों ने देखा कि चीनी सैनिक मधुमक्खियों की तरह झुंड के झुंड तवांग की ओर बढ़े चले आ रहे हैं तो हम सब समझ गये कि वे क्या चाहते हैं? हम लोगों ने उस बूढ़े लामा को घोड़े पर बिठाकर वहाँ से तुरन्त हटा दिया और उसे मैदानी इलाके की ओर ले गये। दुर्भाग्य की बात यह हुई कि जब हम लोग तेजपुर की निचली पहाड़ियों के समीप पहुँचे तो बूढ़े लामा के घोड़े का पैर फिसल गया और वह बूढ़ा लामा सैकड़ों फुट नीचे एक खड्ड में गिर गया और तत्काल उसकी मृत्यु हो गयी।"

लामा युत्सुंग मेरी ओर कुछ देर तक घूरकर देखते रहे और फिर उन्होंने आगे कथा सुनानी शुरू की—"जब चीनियों को पता चला कि लामा तेजपुर की ओर भाग गया है तो वे तेजी से पीछा करते हुए 'बोमडिला' तक गये और वहाँ से वे तेजपुर की निचली पहाड़ियों तक भी पहुँच गये। वहाँ उन्हें बूढ़े लामा और उसके घोड़े का शव मिला। लामा के शव को वे अपने साथ ले गये। जब उन्होंने देखा कि जिस व्यक्ति की उन्हें तलाश थी—वह अब इस संसार में ही नहीं—तब उन्होंने अपना बढ़ाव रोकने का आदेश दे दिया। इसके बाद वे वापस लौट गये।

"जैसा कि मैंने आपको बतलाया, चीनी शंग्रीला घाटी की खोज उस समय से कर रहे हैं—जब उन्होंने १९५० में तिब्बत पर आक्रमण किया था—और अब भी कर रहे हैं—जब तक उस कल्पनातीत घाटी का पता उन्हें नहीं चल जायेगा, तब तक करते रहेंगे। जिस दिन हम सबको पता चलेगा कि शीर्षस्थ चीनी नेता 'पीकिंग' में नहीं हैं—तो यही बात उस घाटी का पता चलने का निश्चित संकेत होगा। मगर यह असम्भव ही है। उस रहस्यमयी घाटी का पता लगाना आकाशकुसुमवत् है।"

"इससे सभी बातें साफ हो गयीं। लेकिन आपने 'भारत सरकार' को क्यों नहीं इन सारी रहस्यमयी बातों से अवगत कराया ?"—मैंने पूछा।

लामा युत्सुंग थोड़ा गम्भीर होकर बोले—"आप भी कैसी बातें करते हैं शर्माजी ?' कौन करता भला मेरी बातों पर विश्वास ? कौन अधिकारी सुनता मेरी बात ? कौन ध्यान देता मेरी बातों पर ? इसीलिए यह सूचना नहीं दी। देना उचित भी नहीं समझा मैंने।"

मेरे मस्तिष्क में विचारों की आँधी चल रही थी। मैंने पूछा—"उस स्केचनुमा नक्शे के विषय में बतलाइए।"

आकाश की ओर शून्य में निहारते हुए लामा युत्सुंग बोले—"लामा की तलाशी ली गयी। चीनियों ने पूरे मठ का कोना-कोना खोज डाला, लेकिन वह नहीं मिला। लेकिन यह निश्चित है कि वह है इसी विशाल मठ में कहीं छिपाया गया।"

"अच्छा। एक प्रश्न मेरा और है। वह यह कि आप मुझे जिस गर्भगृह में ले गये थे उससे और लोग भी परिचित हैं ?"

लामा युत्सुंग सिर को झटका देकर बोले—"नहीं-नहीं। इस मठ के दो-चार लामाओं को छोड़कर कोई नहीं जानता उस गुप्त गर्भगृह को। यहाँ तक कि दलाई लामा, जिन्होंने इस मठ में विश्राम किया था—वह भी अपरिचित हैं उस स्थान से। समझ गये न आप। आप ही पहले बाहरी व्यक्ति हैं—जिसने गर्भगृह में प्रवेश कर उन महान् योगियों का दर्शन-लाभ किया है। मेरा विचार है, गर्भगृह का रहस्य रहस्य ही बना रहे तो अच्छा।"

× × ×

तवांग मठ में लगभग तीन महीने रहा मैं और इस अवधि में—लामा युत्सुंग और योगेश्वरी माँ—इन दोनों महान् आत्माओं की अहैतुकी कृपा के फलस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत कुछ उपलब्ध तो हुआ हो—इसके अतिरिक्त मठ के अनेक लामा योगियों का सत्संग-लाभ भी हुआ मुझे। बिदा होते समय योगेश्वरी माँ ने कहा—"हममें से सभी अनेक बार पैदा हो चुके हैं। ऐसा कोई युग न था—ऐसा कोई समय न था—जब हम न रहे हों—ऐसी कोई घड़ी न थी—जब हमारा अस्तित्व न रहा हो—उस युग में, उस समय और उस घड़ी में—हमारी जो चेतना थी—उस दिन हमने उस चेतना के माध्यम से जो कुछ जाना, समझा और अनुभव किया था—वह सब आज हजारों परतों के भीतर दबा हुआ 'हमारा अचेतन' बन गया है। सम्भव है, उस अचेतन के किसी कोने में 'तन्त्र-युग' की स्मृतियाँ भी दबी पड़ी हों और उन्हें बाहर आने का उचित अवसर न मिल पा रहा हो। बुद्धि लाख इन्कार कर दे, लेकिन बुद्धि उतनी गहरी नहीं हो पाती—जितनी गहरी वे स्मृतियाँ हैं। इसलिए समस्त आघातों के बावजूद—और सब तरह से व्यर्थ दिखाई पड़ने के बावजूद कुछ चीजें ऐसी हैं जो स्थिर रहती हैं—हटतीं नहीं। नये रूप लेती हैं—नये आकार लेती हैं—लेकिन जारी रहती हैं। यह तभी सम्भव है—जब कि हमारे अनन्त जन्मों की यात्रा में अनन्त-अनन्त बार किसी चीज को हमने जाना है, यद्यपि आज भूले हुए हैं और इनमें से प्रत्येक का बाह्य उपकरण की तरह तो उपयोग हुआ ही है। उनका आन्तरिक अर्थ भी है और है अभिप्राय भी।"

× × ×

कार्तिक पूर्णिमा की चाँदनी में डूबी हुई रुपहली रात। आसाम मेल का फर्स्ट क्लास कम्पार्टमेन्ट। जंगलों, पहाड़ों और चाय बगानों को लाँघती हुई—अत्यन्त तीव्रगति से भागती जा रही थी ट्रेन। अपने बर्थ पर चुपचाप लेटा हुआ—बाहर आकाश में खिले हुए चाँद की ओर अपलक निहार रहा था मैं। योगेश्वरी माँ के एक-एक शब्द उमड़-घुमड़ रहे थे मेरे मस्तिष्क में उस समय।······हो सकता है तन्त्र के स्वर्ण-युग में···मेरा अस्तित्व रहा हो ··और उस युग की तमाम स्मृतियाँ ··मेरे मस्तिष्क के भीतर अचेतन में दबी पड़ी हों···और उन्हें सजीव होने का अवसर न मिल पा रहा हो···सचमुच अब तक जो कुछ उपलब्ध हुआ है और अब तक जो कुछ अनुभव हुआ है मुझ—वह सब नगण्य है···कुछ भी तो नहीं है·· सागर की एक बूंद ही समझा जायेगा उन्हें···अभी तो बहुत कुछ करना होगा मुझे··· बहुत कुछ उपलब्ध करना शेष है मेरे लिए···अभी तक किया ही क्या है मैंने इस दिशा में···अभी तो बहुत कुछ करना शेष है····बहुत···कुछ··· करना·· शेष···है।

●

और अब अन्त में

'मारण पात्र' में कई ऐसे चमत्कारपूर्ण प्रसंग और कई ऐसी अलौकिक घटनाएँ हैं—जो आपको निःसन्देह अविश्वसनीय और असम्भव-सी लगी होंगी और आप यही सोचते होंगे कि मैंने शब्दों का जाल और कल्पनाओं का ताना-बाना बुनकर लोगों के मन में जिज्ञासा और कुतूहल की सृष्टि करने के सस्ते उद्देश्य से 'मारण पात्र' की रचना की है। मगर ऐसी बात नहीं है। आपको मालूम होना चाहिए कि योग और तन्त्र से सम्बन्धित चमत्कार अथवा अलौकिक घटनाएँ प्रकृति के नियमों का तिरस्कार नहीं करतीं। इस बात को अच्छी तरह समझ लेना होगा कि जिसे आप 'असम्भव' कहते हैं वह प्रकृति के प्रांगण में सहज और सम्भव है। आज के भौतिक विज्ञान के द्वारा प्रकृति के जो नियम उद्घाटित हुए हैं—अथवा हो रहे हैं—वे साधारण अंश मात्र हैं। प्रकृति का साम्राज्य विशाल है। उसके नियमों की भी कोई इयत्ता नहीं। जिसे आज आप अप्राकृतिक कहकर उपेक्षा या तिरस्कार करते हैं—उसे ही कल विज्ञान प्रकृति के नियमों के वशीभूत बतलाता है। आज की अलौकिक और चमत्कारी घटना कल ही लोकानुगत बन जाती है। जिसका सपने में भी खयाल नहीं करते, हमें वही घटना नये अनुशीलन, अध्ययन, खोज और नेत्रों की सहायता से आज साधारण अभ्यस्त बन जाती है। ऐसी विषम दशाओं में आधुनिक विज्ञान के द्वारा अभी तक अमान्य घटनाओं को 'अप्राकृतिक' कहकर आप या हम उनका समादर नहीं कर सकते। क्योंकि इस नानारूपात्मक जगत् के जिन नियमों की अभिव्यक्ति अभी तक हो पायी है—वह तो समुद्र में एक बूंद के समान है। सच बात तो यह है कि योग और तन्त्र की सिद्धिजन्य अद्भुत और अलौकिक घटनाओं अथवा चमत्कारों को आप या हम इसलिए काल्पनिक अथवा असम्भव समझते हैं कि हम सबको प्रकृति के विशाल लेकिन सूक्ष्म नियमों का कोई ज्ञान नहीं है।

योग की साधना हो या तन्त्र की हो साधना। दोनों प्रकृति के नियमों का पालन करती हैं। प्रत्येक मनुष्य शक्ति का एक अद्भुत केन्द्र है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर शक्ति का विपुल भण्डार भरा है। मगर मनुष्य स्वयं उससे अपरिचित है। जिस साधन द्वारा मनुष्य अपने भीतर छिपी शक्ति से परिचित होता है—वह साधन है—एकमात्र योग और जिस साधन द्वारा वह उस शक्ति को उपलब्ध होता है—वह है तन्त्र। मगर ये दोनों कार्य बिना सद्गुरु के सम्भव नहीं।

आज के युग में वास्तव में सद्गुरु कौन है ? यह समझ पाना अति कठिन है। सद्गुरु को जानने-समझने अथवा पहचानने की योग्यता आपमें होनी चाहिए। योग्यता-लाभ होने पर सद्गुरु स्वयं शिष्य को खोजते हुए उपस्थित हो जाते हैं। आप शायद यह पूछेंगे कि योग्यता-लाभ से मेरा क्या तात्पर्य है ?

योग्यता-लाभ का मतलब है—शिष्य में गुरुभाव का उदय। जब हम शास्त्रों के अध्ययन, चिन्तन, मनन आदि से ऊब जाते हैं और जब हमारी आत्मा को आत्मिक सन्तोष नहीं होता—तभी हम गुरु की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। गुरुभाव के उदय होने का मतलब है—हमने अपने पिछले जन्मों की अनन्त यात्रा में—गुरु के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होने की पात्रता अर्जित कर ली है। शास्त्रों के अध्ययन से हमें दूसरे के विचार और अनुभव प्राप्त होते हैं—ज्ञान नहीं। आत्मा की आवश्यकता है—एकमात्र ज्ञान।

शास्त्रों के द्वारा हम विचारों और अनुभवों से—जो किसी दूसरे के होते हैं—बराबर भरते जाते हैं। मगर ज्ञान की दृष्टि से अन्त तक शून्य ही रह जाते हैं और जब हमें यह पता चलता है कि हमारी आत्मा अब तक भी शून्य ही है—तभी गुरुभाव का उदय होता है। आत्मा में ज्ञान-शून्यता का अनुभव बहुत बड़ी आध्यात्मिक घटना है और जब तक वह घटना नहीं घटती—तब तक गुरुभाव का उदय होना सम्भव नहीं। यदि सच पूछा जाय तो गुरुभाव के उदय होने का अर्थ है—शास्त्रों में ज्ञान की खोज समाप्त। गुरुभाव के उदय होने पर शिष्य के जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन होने लग जाता है और इसी लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरुभाव का उदय भ्रामक है, मिथ्या है या है सत्य ? क्योंकि गुरुभाव का उदय होना एक बहुत बड़ी क्रान्ति है जीवन में और यह क्रान्ति जीवन में घटित होते ही—जीवन में बदलाव यानी परिवर्तन शुरू हो जाता है।

गुरुभाव का मतलब है—किसीके प्रति समर्पण की भावना। अगर समर्पण की भावना—पिछले जन्मों की लम्बी यात्राओं से निकलती है—तो समझ लीजिये कि जीवन में होनेवाली क्रान्तिकारी घटनाओं और परिवर्तनों का अनुभव होने लगेगा आपको। आपकी वृत्तियों में भी अन्तर आने लगेगा। काम, क्रोध, मोह, लोभ, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि के भाव धीरे-धीरे समाप्त होने लग जायेंगे और दूसरी ओर करुणा और मैत्री का भाव गहन होता जायेगा। इतना ही नहीं, सुख-दुःख और मान-अपमान की उपेक्षा करने लग जायेंगे। आपके मन में अतीत के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जायेगा। भविष्य का भी कोई मूल्य नहीं रह जायेगा आपके लिए। उसके प्रति भी कोई आकर्षण नहीं रह जायेगा आपके मन में। लेकिन हाँ, वर्तमान आपके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् हो जायेगा। आपका सारा आकर्षण वर्तमान के प्रति हो जायेगा। आपको जो दिखलायी पड़ता है—उससे अधिक—जो आपको दिखलायी नहीं पड़ता है—उसके प्रति—मतलब कि उसकी तरफ—आपकी आँखें उठनी शुरू हो जायेंगी।

× × ×

प्रायः लोग किसी प्रभावशाली आदमी के व्यक्तित्व से, उसकी वाणी से, उसके भाषण से, उसके प्रवचन से और उसके क्रिया-कलापों से प्रभावित हो जाते हैं और उस प्रभाव की छाया में उन्हें लगता है कि वे समर्पित हो रहे हैं उसके प्रति। मगर ऐसा

समर्पण अधिक समय तक नहीं टिकता, क्योंकि वह सम्मोहन के सिवाय और कुछ नहीं होता। सम्मोहन टूटते ही लोग उसी व्यक्ति की निन्दा करने लग जाते हैं। जो कल उनका गुरु था—वही आज शत्रु मालूम पड़ने लग जाता है। वास्तव में गुरुभाव का सच्चा उदय—प्राणों की गहराई में घटनेवाली एक आध्यात्मिक घटना है और उस घटना का अनुभव आपका अपना अनुभव है। अगर आपके पास वह अनुभव है और सद्गुरु आकर आपके सामने खड़े हो जाते हैं तो तुरन्त आपके हृदय में उनके प्रति वास्तविक शरणागति और वास्तविक समर्पण की भावना पैदा हो जायेगी। वह स्थायी होगी। कभी समाप्त न होगी। जन्म-जन्म तक चलेगी। आपका वह आन्तरिक अनुभव आपका बीज है और गुरु की कृपा को समझें 'वर्षा' है। गुरु बीज नहीं बन सकता। वर्षा अवश्य बन सकता है। अगर बीज ही न हो—तो अच्छी-से-अच्छी वर्षा भी व्यर्थ ही है, क्योंकि जब बीज रहेगा—तभी वर्षा से उसमें अंकुर भी निकलेगा। यदि अनुभव का बीज आपके भीतर नहीं है—तो आप एक आश्रम से दूसरे आश्रम की यात्रा करते रहिये। एक गुरु को छोड़कर दूसरा गुरु बनाते रहिये। कुछ भी न होगा। कोई आश्रम, कोई मठ और कोई गुरु आपको बदल न सकेगा। इस अवस्था में तब आप यही कहेंगे और यही सोचेंगे कि सारे आश्रम, मठ और सारे गुरु व्यर्थ हैं, बेकार हैं। कोई भी सद्गुरु नहीं।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं—मेरी पुस्तकों को, मेरी रचनाओं को और मेरे निबन्धों को पढ़कर लोगों के हृदय में आध्यात्मिक प्यास पैदा होती है और उसे बुझाने के लिए—व्याकुल होकर मेरे पास भी आते हैं। मगर मैं देखता हूँ—वह प्यास सच्ची प्यास नहीं होती। उसमें वह आकुलता और वह व्याकुलता नहीं होती—जिसके गर्भ से सच्चे अर्थों में शरणागति का और समर्पण का भाव जन्म लेता है।

सद्गुरु का अभाव नहीं है। सद्गुरु की कठिनाई भी नहीं है। कठिनाई है आपकी। अगर आप बदलने के लिए तैयार हैं—तो आपको एक बच्चा बदल देगा। उसमें भी शक्ति है आपको बदलने की। समझ गये न ! अगर बदलने के लिए आप तैयार नहीं हैं तो आपके सामने आकर कृष्ण, राम, बुद्ध भी खड़े हो जायेंगे—तो वे भी आपके लिए कुछ नहीं कर सकेंगे। वे लोग भी असमर्थ हो जायेंगे आपके लिए।

आपका भाव—आपका कृत्य बने—कर्म बने—इसके अवसर आपको बराबर देते रहने चाहिए। आपका जब भी कोई भाव कृत्य बनता है और कर्म बनता है और जब भी कोई ज्ञान अनुभव के रूप में परिवर्तित होता है—तो उसकी लकीर—उसकी रेखा आपके भीतर गहराई से बन जाती है।

आप जो कुछ भी सोचते-विचारते हैं—उसका कोई मूल्य नहीं है। आप जो कुछ करते हैं उसका मूल्य और महत्त्व है। समझ गये न ! क्योंकि आप जो भी कुछ करते

हैं—वह आपके अस्तित्व से जुड़ा हुआ होता है। आप जो कुछ सोचते-विचारते हैं—वह सब बुद्धि के जंगल में भटकता रहता है।

आपके पास अच्छे-अच्छे विचारों का भले ही बहुमूल्य भण्डार हो—उसका कोई मूल्य या महत्त्व नहीं, क्योंकि वे समय पर काम आनेवाले नहीं। आप जो करते हैं—उस 'करने' से आपके विचारों से कोई भी सम्बन्ध नहीं जुड़ता। किसीसे प्रभावित हो जाना एक मामूली-सी बात है। एक मदारी भी आपको प्रभावित कर लेता है। हवा में हाथ हिलाकर मनचाही वस्तु प्राप्त कर लेना—मदारी का तमाशा नहीं है तो और क्या है। दाढ़ी-बाल बढ़ाकर, गेरुआ वस्त्र पहनकर, मस्तक पर त्रिपुण्ड्र लगाकर, गले में दुनियाभर की मालाएँ पहनकर अपने को योगी कहना, साधक कहना और सन्तपुरुष कहना अपने-आपको धोखा देने के सिवाय बतलाइये और क्या है? आप ऐसे लोगों का अभाव नहीं है। गली-गली में मिलेंगे आपको ऐसे लोग।

इन सबका न कोई मूल्य है—न कोई महत्त्व ही है। आपके भीतर जीवन का संचार शुरू हो जाय। आपकी जीवन-धारा नयी दिशा में और नयी गति में बहने लगे। बस, वही कीमती है—वही महत्त्वपूर्ण है—समझ गये न आप! मेरे कहने का मतलब यह है कि आप न शास्त्रों में उलझें—न किसी महात्मा के मायाजाल में फँसें और न तो आप किसी प्रकार के प्रभावों से ही प्रभावित हों—चिन्ता इस बात की करें कि आपके भीतर क्या घटित हो रहा है? इसका बराबर आप निरीक्षण करते रहिये। आपके भीतर जो कुछ भी घटित होगा—और उस घटित का आपको जो भी अनुभव होगा—वही आपकी असली सम्पदा होगी और होगा आपका असली धन।

मरते समय—मरने के क्षण—आपके कृत्यों का—कर्मों का—सार—निचोड़—आपके साथ आपकी अन्तिम यात्रा पर निकलेगा। मृत्यु के क्षण—केवल आप बचेंगे और आपके सारे कृत्यों और कर्मों का सार-संग्रह। जो-जो आपने किया है—उन सबकी लकीरें आपकी आत्मा के ऊपर होंगी।·· ·· तो बराबर आप यही सोचें कि आपके जीवन की धारा कैसी चल रही है? किस दिशा में बह रही है? यही पहचान है और यही है कसौटी।

मुझसे किसी भी प्रकार का सम्पर्क साधना आवश्यक नहीं। मुझसे पत्र-व्यवहार करना भी आवश्यक नहीं और मेरे पास आना भी आवश्यक नहीं। आपके लिए आवश्यक है—अपने अनुभवों के आधार पर मैंने जो कुछ भी लिखा है—मारण पात्र में, जो कुछ भी भरा है—उसे आप भी मेरी तरह अपना अनुभव बना लें। अगर आप ऐसा करेंगे, तभी मैं समझूंगा कि मेरा श्रम सार्थक हुआ।

●